कर्म—विज्ञान

पंचम-भाग

कर्म सिद्धान्त पर सर्वांगीण विवेचन

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय का ३११ वां रत्न

- कर्म-विज्ञान — पंचम भाग (कर्मबन्ध की विशेष दशाओं का वर्णन)
- लेखक — श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि
- सम्पादक — विद्वद्रत्न मुनि श्री नेमिचन्द्र जी
- प्रथम आवृत्ति — वि.सं. २०५० आश्विन शुक्ला १४ (गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी की ८४ वीं जन्म जयन्ती)
- पृष्ठ ६०८
- प्रकाशक/प्राप्ति स्थान — श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर–३१३००१
- मुद्रण — श्री संजय सुराना द्वारा *कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स*, ए-७, अवागढ़ हाउस, एम.जी, रोड, आगरा–२८२००२, फोन ५४३२८ हेतु मोहन मुद्रणालय, आगरा में मुद्रित।
- मूल्य — सौ रुपया मात्र: लागत मूल्य से भी कम

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय * उदयपुर * संशोधित 25

समर्पण

सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निर्मल आराधना द्वारा

तप-जप-ध्यान की सम्यग् समाराधना द्वारा

जिन्होंने कर्म-मुक्ति का मार्ग स्वीकारा

उन परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव उपाध्याय

श्री पुष्कर मुनि जी म. की पावन-स्मृति में

सादर समर्पित

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

प्रकाशकीय बोल

धर्म और कर्म अध्यात्म जगत के ये दो अद्‌भुत शब्द हैं, जिन पर चैतन्य जगत की समस्त क्रिया/प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यत: धर्म शब्द मनुष्य के मोक्ष/मुक्ति का प्रतीक है और कर्म शब्द बन्धन का। बंधन और मुक्ति का ही यह समस्त खेल है। प्राणी/कर्मबद्ध आत्मा प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दु:ख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

"कर्मवाद" का विषय बहुत गहन गंभीर है, तथापि कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए इसे जानना भी परम आवश्यक है। कर्म सिद्धान्त को समझे बिना धर्म को या मुक्ति मार्ग को नहीं समझा जा सकता।

हमें परम प्रसन्नता है कि जैन जगत के महान मनीषी, चिन्तक/लेखक आचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज ने "कर्म-विज्ञान" नाम से यह विशाल ग्रंथ लिखकर अध्यात्मवादी जनता के लिए महान उपकार किया है । यह विराट् ग्रंथ लगभग ४००० पृष्ठ का होने से हमने छह भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में कर्मवाद पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चर्चा है तथा दूसरे भाग में पुण्य-पाप पर विस्तृत विवेचन है। तृतीय भाग में आस्रव एवं संवर पर तर्क पुरस्सर विवेचन हुआ है।

चतुर्थ भाग में कर्म प्रकृतियों का विस्तृत वर्णन है। अब पाँचवें भाग में कर्मबन्ध की विशेष दशाओं का मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर विवेचन किया गया है। अभी भी कर्म सिद्धान्त का समग्र विवेचन समाप्त नहीं हुआ है। सम्भवत: छठे भाग में यह परिपूर्ण हो जायेगा।

कर्म विज्ञान के मुद्रण प्रकाशन में समाज के उदारमना धर्मनिष्ठ श्रावक तथा उद्योगपति श्रीमान डा. चम्पालालजी देशरडा का अनुकरणीय सहयोग प्राप्त हुआ है। द्वितीय भाग के प्रकाशन में आपने सम्पूर्ण सहयोग प्रदान किया था, तब से आपश्री के हृदय में पूज्य गुरुदेव के साहित्य के प्रति इतना आकर्षण/अनुराग उत्पन्न हुआ है कि प्रत्येक भाग के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय भार आपश्री ने ही बड़ी भक्ति और आग्रह पूर्वक स्वीकार किया है। तृतीय, चतुर्थ, और पंचम भाग में, तथा अन्य साहित्य प्रकाशन में भी आपश्री का सदा सहयोग मिलता रहा है। इस अनुकरणीय उदारता, गुरु भक्ति तथा साहित्य प्रचार की सुसंस्कृत रुचि के लिए हम आपको किन शब्दों में धन्यवाद देवें। आशा करते हैं, समाज के अन्य उदारचेता सज्जन भी आपका अनुसरण करेंगे।

प्रकाशन में सहयोगी सभी बन्धुओं के प्रति हार्दिक धन्यवाद के साथ-

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर

कर्म विज्ञान पुस्तक प्रकाशन में विशिष्ट सहयोगी
उदार हृदय गुरुभक्त डॉ. चम्पालाल जी देशरडा

सभी प्राणी जीवन जीते हैं, परन्तु जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपने जीवन में परोपकार, धर्माचरण करते हुए सभी के लिए सुख और मंगलकारी कर्तव्य करते हों। औरंगाबाद निवासी डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा एवं सौ. प्रभा देवी का जीवन ऐसा ही सेवाभावी परोपकारी जीवन है।

श्रीयुत चम्पालाल जी के जीवन में जोश और होश दोनों ही हैं। अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा के बल पर उन्होंने विपुल लक्ष्मी भी कमाई और उसका जन-जन के कल्याण हेतु सदुपयोग किया। आप में धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि है। समाज-हित एवं लोकहित की प्रवृत्तियों में उदारता पूर्वक दान देते हैं। अपने स्वार्थ व सुख-भोग में तो लाखों लोग खर्च करते हैं परन्तु धर्म एवं समाज के हित में खर्च करने वाले विरले होते हैं। आप उन्हीं विरले पुरुषों में हैं।

आपके पूज्य पिता श्री फूलचन्द जी साहब तथा मातेश्वरी हरकूबाई के धार्मिक संस्कार आपके जीवन में पल्लवित हुए। आप प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र रहे। प्रतिभा की तेजस्विता और दृढ़ अध्यवसाय के कारण धातुशास्त्र (Metallurgical Engineering) में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

आपका पाणिग्रहण पूना निवासी श्रीमान मोतीलाल जी नाहर की सुपुत्री अ. सौ. प्रभा देवी के साथ सम्पन्न हुआ। सौ. प्रभा देवी धर्मपरायण, सेवाभावी महिला है। जैन आगमों में धर्मपत्नी को "धम्मसहाया" विशेषण दिया है। वह आपके जीवन में चरितार्थ होता है।

आपके सुपुत्र हैं-श्री शेखर जी। वह भी पिता की भाँति तेजस्वी प्रतिभाशाली हैं। अभी इन्जिनियरिंग परीक्षा समुत्तीर्ण की है। शेखर जी की धर्मपत्नी सौ. सुनीता देवी तथा सुपुत्र श्री किशोर कुमार और मधुर हैं।

श्री चम्पालाल जी की दो सुपुत्रियाँ हैं-कुमारी सपना और कुमारी शिल्पा। कु. सपना वाणिज्य शाखा तथा कु. शिल्पा आर्किटेक्ट के पदवीधर है। दोनों की भी धर्म एवं साहित्य में रुचि है।

आप अनेक सेवाभावी सामाजिक संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन हैं। दक्षिण केसरी मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज होम्योपैथिक मेडिकल कालेज, गुरु गणेश नगर, औरंगाबाद के आप मंत्री हैं। तथा गुरु गणेश नगर संस्था के विश्वस्त हैं।

सन् 1988 में श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज एवं आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज अहमदनगर वर्षावास सम्पन्न कर औरंगाबाद पधारे, तब आपका आचार्य श्री से सम्पर्क हुआ। आचार्य श्री के साहित्य के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई। कर्म-विज्ञान पुस्तक के प्रकाशन में आप श्री ने विशिष्ट अनुदान प्रदान किया है। तदर्थ संस्था आपकी आभारी रहेगी।

आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान हैं :

Pratishthan Alloy Castings
Dr. Desarada & Associates,
Parason Machinery (India) Pvt. Ltd.
Sunmoon Sleeves Pvt. Ltd.

पता–
'अनुकृपा'
28, व्यंकटेश नगर, जालना रोड
औरंगाबाद–431001
दूरभाष : (कार्यालय) 26156, 26546
(निवास) 28944

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

अनेक उलझनें–एक समाधान

स्वकीय

मानव एक मननशील एवं चिन्तनशील प्राणी है। वह किसी भी समस्या का समाधान अथवा किसी भी प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए तार्किक प्रणाली अपनाता है। अमुक समस्या क्यों उत्पन्न हुई? उसका मूल कारण क्या है? किन परिस्थितियों ने विचित्रता पैदा की? इस समस्या का समाधान क्या है? यह उलझी हुई परिस्थितियाँ कैसे सुलझ सकती हैं? इनको सुलझाने का समुचित उपाय क्या है? आदि .....

प्रबुद्ध मानव जीवन और जगत की समस्याओं पर इसी ढंग से विचार करता है। किन्तु यह जीवन और जगत ऐसी अबूझ पहेली है, कि मानव जितना इसे सुलझाने का प्रयत्न करता है उतना ही उलझता जाता है। प्रश्नों के मकड़ जाल में मानव बुद्धि उलझ जाती है। कभी उत्तर का किनारा हाथ लगता है, कभी नहीं लगता । यद्यपि मानव इन समस्याओं को सुलझाने का प्रयास प्राचीन काल से ही करता रहा है, फिर भी अभी तक पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ है।

प्राचीन तथा मध्यकालीन मानव मनीषियों ने काफी ऊहापोह करके भी जब उचित समाधान नहीं पाया तो कुछेक ने ईश्वर की इच्छा तथा भगवान की लीला कहकर सन्तोष कर लिया । जब भी उनसे पूछा जाता–अमुक सज्जन व्यक्ति ऐसा भंयकर कष्ट क्यों भोग रहा रहा है अथवा प्राणहारी संकट क्यों आ गया है तो यही उत्तर मिलता–भगवान की माया है। भगवदेच्छा बलीयसी.....

लेकिन यह कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं थे। मानव की तार्किक और खोजी मेधा ने इससे विराम नहीं लिया। वह निरन्तर गतिशील एवं चिन्तनशील रहा है।

पर्यावरण

सोलहवीं शताब्दी में विज्ञान के चरण आगे बढ़े, तो उसने इन समस्याओं और उलझनों को सुलझाने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग किया। इस दिशा में समाज-विज्ञान, (Sociology),मनोविज्ञान, (Psychology), परामनोविज्ञान (Para psychology), जीव विज्ञान (Biology), चिकित्सा विज्ञान (Medical Science), आदि आगे आये।

समाज विज्ञान ने मानव-मानव की प्रकृति, प्रवृत्ति, आचार-विचार, शरीर-यष्टि, शरीर-रचना आदि के लिए वातावरण और पर्यावरण को उत्तरदायी ठहराया।

कहा–बालक का पालन-पोषण जैसे वातावरण में होता है, वह वैसा ही बन जाता है, उसी साँचे में ढल जाता है। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार उसका शरीर लम्बा या छोटा होता है, वह परिश्रमशील अथवा आलसी बनता है। पर्यावरण में संगति-सुसंगति और कुसंगति भी सम्मिलित करली गई ।

यह सिद्धान्त प्राचीन काल में भी मान्य था। संगति का प्रभाव सभी मानते थे। साथ ही यह भी माना जाता था कि ठण्डे देशों के निवासी, गर्म देशों के निवासियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान, परिश्रमी और साहसी होते हैं। इसी आधार पर आर्यों और अंग्रेजों ने द्रविडों तथा भारतीयों से अपने को उच्च मानने का दम्भ किया।

लेकिन जब ऐसी घटनाएँ हुईं कि गरम देशों के निवासियों ने बुद्धिमानी और परिश्रमशीलता का परिचय दिया, यथा–जगदीशचन्द्र बसु, मेघनाद साहा, वेंकटरमन आदि, तथा सुसंगति में पले हुए व्यक्ति भी असामाजिक तत्व बनकर उभरे और कुसंगति में रहकर भी कुछ व्यक्तियों के चरित्र में सज्जनता, करुणा, सहयोग, सद्भाव आदि मानवीय गुणों का उत्कर्ष पाया गया तो पर्यावरण सिद्धान्त भी शंकास्पद हो गया। मारगरेट मीड, जेन ऑस्टिन, राल्फ लिंटन जैसे पर्यावरण के प्रबल समर्थक भी चकित रह गये। रामानुज शास्त्री की गणित प्रतिभा देखकर अंग्रेजों की विशिष्ट बुद्धिमत्ता दु:स्वप्नवत् खण्डित हो गई।

देशकाल के वातावरण पर शरीर की लम्बाई और छोटेपन का जो सिद्धान्त निर्धारित किया गया था, वह तब खण्डित हो गया जब एक अफ्रीकी 7-1/2 फुट लम्बा था और इग्लैण्ड, अमरीका आदि ठण्डे देशों में कई व्यक्ति बोने 2-1/2 से तीन फुट लम्बे पाये गये।

वंशानुक्रम

पर्यावरणवाद पर प्रश्नचिन्ह लगने के उपरान्त वैज्ञानिकों का ध्यान वंशानुक्रमण (Heredity) की ओर गया। माना गया कि माता-पिता के अनुसाार उनके पुत्र-पुत्री होते हैं। हरगोविन्द सिंह खुराना ने जब 77 जीन्स (Genes) के जोड़े लेकर जीव-विज्ञान तथा वनस्पति विज्ञान में प्रयोग किये तब से इस सिद्धान्त को विशेष बल मिला। गुणसूत्र का सिद्धान्त सामने आया। प्रतिपादित किया गया कि माता-पिता के गुणसूत्र उनकी संतानों में संक्रमित होते हैं और पिता के अनुसार पुत्र तथा माता जैसी पुत्री होती है।

एक ऐसी प्राचीन कहावत भी है–माँ जिसी बेटी, बाप जिसो बेटो!

लेकिन यह सिद्धान्त भी पूर्ण सत्य प्रमाणित नहीं होता। भारतीय इतिहास में राणा संग्राम सिंह (राणा सांगा) जितने बहादुर थे, उनके पुत्र उदयसिंह उतने वीर नहीं थे

और राणा उदयसिंह के पुत्र महाराणा प्रताप अत्यधिक साहसी, स्वाभिमानी थे, अकबर जैसे शक्तिशाली सम्राट से लोहा लेते रहे, पराधीनता स्वीकार नहीं की, संधि प्रस्ताव भी नहीं माना जबकि उन्हीं के पुत्र अमरसिंह ने अकबर के पुत्र जहाँगीर से संधि कर ली। वह संघर्ष न कर सका।

यही दशा मुगल बादशाहों की भी रही। बाबर समरकन्द से लेकर भारत में पानीपत और खानवा के युद्धों में अपने थोड़े से सैनिकों को साथ लेकर विजय प्राप्त करता चला गया और उसी का पुत्र हुमायूँ स्थान-स्थान पर पराजित होकर इधर-उधर भागता-फिरता रहा, यहाँ तक कि उसे फारस के शाह की शरण लेनी पड़ी, जबकि हुमायूँ का पुत्र अकबर तेजस्वी, वीर, साहसी और बुद्धिमान निकला, सम्पूर्ण भारतवर्ष का एकच्छत्र सम्राट बनकर अकबर महान (Akbar—The great Mugal Emperor) कहलाया।

यह तो भारतीय इतिहास के कुछ उदाहरण हैं। वीर शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले और उनके पुत्र शम्भाजी भोंसले इतने साहसी नहीं थे, जबकि शिवाजी ने अपने साहस के बल पर मुगल सल्तनत की नीवें हिला दीं। हिन्दू गौरव रक्षक की उपाधि प्राप्त की।

संसार में सर्वत्र ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं। सामान्य और साधारण जनता में भी ऐसी ही स्थिति देखी जाती है।

एक ही माता-पिता के युगल पुत्रों को समान गुणसूत्र, जीन्स आदि प्राप्त होते हैं। एक ही वातावरण में उनका पालन-पोषण होता है, एक ही स्कूल में शिक्षा पाते हैं। फिर भी उनके मानसिक एवं शारीरिक विकास में अन्तर पाया जाता है, रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ, दृष्टिकोण भी भिन्न होते हैं।

एक पढ़ लिखकर डाक्टर, वकील, इंजीनियर बन जाता है तो दूसरा बुद्धू रह जाता है। एक स्वस्थ रहता है तो दूसरे का रोग पीछा ही नहीं छोड़ते, सदः ही बीमार रहता है। एक लम्बा तो दूसरा ठिंगना, एक गोरा-सुदर्शन तो दूसरा काला-भूत के समान।

मुख्य प्रश्न फिर भी अनुत्तरित रह जाता है-आखिर ये सब विभिन्नताएँ विचित्रताएँ क्यों होती हैं? संसार का कोई भी एक व्यक्ति, रूप-रंग, शक्ल-सूरत, बोली-वाणी में दूसरे के समान क्यों नहीं है?

पर्यावरण, वंशानुक्रम आदि सिद्धान्त इन प्रश्नों का कोई समुचित उत्तर नहीं दे पाते, संतोषप्रद कारण बताने में असमर्थ रहते हैं।

तब क्या मानव की इन विभिन्न प्रकार की जिज्ञासाओं/प्रश्नों का कोई समुचित समाधान नहीं है, कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं है?

है, और अवश्य है। जहाँ विज्ञान की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं, तर्क कुंठित हो जाते हैं, बुद्धि काम नहीं करती, वहाँ कर्मविज्ञान सामने आता है, और मानव की प्रत्येक शंका, आशंका, जिज्ञासा एवं तर्क का समुचित युक्तियुक्त समाधान देता है।

जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि कर्मों के अनेक और असंख्यात भेद हैं, किन्तु मुख्य रूप से आठ भेद माने गये हैं–१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय। इनके बन्ध, उदय, उदीरणा, संक्रमण आदि अनेक भेद हैं और अन्तर्भेद तो अनगिनत हैं। प्रत्येक प्राणी प्रति समय कर्मों का बन्ध करता है। पिछले बँधे हुए कर्म उदय में आते हैं। और उनका फल भी भोगता है।

यहाँ विशेष रूप से स्मरणीय तथ्य यह है कि संसार के किन्हीं दो प्राणियों का कर्मबन्ध और उसका फलभोग समान नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक प्राणी के असंख्यात प्रकार के भाव, परिणाम और अध्यवसाय होते हैं, उनमें असंख्यात प्रकार की तरतमता रहती है। दो जीवों के परिणाम, अध्यवसाय कभी भी एक समान नहीं होते।

जैन दर्शन तथा अन्य दर्शनों ने भी जीवों की संख्या अनन्त स्वीकार की है। और प्रत्येक जीव के परिणामों की असंख्यात प्रकार की तरमतमता होती है। इस अपेक्षा से परिणामों की संख्या भी अनन्तानन्त हो जाती है। और इन अनन्तानन्त मनोभावों/परिणामों में से प्रत्येक जीव-परिणाम कर्मबन्ध का कारण होता है। इसीलिए दो जीवों का कर्मबन्ध और उनका फलभोग समान नहीं होता। यही विचित्रता और विभिन्नता का तर्कसंगत आधार है।

इतने विवेचन के उपरान्त अब हम व्यावहारिक जगत में उठते हुए प्रश्नों और ज्वलंत समस्याओं का कर्मविज्ञान के आधार पर समाधान करने का प्रयास करेंगे।

प्राणी जगत के अधिक विस्तार में न जाकर मानवजाति को ही लें। इसे और भी संक्षेप करके एक ही माता-पिता की संतानों तक सीमित करें। संक्षेपीकरण की क्रिया को और भी बढ़ाकर एक ही माता-पिता के युगल (एक साथ उत्पन्न-Twin) पुत्रों तक ले आयें। अब उनमें पाई जाने वाली विभिन्नताओं के कारणों को समझें।

युगल-पुत्रों में एक की बुद्धि-मंदता और दूसरे की तीव्र बुद्धि का रहस्य है–ज्ञानावरणीय कर्म। जिसका ज्ञान को आवरण करने वाला कर्म हलका अथवा विरल होगा उसकी बुद्धि, ज्ञान आदि तीव्र होगा, मेधा शक्ति भी बलवती होगी इसके विपरीत सघन आवरण वाला मन्दबुद्धि होगा।

इसी प्रकार एक की आँखों पर दस वर्ष की आयु में चश्मा लग जाता है जबकि दूसरे भाई की दृष्टि आजीवन सतेज रहती है, उसकी नजर कमजोर ही नहीं होती। इसका कारण दर्शनावरणीय कर्मदलिकों का सघन और विरल होना है।

दुख और सुख का कारण वेदनीय कर्म है और लाभ-अलाभ का कारण अन्तराय कर्म है। एक भाई को लाख प्रयत्न करने और अच्छी से अच्छी औषधि सेवन करने पर भी बीमारी उसका पीछा नहीं छोड़ती, वह जन्म रोगी (Born Sick) होता है। जबकि उसी का दूसरा भाई जानता ही नहीं कि रोग क्या होता है। उस पर न मौसम बदलने का असर होता है और न सर्दी-गर्मी-बरसात का। यह सब साता-असाता वेदनीय का प्रभाव है।

एक भाई तन-तोड़ परिश्रम करता है, किन्तु लाभ नहीं होता, जबकि दूसरा भाई अल्प श्रम से करोड़ों की दौलत का स्वामी बन जाता है। इसका कारण अन्तराय कर्म है।

आज पर्यावरणवादियों और वंशानुक्रमवादियों के सम्मुख सबसे प्रधान समस्या शरीर रचना सम्बन्धी है। दो युगल भाइयों में एक ठिंगना, दूसरा लम्बा, एक दुबला, दूसरा हृष्ट-पुष्ट क्यों है? आदि समस्याओं का समुचित समाधान वे नहीं दे पाते।

जैन कर्म विज्ञान में वर्णित नामकर्म शरीर रचना से सम्बन्धित है। संहनन, संस्थान आदि के द्वारा शरीर-निर्माण प्रक्रिया बताई गई है। जिस भाई ने वामन संस्थान का बन्ध किया है, वह तो ठिंगना ही रहेगा। इसी प्रकार शरीर-सम्बन्धी अन्य जटिलताओं का कारण भी नामकर्म ही है।

इस सम्बन्ध में पर्यावरण और वंशानुक्रम (जींस, गुणसूत्र आदि) को एक कारण मान भी लिया जाये तो भी वह निश्चित कारण (deternining factor) नहीं बन सकता। शरीर सम्बन्धी समस्त जटिलताओं और विभिन्नताओं का निश्चित और वास्तविक कारण नामकर्म का बंध और उसका फलभोग ही है।

इसी प्रकार जितनी भी और जैसी भी शंकाएँ/जिज्ञासाएँ हैं उन सभी का समुचित तर्कपुरस्सर समाधान कर्मविज्ञान में उपलब्ध है।

उपर्युक्त उदाहरण युगल भाइयों से सम्बन्धित है। यदि इसका विस्तार किया जाये तो संसार की सभी जटिलताएँ समाहित हो जायेंगी।

अन्तकृद्दशा सूत्र में वर्णन आता है। मुनि गजसुकुमाल के जीव ने ९९ लाख जन्म पूर्व सोमिल के जीव के सिर पर गर्म रोटी बाँधी थी। उसके फलस्वरूप उनके सिर पर सोमिल ने अंगारे रखे। इससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि प्राणी को इसी जन्म अथवा दो-चार पिछले जन्मों में बाँधे गये कर्मों का ही फल नहीं भोगना पड़ता अपितु करोड़ों पूर्व जन्मों में बाँधे गये कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है।

भगवन महावीर का यह कथन यथार्थ है-

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि

किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।

एक प्रकार से यही कर्म विज्ञान का आधार है। जिस जीव के जिस प्रकार के मनोभाव, अध्यवसाय और प्रवृत्ति रही, उसने वैसे ही कर्म बाँध लिये, और जैसे कर्म बाँधे उसे वैसा ही शरीर, इन्द्रिय, लाभ-हानि, सुख-दुख आदि की प्राप्ति होती है।

कर्म विज्ञान : पाँचवा भाग

मैंने कर्म विज्ञान के पिछले चार भागों में कर्म के स्वरूप, कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध, शुभ-अशुभ कर्म, कर्मों का आस्रव-आगमन (Influx), संवर (Check up of Karmas) आदि तत्वों पर बहुत ही विस्तार पूर्वक विवेचन/विश्लेषण किया है। सामाजिक समस्याओं पर भी विचार किया है।

चतुर्थ भाग में बन्ध का विवेचन किया है कि कर्म किस प्रकार बँधते हैं, बन्ध के कारण क्या और कौन-कौन से हैं। कर्मों की प्रकृति का वर्णन करके उनके फलभोग के विषय में चर्चा की है। यह बताने का भी प्रयास किया है कि एक ही कर्म क्यों और किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के फल-परिणाम उत्पन्न करता है। तीव्र और मन्द भावों-अध्यवसायों का कर्मबन्ध पर क्या प्रभाव पड़ता है। कर्म कितने समय तक के लिए (Duration) बंधता है। प्रत्येक कर्म की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति कितने समय की है। कर्म कितने समय तक उदय में नहीं आता-अपना फल नहीं देता, उसका अबाधा काल कितना है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया।

प्रस्तुत पाँचवें भाग में कर्मबन्ध की विशेष दशाओं पर विवेचन/विश्लेषण किया है कि कर्मबन्ध की किस प्रकार की विविधता और विशेषताएँ क्या हैं? कौन-कौन सी प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका तथा परावर्तमाना और अपरावर्तमाना हैं। विपाक (फलदान शक्ति) पर आधारित कौन-सी चार प्रकृतियाँ हैं? कर्म बन्ध की परिवर्तनीय अवस्थाएँ, व्यवस्था सूचक स्थानत्रय आदि कर्म बन्ध की विभिन्नताओं का विवेचन इस भाग में किया गया है।

वस्तुतः इस भाग में मार्गणा-स्थानों और गुणस्थानों तथा जीवसमासों का सर्वांगपूर्ण विश्लेषण है। मार्गणा-स्थान, गुणस्थान आदि जीव के मनोभावों के उतार-चढ़ाव का थर्मामीटर है। जिसके आधार पर हम उसकी वृत्तियों, प्रवृत्ति और परिपाटियों का विवेचन/विश्लेषण कर सकते हैं। जैन मनोविज्ञान की यह अनूठी

कुंजी है। जीव समास जीव की स्थिति बताते हैं, मार्गणा-स्थानों द्वारा जीव की गवेषणा की जाती है तथा गुणस्थान आत्मिक उन्नति के वे सोपान है, जो निम्नतम स्थिति से उच्चतम स्थिति तक पहुँचने में सहायक बनते हैं, इनसे यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि जीव आध्यात्मिक साधना करके मोक्ष रूपी मंजिल की ओर कितना आगे बढ़ चुका है।

गुणस्थान जीव के भावों/अध्यवसायों पर आधारित होते हैं। अत: औपशमिक आदि पाँचों प्रकार के भावों का भी वर्णन आवश्यक होने से यहाँ किया गया है। साथ ही क्षपक और उपशम श्रेणी पर भी विचारणा प्रस्तुत की गई है। अभीष्ट होने से राग और द्वेष से होने वाले बन्ध की प्ररूपणा भी की गयी है।

जिन कर्मविज्ञान जिज्ञासुओं ने पिछले चारों भागों का अध्ययन/मनन किया है। उनको इस भाग में कर्मबन्ध सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी प्राप्त होगी। जिन्होंने पिछले चार भागों का अध्ययन नहीं किया है, उन्हें मेरा परामर्श है कि वे उन भागों को अवश्य पढ़ें ताकि इस पंचम भाग का विषय सरलता से समझने और हृदयंगम करने में समर्थ हो सकें।

इस प्राक्कथन के साथ ही मैं अपने अध्यात्म नेता, श्रमण संघ के आचार्य सम्राट आनन्द ऋषि जी म. का पुण्य स्मरण करता हूँ जिनके आशीर्वाद और कृपा प्रसाद का मैं सदा ऋणी रहूँगा।

मेरे परम उपकारी पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी यद्यपि सशरीर आज नहीं रहे, किन्तु अशरीर होकर भी मेरी रग-रग में समाये हैं, रोम-रोम में बसे हैं। उन्हीं ने मेरे जीवन का निर्माण किया, सद्गुणों की सुगन्ध से आप्लावित किया और मुझे इस योग्य बनाया कि कर्मविज्ञान जैसे महत्वपूर्ण विशाल ग्रन्थ की सर्जना कर सकूँ तथा आज जिस पद पर मैं आसीन हूँ, उसकी गौरव-गरिमा को अक्षुण्ण रख सकूँ।

संघीय कार्यों से मुझे कम अवकास मिल पाता है। अत: कर्मविज्ञान जैसे विशाल ग्रन्थ के सम्पादन में हमारे श्रमण संघीय विद्वान मनीषी मुनि श्री नेमिचन्द्र जी महाराज ने अपना हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। उनका यह सहयोग चिरस्मरणीय है और वे धन्यवाद के अधिकारी हैं।

इस लेखन सम्पादन में मैंने विशाल दृष्टि रखी है। देशी विदेशी विद्वानों की अनेक रचनाओं का अवलोकन और उपयोग किया है। मैं उन सभी लेखकों और प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इसके अतिरिक्त जिस किसी का भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक के सुन्दर और शुद्ध मुद्रण के लिए श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना का सहयोग प्राप्त हुआ है। वे भी साधुवाद के पात्र हैं।

मुझे विश्वास है कि पाठक कर्मविज्ञान के पाँचों भागों को रुचिपूर्वक पढ़ेंगे और इस उच्च विज्ञान को हृदयंगम करके जीवन और जगत की समस्त जटिलताओं का समाधान प्राप्त करके मुक्ति प्राप्ति की ओर अग्रसर होंगे।

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

कर्म-विज्ञान—भाग ५
(विषय-सूची)

१.	कर्मबन्धनों की विविधता एवं विचित्रता	३
२.	ध्रुव-अध्रुवरूपा बन्ध-उदय-सत्ता-सम्बद्धा प्रकृतियाँ	३३
३.	परावर्तमाना और अपरावर्तमाना प्रकृतियाँ	६१
४.	विपाक पर आधारित चार कर्म प्रकृतियाँ	६६
५.	कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ-१	८२
६.	कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ-२	११८
७.	बद्ध जीवों के विविध अवस्था-सूचक स्थानत्रय	१४१
८.	चौदह जीवस्थानों में संसारी जीवों का वर्गीकरण	१५१
९.	जीवस्थानों में गुणस्थान आदि की प्ररूपणा	१७२
१०.	मार्गणास्थान द्वारा संसारी जीवों का सर्वेक्षण-१	१९७
११.	मार्गणास्थान द्वारा संसारी जीवों का सर्वेक्षण-२	२२६
१२.	मार्गणाओं द्वारा गुणस्थानापेक्षया बन्ध स्वामित्व-कथन	२५९
१३.	मोह से मोक्ष तक की यात्रा की १४ मंजिलें	२९६
१४.	गाढ़ बन्धन से पूर्ण-मुक्ति तक के चौदह सोपान	३४०
१५.	विविध दर्शनों में आत्म-विकास की क्रमिक अवस्थाएँ	३८०
१६.	गुणस्थानों में जीवस्थान आदि की प्ररूपणा	३९५
१७.	गुणस्थानों में बन्ध-सत्ता-उदय-उदीरणा प्ररूपणा	४२१
१८.	औपशमिकादि पाँच भावों से मोक्ष की ओर प्रस्थान	४६४
१९.	ऊर्ध्वारोहण के दो मार्ग : उपशमन और क्षपण	५०४
२०.	ऋणानुबन्ध : स्वरूप, कारण और निवारण	५२८
२१.	रागबन्ध और द्वेषबन्ध के विविध पैंतरे	५५७

धर्मशील देसरडा परिवार

श्रीमान डॉ. चम्पालालजी देसरडा
सौ. प्रभादेवी चम्पालालजी देसरडा
श्री शेखर कुमार देसरडा
सौ. सुनीता शेखर देसरडा
कु. शिल्पा देसरडा, मधुर देसरडा
कु. सपना देसरडा, किशोर देसरडा

कर्म विज्ञान : भाग ५

अष्टम खंड

कर्मबंध की विशेष दशाएं

१

कर्मबन्धों की विविधता एवं विचित्रता

संसार-महायंत्र को बाँधे रखते हैं बंध

लोहे के विविध सामान का उत्पादन करने वाली भारी भरकम बड़ी मशीन में हजारों कल-पुर्जे लगे रहते हैं। उसमें कई अत्यन्त छोटे नट, बोल्ट, कीलें तथा पुर्जे भी होते हैं और कई बडे-बड़े लोहे के स्प्रिंग, हेंडल आदि औजार भी उस मशीन में लगे रहते हैं। ये सब कल-पुर्जे, नट, बोल्ट, हेंडल, स्प्रिंग आदि सब उस बड़ी मशीन (महायंत्र) को बांधे रहते हैं। यदि ये या इनमें से एक भी कल-पुर्जा आदि न हो तो वह मशीन ठप्प हो जाएगी, चलेगी नहीं।

विविध कर्मबन्ध : संसारमहायंत्र को बांधे रखने वाले

इसी प्रकार संसारस्थ जीवों का एकमात्र आधार संसार है। उस संसार रूपी महायंत्र में कर्मबन्धरूपी अगणित कलपुर्जे लगे हुए हैं, जो संसार को बांधे हुए हैं, टिकाये हुए हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच आस्रवों रूपी विद्युत् तारों से वह संसाररूपी मशीन बंधती है। उसमें भी अगणित बन्ध लगे हुए हैं। कोई छोटा है, कोई बड़ा है। कोई बन्ध घात्य है तो कोई अघात्य है। कोई पुण्य-रूप है तो कोई पापरूप है। कोई बन्ध पुद्गलादि के विपाक को लेकर हुआ है, तो कोई बंध परावर्तमाना प्रकृतियों का है, तो कोई अपरावर्तमाना प्रकृतियों का है। साथ ही, बन्ध के विविध अध्यवसायों, कारणों, मिथ्यात्व आदि हेतुओं, बंध के बीज : राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि बन्ध के मूल, आदि भी उसी संसार-महामंत्र को बांधे रखने, बार-बार बांधने में अग्रगण्य हैं। साथ ही संसार के महायंत्र का बन्ध आकृति से न दिखाई देने पर भी संसार में उसके कारण होने वाले सुफल-दुष्फलों का, जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि आदि दुःखों का अवलोकन तथा अनुभव प्रायः प्रत्येक व्यक्ति करता है।

प्रकृतिबन्ध आदि बंध के मूलभूत अंग

सर्वप्रथम बन्ध के चार अंगभूत रूपों का उल्लेख किया है–कर्मविज्ञान ने प्रकृति-बन्ध का कार्य कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों (स्वभावों) के अनुसार विभिन्न रूपों में विभक्त कर देना है। वह मूल ८ तथा उत्तर १४८ भागों में विभक्त कर देता है। साथ ही प्रदेशबन्ध उनका अलग-अलग परिमाण (नापतौल) करके उन्हें बांधता है। अनुभागबन्ध तीव्र-मन्द-मध्यम कषायों, रागद्वेषादि रूप अध्यवसायों के अनुसार तीव्र-मन्दादि फल प्रदान करता है, और स्थितिबन्ध उन-उन कर्मों की कालमर्यादा निश्चित करता है। इन चारों प्रकार के बन्धों द्वारा प्रत्येक संसारस्थ जीव को बांध रखा है। ये बंध इतने ही नहीं हैं, प्रकृतिबन्ध के दायरे में मूल प्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों का भी बन्ध होता है। ये बंध की मूलपूंजी और सेना हैं।[१]

प्रकृतिबन्ध आदि चारों में से जीवों के परिणामों के अनुसार अगणित भेद हो जाते हैं। फिर प्रकृतिबन्ध आदि चारों के साथ ध्रुव और अध्रुव शब्द लगाया गया। बन्ध केवल बन्धरूप में ही अन्त तक नहीं पड़ा रहता। उसकी चार अवस्थाएँ बनती हैं–बन्ध, सत्ता, उदय और उदीरणा। इन चारों में से प्रथम तीन के साथ ध्रुव और अध्रुव विशेषण जोड़ा गया। इनके इस प्रकार के वर्गीकरण करने के पीछे उद्देश्य यही रहा कि कर्मों की कौन-कौन-सी प्रकृतियाँ सदैव बंधती रहती हैं, अमुक काल तक अवश्य टिकती हैं, कौन-सी प्रकृतियों का उदय स्थायी या अस्थायी है। यही कारण है कि कर्मविज्ञानवेत्ताओं ने इनका नाम इस प्रकार दिया है–ध्रुव-बन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका अध्रुवसत्ताका।

घाती-अघाती कर्मबन्धों का विवेचन

इसके पश्चात् घाती-अघाती प्रकृतियाँ भी बताई गई हैं, वे इस उद्देश्य से कि संसारस्थ जीव, उसमें भी मनुष्य, यह पहचान सके कि कौन-कौन-सी प्रकृतियाँ आत्मगुणों की सर्वांशतः या अंशतः घातक हैं, और कौन-कौन-सी प्रकृतियाँ अघाती हैं, यानी आत्मगुणों की घातक नहीं हैं, किन्तु शरीर से सम्बन्धित इकाइयों को बांधने वाली हैं?

इसके साथ ही घाती कर्मप्रकृतियों के बन्ध के क्या-क्या कारण हैं? कौन-कौन-सी प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं? कौन-सी देशघातिनी हैं? आदि तथ्यों का सरल विवेचन किया गया है।[२]

---

१. (क) देखें, कर्मविज्ञान खण्ड ७ भा. ४ में बन्धों की सार्वभौम व्याख्या।
(ख) कर्मविज्ञान भाग ५ खण्ड ८ के 'परावर्तमाना अपरावर्तमाना प्रकृतियाँ' निबन्ध।

२. प्रकृतिबन्धादि की प्ररूपणा के लिए देखें कर्मविज्ञान ७वां खण्ड के १३वें से २४वें तक के निबन्ध।

विविध बंधों की जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान द्वारा प्ररूपणा

इतना ही नहीं, आगे चलकर चौदह जीवस्थान, चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणास्थानों के माध्यम से किस-किस प्रकार के जीवों में कौन-कौन-से गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या आदि पाये जाते हैं? इसकी भी बन्ध के सन्दर्भ में प्ररूपणा की गई है। गुणस्थान के माध्यम से बन्ध और उसके संयोग-वियोग में सहभागी उदय, उदीरणा और सत्ता का वर्णन किया गया है, जिससे प्रत्येक मुमुक्षु व्यक्ति यह जान-समझ सके कि पहले से चौदहवें गुणस्थान तक कितने और कौन-कौन-से कर्मों का बन्ध होता है, उदय होता है, सत्ता में रहते हैं, और उदीरणा हो सकती है?[१] साथ ही यह जानकर मुमुक्षु साधक अपने गुणस्थान से आगे बढ़ने तथा बद्ध कर्मों के सत्ता में रहते हुए ही तप, व्रत, संयम, त्याग, परीषहजय और कषायविजय के माध्यम से बन्धों की स्थिति और अनुभाग को घटा सकते हैं।

पुण्य-पाप कर्मबन्धों की प्ररूपणा अतीव प्रेरणाप्रद

उत्तरकर्मप्रकृतियों के बन्ध के सिलसिले में कर्मशास्त्रियों ने पुण्य और पापकर्म की प्रकृतियों का पृथक्करण करके यह स्पष्ट संकेत कर दिया है कि पुण्यबन्ध एकान्तरूप से उपादेय नहीं है। साथ ही पुण्य-पाप प्रकृतियों की पहचान तथा वे कैसे-कैसे किन-किन कारणों से बंधती हैं? उनके बांधने और भोगने के कितने-कितने प्रकार हैं? आदि तथ्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है। वह किस भूमिका (गुणस्थान) तक रहता है, बाद में स्वयं कब छूट जाता है ?

इसकी प्ररूपणा के द्वारा साधकों को परोक्ष रूप से संकेत भी किया है कि पुण्यकर्म यद्यपि अच्छा लगता है, सुखद और अनुकूल मालूम होता है, पुण्यकर्म के प्रभाव से अनेक सुख-सम्पदाएँ बिना मांगे मिल जाती हैं, जगत में यश और कीर्ति फैल जाती है, परन्तु मुमुक्षु को पुण्यप्रकृति के उपार्जन के लिए ललचाना नहीं चाहिए। उसे सोने की बेड़ी और बन्धनरूप समझकर उसका त्याग करने, संवर और निर्जरा का मार्ग अपनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। सामान्य गृहस्थ जीवन में अगर उतना त्याग, तप, व्रतादि-पालन, क्षमादि दशविध धर्माचरण आदि शुद्धोपयोग न हो सके तो कम से कम शुभोपयोग में रहने का प्रयत्न करना चाहिए; परन्तु धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता, पूर्वाग्रह, कदाग्रह, कलह, राग-द्वेष एवं कषाय बढ़े, ऐसे पापवर्द्धक पापबन्धक, अशुभोपयोग के विचारों और कार्यों से सदैव दूर रहना चाहिए।[२]

---

१. जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान के माध्यम से विविध बंधों की प्ररूपणा के लिए देखें कर्मविज्ञान ८वां खण्ड।

२. पुण्यबन्धों और पापबन्धों की प्ररूपणा के लिए देखें-कर्मविज्ञान खण्ड ७, निबन्ध २२वाँ।

चौदह मार्गणाओं के आश्रय से बन्ध की प्ररूपणा

साथ ही मार्गणास्थान के माध्यम से गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, भव्यत्व, लेश्या, दर्शन, उपयोग, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहारकत्व आदि १४ मार्गणाओं में गुणस्थान और बन्ध की सांगोपांग प्ररूपणा की गई है। जिसे जानकर प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु अपनी गति में, अपने योग, उपयोग आदि को सावधानी-पूर्वक ठीक रखते हुए आध्यात्मिक विकास कर सकता है।[1]

उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी के मार्ग में बन्धों का विधान

आध्यात्मिक ऊर्ध्वारोहण के दो मार्गों के क्रम में, बन्ध के उत्तरोत्तर विच्छेद तथा कषायों की उत्तरोत्तर मन्दता और क्षीणता का सजीव वर्णन भी मुमुक्षु के हृदय में अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होने तथा कर्मबन्धों की घुड़दौड़ को रोकने की लहर पैदा कर देता है।[2]

इतना ही नहीं, रसबन्ध और स्थितिबन्ध के द्वारा काषायिक रसों की तीव्रता-मन्दता से विभिन्न बन्धों की कालमर्यादा का सजीव वर्णन साधक के मन में आश्चर्य के साथ उत्सुकता पैदा कर देता है। वह बन्धों की विचित्रताओं को जानकर उन बन्धों को शिथिल करने और अन्त में क्रमशः तोड़कर आध्यात्मिक विकास में आगे बढ़ने को उद्यत होता है।[3]

पाँच भावों के आश्रय से आत्मिक विकास का दिशासूचन

कर्मबन्ध की विविधता बताने के लिए कर्मशास्त्रियों ने औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इन पाँच भावों के पृथक्-पृथक् स्वरूप बताकर यह स्पष्ट कर दिया है कि किस भाव से बन्ध का सुदृढ़ संयोग होता है, किस भाव से बन्ध होने के बाद उदय में आने से रोककर शान्त रखा जा सकता है, किस भाव से बन्धों का कुछ क्षय, कुछ उपशम रहता है और किस भाव से बन्धों का आंशिक और सर्वांशतः क्षय किया जा सकता है? वह क्षायिक भाव कैसे और कब आ सकता है ? और किस भाव से बन्धों से सर्वथा पृथक् रहकर अपने जीवत्व तथा अपने आत्म-स्वरूप में स्थिर रहा जा सकता है ? इस प्रकार कर्मशास्त्र में

१. मार्गणास्थान द्वारा १४ गुणस्थानों में १४ मार्गणाओं के आश्रय से बन्ध की प्ररूपणा खण्ड ८ में देखें।
२. उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी के निमित्त से बन्धों के उत्तरोत्तर विच्छेद का क्रम देखें। खण्ड ८ में ।
३. देखें-रसबन्ध और स्थितिबन्ध के विशेष ज्ञान के लिए कर्मविज्ञान खण्ड ७ में २३, २४वाँ निबन्ध ।

पंचविध भावों के द्वारा कर्मबन्ध से संयोग और वियोग का स्पष्ट निरूपण कर दिया है।[१]

कर्मबन्धों की चार दशाएँ: बन्धों को नापने का थर्मामीटर

कर्मबन्ध होने के साथ ही उसकी डिग्रियाँ नापने के लिए एक तथ्य और स्पष्ट किया है और साधक को यह संकेत दिया है कि तुम्हारा जो कर्म बँधा है, उसे जानो कि वह स्पृष्ट कोटि का है, बद्ध कोटि का है, निधत्त कोटि का है या निकाचित कोटि का है ? यदि निधत्त और निकाचित कोटि का है तो उस बन्ध में परिवर्तन होने, यानी अशुभ को शुभ में अथवा शुभ को अशुभ में बदलने, अथवा उस बन्ध की अपनी सजातीय उत्तरप्रकृति में रूपान्तरण, उदात्तीकरण या मार्गान्तरीकरण करने की गुंजाइश नहीं है। निधत्त कोटि के बन्ध में थोड़ी-सी गुंजाइश है-अपवर्तन और उद्वर्तन की, परन्तु साधक संभले तब न ? इसलिए ईर्यापथिक आस्रव और शुद्ध बन्ध वाले महाभाग कषाय से निर्लिप्त और पूर्ण सावधानी के साथ केवल स्पृष्ट बन्ध से ही छुटकारा पा जाते हैं। यदि कोई साधक इतना सक्षम और अप्रमत्त न हुआ तो वह बद्ध कोटि का बन्ध करते समय भी सावधान रहता है कि यह बन्ध कहीं तीव्रतर, तीव्रतम कोटि का, और अशुभ (पाप) कर्म का न हो जाए। कम से कम वह मन्द, मन्दतर, मन्दतम कोटि का हो, शुद्ध और शुभ कोटि का हो।[२]

बन्धों की जड़ों को उखाड़ने के लिए राग द्वेषरूपी बीज न बोएं

कर्मशास्त्रियों ने बन्ध की जड़ों को कुरेदने हेतु साधकों को सावधान करते हुए निर्देश किया है-बन्ध का मूल मोह है और उसके मूलस्रोत हैं-राग और द्वेष। रागबन्धन और द्वेषबन्धन दोनों ही किस-किस प्रकार विभिन्न पहलुओं से साधक की आत्मा को बाँध लेते हैं ? किस-किस प्रकार से वे चुपके से साधक के अन्तरतम में प्रविष्ट हो जाते हैं ? साधक को अपने दैनिक कार्य-कलापों में किस प्रकार उनसे बचते रहना है ? उच्च भूमिका पर आरूढ़ न होने तक 'प्रशस्त राग' को अपनाया जा सकता है किन्तु वह भी सावधान होकर। कहीं प्रशस्त राग की ओट में सम्प्रदाय, जाति, भाषा, राष्ट्र, प्रान्त, ग्राम, नगर, संघ, संस्था आदि के प्रति अन्धराग न हो जाए; प्रकारान्तर से वह अन्य सम्प्रदाय आदि के प्रति द्वेष, घृणा, कलह, रोष, वैर-विरोध, निन्दा, अपयशकारित्व, ईर्ष्या, द्वेष आदि का रूप न ले ले। यदि ऐसा होगा तो वह प्रशस्त राग न रहकर अप्रशस्त राग पापकर्मबन्धक व पापवर्द्धक राग हो जायेगा ? साधक को कर्मशास्त्रियों ने स्पष्ट चेतावनी दी है, राग चाहे कैसा भी हो,

१. पाँच भावों की प्ररूपणा के लिए देखें, कर्मविज्ञान खण्ड ८ में ।
२. देखें-कर्मविज्ञान खण्ड ७ में 'कर्मबन्ध की मुख्य ४ दशाएँ' निबन्ध में।

प्रशस्त भी हो, वह साधक को आध्यात्मिक विकास में आगे बढ़ने से रोकता है। अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) के शिखर पर आरूढ़ होने नहीं देता। वह वीतरागता का अवरोधक है। द्वेष तो सर्वथा हेय है ही, राग भी अन्ततोगत्वा हेय है, इस तथ्य को साधक के मन-मस्तिष्क में ठसाने के लिए रागबन्ध और द्वेषबन्ध अथवा प्रेयबन्ध और द्वेषबन्ध के विचित्र रूप बताकर उनसे बचने का संकेत किया है।[१]

मिथ्यात्व के प्रबल बन्धन को तोड़ने के लिए ग्रन्थिभेद का उपाय

मोहनीय कर्म सभी कर्मों का राजा है, प्रबल है, और घातीकर्मों का सिरमौर है। उसका बन्ध तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम कैसे-कैसे और किस-किस गुणस्थान में कितना-कितना होता है ? तथा मोहनीय कर्म की दर्शनमोह और चारित्रमोह, ये दो प्रधान शक्तियाँ हैं। ये साधक की आत्मा पर, साधक की स्वाभाविक आत्मशक्तियों पर जबरन कैसे-कैसे पर्दा डालती हैं, किस प्रकार कुण्ठित और विकृत कर डालती हैं ? तथा सर्वप्रथम दर्शनमोह के द्वारा होने वाले मिथ्यात्व के जबर्दस्त बन्ध को तोड़कर अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान तक पहुँचने के लिए साधक यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण की घाटियों को कैसे पार कर सकता है और मिथ्यात्व के चक्रव्यूह का भेदन करके सम्यक्त्व के राजमहल में कैसे पहुँच पाता है ? इसका सजीव वर्णन मुमुक्षु आत्मार्थी साधक की हृदयतंत्री को झकझोर कर जाग्रत कर देता है। वह गाढ़ बन्ध के उस दुर्ग पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्साहित हो उठता है।[२]

बन्धों को बदलने का आशास्पद सन्देश

इसके अतिरिक्त एक बार बधा हुआ कर्म कभी बदला नहीं जा सकता, उसकी स्थिति और फलदानशक्ति में कतई परिवर्तन नहीं हो सकता; साधकों की इस भ्रान्ति, निराशा और निरुत्साहिता को तोड़ने तथा पुरुषार्थवाद का सन्देश देने के लिए कर्मविज्ञानमर्मज्ञों ने कर्मबन्ध की १० मुख्य अवस्थाओं का विवेचन किया है। ये दस अवस्थाएं विभिन्न पहलुओं से पूर्वबद्ध कर्म को तोड़ने में हिम्मत न हारने का सन्देश देती हैं। इनमें से बन्ध की कुछ अवस्थाएं मात्र सूचक हैं कि पहले बँधे हुए कर्म को भाग्य भरोसे या प्रमादवश छोड़ देने और उसे बदलने का पुरुषार्थ न करने से उसका कितना दुःखद एवं पश्चात्तापजनक परिणाम भोगना पड़ता है? उनमें से बन्ध, उद्वर्तना, उदय, निधत्ति और निकाचना के समय बहुत ही सावधान रहने का संकेत है। शेष अपवर्तन, सत्ता, उदीरणा, संक्रमण और उपशमन, इन अवस्थाओं में साधक

१. देखें-रागबन्ध और द्वेषबन्ध के विविध पैतरें, लेख कर्मविज्ञान खण्ड ८ में।
२. देखें-कर्मविज्ञान खण्ड ८ में इस विषय का निबन्ध।

को उक्त कर्मबन्ध को बदलने, भोग कर क्षय करने, रूपान्तर करने तथा उसके उदय को शान्त करने के लिए पुरुषार्थ की प्रेरणा है।[१]

बन्धों की विचित्रता और जाल से सावधान

फिर भी बन्धों का जाल इतना विचित्र है कि इनके जाल से अनभिज्ञ सामान्य मनुष्य तो बच ही नहीं पाता। कभी-कभी विशिष्ट शास्त्राभ्यासी आगमवेत्ता साधक भी इन कर्मों के बन्ध के चक्कर में आ जाते हैं। वे साधक आचारांग की इन सूक्तियों पर ध्यान दें-"आरम्भों से उपरत ही कर्मों का क्षय करता है। जो धर्मविद् एवं सरल हैं, वे इस आरम्भ (हिंसा) से उत्पन्न दुःख को जानकर उसे छोड़ते हैं। विविध विषयों में निर्वेद-विरतिभाव को प्राप्त कर लोकैषणा मत करो जिसके यह लोकैषणा नहीं है, उनके अन्य पापप्रवृत्तियाँ कैसे हो सकती है।"[२]

बड़े-बड़े उच्च साधक धर्म-प्रभावना के नाम पर अथवा अपने गुरुओं अथवा अपने विशिष्ट चमत्कार या सिद्धि के नाम पर सहस्रों व्यक्तियों की भीड़ जुटा लेते हैं। "साथ ही जो श्रमण माहनों की व्यर्थ निन्दा करते हैं, चाहे वे उनसे (बाह्यरूप से) मैत्री रखते या पापकर्मों को निःशेष करने के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त हों, तो भी उनका वह (कार्य) परलोक को बिगाड़ने के लिए है; क्योंकि परपरिवाद नामक पापकर्म का बन्ध वे सहज में ही कर बैठते हैं।" सूत्रकृतांग की इस उक्ति पर ध्यान दें।[३]

इस प्रकार के आडम्बरों और प्रसिद्धियों की महत्वाकांक्षा के पीछे कितना समय, शक्ति, बुद्धि तथा धन खर्च करना पड़ता है ? यह भी विचारणीय है। कर्मबन्धों का प्रतिसमय बंधने का जो नियम है, तदनुसार उस कर्मबन्ध में रागभाव की तीव्रता होने से वे कर्मबन्ध बहुत हीजटिल और अपरिवर्तनीय बन जाया करते हैं। इस तथ्य की ओर साधकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए कर्मविज्ञान मर्मज्ञों ने

---

१. देखें-कर्मविज्ञान खण्ड ८ में-कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ १, २ शीर्षक लेख।

२. आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा····· पलियं चयंति।-आचारांग श्रु. १, अ. ४, उ. ३
दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा, न लोगस्सणं चरे, एत्थोवरए तं सोसमाणे, अयं संधीति अदक्खु।' -आचा. १/५/२४
जस्स नत्थि इमा जाइ, अण्णा तस्स कओ सिया? -आचारांग १/४/३

३. "····· जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासेइ मित्ति मन्नंति, आगमित्ता णाणं··· दंसणं ····· चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोग-पलिमंथत्ताए चिट्ठइ।" -सूत्रकृतांग श्रु. २, अ. ७

बन्धों की कुछ विचित्रताओं का भी उपर्युक्त १० अवस्थाओं के अतिरिक्त निर्देश किया है।

चौबीस दण्डकवर्ती जीव कर्मजाल से आवेष्टित-परिवेष्टित

सर्वप्रथम उन कर्मप्रकृतियों का निर्देश करेंगे जिन्हें भगवतीसूत्र में चौबीस दण्डकवर्ती समस्त संसारी जीवों को कर्म किस-किस प्रकार आवेष्टित और परिवेष्टित किये हुए हैं, उनका सजीव वर्णन प्रस्तुत किया गया है। वहाँ इस रहस्य को उद्घाटित किया गया है कि मनुष्य के सिवाय चौबीस दण्डकवर्ती प्रत्येक जीव ज्ञानावरणीय से लेकर अन्तराय तक आठ ही कर्मों के अविभाग परिच्छेदों (अनन्त-अनन्त परमाणुओं) से आवेष्टित और परिवेष्टित है। अर्थात्-गाढ़रूप से चारों ओर से लिपटे हुए प्रगाढ़रूप से बद्ध है।

मनुष्यों के लिए अपवाद बताया है, उसका कारण यह है कि केवलज्ञानी भगवन्तों के चार घातीकर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) नष्ट हो चुके होते हैं, इसलिए उनके चार घाती कर्मों से लिपटने का सवाल ही नहीं है। रहे चार अघाती कर्म। ये चारों अघाती कर्म (वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य) जैसे छद्मस्थ मनुष्यों के होते हैं, वैसे ही केवलियों के होते हैं, फिर भी केवलियों में एक विशेषता है, कि ये चारों अघाती कर्म पूर्वकाल में बँधे हुए हैं, सो हैं ही। नये सिरे से केवल सातावेदनीय का बन्ध होता है, अन्य का नहीं। इसलिए केवली भगवन्तों के सिवाय अन्य सभी छद्मस्थ मनुष्य तो आठों ही कर्मों के अनन्त-अनन्त परमाणुओं से आवेष्टित परिवेष्टित हैं। इस प्रकार कर्म से आवेष्टित-परिवेष्टित होने का निर्देश करके उन ज्ञानी महापुरुषों ने कर्मबन्ध से न लिपटने और सावधान रहने की परोक्ष चेतावनी दी है।[१]

कर्मबन्धों के परस्पर सहभाव की प्ररूपणा

इसके अतिरिक्त उन्होंने बंधने वाले कर्मों के परस्पर सहभाव की ओर संकेत करते हुए कहा है-जिस जीव के ज्ञानावरणीय कर्म है, उसके नियमतः दर्शनावरणीय कर्म भी है, और जिसके दर्शनावरणीय कर्म है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म भी अवश्यमेव है।

जिसके ज्ञानावरणीय कर्म है, उसके वेदनीय कर्म अवश्य होता है, परन्तु जिसके वेदनीय कर्म है, उस जीव के ज्ञानावरणीय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित नहीं भी होता। इसी प्रकार जिसके मोहनीय कर्म है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म अवश्य होता है, किन्तु जिसके ज्ञानावरणीय कर्म है, उसके मोहनीय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित्

२. भगवती सूत्र श. ८ उ. १० सू. ३१ से ४१ तक (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर)

नहीं भी होता। इसी प्रकार जिसके ज्ञानावरणीय कर्म है, उसके आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म नियमतः हैं, किन्तु जिनके आयुष्य, नाम, गोत्र कर्म हैं, उनके ज्ञानावरणीय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म जिस जीव के है, उसके अन्तराय कर्म अवश्य होता है, तथा जिसके अन्तराय कर्म है, उसके ज्ञानावरणीय भी नियमतः होता है।

जिस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के साथ पूर्वोक्त ७ कर्मों के विषय में विकल्प कहे, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

इसके बाद, जिसके वेदनीय कर्म हैं, उसके मोहनीय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता। किन्तु जिस जीव के मोहनीय कर्म है, उसके वेदनीय कर्म (बन्ध) अवश्य होता है। इसी प्रकार जिसके वेदनीय कर्म (बन्ध) है, उसके आयु, नाम और गोत्र कर्म भी अवश्य होते हैं। जिसके वेदनीय कर्म होता है, उस जीव के अन्तराय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं, किन्तु जिस जीव के अन्तराय कर्म है, उसके वेदनीय कर्म अवश्य होता है।

जिसके मोहनीय कर्म है, उसके आयुष्य कर्म अवश्य होता है, परन्तु जिसके आयु कर्म होता है, उसके मोहनीय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता इसी प्रकार मोहनीय कर्म के साथ नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म के विषय में समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार जिसके आयुष्य कर्म होता है, उसके नाम, गोत्र दोनों कर्म अवश्य होते हैं। नाम गोत्र कर्म होते हैं, वहाँ आयुष्यकर्म भी अवश्य होता है। इसी प्रकार जिसके आयुकर्म होता है, उसके अन्तराय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता है। किन्तु जिस जीव के अन्तराय कर्म होता है, उसके आयुकर्म अवश्य होता है। इसी प्रकार नाम और गोत्र दोनों कर्मों का सहभाव नियमतः होता है। किन्तु जिस जीव के नामकर्म और गोत्रकर्म होता है, उसके अन्तराय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता। परन्तु जहाँ अन्तराय कर्म होता है, वहाँ नामकर्म और गोत्रकर्म अवश्य ही होता है।[१]

इस प्रकार आठों ही कर्मों के परस्पर सहभाव के कथन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि साधक को चार घाती कर्मों को क्षय करने, शिथिल बन्ध करने तथा उनके स्थिति और अनुभाग कम करने का प्रयत्न करना चाहिए, ताकि चार अघाती कर्मों का प्रभाव भी आत्मा पर इतना न पड़ सके, वे शिथिल हो जाएँ और कर्ममुक्ति की साधना में बाधक न बनें।

१. भगवती सूत्र श. ८, उ. १०, सू. ४२ से ५८ तक (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर)

आठ कर्मों के बन्धस्थान और भूयस्कारादि चार बन्ध

अब उन बन्धों के विषय में विश्लेषण और समीक्षण करना है, जो वैसे तो सामान्य व्यक्ति के द्वारा अग्राह्य, अज्ञेय तथा उपेक्ष्य जैसे होते हैं, परन्तु होते हैं, वे बहुत खतरनाक ! इसलिए मुमुक्षु साधकों के लिए उनसे बचना बहुत आवश्यक है।

पंचम कर्मग्रन्थ में मूल कर्मप्रकृतियों के बन्धस्थान का उल्लेख करके उनमें भूयस्कार बन्ध, अल्पतर बन्ध, अवस्थितबन्ध और अवक्तव्यबन्ध की प्ररूपणा की है।

मूल कर्म प्रकृतियों के चार बन्धस्थान

बन्धस्थान-एक समय में एक जीव के जितने कर्मों का बन्ध होता है, उनके समूह को बन्धस्थान कहते हैं। यद्यपि बन्धस्थान की प्ररूपणा मूल और उत्तर दोनों प्रकृतियों में की गई है। कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं, उनकी बन्धयोग्य उत्तर प्रकृतियाँ १२० हैं। यहाँ सिर्फ मूल प्रकृतियों के बन्धस्थान की प्ररूपणा की गई है। सामान्यतया प्रत्येक जीव प्रतिसमय आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का बन्ध करते हैं, क्योंकि आयुकर्म का बन्ध प्रतिसमय न होकर नियत समय में ही होता है। अतः आयुकर्म के बन्ध के नियत समय के अलावा सात कर्मों का प्रतिसमय बन्ध होता ही रहता है। जब कोई जीव आयुकर्म का भी बन्ध करता है, तब उसके आठ कर्मों का बन्ध होता है। इस प्रकार सप्त-प्रकृतिक और अष्ट-प्रकृतिक, ये दो बन्ध-स्थान हुए।

दसवें गुणस्थान में पहुँचने पर आयुष्यकर्म और मोहनीय कर्मों के सिवाय शेष छह कर्मों का बन्ध होता है, क्योंकि आयु कर्म का बन्ध सातवें गुणस्थान तक ही होता है, और मोहनीय कर्म का बन्ध नौवें गुणस्थान तक ही होता है। इस प्रकार तीसरा छह प्रकृतियों वाला बन्धस्थान हुआ। दसवें गुणस्थान से आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल एक सातावेदनीय कर्म का ही बन्ध होता है। शेष कर्मों के बन्ध का निरोध दसवें गुणस्थान में ही हो जाता है। यह एक-प्रकृतिक बन्धस्थान हुआ।[१] इस प्रकार प्रकृतियों के चार ही बन्धस्थान होते हैं- सप्त-प्रकृतिक, अष्ट-प्रकृतिक, षट्-प्रकृतिक और एक-प्रकृतिक।

अभिप्राय यह है कि कोई जीव एक समय में आठों कर्मों का, कोई ७ कर्मों का, कोई ६ कर्मों का और कोई जीव एक समय में एक ही कर्म-प्रकृति का बन्ध

---

१. जा अपमत्तो सत्तट्ठबंधगा सुहुमछण्हमेगस्स ।
उवसंतखीणजोगी सत्तण्हं नियट्टी मीस अनियट्टी ॥ -पंचसंग्रह २०९

करता है। इसके सिवाय कोई भी ऐसी दशा नहीं है, जहाँ एक साथ दो या तीन, या चार अथवा पाँच कर्मों का बन्ध होता हो।[१]

मूल प्रकृतियों में भूयस्कार बन्ध : किसमें और कितने

भूयस्कार बन्ध का लक्षण–पहले समय में कम प्रकृतियों का बन्ध करके दूसरे समय में अधिक कर्म प्रकृतियों के बन्ध को भूयस्कार बन्ध कहते हैं। मूल प्रकृतियों में भूयस्कार बन्ध तीन ही होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

प्रथम–कोई जीव ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में एक सातावेदनीय का बन्ध करके वहाँ से गिरकर दसवें गुणस्थान में आता है, तब वहाँ पूर्वोक्त छह प्रकृतियों का बन्ध करता है। यह प्रथम भूयस्कार बन्ध है।

द्वितीय–वही जीव जब दसवें गुणस्थान से च्युत होकर नीचे के गुणस्थानों में आता है, तब वहाँ सात कर्मों का बन्ध करता है। यह दूसरा भूयस्कार बन्ध है।

तृतीय–जब वही जीव आयुकर्म का बन्धकाल आने पर जब आठों कर्मों का बन्ध करता है, यह तीसरा भूयस्कार बन्ध है।[२]

पूर्वोक्त चार बन्धस्थानों में तीन भूयस्कार बन्धों के सिवाय तीन अन्य भूयस्कार बन्धों की कल्पना इस प्रकार की जाती है–(१) एक को बाँधकर ७ कर्मों का बन्ध करना, (२) एक को बाँधकर ८ कर्मों का बन्ध करना और (३) छह को बाँध कर आठ कर्मों का बन्ध करना। इनमें से आदि के दो भूयस्कार बन्ध दो तरह से संभावित हैं–(१) गिरने की अपेक्षा से और (२) मरण की अपेक्षा से। किन्तु गिरने की अपेक्षा से आदि के दो भूयस्कार बन्ध इसलिए सम्भव नहीं हो सकते, क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर जीव सीधा दसवें गुणस्थान में आता है, फिर दसवें से नौवें में आता है आदि। किन्तु यदि जीव ग्यारहवें से गिरकर सीधा नौवें या सातवें गुणस्थान में आता, तब तो एक को बाँध कर सात का या आठ कर्मों का बन्ध कर सकने से पहला और दूसरा भूयस्कार बन सकता था, मगर पतन जब भी होता है, क्रमशः होता है, इसलिए पतन (गिरने) की अपेक्षा से तो ये दो भूयस्कार बन ही नहीं सकते। इसी प्रकार छह को बाँधकर आठ कर्मों का बन्धरूप तीसरा भूयस्कार बन्ध भी नहीं बन सकता, क्योंकि छह कर्मों का बन्ध दसवें गुणस्थान में होता है और आठ कर्मों का बन्ध होता है-सातवें गुणस्थान में तथा उससे नीचे के गुणस्थानों

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ गा. २२, २३ की व्याख्या (मरुधरकेसरीजी) से पृ. ८८, ८९

२. (क) एगादहिगे भूओ एगाई-अणगाम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ, पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २॥ पंचम कर्मग्रन्थ
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ गा. २२ विवेचन (पं. कैलाशचन्दजी) पृ. ६१ से ६३

में। किन्तु पतन क्रमशः विहित होने से दसवें से सीधा सातवें गुणस्थान में आ नहीं सकता, वह दसवें से सीधा क्रमशः नौवें गुणस्थान में ही आ सकता है। अतः यह तीसरा भूयस्कार बन्ध भी नहीं बन सकता। अतः कर्म सिद्धान्तविरुद्ध ये तीनों भूयस्कार बन्ध सम्भव नहीं हैं। अब रहा मरण की अपेक्षा से आदि के दो भूयस्कार बन्धों की सम्भावना। सो ग्यारहवें गुणस्थान में यदि मरण हो तो जीव नियमानुसार देवगति में ही जन्म लेता है।[१] और वहाँ सात ही कर्मों का बन्ध करता है तथा वहाँ छह मास की आयु शेष रहने पर ही आयु का बन्ध होता है। अतः मरण की अपेक्षा से एक का बन्ध करके आठ का बन्ध कर सकना सम्भव नहीं है। अतः यह भूयस्कार बन्ध नहीं बन सकता। किन्तु एक को बाँधकर ६ का बन्धरूप भूयस्कार सम्भव है, तो भी बन्धस्थान सात का ही रहता है, बन्धस्थान का भेद होता तो भूयस्कार अलग से माना जाता।

इस प्रकार उपशमश्रेणी से उतरने पर उक्त तीन ही भूयस्कार चार बन्धस्थानों में होते हैं।

अल्पतरबन्ध : स्वरूप और प्रकार

अल्पतरबन्ध—अल्पतरबन्ध भूयस्कारबन्ध से बिलकुल उलटा होता है। अधिक कर्मों का बन्ध करके कम कर्मों का बन्ध करना अल्पतरबन्ध कहलाता है। अल्पतरबन्ध भी भूयस्कारबन्ध की तरह तीन ही होते हैं—

प्रथम—आयुकर्म के बन्धकाल में आठ कर्मों का बन्ध करके जब जीव सात कर्मों का बन्ध करता है, तब पहला अल्पतरबन्ध होता है।

द्वितीय—नौवें गुणस्थान में ७ कर्मों का बन्ध करके जब जीव दसवें गुणस्थान के प्रथम समय में मोहनीय कर्म के सिवाय शेष ६ कर्मों का बन्ध करता है, तब दूसरा अल्पतरबन्ध होता है।

तृतीय—दसवें गुणस्थान में ६ कर्मों का बन्ध करके जब जीव ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान में एक कर्म का बन्ध करता है, तब तीसरा अल्पतरबन्ध होता है।

यहाँ भी आठ का बन्ध करके छह का, एक का, और सात का बन्ध करके एक का बन्धरूप अल्पतबन्धत्रय नहीं हो सकते हैं; क्योंकि अप्रमत्त और अनिवृत्तिकरण (बादर) गुणस्थान से जीव एकदम ग्यारहवें गुणस्थान में नहीं जा सकता और न ही अप्रमत्त गुणस्थान से एकदम दसवें गुणस्थान में जा सकता है। अतः अल्पतर बन्ध भी तीन ही जानने चाहिए।

---

१. बद्धाऊ पडिवन्नो सेढिगओ य पसंतमोहो वा।
जइ कुणइ कोइ कालं, वच्चइ तोऽणुत्तर-सुरेसु ॥ —विशेषावश्यक भाष्य १३११

भूयस्कार और अल्पतरबन्धों में इतना ही अन्तर है कि गुणस्थान से क्रमशः पतन (अवरोहण) के समय भूयस्कारबन्ध और गुणस्थान से आरोहण के समय अल्पतरबन्ध होते है। लेकिन गुणस्थानों में अवरोहण और आरोहण क्रम-क्रम से होता है, एकदम नहीं, ऐसा नियम है। अतः उक्त दोनों बन्धों के तीन-तीन भेद हैं, अन्य विकल्प संभव नहीं हैं।

अवस्थितबन्ध : स्वरूप और प्रकार

अवस्थितबन्ध–पहले समय में जितने कर्मों का बन्ध किया है, दूसरे समय में उतने ही कर्मों का बन्ध करना अवस्थितबन्ध कहलाता है। अर्थात्–आठ को बांधकर आठ का, सात को बांधकर सात का, छह को बांधकर छह का और एक को बांधकर एक का बन्ध करने को अवस्थित बन्ध कहते हैं। बन्धस्थान चार हैं, इसलिए अवस्थितबन्ध भी चार ही होते हैं।[१]

अवक्तव्य-बन्ध : स्वरूप और कार्य

अवक्तव्यबन्ध–एक भी कर्म को न बांधकर पुनः कर्मबन्ध करने को अवक्तव्यबन्ध कहते हैं। यह बन्ध मूल कर्मों के बन्धस्थानों में नहीं होता है, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक तो[२] बराबर कर्मबन्ध होता ही रहता है। चौदहवें गुणस्थान में ही किसी कर्म का बन्ध नहीं होता; किन्तु चौदहवें गुणस्थान में पहुँच जाने के बाद कोई भी जीव लौटकर नीचे के गुणस्थान में नहीं आता है, जिससे एक भी कर्मबन्ध न करने से, पुनः कर्मबन्ध करने का अवसर ही नहीं आता। इसलिए मूल कर्म-प्रकृतियों में अवक्तव्य बन्ध भी नहीं होता है।

भूयस्कार आदि बन्धों के विषय में स्पष्टीकरण

भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बन्ध केवल पहले समय में ही होते हैं; जबकि अवस्थित बन्ध दूसरे आदि समयों में होता है। जैसे–कोई जीव ६ कर्मों का बन्ध करके सात का बन्ध करता है तो यह भूयस्कार बन्ध है, किन्तु दूसरे समयों में यह भूयस्कार नहीं हो सकता; क्योंकि प्रथम समय में सात का बन्ध करके अगर दूसरे समय में आठ का बन्ध करता है तो भूयस्कार बदल जाता है और छह कर्म का बन्ध करता है तो अल्पतर हो जाता है तथा सात का बन्ध करता है तो अवस्थित हो जाता है।

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ गा. २२ विवेचन पृ. ९० से ९४ (मरुधरकेसरी)

२. अबंधगो न बंधइ, इह अव्वत्तो अओ नत्थि। –पंचसंग्रह २२०

निष्कर्ष यह है कि कर्मप्रकृति की संख्या में परिवर्तन हुए बिना अधिक बांध कर कम बांधना और कम बांधकर अधिक बांधना केवल एक बार ही सम्भव है; जबकि पहली बार बांधे हुए कर्मों के बराबर पुनः उतने ही कर्मों को बांधना पुनः सम्भव है। इसलिए अवस्थितबन्ध लगातार कई समय तक हो सकता है, किन्तु शेष तीन बन्धों में ऐसा सम्भव नहीं है।[१]

उत्तरप्रकृतियों के बन्धस्थान और भूयस्कारादि बन्ध

बन्धस्थान–सामान्यतया उत्तरप्रकृतियों के २१ बन्धस्थान होते हैं। वे इस प्रकार हैं–एक, सत्रह, अठारह, उन्नीस, बीस, इक्कीस, बाईस, छब्बीस, त्रेपन, चौवन पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ, साठ, इकसठ, बेसठ, चौंसठ, पैंसठ छियासठ, सड़सठ, अड़सठ, उनहत्तर, सत्तर, इकहत्तर, बहत्तर, तिहत्तर और चौहत्तर। ये कुल उनतीस बन्ध-स्थान हैं, जिनमें अट्ठाइस भूयस्कार बन्ध होते हैं।

अट्ठाइस भूयस्कारबन्ध–उपशान्तमोह गुणस्थान में एकमात्र वेदनीय का बन्ध करके, गिरते समय दसवें गुणस्थान में ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण ४, अन्तराय ५, उच्चगोत्र और यशः कीर्ति के साथ वेदनीय का बंध मिलाकर १६+१=१७ प्रकृति के बन्ध से प्रथम समय में **प्रथम भूयस्कार बन्ध** होता है।

दसवें गुणस्थान से पतित होकर नौवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ के साथ १८ प्रकृतियों का बन्ध करने से **दूसरा भूयस्कार बन्ध** हुआ। संज्वलन माया के साथ १९ प्रकृतियों को बांधने से **तीसरा भूयस्कार बन्ध** और संज्वलन मान के साथ २० को बांधने से **चौथा भूयस्कार बन्ध,** संज्वलन क्रोध के साथ २१ का बन्ध करने से **पांचवाँ भूयस्कार बन्ध** तथा पुरुषवेद के साथ २२ का बन्ध करने से **छठा भूयस्कार बन्ध** हुआ। फिर उसके साथ हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन ४ प्रकृतियों का अधिक बन्ध करने से अपूर्वकरण के सातवें भाग में २६ का बंध करने से **सातवाँ भूयस्कार बन्ध** होता है। उसके पश्चात् आठवें गुणस्थान के छठे भाग में देवप्रायोग्य नामकर्म की २७ प्रकृतियों का बंध करने से **आठवाँ भूयस्कार बन्ध** ५३ प्रकृतियों का हुआ। फिर तीर्थंकर नामकर्म-सहित देवप्रायोग्य २९ प्रकृतियों को बांधने से कुल ५४ प्रकृतियों के बन्ध का **नौवाँ भूयस्कार बन्ध** हुआ। तथा आहारकद्विकसहित तीस का बन्ध करने से ५५ के बन्ध का **दसवाँ भूयस्कार बन्ध** हुआ। और इन पचपन को तीर्थंकर नामकर्म-सहित बांधने से ५६ का **ग्यारहवाँ भूयस्कार बन्ध** तथा अपूर्वकरण के प्रथम भाग में छप्पन में से जिननामकर्म को छोड़कर तथा निद्रा और प्रचला-सहित बांधने से ५५+२=५७ के बंध में **बारहवाँ**

१. पंचम कर्मग्रन्थ गा. २२ व्याख्या (मरुधरकेसरीजी) पृ. ९५, ९६

भूयस्कार बन्ध हुआ। तथा जिननाम कर्म-सहित ५८ का बन्ध होने पर **तेरहवाँ भूयस्कार बन्ध** हुआ, अप्रमत्तगुणस्थान में उन ५८ के साथ देवायु का बन्ध होने पर ५९ का बन्ध होने पर **चौदहवाँ भूयस्कार बन्ध** हुआ।

देशविरति गुणस्थान में देवप्रायोग्य २८ प्रकृतियों का बन्ध करने के साथ ५ ज्ञानावरण, ६ दर्शनावरण, १ वेदनीय, १३ मोहनीय, १ देवायु, २५ नामकर्म की, १ गोत्रकर्म की और ५ अन्तराय की, यों कुल ६० प्रकृतियों के बांधने से **पन्द्रहवाँ भूयस्कारबन्ध** हुआ। इन ६० के साथ तीर्थंकरनाम का भी बन्ध करने से ६१ के बन्ध का **सोलहवां भूयस्कारबन्ध** (यहाँ किसी भी तरह एक जीव को एक समय में ६२ प्रकृतियों का बंध सम्भव नहीं, अतः उसका भूयस्कार भी नहीं कहा है।) हुआ। चौथे गुणस्थान में आयु के अबन्धकाल में देवप्रायोग्य नामकर्म की २८ प्रकृतियों को बांधने पर ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ६, वेदनीय की १, मोहनीय की १७, गोत्र की १, नामकर्म की २८ और अन्तराय की ५, इन कुल ६३ प्रकृतियों का बन्ध करने **से सत्रहवां भूयस्कारबन्ध** होता है। देवायु के बंध सहित पूर्वोक्त ६३ का बन्ध करने से ६३+१=६४ प्रकृतियों के बंध का **अठारहवाँ भूयस्कार बन्ध** होता है। जिननामकर्म सहित ६५ को बांधने पर **उन्नीसवाँ भूयस्कारबन्ध** होता है। चौथे गुणस्थान में देव हो और उसके द्वारा मनुष्य-प्रायोग्य ३० प्रकृतियों के बांधने पर ६६ के बन्ध होने पर **बीसवाँ भूयस्कारबन्ध** हुआ।

मिथ्यात्वगुणस्थान में ५ ज्ञानावरण की, ९ दर्शनावरण की, १ वेदनीय की, २२ मोहनीय की, १ आयुष्य की, २३ नामकर्म की, १ गोत्र की और ५ अन्तराय की, इन कुल ६७ प्रकृतियों का बन्ध करने पर **इक्कीसवाँ भूयस्कार बन्ध** होता है। इनमें नामकर्म की २५, (पहले से दो अधिक) और आयु को कम करने पर २+६६=६८ प्रकृतियों का **बाईसवाँ भूयस्कार बन्ध,** आयु-सहित ६९ का बन्ध करने पर **तेईसवाँ भूयस्कार बन्ध** हुआ। नामकर्म की २५+१=२६ प्रकृतियों सहित ७० प्रकृतियों को बांधने से **चौबीसवाँ भूयस्कार बन्ध** हुआ। तथा आयुरहित नामकर्म की २६+२=२८ प्रकृतियों सहित ७१ प्रकृतियों को बांधने पर **पच्चीसवाँ भूयस्कार बन्ध;** तथा नामकर्म की उनतीस प्रकृतियों के साथ बहत्तर के बन्ध का **छब्बीसवाँ भूयस्कार बन्ध,** आयु सहित ७३ का बन्ध करने पर **सत्ताइसवाँ भूयस्कार बन्ध** और ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की १, मोहनीय की २२, आयु की १, नामकर्म की ३०, गोत्र की १ और अन्तराय कर्म की ५, यों कुल ७४ प्रकृतियों का बन्ध करने से **अट्ठाइसवाँ भूयस्कार** होता है।

यहाँ प्रकारान्तर से अनेक बन्धस्थान सम्भव हैं, जिनका स्वयं विचार कर लेना चाहिए। इसी प्रकार आरोहण क्रम (विपरीत क्रम) से अट्ठाइस ही **अल्पतर बन्ध** हैं,

तथा अवस्थितबन्ध उनतीस ही होते हैं, क्योंकि बन्धस्थान कुल २९ ही हैं। यहाँ अवक्तव्यबन्ध सम्भव नहीं हैं, क्योंकि जीव समस्त उत्तर प्रकृतियों का पूर्णतया अबन्धक अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में होता है। उस गुणस्थान से पतन न होने के कारण अवक्तव्यबन्ध नहीं होता।[१]

प्रत्येक कर्म की अपेक्षा से भूयस्कार आदि बन्ध-प्ररूपणा : एक स्पष्टीकरण

भूयस्कार आदि दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म, इन तीन कर्मों की उत्तरप्रकृतियों में होते हैं, शेष ५ कर्मों में उनकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की पांचों प्रकृतियाँ एक साथ ही बंधती हैं और रुकती भी एक साथ हैं। जिससे उक्त दोनों कर्मों का पंच-प्रकृतिरूप एक ही बन्धस्थान होता है। और जब एक ही बन्धस्थान है तो उसमें भूयस्कार आदि बन्ध सम्भव नहीं हैं। ऐसी स्थिति में तो सदा अवस्थित बन्ध रहता है। इसी प्रकार वेदनीय, आयु और गोत्रकर्म की एक समय में एक ही प्रकृति बंधती है। अतः इनमें भी भूयस्कार आदि बन्ध नहीं होते।[२]

दर्शनावरणकर्म के बन्धस्थान—दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तरप्रकृतियों के नौ, छह और चार प्रकृतियों के तीन बन्धस्थान हैं। दूसरे सास्वादन गुणस्थान तक तो सभी नौ प्रकृतियों का बन्ध होने से प्रथम नौ प्रकृतिक बन्धस्थान है। सास्वादन गुणस्थान के अन्त में स्त्यानर्द्धित्रिक के बन्ध की समाप्ति हो जाती है, इसलिए दूसरा बन्धस्थान ९-३=६ प्रकृतिक है। यह तीसरे मिश्रगुणस्थान से लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग तक है। और अपूर्वकरण के प्रथम भाग के अन्त में निद्रा और प्रचला के बन्ध का निरोध हो जाने से आगे दसवें गुणस्थान तक ६-२=४ (शेष चार) प्रकृतियों का ही तीसरा बन्धस्थान होता है।[३]

इसमें भूयस्कार आदि की प्ररूपणा—दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियों में दो भूयस्कार बन्ध होते हैं-(१) आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के दूसरे भाग से लेकर दसवें सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान तक में से किसी एक गुणस्थान में ४ प्रकृतियों का

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ व्याख्या पृ. ९७ से ९९ तक

२. तिण्णि दस अट्ठठाणाणि, दंसणावरण-मोह-णामाणं।
एत्थेव य भुजगास सेसेसेयं हवे ठाणं ॥ गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गा. ४५८
बंधट्ठाणा तिदसट्ठ दंसणावरण-मोह-नामाणं।
सेसाणेगमवट्ठियबंधो, सव्वत्थ ठाण-समो ॥ -पंचसंग्रह २२२

३. पंचम कर्मग्रन्थ गा. २४ व्याख्या, (मरुधरकेसरीजी), पृ. १०१, १०२

बन्ध करके जब कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थान के द्वितीय भाग से नीचे आकर ६ प्रकृतियों का बन्ध करता है, तब **पहला भूयस्कारबन्ध** होता है। (२) वहाँ से गिरकर जब नौ प्रकृतियों का बन्ध करता है, तब **दूसरा भूयस्कार बन्ध** होता है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियों में दो भूयस्कार बन्ध होते हैं।

इसी तरह दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियों में **अल्पतरबन्ध** भी दो ही होते हैं। क्योंकि अल्पतरबन्ध भूयस्कारबन्ध से ठीक विपरीत होते हैं। (१) जब कोई जीव नीचे के गुणस्थानों में ९ प्रकृतियों का बन्ध करके तीसरे आदि गुणस्थानों में ६ प्रकृतियों का बन्ध करता है, तब **प्रथम अल्पतरबन्ध** होता है। (२) जब ६ का बन्ध करके ४ का बन्ध करता है, तब **दूसरा अल्पतरबन्ध** होता है।

लेकिन **अवस्थितबन्ध** तीन ही होते है, क्योंकि दर्शनावरण कर्म के बन्धस्थान तीन ही होते हैं।

अवक्तव्यबन्ध दो होते हैं–(१) ग्यारहवें गुणस्थान में दर्शनावरण का बन्ध बिलकुल न करके कोई जीव वहाँ से गिरकर दसवें गुणस्थान में ४ प्रकृतियों का बन्ध करता है, तब **प्रथम अवक्तव्यबन्ध** होता है। (२) जब ग्यारहवें गुणस्थान में मरकर अनुत्तरविमानवासी देवों में उत्पन्न होता है, तब वहाँ प्रथम समय में दर्शनावरण कर्म की ६ प्रकृतियों का बन्ध करता है। यह **दूसरा अवक्तव्यबन्ध** है।[१]

मोहनीय कर्म के बन्धस्थान–मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं। उनमें से सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-मोहनीय का बन्ध न होने से बंध योग्य २६ प्रकृतियाँ हैं। उनमें बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक, यों कुल दस बन्धस्थान हैं। वे इस प्रकार हैं–तीन वेदों में से कोई एक वेद का तथा हास्य-रति, शोक-अरति इन दो युगलों में से एक समय में एक ही युगल का बंध होता है, अतः मोहनीय कर्म की सम्यग्-मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-मोहनीय, तीन वेदों में से कोई एक वेद, हास्यादि दो युगलों में से कोई एक युगल, यों ६ प्रकृतियों को कम कर देने से शेष २२ प्रकृतियाँ ही बन्ध को प्राप्त होती हैं। यह **प्रथम बन्धस्थान** है।

दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के सिवाय शेष २१ प्रकृतियों का, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क न बंधने से शेष १७ का, पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणीय चतुष्क का बन्ध न होने से शेष १३ प्रकृतियों का बन्ध होता है, ये क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे बन्धस्थान हैं।

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ गा. २४ की व्याख्या (मरुधरकेसरीजी), पृ. ९९ से १०३

इसके पश्चात् छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का बन्ध न होने से शेष ९ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। आठवें गुणस्थान के अन्त में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बन्ध-विच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग में ५ प्रकृतियों का ही बन्धस्थान होता है। दूसरे भाग में वेद का अभाव हो जाने से ४ प्रकृतियों का, तीसरे भाग में संज्वलन क्रोध के बन्ध का अभाव हो जाने से तीन ही प्रकृतियों का बन्ध होता है। चौथे भाग में संज्वलन मान का बन्ध न होने से दो प्रकृतियों का बन्धस्थान है। पांचवें भाग में संज्वलन माया का अभाव होने से केवल एक संज्वलन लोभ का ही बन्ध होता है। इससे आगे संज्वलन लोभ प्रकृति का भी बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म के दस बन्धस्थान जानने चाहिए।[१]

मोहनीय कर्म के भूयस्कार आदि बन्ध—मोहनीय कर्म के दस बन्धस्थानों में **नौ भूयस्कारबन्ध** होते हैं-(१) एक को बांधकर दो का बन्ध करने पर **प्रथम भूयस्कारबन्ध**, (२) दो को बांधकर तीन का बन्ध करने पर **द्वितीय भूयस्कारबन्ध**, (३) इसी प्रकार तीन को बांधकर चार का बन्ध करने पर **तीसरा भूयस्कारबन्ध**, (४) चार को बांधकर पांच का बन्ध करने पर चौथा, (५) पांच का बंध करके नौ का बन्ध करने पर पाँचवाँ, (६) नौ का बन्ध करके तेरह का बन्ध करने पर छठा, (७) तेरह का बन्ध करके सत्रह का बन्ध करने पर सातवाँ, (८) सत्रह का बन्ध करके इक्कीस का बन्ध करने पर आठवाँ, और (९) इक्कीस का बन्ध करके बाईस का बन्ध करने पर **नौवाँ भूयस्कार बन्ध** हुआ।

आठ अल्पतर बन्ध—(१) बाईस का बन्ध करके सत्रह का बन्ध करने पर **पहला अल्पतर बन्ध** होता है। (२) सत्रह का बन्ध करके तेरह का बन्ध करने पर **दूसरा अल्पतर बन्ध** होता है। (३) तेरह का बन्ध करके नौ का बन्ध करने पर तीसरा। (४) नौ का बन्ध करके पांच का बन्ध करने पर चौथा, (५) पांच का बन्ध करके चार का बन्ध करने पर पाँचवाँ, (६) चार का बन्ध करके तीन का बन्ध करने पर छठा, (७) तीन का बन्ध करके दो का बन्ध करने पर सातवाँ, और (८) दो का बन्ध करके एक का बन्ध करने पर **आठवाँ अल्पतरबन्ध** होता है।

दस अवस्थित बन्ध—बन्धस्थान दस होने से अवस्थितबन्ध भी दस होते हैं।

दो अवक्तव्य बन्ध—ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का बन्ध न करके जब कोई जीव वहाँ से च्युत होकर नौवें गुणस्थान में आता है और संज्वलन लोभ का बन्ध करता है, तब **प्रथम अवक्तव्यबन्ध** होता है। (२) यदि ग्यारहवें गुणस्थान में

१. पंचम कर्मग्रन्थ गा. २४ की व्याख्या पृ. १०४, १०५

आयुक्षय हो जाने से मरकर कोई जीव अनुत्तरविमानवासी देवों में जन्म लेता है, और वहाँ १७ प्रकृतियों का बन्ध करता है तो दूसरा अवक्तव्यस्थान होता है।[१]

नामकर्म के बन्धस्थान–नामकर्म की बन्धयोग्य ६७ प्रकृतियाँ हैं, किन्तु एक समय में एक जीव को सभी प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। एक समय में एक जीव के तेईस, पच्चीस आदि प्रकृतियाँ ही बंधती हैं। इसलिए नामकर्म के ८ बन्धस्थान बतलाये गए हैं–(१) तेईस प्रकृतिरूप, (२) पच्चीस प्रकृतिरूप, (३) छब्बीस प्रकृतिरूप, (४) अट्ठाइस प्रकृतिरूप, (५) उनतीस प्रकृतिरूप, (६) तीस प्रकृतिरूप, (७) इकत्तीस प्रकृतिरूप और (८) एक प्रकृतिरूप।

इससे पूर्व जिन बन्धस्थानों को बतलाया गया था, वे सब कर्म जीवविपाकी थे, जीव के आत्मिक गुणों पर ही उनका प्रभाव पड़ता था, किन्तु नामकर्म का अधिकांश भाग पुद्गलविपाकी है, और उसका अधिकतर उपयोग जीवों की शारीरिक रचना में ही होता है। अतः विभिन्न जीवों की अपेक्षा से एक ही बन्धस्थान की अवान्तर प्रकृतियों में अन्तर पड़ता है।

(१) वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, नामकर्म की ये नौ प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं। चारों गति के जीवों के आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक इनका बन्ध अवश्य होता है। इनके बाद तिर्यञ्चगति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, हुण्डक संस्थान, स्थावर, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, सूक्ष्म-बादर में से कोई एक, साधारण-प्रत्येक में से कोई एक, इन १४ प्रकृतियों को पूर्वोक्त ९ ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के साथ मिलाने से १४+९=२३ प्रकृतियों का **प्रथम बन्धस्थान** होता है। ये २३ प्रकृतियाँ एकेन्द्रिय-प्रायोग्य हैं, जिन्हें एकेन्द्रिय, तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय-मिथ्यात्वी बांधता है। इस बन्धस्थान का बन्धक जीव मरकर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों में ही जन्म लेता है।

(२) (क) पूर्वोक्त २३ प्रकृतियों में से अपर्याप्त प्रकृति को कम करके तथा पर्याप्त, उच्छ्वास और पराघात प्रकृतियों को मिलाने से एकेन्द्रिय-पर्याप्त-सहित पच्चीस प्रकृतियों का **द्वितीय बन्धस्थान** होता है।

---

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ गा. २४ व्याख्या (मरुधरकेसरीजी), पृ. १०३ से १०७
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ व्याख्या (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. ७७-७९
(ग) दिगम्बर-परम्परा में मोहनीय कर्म के बन्धस्थान और भुजाकारादि बन्ध में कुछ अन्तर है। जैसा कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४६८ में लिखा है–मोहनीय कर्म के १० बन्धस्थानों में २० भुजाकार, ११ अल्पतर, ३३ अवस्थित और २ अवक्तव्यबन्ध हैं।

(ख) पूर्वोक्त २५ में से स्थावर, पर्याप्त, एकेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास और पराघात, इन ५ प्रकृतियों को कम करके, त्रस, अपर्याप्त, द्वीन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन और औदारिक अंगोपांग, इन ५ को मिलाने से द्वीन्द्रिय अपर्याप्तसहित २५ प्रकृतियों का बन्धस्थान होता है।

(ग) इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जाति के स्थान पर त्रीन्द्रिय जाति को मिलाने से त्रीन्द्रिय अपर्याप्तसहित २५ प्रकृतियों का बन्धस्थान होता है।

(घ) त्रीन्द्रिय जाति के स्थान में चतुरिन्द्रिय जाति को मिलाने से चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीस प्रकृतियों का बन्धस्थान होता है।

(ङ) चतुरिन्द्रिय जाति के स्थान में पंचेन्द्रिय जाति के मिलाने से पंचेन्द्रिय अपर्याप्त सहित २५ का बन्धस्थान होता है; और

(च) इसमें तिर्यञ्चगति के स्थान में मनुष्यगति के मिलाने से मनुष्य अपर्याप्त सहित पच्चीस प्रकृतियों का बन्धस्थान होता है।

इस प्रकार २५ प्रकृतियों वाला **द्वितीय बन्धस्थान** ६ प्रकार का होता है। इस बन्धस्थान के बन्धकर्त्ता जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तकों में तथा, द्वीन्द्रिय आदि से सभी अपर्याप्त तिर्यञ्चों तथा अपर्याप्त मनुष्यों में जन्म ले सकते हैं।

(३) मनुष्यगति-सहित पच्चीस-प्रकृतिक बन्धस्थान में से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपांग को घटाकर उसके बदले स्थावर, पर्याप्त, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, पराघात और आतप तथा उद्योत में से किसी एक को मिलाने से एकेन्द्रिय पर्याप्त युक्त छब्बीस का बन्धस्थान होता है। इस बन्धस्थान का बन्धकर्ता एकेन्द्रिय पर्याप्तक में जन्म लेता है। यह **तृतीय बन्धस्थान** है।

(४) नामकर्म की नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर में से एक, शुभ और अशुभ में से एक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से एक, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपांग, सुस्वर, शुभविहायोगति, उच्छ्वास और पराघात, इस प्रकार देवगति सहित २८ प्रकृतियों का **चतुर्थ बन्धस्थान** होता है। इस स्थान का बन्धक मरकर देवों में जन्म लेता है।

नरकगति की अपेक्षा २८ का बन्धस्थान—नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, नरकगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, हुण्डक संस्थान, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय-अंगोपांग, दुःस्वर, अशुभ-

विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात, इस प्रकार नरकगतियोग्य अट्ठाइस प्रकृति रूप चतुर्थ **बन्धस्थान** होता है।

(५) (क से च तक) (क) नौ ध्रुववाहिनी तथा त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर में से एक, शुभ और अशुभ में से एक, दुर्भग, अनादेय, यश:कीर्ति और अयश:कीर्ति में से एक, तिर्यंचगति, द्वीन्द्रियजाति, औदारिक शरीर हुण्डक संस्थान, तिर्यंचानुपूर्वी, सेवार्त संहनन, औदारिक अंगोपांग, दु:स्वर, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात, इस प्रकार द्वीन्द्रिय पर्याप्त सहित २९ प्रकृतियों का **बन्धस्थान** होता है।

(ख, ग, घ)-इसमें (पूर्वोक्त २९ प्रकृतिक बन्धस्थान में) द्वीन्द्रिय के स्थान में त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय के स्थान में चतुरिन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के स्थान में पंचेन्द्रिय को जोड़ने से क्रमश: त्रीन्द्रिययुक्त, चतुरिन्द्रिययुक्त एवं पंचेन्द्रिययुक्त, यों पंचम बन्धस्थान का दूसरा, तीसरा और चौथा विकल्प होता है।

(ङ) इस स्थान में इतना विशेष समझना चाहिये कि सुभग और दुर्भग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दु:स्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, इन ४ युगलों में से एक-एक प्रकृति का तथा छह संस्थानों और ६ संहननों में से किसी एक संस्थान और एक संहनन का बन्ध होता है। इन (पूर्वोक्त २९ प्रकृतियों) में से तिर्यंचगति और तिर्यंचानुपूर्वी को घटाकर उनके बदले मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी को जोड़ने से पर्याप्त मनुष्यसहित २९ का बन्ध-स्थान होता है।

(च) नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, आदेय, यश:कीर्ति अथवा अयश:कीर्ति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपांग, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, तीर्थंकरनाम, इन प्रकृतिरूप देवगति और तीर्थंकर सहित २९ प्रकृतियों का बन्धस्थान होता है। इन स्थानों का बन्धक द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में तथा मनुष्यगति और देवगति में जन्म लेता है। यों क, ख, ग, घ, ङ और च इन ६ विकल्पों में पंचम बन्धस्थान पूर्ण होता है।

(६) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्त युक्त २९ प्रकृतियों के चार बन्धस्थानों में उद्योत प्रकृति के मिलाने से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्त सहित तीस प्रकृतिक चार बन्धस्थान होते हैं। पर्याप्त मनुष्य-सहित २९ के बन्धस्थान में तीर्थंकर प्रकृति के मिलाने से मनुष्यगति-सहित तीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। देवगतिसहित उनतीस के बन्धस्थान में से तीर्थंकर प्रकृति को घटाने और आहारकद्विक को मिलाने से देवगतियुक्त ३० प्रकृतियों का बन्धस्थान

होता है। इस प्रकार तीस प्रकृतिक बन्धस्थान भी छह होते हैं। यह छठा बन्धस्थान हुआ।

(७) देवगति-सहित उनतीस के बन्धस्थान में आहारकद्विक को मिलाने से देवगति-सहित इकत्तीस का सप्तम बन्धस्थान होता है।

(८) एक प्रकृतिक बन्धस्थान में केवल एक यश:कीर्ति का ही बन्ध होता है। इस प्रकार नामकर्म के तेईस, पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाइस, उनतीस, तीस, इकतीस और एक प्रकृतिक ८ बन्धस्थान हुए।

नामकर्म के बन्धस्थानों के भूयस्कारादि बन्ध–नामकर्म के बन्धस्थान ८ हैं, उनके भूयस्कार छह, अल्पतर सात, अवस्थितबन्ध आठ और अवक्तव्य बन्ध तीन होते हैं।

छह भूयस्कारबन्ध–(१) तेईस का बन्ध करके पच्चीस का बन्ध करना पहला भूयस्कारबन्ध है, (२) पच्चीस का बन्ध करके छब्बीस का बन्ध करना, दूसरा भूयस्कारबन्ध, (३) छब्बीस का बन्ध करके अट्ठाइस का बन्ध करना तीसरा भूयस्कारबन्ध, (४) अट्ठाइस का बन्ध करके उनतीस का बन्ध करना चौथा भूयस्कारबन्ध, (५) उनतीस का बन्ध करके तीस का बन्ध करना पांचवाँ भूयस्कारबन्ध, और (६) तीस का बन्ध करके ३१ प्रकृतियों का बन्ध करना छठा भूयस्कारबन्ध है।

सात अल्पतरबन्ध–अपूर्वकरण गुणस्थान में देवगति योग्य २८, २९, ३० या ३१ का बन्ध करके १ प्रकृति का बन्ध करता है, तो **पहला अल्पतरबन्ध** होता है आहारकद्विक और तीर्थंकरनामकर्म सहित इकत्तीस का बन्ध करके जो जीव देवलोक में उत्पन्न होता है, वह प्रथम समय में ही मनुष्यगति युक्त ३० प्रकृतियों का बन्ध करता है, यह **दूसरा अल्पतरबन्ध** है। वही जीव देवलोक से च्युत होकर मनुष्यगति में जन्म लेकर देवगतियोग्य तीर्थंकर नाम सहित २९ प्रकृतियों का बन्ध करता है, तब **तीसरा अल्पतरबन्ध** होता है। जब कोई जीव तिर्यंच या मनुष्य तिर्यंचगति के योग्य पूर्वोक्त २९ प्रकृतियों का बन्ध करके विशुद्ध परिणामों के कारण देवगति योग्य २८ प्रकृतियों का बन्ध करता है, तब **चौथा अल्पतरबन्ध** होता है। अट्ठाइस प्रकृतिक बन्धस्थान का बन्ध करके संक्लिष्ट परिणामों के कारण जब कोई जीव एकेन्द्रिय के योग्य छब्बीस प्रकृतियों का बन्ध करता है, तब **पांचवाँ अल्पतरबन्ध** होता है। छब्बीस का बन्ध करके पच्चीस का बन्ध करने पर **छठा अल्पतरबन्ध** होता है। तथा पच्चीस का बन्ध करके तेईस का बन्ध करने पर **सातवाँ अल्पतरबन्ध** होता है।

इस प्रकार सात अल्पतरबन्ध होते हैं।

आठ अवस्थितबन्ध–नामकर्म के ८ बन्धस्थानों की अपेक्षा से अवस्थितबन्ध भी आठ ही होते हैं।

तीन अवक्तव्यबन्ध–(१) ग्यारहवें गुणस्थान में नामकर्म की एक भी प्रकृति का बन्ध न करके जब कोई जीव वहाँ से च्युत होकर एक प्रकृति का बन्ध करता है, तब **प्रथम अवक्तव्यबन्ध** होता है। (२) ग्यारहवें गुणस्थान में मर कर कोई जीव अनुत्तरविमानवासी देवों में जन्म लेकर यदि मनुष्यगति-योग्य तीस प्रकृतियों का बन्ध करता है, तब **दूसरा अवक्तव्यबन्ध** होता है। और (३) यदि वह वहाँ मनुष्यगतियोग्य २९ प्रकृतियों का बन्ध करता है, तब **तीसरा अवक्तव्यबन्ध** होता है। इस प्रकार नामकर्म में तीन अवक्तव्यबन्ध होते हैं।

शेष पांच कर्मों में एक-एक ही बन्धस्थान : भूयस्कारादि बन्ध नहीं–शेष पांच कर्मों ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, गोत्र और अन्तराय में एक-एक ही बन्धस्थान होता है। क्योंकि ज्ञानावरणीय और अन्तराय की पांच-पांच प्रकृतियाँ एक साथ ही बंधती हैं और एक साथ ही रुकती हैं। वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मों की उत्तरप्रकृतियों में भी एक समय में एक-एक प्रकृति का ही बन्ध होता है। इस कारण इन कर्मों में भूयस्कारादि बन्ध नहीं होते। क्योंकि जहाँ एक ही प्रकृति का बन्ध होता हो, वहाँ थोड़ी प्रकृतियों को बांधकर अधिक प्रकृतियों को बांधना या अधिक प्रकृतियों को बांधकर कम प्रकृतियों को बांधना सम्भव नहीं होता। बन्धस्थानों और भूयस्कारादि बन्धों का विहंगावलोकन करने के लिए पृष्ठ २६ पर दिए कोष्ठक पर एक दृष्टि डाल लें।[१]

अवक्तव्य और अवस्थितबन्ध के लिए सामान्य नियम का अपवाद–वेदनीय के सिवाय शेष चार कर्मों में अवक्तव्य और अवस्थित बन्ध सम्भव है। वे यों हो सकते हैं–(१) ग्यारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणीय और अन्तराय तथा गोत्रकर्म का बन्ध न करके जब कोई जीव वहाँ से च्युत होता है और नीचे के गुणस्थान में आकर पुनः उन कर्मों का बन्ध करता है, तब प्रथम समय में अवक्तव्यबन्ध होता है और द्वितीय आदि समयों में अवस्थितबन्ध होता है। (२) त्रिभाग में जब आयुकर्म का बन्ध होता है, तब प्रथम समय में अवक्तव्यबन्ध और द्वितीय आदि समयों में अवस्थित बन्ध होता है। किन्तु वेदनीय कर्म में केवल अवस्थित बन्ध होता है, अवक्तव्य बन्ध नहीं; क्योंकि वेदनीय कर्म का अबन्ध अयोगिकेवली गुणस्थान में

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ गा. २४, २५ व्याख्या
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ गा. २४, २५ व्याख्या (मरुधरकेसरीजी), पृ. १०१ से ११५ तक

जाकर होता है, मगर वहाँ से गिरकर जीव नीचे के गुणस्थान में लौटकर नहीं आता, अतः पुनः बन्ध न होने के कारण अवक्तव्य बन्ध को वहाँ अवकाश नहीं है।

आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के बन्धस्थान तथा भूयस्कारादिबन्ध का कोष्ठक

आठ कर्म	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय
उत्तरप्रकृति	५	९	२	२६	४	६७	२	५
कितने बन्धस्थान?	१	३	१	१०	१	८	१	१
कितनी प्रकृतियों का बन्धस्थान	५	९, ६, ४	१	२२, २१, १७ १३, ९, ५, ४, ३, २, १	१	२३, २५, २६, २८ २९, ३०, ३१, १	१	१
भूयस्कारबन्ध	०	२	०	९	०	६	०	०
अल्पतरबन्ध	०	२	०	८	०	७	०	०
अवस्थितबन्ध	१	३	१	१०	१	३	१	१
अवक्तव्यबन्ध	१	२	०	२	१	३	१	१

बन्ध के विविध मोर्चों से सावधान

इन विविध कर्मों की मूल व उत्तरप्रकृतियों के कर्मों और गुणस्थानों की अपेक्षा से बन्धस्थानों (बन्ध के मोर्चों) को तथा विभिन्न भूयस्कारबन्धों, अल्पतरबन्धों, अवस्थितबन्धों और अवक्तव्यबन्धों को जानने-समझने से स्पष्ट अवबोध हो जाता है कि बन्धों की कितनी विविधता और विचित्रता है? यों देखा जाय तो मुख्य अध्यवसायों की दृष्टि से कर्मबन्ध के सात प्रकार हैं-राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ। किन्तु वाचक शब्दों की अपेक्षा से अध्यवसाय संख्यात होते हुए भी, अध्यवसाय स्थानों की अपेक्षा से असंख्यात हैं। तथा कर्मप्रदेशों की अपेक्षा से अथवा कर्मों के अविभाग (अनुभाग)-प्रतिच्छेदों की अपेक्षा से कर्मबन्ध अनन्त हैं।[१]

अतः आत्मार्थी एवं मुमुक्षु साधक को देखना होगा कि किस कर्म का, कौन-सा बन्ध किस-किस मोर्चे से आकर आत्मा के साथ चिपट जाता है, आत्मा को विमूढ़ और विकृत कर देता है और आत्मा की ज्ञान-दर्शन, आनन्द और सामर्थ्य की शक्तियों को दबा देता है, कुण्ठित कर देता है? अतः अरुचिकर विषय होते हुए भी बन्धों की विचित्रताओं को देखकर मुमुक्षु साधक की आँखें खोलने के लिए इतना विस्तृतरूप से इसे प्रस्तुत करना आवश्यक था।

१ राजवार्तिक १ तथा ८.

पाप-कर्म बन्ध से कैसे बचे कैसे प्रवृत्ति करे ?

इसके अतिरिक्त मानव-जीवन की प्रत्येक शारीरिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक, ऐन्द्रियक एवं व्यावहारिक प्रवृत्ति में पद-पद पर जो साधक बन्ध से नहीं बच पाता, उसके लिए दशवैकालिक सूत्र में चेतावनी देते हुए कहा गया है–

"जो साधक अयतना (असावधानी, अविवेक, अजागरूकता) से चलता, बैठता, खाता-पीता, सोता, बोलता, सोचता, उठता तथा अन्य विविध चेष्टाएँ, कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्तियाँ तथा चर्याएँ करता है, वह पापकर्म का बन्ध करता है, जिसका कटुफल उसे भोगना पड़ता है।"[१]

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में कहा गया है–

"जो व्यक्ति शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन पांचों इन्द्रियों के वश होकर इनके विषयों में रत, आसक्त, गृद्ध, मूर्च्छित, अहंत्व-ममत्व युक्त बन जाते हैं, बनते हैं, वे घोर पापकर्म का बन्ध करते हैं, जो परम दुःख का कारण है।"

"विषय-सुखों में गृद्ध बने हुए जीव पापमय कार्य करते हुए उन पापकर्मों के वशीभूत होकर अनेक दुःखों वाली संसाररूपी अटवी में भटकते हैं, संसार-अरण्य में वे जन्म-मरणादि महादुःख पाते हैं।"[२]

ऋणानुबन्ध : परम्परबन्ध को समझना भी आवश्यक

इसके अतिरिक्त व्यक्ति जब से इस अवनि पर आँखें खोलता है, तब से वह सर्वप्रथम परिवार से जुड़ता है, माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची, दादा-दादी तथा पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि के विविध रिश्तों से वह जुड़ता है। उसके पश्चात् ग्राम, नगर, प्रान्त, धर्मसंघ, जाति, कौम, समाज और राष्ट्र तथा परराष्ट्रों से उसका वास्ता पड़ता है, उनसे वह एक या दूसरे रूप से जुड़ता है। परस्पर सहयोग के आदान-प्रदान के लिए जुड़ना आवश्यक होता है। इतना ही नहीं, अपने पितरों, देवी-देवों तथा पशु-पक्षियों आदि से भी उसका सम्बन्ध जुड़ता है।

---

१. 'अजयं चरमाणो य''' चिट्ठमाणो य'''' आसमाणो य,''' सममाणो य''' भुंजमाणो य''
'' भासमाणो य''''' पाणभूयाइं हिंसइ ॥ बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ, कडुयं फलं ॥"
–दशवैकालिक–अ. ४, गा. १ से ६.

२. (क) अह सद्दाइसु गिद्धा, बद्धा आसा तहेव विसयरया ।
पावंति कम्मबंधं परमासुह-कारणं घोरं ॥४॥
(ख) तह जीवो विसयसुहे लुद्धो, काऊण पाव किरियाओ ।
कम्म-बंधणं पावइ, भवाटवीए महादुक्खं ॥२॥ –ज्ञाताधर्मकथा अ. १७, १८.

जन्म-जन्मान्तर के उपार्जित शुभाशुभ कर्मों के कारण ये सम्बन्धी अच्छे भी मिलते हैं और बुरे भी। सम्बन्ध जोड़ते समय कई बार तो मनुष्य को यह पता भी नहीं होता कि मैं जिससे सम्बन्ध जोड़ रहा हूँ, या जिससे मेरा नाता-रिश्ता हो रहा है, वह अच्छा है या बुरा है ?

प्रारम्भ में कई लोग आपातभद्र होते हैं, लेकिन उनके साथ निवास करने पर वे अभद्र सिद्ध होते हैं। अथवा कई लोग प्रारम्भ में निवास करते समय अभद्र-से लगते हैं, किन्तु बाद में उनके कोमल वात्सल्यपूर्ण व्यवहार के कारण वे भद्र सिद्ध होते हैं। कई प्रारम्भ में भी अभद्र होते हैं, साथ में रहने पर भी उनका रहन-सहन अभद्रता का होता है। और कई प्रारम्भ में भी भद्र होते हैं और साथ में रहने पर भी अन्त तक भद्र सिद्ध होते हैं। इस तथ्य को चौभंगी के द्वारा स्थानांगसूत्र में उद्घाटित किया है। अतः द्वितीय और चतुर्थ विकल्प वाले व्यक्तियों से रिश्ता-नाता जुड़ने पर व्यक्ति को कर्मबन्ध के कलह-क्लेश के बहुत ही कम अवसर आते हैं; बशर्ते कि उस व्यक्ति का स्वयं का हृदय एवं व्यवहार उदार हो। परन्तु जहाँ प्रारम्भ और अन्त में अभद्र व्यक्ति से ही पाला पड़ जाए, अथवा प्रारम्भ में भद्र प्रतीत होने वाले, किन्तु क्षुद्र हृदय के अभद्र व्यक्ति से नाता-रिश्ता जुड़ जाए, वहाँ क्लिष्ट कर्मों का बन्ध पद-पद पर होने की सम्भावना है।

इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि जो पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अन्य क्षेत्रीय सम्बन्ध जुड़ते हैं, उनमें इस जन्म के सिवाय पूर्वजन्म-जन्मों के भी संस्कार आते हैं।

इसे वैदिक दर्शन में **'ऋणानुबन्ध'** कहा जाता है, जबकि जैनदर्शन उसे परम्परबन्ध (जन्म-जन्मान्तर से परम्परागत बन्ध) कहता है। जैसे-गजसुकुमाल मुनि का ९९ लाख भवों पूर्व के बँधे हुए परम्परागत कर्मबन्ध गजसुकुमाल के भव में उदय में आए। इसी प्रकार ऋणानुबन्ध भूतकाल से भी सम्बद्ध है, वर्तमान में भी परस्पर व्यवहार में कर्मबन्ध से सम्बद्ध है और भविष्यकाल के साथ भी सम्बद्ध है। इसलिए ऋणानुबन्ध सम्बन्धी निबन्ध द्वारा हमने स्पष्ट किया है कि शुभ या अशुद्ध ऋणानुबन्ध के उपस्थित होने पर आत्मार्थी मुमुक्षु को किस प्रकार किन-किन उपायों से, किस प्रकार के शुभ योगों से अथवा शुद्ध अनुप्रेक्षाओं, भावनाओं आदि से कर्मबन्ध होने से, तथा अशुभ ऋणानुबन्ध के कारण प्राप्त अशुभ सम्बन्धी के साथ किस प्रकार के व्यवहार से कर्मबन्ध के कारणों से बचना चाहिए।[१]

१. देखें, इसी कर्मविज्ञान के आठवें खण्ड में-'ऋणानुबन्ध : स्वरूप, कारण और निवारण' लेख।

वैसे कर्मशास्त्रीय प्रमाण आगमों में यत्र-तत्र मिलते हैं कि मनुष्य को ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्यक्लोक अथवा सभी दिशा-विदिशाओं से आने वाले कर्मस्रोतों का भलीभांति प्रतिलेखन, प्रत्यवेक्षण करना चाहिए। ताकि कहीं भी अपने निमित्त से कर्मबन्ध न हो।[१]

पुण्यकर्म भी उपादेय नहीं, इच्छनीय नहीं

शुभ कर्म करने या पुण्यकृत्य करने की इच्छा भी, आसक्ति भी ठीक नहीं है। अथवा अपने पापों को छिपाने, ढकने की नीयत से कुछ राहत काम करने की वृत्ति भी इतनी अच्छी नहीं है। पुण्य काम्य नहीं। आत्मदर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति आत्मदर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे, यह अच्छा नहीं है। 'योगीन्दु' कहते हैं-"पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पाप होता है। इसलिए ऐसा पुण्य हमें नहीं चाहिए।"[२]

कर्मबन्ध के विभिन्न पहलू

मूल में कर्मबन्ध के दो प्रकार बताए हैं-**द्रव्यबन्ध** और **भावबन्ध**। किन्तु उनके भी दो प्रकार है-**प्रयोगबन्ध** (चलाकर बन्ध करना) और **विस्रसाबन्ध** (स्वभावतः बन्ध होना)। प्रयोगबन्ध भी जीवन में प्रतिक्षण द्रव्य-भाव कर्मबन्ध के रूप में सभी संसारी जीवों के हो रहा है, होगा, और हो चुका है। उसके भी दो प्रकार शास्त्र में बताए गए हैं-**शिथिलबन्धनबद्ध** और **सघनबन्धनबद्ध**। इसी प्रकार भावबन्ध के **मूलप्रकृतिबन्ध** और **उत्तरप्रकृतिबन्ध** के भेद से दो प्रकार हैं।

भावबन्ध का कारण : परिणाम

समस्त संसारी जीवों के शुभाशुभ परिणामों से ये भावबन्ध होते हैं। इसलिए परिणामों पर बहुत ही चौकसी रखना अनिवार्य है। परिणामों से ही यतना-अयतना, विवेक-अविवेक, पुण्य-पाप, सुखद-दुःखद कृत्य होते हैं। इसलिए परिणामों का नापतौल प्रतिक्षण करते रहना चाहिए। '**परिणामे बन्धः**' इस सूत्र को प्रतिक्षण स्मरण

---

१. उड्ढं सोता अहे सोया तिरियं सोया वियाहिया ।
एए सोया वियक्खाया, जेहिं संगंति पासहा ॥ -आचारांग श्रु. १, अ. ५, उ. ६

२. (क) परमात्म प्रकाश २/५७, ५८
(ख) पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ, मएण मदमोहो ।
मदमोहेण य पावं, ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ -परमात्म प्रकाश २/६०

रखना चाहिए। विपत्ति आने पर विषादमग्न और सम्पदा में हर्षावेश से उत्मत्त होना, कर्मबन्ध का कारण है।[१]

कोई भी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति या क्षेत्र अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं होता। व्यक्ति उस समय समभाव न रखकर, ज्ञाताद्रष्टा न बनकर प्रीति-अप्रीति, राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, अपना-परायापन करता रहता है और व्यर्थ ही कर्मबन्ध के जाल में फँसता रहता है। इसीलिए रागबन्ध और द्वेषबन्ध या प्रेयबन्ध और द्वेषबन्ध शास्त्रकारों ने हेय बताया है।[२]

इसीलिए विभिन्न भावों और लेश्याओं को लेकर बन्ध के तीन प्रकार भगवतीसूत्र में और बताए हैं। वे हैं–**जीवप्रयोगबन्ध**, **अनन्तरबन्ध** और **परम्परबन्ध**। जीव के या अन्य जीवों के प्रयोग या प्रेरणा से या मनोव्यापार आदि से होने वाला बन्ध **जीवप्रयोगबन्ध** है। **अनन्तरबन्ध** वह है–जो एक बन्ध के बाद अथवा उस बन्ध के साथ-साथ होता रहता है। और **परम्परबन्ध** इस जन्म का पहले का बन्ध या जन्म-जन्मान्तर से आया हुआ बन्ध है, जिसे **ऋणानुबन्ध** भी कहा जा सकता है। इन तीनों प्रकार के बन्धों से भी प्रत्येक **आत्मार्थी** मानव को सावधान रहना चाहिए।[३]

आध्यात्मिक दृष्टि से बन्ध का नापतौल

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा और कर्म के बन्ध का विश्लेषण हमने कर्मविज्ञान के चतुर्थ खण्ड में किया है। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से तो आत्मा और कर्म का बन्ध हो ही नहीं सकता, किन्तु व्यवहारनय अथवा अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा भी वैभाविक भावों से जब ग्रस्त हो जाती है, और कर्मपुद्गलों को रागद्वेष या

---

१. (क) कइविहेणं भंते ! बंधे पण्णत्ते?
मागंदिय पुत्ता ! दुविहे बधे पण्णत्ते, तं.–दव्वबंधे य भावबंधे य।
दव्वबंधे णं कइविहे पण्णत्ते ?
मागंदियपुत्ता ! दुविहे पण्णत्ते, तं.–पओगबंधे य वीससाबंधे य।.....
पओग-वीससाबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते?
मागंदियपुत्ता दुविहे पण्णत्ते, तं.–सिढिल बंधणबद्धे य, घणिय–बंधणबद्धे य।
(ख) भावबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते?
मागंदियपुत्ता ! दुविहे पण्णत्ते, तं.–मूलपगडिबंधे य, उत्तरपगडिबंधे य।.....
एवं जाव वेमाणियाणं।" –भगवतीसूत्र श. १८, उ. ३/सू. ६२०.

२. दुविहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा–पेज्जबंधे चेव दोसबंधे चेव।–स्थानांग स्था. २ उ. ४।

३. कइविहे णं भंते ! बंधे पण्णत्ते?
गोयमा ! तिविहे बंधे पण्णत्ते, तं.–जीवप्पओग बंधे, अणंतरबंधे, परंपरबंधे।
–भगवती सूत्र श. २, उ. ७

कषाय से आकृष्ट कर लेती है, तब वह कर्म का कर्ता-भोक्ता भी बनती है। इस दृष्टि से कर्म और आत्मा का सम्बन्ध (बन्ध) तीन प्रकार का बनता है-

(१) आत्मा के अशुद्ध उपयोगरूप परिणमन से होने वाला भावबन्ध। यह बन्ध अरूपी के साथ अरूपी का है। अर्थात् यह सम्बन्ध परिणाम और परिणामी का है। जिसमें कर्ता भी आत्मा है और परिणमनरूप कर्म भी आत्मा है। वस्तुतः निश्चय से जो बन्ध है, वह इसी कोटि का अशुद्ध अथवा विभाव-परिणमनरूप बन्ध है। परिणामीपन आत्मा का स्वभाव है, पर जब वह निजद्रव्य को छोड़कर परद्रव्य में (विभाव में) परिणमन करता है, तब वह अपना स्वभावसिद्ध परिणाम छोड़कर परभाव में विशेषता सहित परिणमन करता है, यह भावकर्मबन्ध का हेतु है। विभाव परिणमन संसार का बीज है, और स्वभाव परिणमन मोक्ष का।

(२) पुद्गल के साथ नूतन कर्मवर्गणाओं का सम्बन्ध, यह द्रव्यकर्मबन्ध है। यह सम्बन्ध रूपी के साथ रूपी का है। आत्मप्रदेश में एक क्षेत्रावगाह रूप से जो पहले बंधी हुई कर्मवर्गणाएँ पड़ी हैं, उनमें नई कर्मवर्गणाओं का रागद्वेष या स्निग्ध रूक्षभाव द्वारा आकर्षित होना ही द्रव्य बन्ध है।

(३) तीसरे प्रकार का कर्मबन्ध है-आत्मा के साथ कर्मवर्गणा का संयोग-सम्बन्ध। यह है-रूपी और अरूपी का सम्बन्ध।[१]

चारों ओर से होने वाले कर्मबन्धों से सावधान रहे

अगर व्यक्ति सजग होकर चले, ज्ञाताद्रष्टा और परपदार्थों के प्रति निरपेक्ष, निर्लेप, निःसंग होकर राग-द्वेष या प्रीति-अप्रीति के भावों से हटकर चले तो चारों ओर से होने वाले कर्मबन्धों के प्रहार से बहुत अंशों में बच सकता है। साधक को

---

१. (क) कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ. १७

(ख) कइविहे णं भंते ! बंधे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा इरियावहिया बंधे य, संपराइय बंधे य।

-भगवती सूत्र श. ८, उ. ८.

(ग) सहजं तु मलं (कर्म) विद्यात् कर्मसम्बन्ध-योग्यताम् ।
आत्मनोऽनादिमत्त्वेऽपि, नायमेनां विना यतः ॥
अनादिमानपि ह्येष, बन्धत्वं नातिवर्तते ।
योग्यतामन्तरेणाऽपि, भावेऽस्यातिसंगता ॥
ततः शुभमनुष्ठानं, सर्वमेव हि देहिनाम् ।
विनिवृत्ताग्रहत्वेन, तथाऽबन्धेऽपि तत्त्वतः ॥ -योगविंशिका

सावधान करते हुए कहा गया है–पद-पद पर आशंकित होकर, फूंक-फूंक कर इस संसार में बहुत कुछ पाश-बंधन में जकड़ने वाले मानकर चले।[१]

शास्त्र में **गुरुकर्मी** और **लघुकर्मी** का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया है। जो प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य आदि १८ पापों का मन, वचन, काया से सेवन करता-कराता है, अनुमोदन करता है, पाप कर्मबन्ध करते समय जरा भी नहीं हिचकता, बेखटके निःशंक होकर पापकर्म किये जाता है, वह गुरुकर्मा-भारी कर्मा होता है, बल्कि कभी-कभी तो वह निकाचित रूप से कर्म बाँध लेता है, जिसे उदय में आने पर वह रो-रो कर भोगता है। ऐसे पापकर्मों (पापस्थानों) से जीव कर्मों से भारी हो जाता है। इसके विपरीत जो कर्म करते समय सावधानी रखता, जयणा और विवेकपूर्वक अपनी चर्या, प्रवृत्ति, वृत्ति, चिन्तन, क्रिया, चेष्टा आदि करता है, इन १८ पापस्थानों से बचता है, वह लघुकर्मा होकर[२] शीघ्र ही संसार-सागर को पार कर जाता है। शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय करके वह एक दिन सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाता है।

■■

---

१. चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो। –उत्तराध्ययन।

२. (क) कहं णं भंते ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ?
गोयमा ! पाणाइवाएणं, मुसावाएणं, अदिण्णा दाणेणं, मेहुणेणं, परिग्गहेणं, कोह-माण-क्माया-लोभ-पेज्ज-दोस-कलह, अब्भक्खाणं-पेसुन्न-अरति-रति-परपरिवाय-मायामोस-मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा ! जीव गरुयत्तं हव्वमागंच्छंति ।
–भगवती सूत्र श. १, उ. ९।

(ख) "कहं णं भंते ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ?
गोयमा ! पाणाइवाइय-वेरमणेणं जाव मिच्छादंसण-सल्ल-वेरमणेणं । एवं खलु जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ॥" –भगवती सूत्र श. १, उ. ९.

२

ध्रुव-अध्रुवरूपा बन्ध-उदय-सत्ता-सम्बद्धा प्रकृतियाँ

उदय और सत्ता बन्ध से सम्बद्ध : संसार बन्धमूलक

कर्मों की उदय और सत्ता रूप अवस्था के होने के लिए यह आवश्यक है कि उनका जीव के साथ बन्ध हो। जब तक जीव संसार में स्थित है, तब तक कर्म का बन्ध किसी न किसी रूप में होता ही रहता है। जब तक जीव संसार में है तब तक कर्म-प्रकृतियों की अनेक अवस्थाओं से भी वह संयुक्त होता रहता है। इन कर्मों से विमुक्त होने के लिए संयुक्त होने की अवस्थाओं को भी जानने की आवश्यकता है।

कर्मबन्ध का दायरा इतना विस्तृत और व्यापक है कि इसे विविध पहलुओं से समझने और चिन्तन करने की आवश्यकता है। कर्मबन्ध होने के साथ-साथ उसका प्रकृतिबन्ध आदि चार रूपों में वर्गीकरण कर्मविज्ञान ने किया है। साथ ही, बन्ध के साथ-साथ उसके सहचारी सत्ता, उदय और उदीरणा का भी व्यापक चिन्तन कर्मविज्ञान ने प्रस्तुत किया है।

इस प्रकरण में हम उन बन्ध, उदय और सत्ता के ध्रुव तथा अध्रुव[१] रूपों का विश्लेषण करके बताना चाहते हैं कि कर्म की १४८ उत्तरप्रकृतियों में बन्ध और उदय के योग्य क्रमशः १२० व १२२ कर्मप्रकृतियों में से कितनी-कितनी और कौन-कौन-सी प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं ? कितनी और कौन-सी अध्रुवबन्धिनी हैं ? कितनी और कौन-कौन-सी प्रकृतियाँ ध्रुवोदया हैं ? कितनी और कौन-कौन-सी अध्रुवोदया हैं ? कितनी और कौन-कौन-सी प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका हैं और कितनी और कौन-कौन-सी प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं ? बन्ध की इन विविध अवस्थाओं

---

१. ध्रुवबंधि ध्रुवोदय सव्वघाइ परियत्तमाण असुभाओ ।
पंचवि सपडिवक्खा पगई य विवागओ चउधा ॥ -पंचसंग्रह ३/१४

को समझ लेने पर मुमुक्षु आत्मार्थी जीव कर्मों के बन्ध आदि से छूटने का उपाय भी अपना सकता है।

ध्रुवबन्धिनी-अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का स्वरूप

सर्वप्रथम हम इन तीनों प्रकार की पक्ष-प्रतिपक्ष की प्रकृतियाँ आसानी से समझी जा सकें, ऐसी उनकी परिभाषाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं-

(१) **ध्रुवबन्धिनी प्रकृति**—अपने कारण के होने पर जिस कर्मप्रकृति का बन्ध अवश्य होता है, उसे ध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृति अपने बन्ध-विच्छेद-पर्यन्त प्रत्येक जीव के प्रति समय बंधती रहती है।

(२) **अध्रुवबन्धिनी प्रकृति**—बन्ध के कारणों के होने पर भी जो प्रकृति कदाचित् बँधती है और कदाचित् नहीं भी बँधती है, उसे अध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृति अपने बन्ध-विच्छेद-पर्यन्त बंधती भी है और नहीं भी बंधती है।

ध्रुवबन्धिनी प्रकृति का बन्ध, उसके बन्ध विच्छेद काल-पर्यन्त प्रत्येक जीव को प्रति समय होता रहता है, जबकि अध्रुवबन्धिनी प्रकृति का बन्ध विच्छेदकाल पर्यन्त में भी सर्वकालावस्थायी बन्ध नहीं होता है। प्रस्तुत प्रकरण में ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी रूप प्रकृतिबन्धरूपता में सामान्य बन्ध-हेतु की विवक्षा है, विशेष बन्ध हेतु की नहीं; क्योंकि जिस कर्म प्रकृति के जो खास (विशिष्ट) बन्ध हेतु हैं, वे हेतु जब-जब मिलते हैं, तब-तब उस प्रकृति का बन्ध अवश्य होता है। चाहे वह प्रकृति अध्रुवबन्धिनी ही क्यों न हो। निष्कर्ष यह है कि अपने सामान्य बन्धहेतु के होने पर भी जिस प्रकृति का बन्ध हो या न हो, वह अध्रुवबन्धिनी है, और अवश्यमेव बन्ध हो, वह ध्रुवबन्धिनी है। पंचसंग्रह में इन दोनों प्रकृतियों का यही लक्षण दिया गया है।[१]

जब तक जीव कर्मयुक्त है, संसार में परिभ्रमण कर रहा है, तब तक वह ध्रुव-बन्ध, अध्रुवबन्ध आदि अवस्था वाले विभिन्न कर्मों से युक्त है। अपने मन, वचन, काय एवं कषायिक परिणामों से वह उन-उन कर्मों का बन्ध करता है, वे कर्म उदय में आने से पहले सत्ता में पड़े रहते हैं, अबाधाकाल पूर्ण होते ही वे उदय में आते हैं और कर्मकर्ता को फल भुगवा कर झड़ जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भाग ५ गा. १ विवेचन (मरुधरकेसरी) से भावांश, पृ. -३, ५, ६

(ख) नियहेउ-संभवे वि हु भयणिज्जो जाण होइ पयडीणं ।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्ज बन्धाओ ॥ —पंचसंग्रह ३/३५

ध्रुवोदया-अध्रुवोदया प्रकृतियों का स्वरूप

(३) **ध्रुवोदया प्रकृति**—जिस प्रकृति का उदय अविच्छिन्न हो, निरन्तर या लगातार हो, अर्थात् -अपने उदयकाल-पर्यन्त प्रति समय जीव को जिस प्रकृति का उदय बिना रुके लगातार होता रहे, उसे ध्रुवोदया प्रकृति कहते हैं।

(४) **अध्रुवोदया प्रकृति**—अपने उदयकाल के अन्त तक जिस प्रकृति का उदय लगातार (अविच्छिन्न) नहीं रहता। कभी उदय होता है, कभी नहीं होता। अर्थात् उदय-विच्छेद-काल तक में भी जिसके उदय का नियम न हो, उसे अध्रुवोदया प्रकृति कहते हैं।

कर्मोदय के पाँच हेतु और उदय का नियम

सामान्यतया समस्त कर्मप्रकृतियों के उदय के पाँच हेतु हैं-(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भव और (५) भाव। इन पाँचों के समूह द्वारा समस्त कर्म प्रकृतियों का उदय होता है। एक ही प्रकार के द्रव्यादि हेतु समस्त कर्मप्रकृतियों के उदय में कारणरूप नहीं होते हैं। अपितु भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यादि हेतु कारण रूप होते हैं। कोई द्रव्यादि सामग्री किसी प्रकृति के उदय में कारणरूप होती है जबकि अन्य कोई सामग्री किसी अन्य प्रकृति के उदय में हेतुरूप होती है। किन्तु यह निश्चित है कि जहाँ एक भी उदय हेतु है, वहाँ अन्य सभी हेतु समूहरूप में उपस्थित रहते हैं।

ध्रुव-अध्रुवसत्ताकी प्रकृतियाँ स्वरूप और कार्य

(५) **ध्रुवसत्ताकी प्रकृति**—सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणों की प्राप्ति होने से पहले, अर्थात्-मिथ्यात्व दशा में समस्त संसारी जीवों के जो प्रकृति सदा-सर्वदा विद्यमान रहती है, अथवा अनादि-मिथ्यादृष्टि जीव को जो प्रकृति सदा-सर्वदा विद्यमान रहती है, निरन्तर सत्ता में होती है, उसे ध्रुवसत्ताकी प्रकृति कहते हैं।

(६) **अध्रुवसत्ताकी प्रकृति**—मिथ्यात्व दशा में जिस कर्म-प्रकृति की सत्ता का नियम नहीं होता; यानी किसी समय सत्ता में हो और किसी समय न भी हो, उसे अध्रुवसत्ताकी प्रकृति कहते हैं।

ध्रुवसत्ताकी प्रकृति की सत्ता प्रत्येक जीव को विच्छेदकाल तक प्रति समय होती है, जबकि अध्रुवसत्ताकी प्रकृति के लिए यह नियम नहीं है कि विच्छेदकाल तक प्रत्येक समय उसकी सत्ता हो ही।[१]

---

१. (क) अव्वोच्छिन्नो उदओ जाणं पगईण ता धुवोदइया।
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ, जाण अधुवोदया तओ॥ -पंचसंग्रह ३/३७

(शेष पृष्ठ ३६ पर)

ध्रुवबन्धिनी कर्मप्रकृतियाँ : कितनी और क्यों ?

कर्म की मूलप्रकृतियाँ और बन्धयोग्य उत्तरप्रकृतियाँ

कर्म की मूलप्रकृतियाँ आठ हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठों की बन्धयोग्य उत्तरप्रकृतियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं-(१) ज्ञानावरणीय की ५ प्रकृतियाँ-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञानावरण। (२) दर्शनावरणीय की नौ-चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल-दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि। (३) वेदनीय की दो-सातावेदनीय और असातावेदनीय, (४) मोहनीय की २६-मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क, प्रत्याख्यानावरणी कषायचतुष्क, संज्वलन कषायचतुष्क, तथा हास्यादि नौ नोकषाय। (५) आयुकर्म की ४-नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु। (६) नामकर्म की ६७, (७) गोत्रकर्म की दो-उच्चगोत्र और नीचगोत्र और (८) अन्तराय कर्म की पाँच-दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। यों बन्धयोग्य उत्तरप्रकृतियाँ क्रमशः ५+९+२+२६+४+६७+२+५=१२० होती हैं।

सैंतालीस ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, और पाँच अन्तराय, यों कुल ४७ कर्मप्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं।

आठ कर्मों के अनुसार इनका वर्गीकरण इस प्रकार है-

(१) ज्ञानावरणीय की पाँच-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञानावरणी।

(२) दर्शनावरणीय की नौ-चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि।

(३) मोहनीय की उन्नीस-मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क, संज्वलन-कषाय चतुष्क तथा भय और जुगुप्सा।

(पृष्ठ ३५ का शेष)

(ख) दव्वं खेत्तं कालो भवो य भावो य हेयवो पंच।
हेउ समासेणुदओ जायइ कम्माण पगईणं॥ -पंचसंग्रह ३/३६

(ग) पंचम कर्मग्रन्थ गा. १ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री) पृ. २, ३

(घ) वही, गा. १ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ६७

(४) नामकर्म की नौ-वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात।

(५) अन्तराय कर्म की पाँच-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय।

यों पाँच कर्मों की क्रमशः ५+९+१९+९+५=४७ उत्तरप्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं। ये ध्रुवबन्धिनी इसलिए हैं कि अपने-अपने सामान्य कारणों के होने पर भी इन कर्मप्रकृतियों का अवश्य बन्ध होता है।[१]

ये सैंतालीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी क्यों और कहाँ तक ?

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, नामकर्म की इन नौ कर्मप्रकृतियों को ध्रुवबन्धिनी मानने का कारण यह है कि तैजस शरीर और कार्मण शरीर चारों गतियों के समस्त संसारस्थ जीवों के अवश्य होता है, और इनका समस्त जीवों से अनादि से सम्बन्ध है। एक भव का स्थूल शरीर छोड़ कर भवान्तर का अन्य शरीर धारण करने की अन्तराल गति (भवान्तरयात्रा की विग्रहगति) में भी तैजस और कार्मण शरीर से जीव का सम्बन्ध सतत बना रहता है। औदारिक और वैक्रिय शरीर, इन दोनों में से किसी एक का बन्ध अवश्य होने के कारण वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नाम-कर्मों का बन्ध अवश्य होता है। तथा औदारिक या वैक्रिय शरीर का बन्ध होने पर उनके योग्य पुद्गलों से उनका निर्माण अवश्य होता है। अतः निर्माण नामकर्म का बन्ध भी अवश्यम्भावी है। इन औदारिक और वैक्रिय शरीर के स्थूल होने से अन्य स्थूल पदार्थों से इन स्थूल शरीरद्वय का उपघात (टक्कर) अवश्य होता है। औदारिक या वैक्रिय शरीर अपनी योग्य वर्गणाओं को अधिक भी ग्रहण करें, किन्तु ग्रहण करने वालों को न तो वह शरीर लोहे के समान भारी मालूम होता है और न ही रुई के समान हल्का प्रतीत होता है। ये शरीर सदैव अगुरुलघु बने रहते हैं। इसलिए नामकर्म की उक्त नौ प्रकृतियाँ अपने कारणों के होने पर अवश्यमेव बँधती हैं, इस कारण ध्रुवबन्धिनी कहलाती हैं। इनका बन्ध अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है।

भय और जुगुप्सा, ये दोनों चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं। इनके बन्ध की विरोधिनी कोई प्रकृति नहीं है। इसलिए इन दोनों को ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में

---

१. (क) वन्न-चउ-तेय-कम्मा गुरु-लहु-निमिणोवघाय-भय-कुच्छा।
मिच्छ कसायावरणा विग्घं ध्रुवबंधि सगचत्ता॥ २॥ -कर्मग्रन्थ भा. ५

(ख) पंचम कर्मग्रन्थ गा. २ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) पृ. ४-५

(ग) तुलना करें-नाणंतराय-दंसण ध्रुवबंधि-कसाय-मिच्छ-भय-कुच्छा।
अगुरुलघु-निमिणतेयं उवघायं वण्ण-चउ-कम्मं॥-पंचसंग्रह ३/१५

परिगणित किया गया है। ये दोनों प्रकृतियाँ अपने बन्ध कारणों के रहने पर आठवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बंधती ही रहती हैं। मिथ्यात्व प्रकृति मिथ्यात्व मोहनीय के उदय में अवश्य बंधती है। मिथ्यात्व-मोहनीय का निरन्तर उदय मिथ्यात्व गुणस्थान तक होने से मिथ्यात्व का सतत बन्ध होता रहता है। इसका बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान के आगे के गुणस्थानों में नहीं होता।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ, अप्रत्याख्यानावरणीय, क्रोध, मान, माया और लोभ, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का-अर्थात्-इन सोलह कषायों का, अपने-अपने उदय रूप कारण के होने तक अवश्य ही बन्ध होता है। अतः इन सोलहों कषायों को ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में गिना है। इस प्रकार मोहनीय कर्म की १९ प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं।

ज्ञानावरण कर्म की पाँच, दर्शनावरण कर्म की नौ और अन्तराय कर्म की पाँच, ये उन्नीस कर्म-प्रकृतियाँ भी अपने-अपने बन्ध-विच्छेद होने के समय तक तथा अपने-अपने कारणों के रहते अवश्य ही बँधती हैं। तथा कोई इनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ भी नहीं हैं। इसलिए इन्हें ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ माना है।[१]

जिस प्रकृति का जहाँ तक उदय, वहाँ तक उसका बन्ध

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान आदि सोलह कषायों तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की उन्नीस प्रकृतियों को ध्रुवबन्धिनी मानने का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि कर्मविज्ञान में कर्मप्रकृतियों के बन्ध के पीछे सामान्य नियम यह है कि जहाँ तक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँचों बन्ध हेतुओं में से जिसका जिस गुण स्थान तक सद्भाव रहता है, तथा **'जे वेएइ ते बंधइ'** इस नियमानुसार जिस कर्मप्रकृति का जिस गुणस्थान तक उदय रहता है, वहाँ तक उस कर्मप्रकृति का बन्ध अवश्य होता है। इसलिए अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क और स्त्यानर्द्धि-त्रिक, इन ७ प्रकृतियों के बन्ध में अनन्तानुबन्धी कषाय के उदयजन्य आत्म-परिणाम कारण हैं। इनका उदय दूसरे सास्वादन गुणस्थान तक होता है। उससे आगे के गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी कषाय के उदयजन्य आत्मपरिणामों का अभाव होने से बन्ध नहीं होता है।

---

१. (क) घादिति मिच्छकसाया भयं-तेज-गुरु-दुग-णिमिण वण्णचओ।
सत्तेतालं धुवाणं ..... ॥ -गो. क. १२४
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ गा. २ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ११, १२

इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय चतुष्क का बन्ध चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त होता है, आगे के गुणस्थानों में तथाविध कषाय के उदय-जन्य आत्मपरिणाम न होने से बन्ध नहीं होता। प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का बन्ध छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है, आगे के गुणस्थानों में तथाविध कषाय का उदयजन्य आत्मपरिणाम न होने से बन्ध नहीं होता।

इसी प्रकार संज्वलन कषाय चतुष्क का बन्ध भी ७वें से लेकर नौवें गुणस्थान के अन्त तक होता है, आगे के गुणस्थानों में बादर कषाय का भी उदय तथा उदयजन्य अध्यवसाय नहीं होता है जो कि उसका बन्धहेतु है। इसलिए उसका बन्ध-विच्छेद नौवें गुणस्थान में हो जाता है। निद्रा और प्रचला प्रकृतियों का बन्ध आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय तक होता है। आगे इनके बन्ध योग्यपरिणाम न होने से बन्ध नहीं होता।

ज्ञानावरण पंचक, दर्शनावरण चतुष्टय, तथा अन्तराय पंचक इन १४ कर्म प्रकृतियों का बन्ध दसवें सूक्ष्मसम्पराय के अन्तिम समय तक होता है। इस गुणस्थान तक ही इनके बन्ध में हेतुभूत कषाय का उदय होता है। आगे के गुणस्थानों में नहीं।

इस प्रकार ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की उन्नीस, नामकर्म की नौ और अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं, जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन बन्ध हेतुओं के होने पर सभी जीवों को बँधती हैं, इसी कारण इन्हें ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ मानते हैं।[१]

अध्रुवबन्धिनी तिहत्तर प्रकृतियाँ : क्यों और कैसे ?

बन्धयोग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ हैं। उनमें से सैंतालीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं और शेष रहीं तिहत्तर प्रकृतियाँ अध्रुव-बन्धिनी हैं। वे इस प्रकार हैं-तीन शरीर (औदारिक, वैक्रिय और आहारक), तीन अंगोपांग (औदारिक, वैक्रिय, आहारक अंगोपांग), छह संस्थान, छह संहनन, पाँच जाति, गति चार, तीर्थंकर नामकर्म, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी, श्वासोच्छ्वास नामकर्म, उद्योत, आतप, पराघात, त्रस आदि बीस (त्रसदशक और स्थावरदशक), दो गोत्र (उच्चगोत्र, नीचगोत्र) हास्यादि दो युगल (हास्य, शोक, रति, अरति) तीन वेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद), चार आयुकर्म (नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु), सातावेदनीय और असातावेदनीय, यों कुल मिलाकर ३+३+६+६+५+४+१+२+४+१+१+१+१+२०+२+४+३+४+२=७३ कर्म प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं।

१. पंचम कर्मग्रन्थ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. १३, १४

पाँच मूल कर्मों के अनुसार अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ

इन अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में नामकर्म की सर्वाधिक प्रकृतियाँ हैं, शेष वेदनीय, आयु, गोत्र एवं कुछ मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ हैं। इनका अपनी-अपनी मूल कर्म प्रकृति के साथ विवरण इस प्रकार है–

(१) वेदनीय की दो–सातावेदनीय और असातावेदनीय।

(२) मोहनीय की सात–हास्य, रति, अरति, शोक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

(३) आयुकर्म की चार–नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु।

(४) नामकर्म की अट्ठावन–तीन आद्य शरीर, तीन आद्य अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन, एकेन्द्रियादि पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी, तीर्थंकरनाम, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, पराघात, त्रसदशक, स्थावददशक।

(५) गोत्रकर्म की दो– उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

यों मूलकर्मों के अनुसार २+७+४+५८+२=७३ प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हो जाती हैं।[१]

इन प्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी क्यों माना जाए?

इन प्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी मानने का कारण यह है कि बन्ध के सामान्य कारणों के रहने पर भी इनका बन्ध नियमित रूप से, निश्चितरूप से नहीं होता।

---

१. (क) तणुवंगा-गिइ-संघयण-जाइ-मइ-खमइ-पुव्वि-जिणुसासं।
उज्जोयायव-परघा-तसवीसा गोय वयणिय॥ ३॥
हासाइ-जुयल-दुग-वेय-आउ तेवुत्तरी अधुवबंधा ॥ ४॥
–पंचम कर्मग्रन्थ विवेचन, पृ. १५, १६

(ख) दिगम्बर परम्परा में ११ प्रकृतियाँ अप्रतिपक्षी और ६२ प्रकृतियाँ सप्रतिपक्षी (विरोधिनी) बताई गई हैं–
सेसे तित्थाहारं परघाद-चउक्क सव्व आऊणि।
अपडिवक्खा, सेसा सप्पडिवक्खा हु बासट्ठी॥
–गोम्मटसार (कर्मकांड) गा. १२५

(ग) त्रसदशक–त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशः कीर्ति।

(घ) स्थावरदशक–स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति नामकर्म।
–देखें, कर्मग्रन्थ प्रथम भाग गा. २६, २७

अर्थात्-कभी बन्ध हो जाता है, और कभी नहीं होता। नियमित रूप से इनका बन्ध न होने का कारण यह है कि इनमें से कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनका स्थान उनकी विरोधी प्रकृतियाँ ले लेती हैं, इसलिए उनका बन्ध नहीं हो पाता। और कुछ प्रकृतियाँ अपनी स्वभावगत विशेषता के कारण कभी बंधती हैं और कभी नहीं बंधतीं।

तिहत्तर प्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी मानने के कारण

इन तिहत्तर प्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी मानने के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि शरीर नामकर्म के पाँच भेदों में तैजस और कार्मण शरीर का समस्त संसारस्थ जीवों के साथ अनादि सम्बन्ध होने से इन दोनों को ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में गिना गया है। शेष रहे तीन शरीर-औदारिक, वैक्रिय और आहारक। ये तीन शरीर और इन्हीं नामों वाले अंगोपांग नामकर्म के तीन प्रकारों में से एक जीव को एक समय में एक ही शरीर और एक ही अंगोपांग का बन्ध होता है, दूसरे दोनों का नहीं। क्योंकि ये परस्पर प्रतिपक्षी होने के कारण एक के बन्ध के समय दूसरे का बन्ध नहीं हो पाता है। इसलिए ये अध्रुवबन्धिनी मानी गई हैं। समचतुरस्र आदि छह संस्थान भी परस्पर प्रतिपक्षी (विरोधी) हैं। यदि समचतुरस्र संस्थान नामकर्म के उदय से शरीर का समचतुरस्र संस्थान (आकार) प्राप्त है, तो उसमें अन्य संस्थान का बन्ध तथा उदय नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य पाँच संस्थानों के विषय में समझ लेना चाहिए। इस अपेक्षा से ये ६ संस्थान भी अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में गिनाये गए हैं।

मनुष्य और तिर्यञ्च-प्रायोग्य प्रकृतियों का बन्ध होने पर ही वज्रऋषभनाराच आदि ६ संहननों में से किसी एक का ही बन्ध एक समय में हो सकता है, अन्य का नहीं। और देव तथा नारक-प्रायोग्य प्रकृतियों का बन्ध होने पर एक भी संहनन का बन्ध नहीं होता है। इस कारण संहनन नामकर्म की ६ प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी मानी गई हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जाति-पर्यन्त पाँच जातियों में एक समय में एक ही जाति का, तथा देवगति आदि चार गतियों में से एक भव में एक ही गति का बन्ध होने से जाति नामकर्म और गति नामकर्म के भेदों को अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में परिगणित किया गया है। इसी प्रकार शुभ और अशुभ विहायोगति में से एक समय में एक ही खगति का बन्ध होता है। तथैव देवानुपूर्वी आदि चार आनुपूर्वियों में से एक समय में किसी एक का ही बन्ध होता है। अतएव ये अध्रुवबन्धिनी प्ररूपित की गई हैं। इसी प्रकार त्रसदशक और स्थावर दशक की कुल २० प्रकृतियाँ परस्पर विरोधिनी हैं और वे अपने-अपने प्रायोग्य प्रकृतियों के बन्ध होने पर बँधती हैं। इस कारण इन्हें भी अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में गिना गया है।

उच्चगोत्र और नीचगोत्र, ये दोनों प्रकृतियाँ भी परस्पर विरोधिनी हैं। उच्चगोत्र का बन्ध होते हुए नीचगोत्र का और नीचगोत्र का बन्ध होते हुए उच्चगोत्र का बन्ध नहीं होता है। अतएव इन दोनों को अध्रुवबन्धिनी कहा गया है। सातावेदनीय और असातावेदनीय भी परस्पर एक दूसरे की विरोधी प्रकृतियाँ हैं। इस कारण इन्हें भी अध्रुवबन्धिनी माना गया है।[१]

गोत्र और वेदनीय कर्म अध्रुवबंधी भी, ध्रुवबंधी भी : कब और क्यों ?

गोत्रकर्म और वेदनीय कर्म की युगल प्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी मानने पर भी उनके विषय में कुछ विशेषताएँ भी समझ लेनी चाहिए। सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दोनों कर्म छठे गुणस्थान तक ही अध्रुवबन्धी हैं, किन्तु छठे गुणस्थान में असातावेदनीय का बन्ध-विच्छेद हो जाने पर आगे सातवें आदि गुणस्थानों में सातावेदनीय कर्म ध्रुवबन्धी हो जाता है। इसी प्रकार उच्चगोत्र और नीचगोत्र दूसरे गुणस्थान तक अध्रुवबंधी हैं। किन्तु दूसरे गुणस्थान में नीचगोत्र का बन्ध-विच्छेद हो जाने से आगे के गुणस्थानों में उच्चगोत्र कर्म ध्रुवबन्धी हो जाता है।

मोहनीय कर्म की ये प्रकृतियाँ कब तक अध्रुवबंधिनी ?

मोहनीय कर्म की हास्यादि दो युगल प्रकृतियाँ अर्थात्-हास्य और शोक तथा रति और अरति परस्पर विरोधी होने से, ये चारों प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं। जब हास्य-रति युगल का बन्ध होता है, तब शोक-अरति युगल का बन्ध नहीं होता, तथा शोक-अरति युगल के बन्ध के समय हास्य-रतियुगल का बन्ध नहीं होता। वस्तुतः इन चार प्रकृतियों का बन्ध सान्तर होता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि हास्य, रति, अरति और शोक, ये चारों प्रकृतियाँ छठे गुणस्थान तक ही अध्रुवबन्धिनी हैं। छठे गुणस्थान में शोक और अरति का बन्ध-विच्छेद हो जाने पर आगे हास्य और रति का निरन्तर बन्ध होता है, जिससे वे ध्रुवबन्धिनी हो जाती हैं।

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में से एक समय में किसी एक ही वेद का बन्ध होता है। गुणस्थान की अपेक्षा नपुंसकवेद पहले गुणस्थान में तथा स्त्रीवेद दूसरे गुणस्थान तक बंधता है। उसके बाद आगे के गुणस्थानों में पुरुषवेद का बन्ध होता है।

आयुकर्म की चारों प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं

आयुकर्म के देवायु, नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु इन चार प्रकारों में से एक भव में किसी एक ही आयु का बन्ध होता है, इसलिए इन चारों को अध्रुवबन्धिनी कहा गया है।

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ, गा. ३, ४ विवेचन पृ. १७

नामकर्म की प्रकृतियों में अध्रुवबन्धिनी की पहचान

तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध सम्यक्त्व-सापेक्ष है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि सम्यक्त्व के होने पर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो ही जाए। सम्यक्त्व के होने पर भी किसी के इसका बन्ध होता है, और अधिकांश व्यक्तियों के नहीं भी होता। इसलिए यह प्रकृति भी अध्रुवबन्धिनी है। पर्याप्तक -प्रायोग्य प्रकृतियों का बन्ध होने पर उच्छ्वास नामकर्म का बन्ध होता है, अपर्याप्तक-प्रायोग्य प्रकृतियों के बन्ध होने पर नहीं बंधता है। तिर्यञ्च-प्रायोग्य प्रकृतियों का बन्ध होने पर भी किसी को उद्योत नामकर्म का बन्ध होता है, किसी को नहीं होता है। इस कारण उच्छ्वास और उद्योत नामकर्म प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं।

पृथ्वीकायिक-प्रायोग्य प्रकृतियों का बन्ध होते रहने पर भी किसी को आतप नामकर्म का बन्ध होता है, और किसी को नहीं होता। अतः यह भी अध्रुवबन्धिनी है। पराघात नामकर्म पर्याप्त-प्रायोग्य प्रकृतियों का बन्ध होने पर भी किसी-किसी को बंधता है, किन्तु अपर्याप्त-प्रायोग्य प्रकृतियों का बन्ध होने पर तो किसी को भी नहीं बंधता है। इस कारण वह अध्रुवबन्धिनी है।[१]

इस प्रकार से अध्रुवबन्धिनी ७३ कर्मप्रकृतियों के कारणों का स्पष्ट प्रतिपादन है। तथा बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से ४७ ध्रुवबन्धिनी और ७३ अध्रुवबन्धिनी हैं। दोनों मिलकर कुल योग ४७+७३=१२० होता है।

बन्ध और उदय प्रकृतियों की भंगों के माध्यम से विविध दशाएँ

कर्मबन्ध और कर्मोदय की कितनी दशाएँ होती हैं ? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ भंगों के माध्यम से बन्ध और उदय की अवस्था में बनने वाले भंगों के नाम और उनका स्वरूप सर्वप्रथम बतलाया जा रहा है।

भंगों के नाम इस प्रकार हैं-(१) अनादि अनन्त, (२) अनादि सान्त, (३) सादि-अनन्त और (४) सादि सान्त।

(१) अनादि अनन्त-जिस बन्ध और उदय की परम्परा का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है, बीच में न कभी विच्छिन्न हुआ है और न भविष्य में कभी विच्छिन्न होगा, ऐसे बन्ध या उदय को अनादि-अनन्त कहते हैं। ऐसा बन्ध या उदय अभव्य जीवों के होता है।

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ३, ४ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. १७ से २० तक
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ३, ४ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) पृ. ७ से ९ तक

(२) अनादि-सान्त—जिस बन्ध या उदय की परम्परा का प्रवाह अनादिकाल से बिना व्यवधान के चला आ रहा है, लेकिन आगे व्युच्छिन्न हो जाएगा, उस बन्ध या उदय को अनादि-सान्त कहते हैं। यह भव्य जीवों के होता है।

(३) सादि-अनन्त—जो बन्ध या उदय आदि सहित होकर अनन्त-अन्त रहित हो। यह भंग किसी भी बन्ध या उदय में घटित नहीं हो सकता; क्योंकि जो बन्ध या उदय आदि-सहित होगा, वह कदापि अन्तरहित नहीं हो सकता। इसलिए इस विकल्प को ग्राह्य नहीं माना जाता है।

(४) सादि-सान्त—जो बन्ध या उदय बीच में रुककर पुनः प्रारम्भ होता है, और कालान्तर में पुनः व्युच्छिन्न हो जाता है। उक्त बन्ध या उदय को सादि-सान्त कहते हैं। यह उपशान्तमोह गुणस्थान से च्युत हुए जीवों में पाया जाता है।

इन चारों भंगों को बन्ध में भी लगा लेना चाहिए और उदय में भी। ये भंग ध्रुव-अध्रुव बन्ध और ध्रुवोदय-अध्रुवोदय प्रकृतियों के होते हैं, जिनका नामनिर्देश पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है, ध्रुवोदयी-अध्रुवोदयी प्रकृतियों के नामनिर्देश आगे किये जाएँगे।[१]

बन्ध और उदय प्रकृतियों में उक्त भंगों की प्ररूपणा

ध्रुवोदयी प्रकृतियों में पहला अनादि-अनन्त और दूसरा अनादि-सान्त ये दो भंग होते हैं। इसका कारण यह है कि अभव्यों के ध्रुवोदयी प्रकृतियों का कदापि अनुदय नहीं होता है। अतः पहला अनादि अनन्त भंग माना है। **ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों** में तीसरे भंग के सिवाय शेष तीन भंग तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में भी तीन भंग होते हैं। दोनों प्रकार की अध्रुवरूपा प्रकृतियों में चौथा भंग होता है।

भव्य को उदय तो अनादि से होता है, किन्तु बारहवें तेरहवें गुणस्थान में उनका उदय-विच्छेद हो जाने से उदय नहीं हो पाता। इसी कारण ध्रुवोदयी प्रकृतियों में दूसरा अनादि-सान्त भंग माना गया है।

यद्यपि ध्रुवोदयी प्रकृतियों में पहला और दूसरा भंग बतलाया है, तथापि इनमें से कर्मविज्ञान में मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की अपनी विशेषता यह है कि उसमें यथायोग्य तीन भंग होते हैं—अनादि-अनन्त भी, अनादि-सान्त भी और सादि-सान्त भी।

---

१. (क) भंगा अणाइ साई अणंत संतुत्तरा चउरा॥ —पंचम कर्मग्रन्थ गाथा ४
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ गा. ४ विवेचन, पृ. १०-११
(ग) होइ अणाइ-अणंतो, अणाइसंतो य साइसंतो य।
बंधो अभव्व-भव्वोवसंतजीवेसु इह तिविहो॥ —पंचसंग्रह २१६

अभव्य के मिथ्यात्व का उदय अनादि-अनन्त है। उसमें न तो कभी मिथ्यात्व का अन्त आता है, न अन्त आएगा और न ही उसकी आदि का अता-पता है। दूसरा-अनादि-सान्त भंग अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव की अपेक्षा घटित होता है। क्योंकि पहले पहल सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उसके मिथ्यात्व के उदय का अन्त आ जाता है। लेकिन सम्यक्त्व के छूट जाने एवं पुनः मिथ्यात्व का उदय होने पर तथा उसके पश्चात् पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के कारण मिथ्यात्व के उदय का अन्त हो जाता है। यों सम्यक्त्व के छूटने के बाद पुनः मिथ्यात्व का उदय होना सादि है और पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से पूर्वोक्त मिथ्यात्व का उदय-विच्छेद होना सान्त है। ऐसी स्थिति में चतुर्थ भंग सादि-सान्त मिथ्यात्व में घटित होता है।

किन्तु **ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों** में तीसरे भंग (सादि-अनन्त) को छोड़कर शेष तीनों भंग (अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त) होते हैं। ये तीनों भंग इन प्रकृतियों में इस प्रकार घटित होते हैं-अभव्य जीवों के ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का बन्ध अनादि का है और उस बन्ध के प्रवाह का अन्त कदापि नहीं होता, अर्थात्-वह कदापि अबन्धक नहीं होता है। इस दृष्टि से पहला अनादि-अनन्त भंग घटित होता है। यद्यपि भव्य के भी ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का बन्ध अनादि का है, परन्तु गुणस्थान क्रमारोहण के साथ-साथ प्रकृतियों का विच्छेद होता जाता है। इस कारण दूसरा अनादि-सान्त भंग भव्यों में घटित होता है। उसी गुणस्थान में आगे के गुणस्थान से आरोहण करते समय अबन्धक होकर अवरोहण करते समय पुनः बन्धक हो जाने से सादि-बन्ध और कालान्तर में पुनः गुणस्थान क्रमारोहण के साथ अबन्धक होगा, इसी कारण उसमें चौथा सादि-सान्त भंग घटित होता है।

अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवोदयी प्रकृतियों में चौथा सादि-सान्त भंग घटित होता है, क्योंकि उसका बन्ध और उदय अध्रुव है। कभी होता है, कभी नहीं होता है। अध्रुवता के कारण ही उसके बन्ध और उदय की आदि भी है और अन्त भी।[१]

गोम्मटसार में सादि, अनादि, ध्रुव-अध्रुव बन्ध का निरूपण

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में प्रकृतिबन्ध का निरूपण करते हुए बन्ध के चार प्रकार बताए हैं-"सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव।"

"जिस कर्म के बन्ध का अभाव होकर पुनः वही कर्म बँधे, उसे सादिबन्ध कहते हैं। जिस गुणस्थान तक जिस कर्म का बन्ध होता है, उस गुणस्थान से आगे के

---

१. पढमविया धुव-उदइसु, धुव-बंधिसु तइअ-वज्ज-भंगतिगं।
मिच्छंमि तिन्नि भंगा, दुहावि अधुवा तुरिअ भंगा॥ ५॥
-कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. २३, २४

गुणस्थान को यहाँ श्रेणि कहा गया है। उक्त श्रेणि पर जिस जीव ने पैर नहीं रखा है, उस जीव के उस प्रकृति का अनादिबन्ध होता है। अभव्य जीवों के ध्रुवबन्ध और भव्य जीवों के अध्रुवबन्ध होता है।"[1]

इस परिभाषा से प्रतीत होता है, गोम्मटसार कर्त्ता ने ध्रुव और अध्रुव शब्द का अर्थ क्रमशः अनन्त और सान्त ग्रहण किया है। क्योंकि अभव्य का बन्ध अनन्त और भव्य का बन्ध सान्त होता है।

इसी ग्रन्थ में आगे ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में इन भंगों को घटित करते हुए बतलाया है कि सैंतालीस ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में उक्त चारों प्रकार के बन्ध घटित होते हैं और शेष ७३ अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में दो ही बन्ध घटित होते हैं–सादि और अध्रुव।[2]

दो ही भंग क्यों नहीं, अधिक क्यों? : एक शंका-समाधान

बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से ४७ ध्रुवबन्धिनी और ७३ अध्रुवबन्धिनी तथा उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से २७ ध्रुवोदया तथा ९५ अध्रुवोदया हैं। इस प्रकार से बन्धरूपा और उदयरूपा प्रकृतियों के ध्रुव-अध्रुवरूपा होने से प्रश्न होता है–ध्रुवप्रकृतियों का सदैव अनादि से अनन्तकाल तक बन्ध तथा उदय होता रहेगा और अध्रुवप्रकृतियों का सादि-सान्त बन्ध व उदय होता है। इसलिए अनादि-अनन्त और सादि-सान्त ये दो ही भंग होने चाहिए, शेष दो भंगों की क्या आवश्यकता है?

इसका समाधान यह है कि संसारी जीव कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। अनादि से अनन्त काल तक यह क्रम चल रहा है। लेकिन जो जीव भव्य हैं–मोक्षप्राप्ति की योग्यता वाले हैं; तथा जो जीव अभव्य हैं–मोक्षप्राप्ति की योग्यता वाले नहीं हैं–उनकी अपेक्षा से अनादि-अनन्त आदि चारों भंग होते हैं।[2]

---

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ गा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. १५
(ख) सादी अबंधबंधे सेढि अणारूढगे अणादी हु।
अभव्वसिद्धम्हि धुवो, भव्वसिद्धे अधुवो बंधो॥ १२३॥
(ग) घाति-ति-मिच्छ-कसाया भेय-तेजगुरुदुगणिमिण-वण्णचओ।
सत्तेताल-धुवाणं चदुधा, सेसाणयं तु दुधा ॥ १२४॥ –गोम्मटसार कर्मकाण्ड

२. ध्रुवबंधी प्रकृतियों में कर्मग्रन्थ में तीन भंग और गोम्मटसार कर्मकाण्ड में ४ भंग बतलाये गए हैं। इस प्ररूपणान्तर का कारण यह है कि कर्मग्रन्थ में संयोगी (अनादि-अनन्त आदि) बताये गये हैं, वे तीन ही बनते हैं, जबकि कर्मकाण्ड में पृथक्-पृथक् बताये गए हैं, वे चार भंग बनते हैं, यथा–सादि और ध्रुव आदि। आन्तरिक दृष्टि से इनमें कोई प्ररूपणाभेद नहीं है।–सं.

चारों भंगों का विशेष स्पष्टीकरण

उक्त चारों भंगों का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

पहला अनादि-अनन्त भंग अभव्य जीवों की अपेक्षा से होता है, क्योंकि अभव्य जीवों के ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का बन्ध अनादि-अनन्त होता है, जबकि दूसरा अनादि-सान्त भंग भव्य जीवों की अपेक्षा से घटित होता है। कारण यह है कि पांच ज्ञानावरण, पांच अन्तराय और चार दर्शनावरण, इन चौदह प्रकृतियों के बन्ध की अनादि-सन्तान जब दसवें गुणस्थान में विच्छिन्न हो जाती है, तब अनादि-सान्त भंग हो जाता है। तथा ग्यारहवें गुणस्थान (उपशान्तमोह) में उक्त १४ प्रकृतियों का बंध न करके मरण हो जाने अथवा ग्यारहवें (उपशान्तमोह) गुणस्थान से च्युत होकर जब पुनः उक्त चौदह प्रकृतियों का बन्ध करता है और पुनः दसवें गुणस्थान में उनका बन्ध-विच्छेद करता है, तब सादि-सान्त नामक चतुर्थ भंग घटित होता है।

संज्वलन-कषाय के बन्ध का निरोध जब कोई जीव नौवें गुणस्थान में करता है, तब अनादि-सान्त भंग घटित होता है। और वही जीव जब नौवें गुणस्थान से च्युत होकर पुनः संज्वलन कषाय का भोग करता है तथा पुनः नौवें गुणस्थान को प्राप्त करने पर उसका निरोध करता है, तब सादि-सान्त चौथा भंग होता है।

निद्रा, प्रचला, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, भय और जुगुप्सा, ये १३ प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान में विच्छिन्न हो जाती हैं, तब उनका अनादि-सान्त भंग होता है। और आठवें गुणस्थान से पतन होने के बाद जब उनका बन्ध होता है, तो वह सादि बन्ध है तथा पुनः आठवें गुणस्थान में पहुँचने पर जब उनका बन्ध-विच्छेद हो जाता है तो वह बन्ध सान्त कहलाता है। इस प्रकार उनमें सादि-सान्त नामक चौथा भंग घटित होता है।

प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का बन्ध पांचवें गुणस्थान तक अनादि है; किन्तु छठे गुणस्थान में उसका अभाव हो जाने से सान्त होता है। अतः यह अनादि-सान्त भंग हुआ। छठे गुणस्थान से गिरने पर जब पुनः बन्ध होने लगता है और छठे गुणस्थान के प्राप्त करने पर उसका अभाव हो जाता है, तब चौथा सादि-सान्त भंग घटित होता है। अप्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्क का बन्ध चौथे गुणस्थान तक अनादि है, लेकिन पांचवें गुणस्थान में उसका अन्त हो जाता है। अतः दूसरा अनादि-सान्त भंग बनता है तथा पाँचवें गुणस्थान से गिरने पर पुनः बन्ध और जब पांचवें गुणस्थान के प्राप्त होने पर अबन्ध करने लगता है, तब सादि-सान्त नामक चौथा भंग होता है। मिथ्यात्व, स्त्यानर्द्धि-त्रिक एवं अनन्तानुबन्धी-कषाय-चतुष्क का अनादि-बन्धक मिथ्यादृष्टि जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उसका बन्ध नहीं करता है, तब

दूसरा अनादि-सान्त भंग और पुनः मिथ्यात्व में गिरकर उक्त प्रकृतियों का बन्ध करने और पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर बन्ध नहीं करने पर चौथा सादि-सान्त भंग होता है।

इस प्रकार ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में तीसरे सादि-अनन्त भंग के सिवाय शेष अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त, ये तीन भंग होते हैं।

ध्रुवोदया प्रकृतियों में घटित होने वाले भंग

अब ध्रुवोदया प्रकृतियों में भंगों को घटित करते हैं-ध्रुवोदया प्रकृतियों में पहला अनादि-अनन्त और दूसरा अनादि-सान्त, ये दो भंग होते हैं। ध्रुवोदया २७ प्रकृतियों के नाम यथास्थान बतलाये जा चुके हैं। उनमें से मिथ्यात्व-प्रकृति में विशेषता है। इसलिए उसके भंगों के बारे में अलग से कथन किये जाने से शेष छब्बीस प्रकृतियों के बारे में स्पष्टीकरण करते हैं।

निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, ज्ञानावरण-पंचक, अन्तराय-पंचक और दर्शनावरण-चतुष्क, इन छब्बीस ध्रुवोदयी प्रकृतियों में पहला अनादि-अनन्त भंग अभव्य जीवों की अपेक्षा घटित होता है। क्योंकि अभव्य जीवों के ध्रुवोदया प्रकृतियों के उदय का न तो आदि है और न अन्त ही होता है।

दूसरा अनादि-सान्त भंग भव्य जीवों की अपेक्षा घटित होता है। पांच ज्ञानावरण, पांच अन्तराय और चार दर्शनावरण, इन चौदह प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान तक तो जीवों को अनादिकाल से है, लेकिन बारहवें गुणस्थान के अन्त में जब इनका विच्छेद हो जाता है, तब वह उदय अनादि-सान्त कहलाता है। इसी तरह निर्माण, स्थिर, अस्थिर आदि शेष बची हुई १२ प्रकृतियों का अनादि उदय तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान के अन्त में विच्छिन्न हो जाता है, तब उनका उदय अनादि-सान्त कहलाता है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के सिवाय शेष ध्रुवोदया प्रकृतियों में केवल दो ही भंग घटित हो सकते हैं-अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-अनन्त और भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त। शेष दो भंग-सादि-अनन्त और सादि-सान्त घटित नहीं होते हैं; क्योंकि किसी प्रकृति के उदय का विच्छेद होने के बाद पुनः उदय होने लगता हो, वह उदय सादि कहलाता है। लेकिन उक्त ध्रुवोदयी प्रकृतियों का उदय-विच्छेद बारहवें-तेरहवें गुणस्थान के अन्त में हो जाने पर पुनः उनका उदय नहीं होता है। तथैव उन गुणस्थानों के प्राप्त हो जाने पर जीव कभी नीचे के गुणस्थानों में कतई नहीं

आता, वह वहाँ से सीधा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः उक्त प्रकृतियों का सादि उदय नहीं होता। इसलिए शेष दो भंग भी घटित नहीं होते।

ध्रुवोदया छब्बीस प्रकृतियों में आदि के दो भंग होते हैं; लेकिन मिथ्यात्व में अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त, ये तीन भंग होते हैं। अनादि-अनन्त भंग अभव्य जीवों की अपेक्षा से, अनादि-सान्त भंग अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवों की अपेक्षा से घटित होता है। अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त भंग इसलिए घटित होता है कि उनके मिथ्यात्व के उदय का अभाव न तो कभी हुआ है, न कभी होता है, और न ही कभी होगा। भव्य-जीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त भंग इसलिए घटित होता है कि पहले पहल सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर उसके अनादिकालीन मिथ्यात्व का अभाव (विच्छेद) हो जाता है। उन भव्य जीवों की अपेक्षा भी चौथा सादि-सान्त भंग इसलिए माना जाता है कि जो सम्यक्त्व के छूट जाने के पश्चात् पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त करके भी पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त कर उसका अभाव कर देता है। इस प्रकार ध्रुवोदया मिथ्यात्व प्रकृति में तीन भंग घटित होते हैं। अतः अध्रुवोदयी तथा अध्रुवबन्धिनी नामक दो प्रकृतियों में केवल सादि-सान्त भंग ही घटित होता है। क्योंकि उनका बन्ध और उदय अध्रुव है। कभी होता है, कभी नहीं भी होता है।[१]

इस प्रकार बन्ध और उदय प्रकृतियों में भंगों का रहस्य समझ लेना चाहिए।

ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ : स्वरूप और प्रकार

ज्ञानावरणीय आदि ८ कर्मों की उदययोग्य प्रकृतियाँ सामान्यरूप से १२२ हैं। उनमें से केवल २७ प्रकृतियाँ ध्रुवोदयी हैं। ध्रुवोदयी सत्ताइस प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं-निर्माण, अस्थिर, स्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मणशरीर, वर्णचतुष्क, पंचविध ज्ञानावरण, पंचविध अन्तराय, चतुर्विध दर्शनावरण, और मिथयात्वमोहनीय, ये ध्रुवोदयी २७ प्रकृतियाँ बताई गई हैं।,

इन्हें ध्रुवोदयी कहने का कारण यह है कि अपने-अपने उदय-विच्छेद-काल-पर्यन्त इनका उदय बना रहता है।

आठ कर्मों के अनुसार इनका वर्गीकरण इस प्रकार है-

(१) ज्ञानावरणीय की पांच-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, केवलज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरणीय की चार-चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण।

---

१. (क) पढमविआ ध्रुव-उदइसु ध्रुव-बंधिसु तइअ-वज्ज भंगतिंग।
मिच्छंमि तिन्नि भंगा, दुहा वि अधुवा तुरिअ भंगा।-पंचम कर्मग्रन्थ गा. ५
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ, विवेचन गा. ५ (मरुधरकेसरीजी), पृ. ३१ से ३६ तक
(ग) पंचम कर्मग्रन्थ गा. ५ विवेचन, (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. ११ से १५

(३) मोहनीय की एक-मिथ्यात्व-मोहनीय।

(४) नामकर्म की बारह-निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस कार्मण-शरीर, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शनामकर्म।

(५) अन्तराय की पांच-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय।

नामकर्म की ध्रुवोदयी बारह प्रकृतियाँ हैं-निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मणशरीर, तथा वर्णादि चतुष्क। इन बारह प्रकृतियों का उदय चारों गतियों के जीवों में सदैव रहता है। जब तक शरीर रहता है, तब तक इनका उदय बना रहता है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में जब इन शरीरसम्बद्ध बारह प्रकृतियों का उदयविच्छेद हो जाता है, वहाँ तक समस्त संसारी जीवों के इन १२ प्रकृतियों का उदय बना रहता है।

यद्यपि स्थिर और अस्थिर तथा शुभ और अशुभ, ये चार प्रकृतियाँ परस्पर विरोधिनी कहलाती हैं, किन्तु ये बन्ध की अपेक्षा से विरोधिनी हैं, उदय की अपेक्षा से विरोधिनी नहीं हैं। स्थिर नामकर्म के बन्ध के समय अस्थिर नामकर्म का बन्ध नहीं हो सकता, किन्तु उदय की अपेक्षा से इनमें परस्पर विरोध नहीं हैं, ये दोनों प्रकृतियाँ एक साथ उदय में रह सकती हैं। जैसे-स्थिर नामकर्म के उदय से हड्डी, दाँत आदि स्थिर होते हैं, जबकि अस्थिर नामकर्म के उदय से रुधिर, मूत्र आदि अस्थिर होते हैं। इसी प्रकार शुभ नामकर्म के उदय से मस्तक आदि शुभ अंग होते हैं, जबकि अशुभ नामकर्म के उदय से पैर आदि अशुभ अंग। अतएव ये चारों प्रकृतियाँ बंध की अपेक्षा विरोधिनी होने पर भी उदयापेक्षा अविरोधिनी मानी गई हैं।

पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय, इन चौदह प्रकृतियों का उदय अपने क्षय (बन्ध उदय-विच्छेद) होने वाले गुणस्थान तक बना रहता है। इनका क्षय होता है-बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में। अतएव इन्हें ध्रुवोदयी कहा गया है। मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति का उदय-विच्छेद प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में होता है। इसलिए प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान तक मिथ्यात्व का उदय ध्रुव होता है, इस कारण इसे ध्रुवोदयी प्रकृति में गिना है।

इस प्रकार नामकर्म की बारह, ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अन्तरायकर्म की पाँच और मोहनीय कर्म की एक; यों कुल सत्ताइस प्रकृतियाँ ध्रुवोदयी हैं।[१]

---

१. (क) निमिण थिर अथिर अगुरु य, सुह-असुहं तेय कम्म-चउवन्ना।
नाणंतराय दंसण मिच्छं धुव-उदय सगवीसा॥ ६॥
कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन (मरुधरकेसरी जी) पृ. २७ से २९ तक

(शेष पृष्ठ ५१ पर)

अध्रुवोदयी प्रकृतियाँ : स्वरूप और प्रकार

उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से ध्रुवोदयी २७ प्रकृतियाँ कम करने पर शेष ९५ प्रकृतियाँ रहती हैं, वे अध्रुवोदयी हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-

स्थिर, शुभ और उनसे इतर-अस्थिर और अशुभ के सिवाय शेष अध्रुवबन्धिनी ६९ प्रकृतियाँ, मिथ्यात्व के सिवाय मोहनीय कर्म की ध्रुवबन्धिनी १८ प्रकृतियाँ, पाँच निद्रा, उपघात, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय, ये कुल ६९+१८+५+१+१+१ =९५ प्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं।[१]

ये ९५ प्रकृतियाँ अध्रुवोदय क्यों और कैसे?

इन ९५ प्रकृतियों को अध्रुवोदया मानने का कारण यह है कि इनमें से बहुत-सी प्रकृतियाँ तो परस्पर विरोधिनी हैं तथा तीर्थंकर नाम कर्म आदि कतिपय प्रकृतियों का सदैव उदय होता नहीं है, एवं जिस गुणस्थान तक जितनी प्रकृतियों का गुणप्रत्यय से विच्छेद नहीं बतलाया गया है, वहाँ तक उन प्रकृतियों के रहने पर भी उसी गुणस्थान में वह प्रकृति द्रव्य आदि की अपेक्षा से कभी उदय में आती है, कभी नहीं भी आती; इन सब कारणों से इन्हें अध्रुवोदया प्रकृतियों में परिगणित किया गया है।

विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए-पहले जो अध्रुवबन्धिनी ७३ प्रकृतियाँ बताई गई हैं, उनमें स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, इन चार प्रकृतियों के सिवाय शेष ६९ प्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं। इन ६९ प्रकृतियों में से उच्छ्वास, आतप, उद्योत और पराघात, इन ५ प्रकृतियों का उदय किसी जीव के होता है और किसी

(पृष्ठ ५० का शेष)

(ख) निम्माणं-थिराथिर-तेय-कम्म-वण्णाइ, अगुरु-सुहमसुहं।
नाणंतराय-दसगं दंसण-चउ मिच्छ निच्चोदया॥ -पंचसंग्रह ३/१६

(ग) '''''''''''''' मिच्छं सुहुमस्स घादीओ॥
तेजदुगं वण्णचऊ थिर-सुह-जुगला गुरुणिमिण धुवउदया॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४०२, ४०३

(घ) पंचम कर्मग्रन्थ गा. ६ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. १६ से १८

१. (क) थिर-सुभियर विणु अधुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी।
निद्दोवघाय मीसं सम्मं पणनवइ अधुवुदया॥ ७॥''-पंचम कर्मग्रन्थ, विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. २९ से ३१

(ख) पंचम कर्मग्रन्थ, गा. ७, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. १९ से २०

(ग) यहाँ पूर्वकोटिपृथक्त्व से ३ या ४ पूर्वकोटि अर्थ लेना चाहिए जैसा कि कोट्याचार्य ने स्वटीका में लिखा है-तिसृभिश्च तिसृभिर्वा पूर्वकोटिरभ्यधिकानीति शेषः। -वि. भा. टीका पृ. ७८२

जीव के नहीं होता। शेष रही ६४ प्रकृतियाँ जैसे बन्धावस्था में परस्पर विरोधिनी हैं, वैसे ही उदयावस्था में विरोधिनी हैं। इसीलिए इन्हें अध्रुवोदया कहा गया है।

मोहनीय कर्म की ध्रुवबन्धिनी १९ प्रकृतियों में से मिथ्यात्व मोहनीय को छोड़ कर शेष १६ कषाय, भय और जुगुप्सा, ये १८ प्रकृतियाँ उदय में परस्पर विरोधिनी हैं। जैसे-क्रोध का उदय होने पर मान आदि अन्य कषायों का उदय नहीं होता है, तथैव मान आदि के उदय के समय क्रोध आदि के विषय में जान लेना चाहिए। ये प्रकृतियाँ बन्ध की अपेक्षा विरोधिनी नहीं होने पर भी उदय की अपेक्षा क्रोधादि कषाय-प्रकृतियाँ विरोधिनी हैं। इसी विरोधरूपता के कारण १६ कषायों को अध्रुवोदया माना गया है। भय और जुगुप्सा का उदय भी कादाचित्क है। किसी जीव के किसी समय इनका उदय होता है, किसी के किसी समय उदय नहीं भी होता। इस कारण इन दोनों को भी अध्रुवोदया में गिनाया गया है।

दर्शनावरणीय कर्म के भेद-निद्रा आदि निद्रापंचक अध्रुवोदया इसलिए माने गए हैं कि इनका उदय कभी होता है, और कभी नहीं होता। तथा ये पाँच प्रकार की निद्राएँ भी परस्पर विरोधिनी हैं। यानी, एक समय में पाँच में से एक ही निद्रा का उदय होता है, अन्य निद्राओं का नहीं। उपघात नामकर्म का उदय भी किसी जीव को कभी-कभी होता है। इसलिए वह भी अध्रुवोदया प्रकृति है।

मिश्र मोहनीय प्रकृति को अध्रुवोदया इसलिए माना जाता है कि इसकी उदय विरोधिनी प्रकृतियाँ सम्यक्त्व-मोहनीय और मिथ्यात्व-मोहनीय हैं, जिनके अवस्थितिकाल में इसका उदय नहीं होता है। सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि को होता है और वेदक सम्यक्त्व का उदयकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागर अधिक चार पूर्व कोटि है।[१] अतएव यह अध्रुवोदया है।

मिथ्यात्व-मोहनीय को अध्रुवोदया प्रकृति न मानने का कारण यह है कि मिथ्यात्व का उदय प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में सतत रहता है, एक क्षण के लिए भी रुकता नहीं है। जबकि अध्रुवोदया प्रकृतियों का, उदय-विच्छेद न होने तक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के निमित्त से कभी उदय होता है, और कभी नहीं होता।

---

१. (क) सम्मत्तस्स सुयस्स य छावट्ठी सागरोवमाइ ठिई। -आवश्यक निर्युक्ति
(ख) विजयादिसु दोवारे गयस्स तिण्ण च्चुए व छावट्ठी।
नरजम्म पुव्वकोडी पुहुत्त मुक्कोसओ अहियं ॥ ३२९४॥ -विशेषावश्यक भाष्य
अर्थ-सम्यक्त्व की स्थिति ६६ सागर से कुछ अधिक है। विजयादिक में दो बार जाने वाले के अथवा अच्युत देवलोक में ३ बार जाने वाले के ६६ सागर होते हैं। और मनुष्य जन्म का पूर्वकोटिपृथक्त्व काल अधिक होता है।-सं.

इसीलिए तो उनको अध्रुवोदया कहते हैं। इनके उदय का विच्छेद होने पर भी पुनः उदय हो सकता है, यही इनकी विशेषता है। इस प्रकार ९५ प्रकृतियों को कर्मशास्त्र में अध्रुवोदया माना गया है।

यहाँ एक शंका होती है कि यदि अध्रुवोदया की यही परिभाषा है तो मिथ्यात्व को भी अध्रुवोदय कहना चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर भी उसके उदय का विच्छेद हो जाता है, इस प्रकार सम्यक्त्व छूट जाने पर पुनः उसका उदय होने लगता है।

इसका समाधान यह है कि उदय के विच्छेद न होने पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के निमित्त से जिन प्रकृतियों का उदय कभी होता है और कभी नहीं होता, उन्हें अध्रुवोदया कहते हैं। जैसे-बारहवें गुणस्थान तक 'निद्रा' प्रकृति का उदय बतलाया गया है, किन्तु उसका उदय सर्वदा नहीं होता, जबकि मिथ्यात्व कर्म में ऐसी बात नहीं है। उसका (मिथ्यात्व) उदय केवल पहले गुणस्थान में प्रवाहरूप से निरन्तर रहना बतलाया गया है। प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय का प्रवाह एक क्षण के लिये भी रुकता नहीं है, इसलिये वह ध्रुवोदया ही है।[१]

ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियाँ

बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० हैं और उदययोग्य हैं १२२; किन्तु सत्तायोग्य प्रकृतियाँ कुल १५८ हैं। जिनके नाम कर्मग्रन्थ प्रथम में स्पष्ट किये गए हैं-ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की २८, आयु की चार, नामकर्म की १०३, गोत्रकर्म की दो और अन्तरायकर्म की पांच, यों सब मिलाकर ५+९+२+२८+४+१०३+२+५=१५८ प्रकृतियाँ सामान्यरूप से सत्ता में मानी जाती हैं।

इन ध्रुव-अध्रुव सत्ता-योग्य १५८ प्रकृतियों की संज्ञाओं और उनमें गर्भित प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं-

त्रसवीशक-त्रसदशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति), तथा स्थावर-दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति)।

वर्णवीशक-पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध, और आठ स्पर्श।

तैजस-कार्मण-सप्तक-तैजसशरीर, कार्मणशरीर, तैजस-तैजस-बन्धन, तैजस-कार्मण-बन्धन, कार्मण-कार्मण-बन्धन, तैजस-संघातन और कार्मण-संघातन।

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. २०

आकृति-त्रिक–(१) **छह संस्थान**–समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्डक। (२) **छह संहनन**–वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक, सेवार्त। (३) **पांच जाति**–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति।

युगलद्विक–हास्य और शोक एक युगल, रति और अरति दूसरा युगल।

औदारिक सप्तक–औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, औदारिक संघात, औदारिक-बन्धन, औदारिक-तैजस बन्धन, औदारिक-कार्मणबन्धन, औदारिक-तैजस-कार्मण-बन्धन।

उच्छ्वास-चतुष्क-उच्छ्वास, आतप, उद्योत और पराघात।

खगति-द्विक–शुभविहायोगति और अशुभविहायोगति।

तिर्यंच-द्विक–तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी।

मनुष्यद्विक–मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी।

वैक्रिय-एकादश–देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय-शरीर, वैक्रिय-अंगोपांग, वैक्रिय-संघात, वैक्रिय-वैक्रिय-बन्धन, वैक्रिय-तैजस-बन्धन, वैक्रिय-कार्मण-बन्धन, वैक्रिय-तैजस-कार्मण-बन्धन।

आहारक-सप्तक–आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, आहारक-संघातन, आहारक-आहारक-बन्धन, आहारक-तैजस-बन्धन, आहारक-कार्मण-बन्धन, आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन।

इन संज्ञाओं में गृहीत प्रकृतियों तथा कुछ प्रकृतियों के नाम-निर्देश-पूर्वक ध्रुव-अध्रुव-सत्ता वाली प्रकृतियों की अलग-अलग संख्या पंचम कर्मग्रन्थ में बतलाई गई है। ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता, दोनों सत्ता वाली प्रकृतियों को मिलाकर १५८ संख्या है।[१]

ध्रुवसत्ताका एक सौ तीस प्रकृतियाँ

इन १५८ प्रकृतियों में से १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका हैं। वे इस प्रकार हैं–त्रसदशक, स्थावरदशक, पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, ये वर्णादि

१. (क) तस-वन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं।
आगिइतिग वेयणियं दुजुयल सगउरल सासचऊ॥ ८॥
खगई-तिरि-दुग नीयं धुवसंता संम मीस मणुयदुगं।
विउविक्कार जिणाऊ हारसगुच्चा अधुवसंता॥ ९॥ –पंचम कर्मग्रन्थ
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ८, ९ विवेचन, (मरुधरकेसरीजी), पृ. ३७ से ३९

बीस प्रकृतियाँ, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, तैजस-तैजसबन्धन, तैजस-कार्मणबन्धन, कार्मण-कार्मण-बन्धन, तैजस-संघातन और कार्मण-संघातन, यह तैजस कार्मण-सप्तक (सात प्रकृतियाँ), ४७ ध्रुवबन्धी प्रकृतियों में से वर्णचतुष्क (वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श) और तैजस तथा कार्मणशरीर को छोड़कर ४१ ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ, तीन वेद, आकृतित्रिक (६ संस्थान, ६ संहनन, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ५ जाति, ये १७ प्रकृतियाँ), दो वेदनीय, हास्य-रति और शोक-अरति के दो युगल (४ प्रकृतियाँ), औदारिक सप्तक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, औदारिक संघात, औदारिक-औदारिक-बंधन, औदारिक- तैजस-बन्धन, औदारिक-कार्मण-बन्धन, औदारिक-तैजस-कार्मण-बन्धन, ये सात प्रकृतियाँ), उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात, ये उच्छ्वासादि चार प्रकृतियाँ, दो शुभ-अशुभ-विहायोगति, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, नीचगोत्र, ये कुल मिलाकर २०+२०+७+४१+३+१७+२+४+७+४+२+२+१= १३० कर्मप्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका हैं। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से पहले सभी जीवों के इनकी सत्ता रहती है।

अध्रुवसत्ताका अट्ठाइस प्रकृतियाँ

१५८ में से १३० कम करने पर शेष रहीं २८ प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं, वे इस प्रकार हैं-सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय-अंगोपांग, वैक्रिय संघातन, वैक्रिय-वैक्रियबन्धन, वैक्रिय-तैजस बन्धन, वैक्रिय-कार्मणबन्धन, वैक्रिय-तैजस-कार्मणबन्धन, ये वैक्रिय एकादश, जिन (तीर्थंकर) नाम, चार आयुकर्म, आहारकसप्तक (आहारक-शरीर, आहारक-अंगोपांग, आहारक-संघातन, आहारक-आहारक-बन्धन, आहारक-तैजस-बन्धन, आहारक कार्मण-बन्धन और आहारक-तैजस-कार्मण-बन्धन) और उच्चगोत्र, ये कुल मिलाकर १+१+२+११+१+४+७+१ =२८ प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं।[१]

बन्ध और उदय से सत्ता में अधिक प्रकृतियाँ क्यों ?

ध्रुवसत्ताकी १३० और अध्रुवसत्ताकी २८, दोनों मिलाकर १५८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य होती हैं, जो बन्ध योग्य-प्रकृतियों से ३८ और उदय योग्य प्रकृतियों से ३६ अधिक हैं। इस आधिक्य का कारण यह है कि बन्ध और उदय के योग्य प्रकृतियों में नामकर्म की प्रकृतियों में से कुछ प्रकृतियाँ परस्पर अन्तर्भूत कर ली जाती हैं। जैसे-बन्ध और उदय में वर्णादि चार प्रकृतियों में ही बीस प्रकृतियों का

१. पंचम कर्मग्रन्थ गा. ८, ९ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. २१, २२

समावेश कर लिया जाता है; जबकि सत्तायोग्य प्रकृतियों में प्रत्येक को पृथक्-पृथक् लेकर उनकी बीस प्रकृतियाँ गृहीत की गई हैं। इस प्रकार सोलह प्रकृतियाँ तो ये बढ़ गईं। इसके अतिरिक्त बन्ध और उदययोग्य प्रकृतियों में बन्धननामकर्म की १५, तथा संघात नामकर्म की ५, इन बीस प्रकृतियों को पृथक् से ग्रहण न करके शरीर-नामकर्म की प्रकृतियों में ही उनका समावेश कर लिया गया है, जबकि सत्तायोग्य कर्मप्रकृतियों में इनको पृथक्-पृथक् गिनाया है। इस कारण सत्तायोग्य प्रकृतियों में बन्धननामकर्म की १५ और संघात नामकर्म की ५, ये दोनों मिलाकर २० प्रकृतियाँ और बढ़ जाती हैं। मोहनीय कर्म में बन्ध केवल मिथ्यात्व का होता है किन्तु सत्ता में मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय-ये तीन प्रकृतियाँ रहती हैं। अतः ये दो प्रकृतियाँ और बढ़ जाती हैं। यों २+१६+२०=३८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य प्रकृतियों में अधिक हो जाने से १२०+३८=१५८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी गई हैं।

ध्रुवबन्धिनी ध्रुवोदया से अध्रुवबन्धिनी-अध्रुवोदया की संख्या कम, परन्तु सत्तायोग्य प्रकृतियों में इसके विपरीत

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है, वह यह कि बन्ध और उदय योग्य प्रकृतियों में ध्रुवबन्धिनी तथा ध्रुवोदया प्रकृतियों की संख्या अध्रुवबन्धिनी तथा अध्रुवोदया प्रकृतियों की संख्या से बहुत कम थी, जबकि ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों की संख्या में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। यहाँ अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों की संख्या सिर्फ २८ है, जबकि ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों की संख्या १३० है।

इसका कारण यह है कि जिस समय किसी प्रकृति का बन्ध हो रहा हो, उस समय उस प्रकृति का उदय भी होना आवश्यक नहीं है, इसी प्रकार जिस समय किसी प्रकृति का उदय हो रहा हो, उस समय उसका बन्ध भी होना आवश्यक नहीं है, किन्तु उन दोनों (बन्धव्य तथा उदययोग्य प्रकृति) की ही सत्ता का होना आवश्यक है। अतएव बन्धदशा और उदयदशा की प्रकृतियाँ सत्ता में रहती ही हैं। तथा मिथ्यात्व दशा में जिनकी सत्ता नियम से नहीं होती, ऐसी प्रकृतियाँ भी कम ही हैं। इन कारणों से ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों की संख्या अधिक है, और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों की संख्या कम।[१]

ये एक सौ तीस प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका क्यों ?

त्रस आदि बीस, वर्ण आदि बीस और तैजस-कार्मण-सप्तक की सत्ता सभी संसारी जीवों के रहती है, अतः ये ध्रुवसत्ताका हैं। सैंतालीस ध्रुव-बन्धिनी प्रकृतियों

१. पंचम कर्मग्रन्थ गा. ८, ९ विश्लेषण (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. २२, २३

में से वर्णचतुष्क और तैजस-कार्मण, इन ६ प्रकृतियों को इसलिए कम कर दिया है, कि उन्हें गाथा के प्रारम्भ में ही अलग से गिना गया है। वैसे तो जो ध्रुवबन्धिनी हैं, उन्हें ध्रुवसत्ताका होना ही चाहिये, क्योंकि जिनका बन्ध सर्वदा होता है, उनकी सत्ता भी सर्वदा रहनी ही चाहिये। तीनों वेदों का बन्ध बारी-बारी से होता रहता है। आकृतिद्विक अर्थात्-६ संस्थान ६ संहनन और ५ जाति भी पूर्ववत् ध्रुवसत्ताक हैं। परस्पर में कर्मदलों का संक्रमण होते रहने की अपेक्षा से वेदनीयद्विक भी ध्रुवसत्ताक है। हास्य, रति, अरति और शोक की सत्ता नौवें गुणस्थान तक सभी जीवों के होती है। औदारिक सप्तक की सत्ता भी सर्वदा रहती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से पहले सभी जीवों के ये प्रकृतियाँ सदैव रहती हैं, इसलिए इन्हें ध्रुवसत्ताका कहते हैं।

अनन्तानुबन्धी कषाय प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका क्यों, अध्रुवसत्ताका क्यों नहीं ?

यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीवों के कषाय का उद्वलन होता है, इसलिए अनन्तानुबन्धी कषाय को ध्रुवसत्ताक न कहकर अध्रुवसत्ताक कहना चाहिए, परन्तु कर्मग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि अध्रुवसत्ताकता का विचार उन्हीं जीवों की अपेक्षा से किया गया है, जिन्होंने सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणों को प्राप्त नहीं किया है। इस दृष्टि से अनन्तानुबन्धी कषाय को ध्रुवसत्ताक ही मानना चाहिए। यदि उत्तरगुणों की प्राप्ति की अपेक्षा से अध्रुवसत्ताकता मानी जाएगी, तो केवल अनन्तानुबन्धी कषाय ही क्यों, बल्कि सभी कर्मप्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका ठहरेंगी, क्योंकि उत्तरगुणों के होने पर सभी प्रकृतियाँ अपने-अपने योग्य-स्थान में सत्ता से विच्छिन्न हो जाती हैं।

अट्ठाईस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्तारूप क्यों?

१५८ में से १३० प्रकृतियाँ कम होने पर शेष २८ प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका प्ररूपित की गई हैं। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय की सत्ता अभव्यों के तो होती ही नहीं, बल्कि बहुत-से भव्यों के भी नहीं होती है। तथा अग्निकाय और वायुकाय के जीव मनुष्यद्विक की उद्वलना कर देते हैं, इसलिए मनुष्यद्विक की सत्ता उनके नहीं होती। वैक्रिय आदि ग्यारह प्रकृतियों की सत्ता अनादिनिगोदिया जीवों के नहीं होती। तथा जो जीव उनका बन्ध करके एकेन्द्रिय में जाकर उद्वलन कर देते हैं, उनके भी ये प्रकृतियाँ नहीं होती! तथा सम्यक्त्व के होते हुए भी जिन (तीर्थंकर) नाम किसी के होता है, और किसी के नहीं होता। तथा स्थावरों के देवायु तथा नरकायु का, अहमिन्द्रों के तिर्यञ्चायु का, तेजस्काय, वायुकाय और सप्तमनरक के नैरयिकों के मनुष्यायु का सर्वथा बन्ध न होने के कारण उनकी सत्ता नहीं है। तथा संयम के होने पर (छठे आदि गुणस्थान में) आहारकसप्तक किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। तथा उच्चगोत्र भी अनादि

निगोदिया जीवों के नहीं होता तथा उद्वलन हो जाने पर तेजस्काय और वायुकाय के भी नहीं होता। इन कारणों से पूर्वोक्त २८ प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका कही गई हैं।[१]

गुणस्थानों में कतिपय प्रकृतियों की ध्रुव-अध्रुवसत्ता प्ररूपणा

आदि के तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व-मोहनीय की सत्ता अवश्यमेव होती है। तथा अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान तक ८ गुणस्थानों में मिथ्यात्व की सत्ता भजनीय (वैकल्पिक) है। अर्थात्-किसी के होती है, किसी के नहीं होती। सास्वादन नामक द्वितीय गुणस्थान में सम्यक्त्व-मोहनीय की सत्ता नियम से (अवश्य) होती है; किन्तु सास्वादन के सिवाय मिथ्यादृष्टि आदि दश गुणस्थानों में सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता विकल्प से है। पंचम कर्मग्रन्थ में मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय के अस्तित्व (सत्ता) का विचार गुणस्थानों में करते हुए, ऊपर कहा गया है कि किस गुणस्थान में ये नियम से रहती हैं, और किस गुणस्थान में अनियम से ? अतः इस विषय में विशेष विवेचना करना उपयुक्त नहीं।[२]

बन्ध के बिना सत्ता और उदय क्यों और कैसे? : एक अनुचिन्तन

एक प्रश्न और उपस्थित होता है, इन मिथ्यात्वमोहनीय आदि त्रिविध प्रकृतियों के सम्बन्ध में, वह इस प्रकार है कि कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता के सम्बन्ध में एक सामान्य नियम यह है कि जिन कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, बन्ध होने के पश्चात् वे ही कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं, और उदयकाल आने पर उनका ही उदय होता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी सोचा जाए तो भी यह तथ्य युक्तिसंगत है कि जिन कर्मों को बांधा ही नहीं, वे सत्ता और उदय में कैसे आ सकते हैं ?

किन्तु कर्मविज्ञान में इस सामान्यनियम का भी एक अपवाद है। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों में से एक मिथ्यात्वमोहनीय का ही बन्ध होता है। शेष दो प्रकृतियाँ-सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्र-मोहनीय, बन्ध के बिना ही उदय में आती हैं; इसका कारण यह है कि जब कोई अनादि-मिथ्यादृष्टि जीव जब पहली बार सम्यक्त्व ग्रहण करने के अभिमुख होता है, तब तीन लब्धियों (उपशमलब्धि,

---

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ, गा. ८, ९ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी)
(ख) कर्मप्रकृति (यशोविजय टीका), एवं पंचसंग्रह में १८ प्रकृतियाँ ही अध्रुवसत्ताका कही गई हैं।

२. (क) पंचम कर्मग्रन्थ गा. १० विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. २५, २६
(ख) पढम तिगुणेसु मिच्छं नियमा अजयाइ-अट्ठगे भज्जं।
सासाणे खलु संतं मिच्छाइ-दसगे वा॥ १०॥ -पंचम कर्मग्रन्थ

उपदेशश्रवणलब्धि और प्रायोग्यलब्धि अथवा पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक लब्धि) से युक्त होता हुआ करणलब्धि करता है। करण का अर्थ है-परिणाम और लब्धि का अर्थ है-प्राप्ति या शक्ति। अर्थात्-जीव को उस समय तक ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट परिणामों की प्राप्ति होती है, जो अनादि काल से पड़ी हुई मिथ्यात्व-ग्रन्थि (गांठ) का भेदन करने में वह समर्थ हो जाता है। वे करण या परिणाम तीन प्रकार के होते हैं-यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

इस क्रिया के पूर्ण होने के पश्चात् मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति भी पूरी हो जाती है। उसके पूरी होते ही अन्तर्मुहूर्त काल के लिए मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो जाने से प्रथमोपशम-सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इस उपशमसम्यक्त्व के प्रकट होने के पहले समय में, अर्थात्-मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की प्रथम स्थिति के अन्तिम समय में द्वितीय स्थिति में वर्तमान मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के दलिक अनुभाग की तरतमता को लेकर तीन रूप में विभक्त हो जाते हैं-शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। प्रथम कर्मग्रन्थ में इनका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है-शुद्ध दलिकों को सम्यक्त्व-मोहनीय कहते हैं, अर्धशुद्ध दलिकों को मिश्र या सम्यग्मिथ्यात्व-मोहनीय कहते हैं और अशुद्ध दलिकों को मिथ्यात्व-मोहनीय। इस प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्व के माहात्म्य से एक मिथ्यात्व-मोहनीय-प्रकृति त्रिरूपा हो जाती है और ऐसा होने से सत्ता और उदय में दो प्रकृतियाँ बढ़ जाती है।[१]

मिश्र-प्रकृति और अनन्तानुबन्धी कषाय की सत्ता का विचार

दूसरे सास्वादन और तीसरे मिश्र-गुणस्थान में मिश्रमोहनीय की प्रकृति अवश्य पाई जाती है, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय मिथ्यात्व के तीन पुंज हो जाते हैं। और उस सम्यक्त्व के काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक ६ आवलिका प्रमाण काल शेष रह जाता है, तब जीव सास्वादन गुणस्थान को प्राप्त होता है। अतः उस समय जीव के मिश्रमोहनीय प्रकृति की सत्ता अवश्य होती है। तथा मिश्रमोहनीय सत्ता और उदय के बिना मिश्रदृष्टि नामक तीसरा गुणस्थान हो ही नहीं सकता। अतः तीसरे गुणस्थान में मिश्र प्रकृति की ध्रुवसत्ता जाननी चाहिए। शेष पहले, चौथे, पांचवें, छठे, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें और

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ गा. १० विवेचन, पृ. २६ से ३३ तक सारांश ग्रहण
(ख) दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो॥ १४॥ -प्रथम कर्मग्रन्थ
(ग) इन करणों का विशेष स्वरूप जानने के लिए देखें-कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह का उपशमनाकरण तथा लब्धिसार गा. ३४-८९, गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ४७-५७

ग्यारहवें गुणस्थान में उसकी सत्ता अध्रुव होती है; क्योंकि जिस मिथ्यादृष्टि जीव ने मिश्रप्रकृति की उद्वलना कर दी है, उसके तथा अनादि-मिथ्यादृष्टि के मिश्रप्रकृति की सत्ता नहीं होती, शेष मिथ्यादृष्टि जीवों के उसकी सत्ता होती है। इसी प्रकार चतुर्थ आदि ८ गुणस्थानों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों के मिश्रप्रकृति नहीं होती, शेष जीवों के होती है।

अनन्तानुबन्धी कषाय की सत्ता पहले और दूसरे गुणस्थान में ध्रुव होती है; क्योंकि इन गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध अवश्य होता है। जिसका बन्ध होता है, उसकी सत्ता अवश्य होती ही है। शेष तीसरे आदि ९ गुणस्थानों में उसकी सत्ता अध्रुव होती है; क्योंकि जिस जीव ने अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन कर दिया है, उसके अनन्तानुबन्धी की सत्ता नहीं होती, शेष जीवों के उसकी सत्ता होती है।

मिथ्यात्व आदि सभी गुणस्थानों में आहारक सप्तक (आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, आहारक संघातन, आहारक-आहारकबन्धन, आहारक-तैजस बन्धन, आहारक-कार्मणबन्धन और आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन इन ७ प्रकृतियों) में अस्तित्व (सत्त्व या सत्ता) विकल्प से होता है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय शेष सभी गुणस्थानों में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता भी विकल्प से होती है। तीर्थंकर-नामकर्म और साहारक सप्तक की सत्ता जिस जीव के होती है, वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में भी आता है। तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति वाला कोई जीव यदि मिथ्यात्व में आता है तो वह सिर्फ अन्तर्मुहूर्त के लिए ही आता है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान के छठवें भाग तक किसी-किसी विशुद्ध सम्यग्दृष्टि के होता है। इन गुणस्थानों में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाला जीव ऊपर के गुणस्थानों में जाता है तो उसमें तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता पाई जाती है, यदि वह जीव अविशुद्ध परिणामों के कारण नीचे के गुणस्थानों में आता है, तो मिथ्यात्व में ही आता है, सास्वादन और मिश्र गुणस्थान में नहीं। अतः दूसरे तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष १२ गुणस्थानों में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता पाई जाती है। २-३ गुणस्थान में तो सत्ता ही नहीं है, शेष गुणस्थानों में सब के नहीं पाई जाती। अतः इसकी सत्ता अध्रुव जाननी चाहिए।

मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का अन्तिम ध्येय है, मोक्ष प्राप्ति का प्रथम उपाय सम्यक्त्व है। उसी के परम पुरुषार्थ पर मोक्ष निर्भर है। अतः जीवन का उत्थान सम्यक्त्व और पतन मिथ्यात्व से होने से उससे सम्बद्ध १५ प्रकृतियों का यहाँ विशेष रूप से विचार किया गया है।[१] ■■

१. पंचम कर्मग्रन्थ, ११, १२ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से सारांशग्रहण, पृ. २४ से ४१

३

परावर्तमाना और अपरावर्तमाना प्रकृतियाँ

घुड़दौड़ के दो प्रकार के घोड़ों की तरह कर्मों की दो प्रकार की प्रकृतियाँ

घुड़दौड़ के मैदान में जब रेस के घोड़े दौड़ते हैं, तब उनमे बड़ी रस्साकसी चलती है, जो घोड़ा सबसे अधिक तेजीला और फुर्तीला होता है, वह आगे बढ़ जाता है और बाजी जीत जाता है। कुछ उससे कम फुर्तीले घोड़े होते हैं, वे दूसरे नंबर पर आ जाते हैं। जो घोड़े फुर्तीले होते हैं, वे दूसरे घोड़ों को आगे आने नहीं देते। किन्तु जो घोड़े कमजोर और सुस्त होते हैं, वे दिखने में भले ही हृष्टपुष्ट दिखते हैं, रेसकोर्स में वे आगे नहीं बढ़ पाते, उनकी गति-प्रगति तीव्र नहीं होती, इसलिए वे दूसरे घोड़ों को आगे बढ़ने देते हैं, स्वयं उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते।

परावर्तमाना-अपरावर्तमाना प्रकृतियों का स्वरूप

इसी प्रकार कर्मबंधों की भी जीवों के जीवन में घुड़दौड़ चलती रहती है। कर्मों की घुड़दौड़ में कई कर्म ऐसे होते हैं, जिनकी प्रकृतियाँ तीव्र और फुर्तीली गति वाली होती हैं, वे बन्ध, उदय और बन्धोदय में दूसरे कर्मों को रोक देती हैं, और स्वयं, अपना बंध, उदय और बंधोदय करती हैं। जबकि कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनकी प्रकृतियाँ ऐसी होती हैं कि वे बन्ध, उदय और बन्धोदय की दौड़ में दूसरी प्रकृतियों को रोक कर अपना बंध, उदय और बंधोदय नहीं करतीं अर्थात्-वे दूसरी प्रकृतियों को बंध, उदय और बंधोदय करने में रोकती नहीं हैं। इन दोनों में प्रथम वर्ग की कर्मप्रकृतियाँ परावर्तमाना कहलाती हैं और द्वितीय वर्ग की कर्मप्रकृतियाँ कहलाती हैं-अपरावर्तमाना।

परावर्तमाना कर्मप्रकृतियाँ वे कहलाती हैं, जो दूसरी प्रकृतियों के बन्ध, उदय अथवा बंधोदय दोनों को रोककर, अपना बन्ध, उदय और बन्धोदय करती हैं।

अर्थात् जो प्रकृतियाँ अपने बन्ध, उदय और बंधोदय के लिए दूसरी प्रकृतियों के बंध, उदय, बंधोदय को रोक देती हैं, आगे बढ़ने नहीं देतीं वे परावर्तमाना कर्मप्रकृतियाँ कहलाती हैं।[१]

परावर्तमाना प्रकृतियों की संख्या

कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने कर्मग्रन्थ आदि में वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन (अघाती) कर्मों की अधिकांश प्रकृतियों के साथ घातिकर्म-दर्शनावरण एवं मोहनीय की भी प्रकृतियाँ गिनाई हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-

(१) दर्शनावरण की पांच-निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि।

(२) वेदनीय की दो-सातावेदनीय और असातावेदनीय।

(३) मोहनीय की तेईस-अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क, संज्वलनकषाय-चतुष्क और हास्य रति, शोक अरति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद।

(४) आयुकर्म की चार-नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु।

(५) नामकर्म की पचपन प्रकृतियाँ-शरीराष्टक की ३३ प्रकृतियाँ (औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर, औदारिक अंगोपांग आदि तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन, एकेन्द्रिय आदि पांच जति, नरकगति आदि चार गतियाँ, शुभ-अशुभ विहायोगति, चार आनुपूर्वी), आतप, उद्योत, त्रसदशक और स्थावरदशक, ये कुल मिलाकर ३३+२२=५५ प्रकृतियाँ।

(६) गोत्रकर्म की दो-उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

इस प्रकार ५+२+२३+४+५५+२=९१ प्रकृतियाँ परावर्तमाना हैं।

इनमें से अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क आदि सोलह कषाय और पांच निद्राएँ ध्रुवबन्धिनी होने से, ये बंधदशा में तो दूसरी प्रकृतियों का उपरोध नहीं करती, तथापि अपने उदयकाल में अपनी सजातीय प्रकृति के उदय को रोककर प्रवृत्त होती हैं। अतः परावर्तमाना हैं। क्योंकि क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों में से एक समय में एक ही कषाय का उदय होता है, इसी तरह पांच प्रकार की निद्राओं में से किसी एक निद्रा का उदय होते हुए शेष चार निद्राओं का उदय नहीं होता। यद्यपि

---

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ, गा. १८, १९ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ६८, ७०
(ख) मोक्षप्रकाश (धनमुनिजी), पृ. १२०

स्थिर, शुभ, अस्थिर, अशुभ, ये चार प्रकृतियाँ उदयदशा में विरोधिनी नहीं हैं, एक जीव के एक समय में चारों का उदय हो सकता है, किन्तु बन्धदशा में विरोधिनी हैं, क्योंकि स्थिर के साथ अस्थिर का तथा शुभ के साथ अशुभ का बन्ध नहीं होता। इसलिए ये चारों प्रकृतियाँ परावर्तमाना हैं। शेष ६६ प्रकृतियाँ बन्ध और उदय दोनों अवस्थाओं में परस्पर विरोधिनी हैं। इसलिए ये परावर्तमाना हैं। तैजस-कार्मण शरीर बंधते समय औदारिक आदि शरीर भी बंध सकते हैं, क्योंकि ये दोनों शरीर अपरावर्तमाना प्रकृतियों में हैं, किन्तु औदारिक शरीर बंधते समय वैक्रियशरीर को कभी बंधने नहीं देता, क्योंकि ये दोनों परावर्तमाना प्रकृतियों में हैं।[१]

अपरावर्तमाना प्रकृतियों की संख्या

पंचम कर्मग्रन्थ में अपरावर्तमाना कर्मप्रकृतियों में चार घातिकर्मों की तथा कुछ नामकर्म की प्रकृतियाँ गिनाई हैं। इनमें पांच ज्ञानावरण की, चार दर्शनावरण की, तीन मोहनीय की, पांच अन्तराय की, और नामकर्म की नौ ध्रुवबंधिनी तथा पराघात, उच्छ्वास और तीर्थंकर, यों १२ प्रकृतियाँ, यों ५+४+३+५+१२=२९ प्रकृतियाँ अपरावर्तमाना हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) ज्ञानावरण-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण-चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनावरण।

(३) मोहनीय-भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व।

(४) नामकर्म-वर्णादिचतुष्क, तैजस, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, पराघात, उच्छ्वास और तीर्थंकरनाम।

(५) अन्तराय-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय।

ये उनतीस प्रकृतियाँ किसी दूसरी कर्मप्रकृति के बन्ध, उदय अथवा बन्ध-उदय दोनों को रोककर अपना बंध, उदय और बन्ध-उदय नहीं करतीं; इसलिए ये अपरावर्तमाना प्रकृतियाँ कहलाती हैं।[२]

एक प्रश्न : समुचित समाधान

प्रश्न होता है-सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन दोनों प्रकृतियों के उदय

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ गा. १९ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. ५१
(ख) मोक्षप्रकाश से भावांशग्रहण, पृ. १२०
(ग) कम्मपयडी (कर्मप्रकृति) की यशोधर विजयकृत टीका गाथा १ में इस विषय में विवेचन है।

२. पंचम कर्मग्रन्थ गा. १८, विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ६८

में मिथ्यात्व का उदय नहीं होता है तथा ये दोनों ही मिथ्यात्व के उदय की विरोधिनी हैं। अत: मिथ्यात्व को अपरावर्तमाना प्रकृति क्यों मानी जानी चाहिए?

इसका **समाधान** यह है कि मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध और उदय प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है, जबकि वहाँ मिश्रमोहनीय एवं सम्यक्त्वमोहनीय का बन्ध और उदय नहीं होता है। यदि ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्व गुणस्थान में रहकर मिथ्यात्व के उदय को रोकतीं और स्वयं उदय में आतीं, तब तो अवश्य ही विरोधिनी कही जा सकती थीं। परन्तु इनका बन्धस्थान और उदयस्थान अलग-अलग है। अर्थात्- मिश्रमोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय चौथे गुणस्थान में होता है, जबकि मिथ्यात्व या उदय पहले गुणस्थान में होता है। अत: ये दोनों प्रकृतियाँ एक ही गुणस्थान में रहकर परस्पर एक दूसरे के बन्ध या उदय का निरोध नहीं करती हैं। इसलिए मिथ्यात्व को अपरावर्तमाना कर्मप्रकृति मानी है।

इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के बारे में समझना चाहिए कि उनका बन्धस्थान, उदयस्थान या बन्धोदय स्थान भिन्न-भिन्न हैं।[१]

इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों को जानने से लाभ

प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में इन दोनों प्रकृतियों का परिचय देने का उद्देश्य यह है कि प्रकृतिबन्ध के विवेचन के समय हम जिन मूल प्रकृतियों के साथ-साथ उत्तर-प्रकृतियों के बन्ध का निरूपण कर आए हैं, उन उत्तरप्रकृतियों में भी ध्रुवबन्धी आदि प्रकृतियों के साथ-साथ परावर्तमाना, अपरावर्तमाना प्रकृतियों को भी जानना अनिवार्य है, ताकि बन्ध और उदय के विभिन्न घात-प्रतिघातों तथा मोर्चों को जान सकें और सावधान रह सकें कि वे प्रकृतियाँ मुमुक्षु साधक पर हावी न हो सकें, वह उनका संवरण और निर्जरण कर सके, उनका उदय होने से पहले ही, सत्ता में रहे, तभी परिवर्तन, उदात्तीकरण एवं संक्रमण कर सके अथवा सुदृढ़ कदमों से अप्रमत्त और जागरूक रहकर उपशम श्रेणि या क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ होकर कर्ममुक्ति की ओर बढ़ सके।[२]

■■

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ, गा. १८ व्याख्या (मरुधरकेसरीजी), पृ. ६८, ६९
(ख) पंचसंग्रह गा. १३८ में अपरावर्तमान कर्मप्रकृतियों की संख्या बताई है।

२. कर्मप्रकृतियों के ध्रुवबंधी आदि भेदों का कोष्ठक अगले पृष्ठ पर देखें।

कर्मप्रकृतियों के ध्रुवबन्धी आदि भेदों का कोष्ठक

कर्मप्रकृति	ध्रुवबन्धी	अध्रुवबन्धी	ध्रुवोदया	अध्रुवोदया	ध्रुवसत्ताका	अध्रुव सत्ताका	सर्वघाती	देशघाती	अघाती	परावर्तमाना	अपरावर्तमाना	पुण्य प्रकृति	पाप प्रकृति
ओघ १५८	४७	७३	२७	९५	१३०	२८	२०	२५	७५	९१	२९	४२	८२
ज्ञानावरण ५	५	०	५	०	५	०	१	४	०	०	५	०	५
दर्शनावरण ९	९	०	४	५	९	०	६	३	०	५	४	०	९
वेदनीय २	०	२	०	२	२	०	०	०	२	२	०	१	१
मोहनीय २८	१९	७	१	२७	२६	२	१३	१३	०	२३	३	०	२६
आयुकर्म ४	०	४	०	४	०	४	०	०	४	४	०	३	१
नामकर्म १०३	९	५८	१२	५५	८२	२१	०	०	६७	५५	१२	३७	३४
गोत्रकर्म २	०	२	०	२	१	१	०	०	२	२	०	१	१
अन्तराय ५	५	०	५	०	५	०	०	५	०	०	५	०	५

+ मोहनीय कर्म में सम्यक्त्वमोहनीय देशघाती और मिश्रमोहनीय सर्वघाती हैं, तथा ये दोनों परावर्तमाना और पाप-प्रकृतियाँ हैं।-सं.

४

विपाक पर आधारित चार कर्मप्रकृतियाँ

कर्मों की प्रकृतियाँ : विपाक के आधार पर

एक बगीचे में आम, अंगूर, अनार, चीकू, नींबू, सन्तरे आदि विविध फलों के पेड़ हैं। उस बगीचे में कई माली रखे हुए हैं। उन्होंने समय-समय पर जैसे बीज बोये होंगे, उनके फल भी वैसे ही आते रहते हैं। उन सभी वृक्षों के फल अपने-अपने समय पर जब पक जाते हैं, तब अपने-आप फल या तो नीचे गिर जाते हैं, या बगीचे के कर्मचारी उसे तोड़ लेते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि जैसे-जैसे बीज बोये जाते हैं, वैसे-वैसे ही उसके फल, कोई जल्दी और कोई देर से मिलते हैं। यदि कोई नीम का बीज बोकर आम के मधुर फल पाना चाहे तो नहीं पा सकता।

विपाक का स्वरूप और परिणाम

इसी प्रकार संसाररूपी बगीचे में विविध प्रकार के जीवरूपी माली अपनी-अपनी गति-मति-अनुसार कर्म-बीज बोते रहते हैं। वे पूर्वबद्ध कर्म जब परिपक्व होकर फल देने के अभिमुख होते हैं, तब उन्हें कर्मविज्ञान की भाषा में विपाक कहते हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार-विशिष्ट या विविध (नाना प्रकार के) कर्मों के पाक का नाम विपाक है। ऐसे कर्मों का विपाक जीव के द्वारा किसी कार्य के निमित्त से पहले बांधे हुए शुभ-अशुभ भाव (परिणाम), पुरुषार्थ, तीव्र-मन्द आदि भावास्रव विशेष के अनुरूप विशिष्ट प्रकार का होता है।[१] उदाहरणार्थ-किसी व्यक्ति ने

---

१. "विशिष्टो नानाविधो वा पाकः विपाकः। पूर्वोक्त कषाय-तीव्र-मन्दादि भावास्रव विशेषाद् विशिष्टः पाको विपाकः। अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-लक्षण-निमित्त-भेद-जनित-वैश्वरूपयो नानाविधः पाके विपाकः।" असावनुभव इत्याख्यायते। -सर्वार्थसिद्धि ८/२१/५९८/३

पारिवारिक क्षेत्र के निमित्त से कषाय की तीव्रतावश कर्मबीज बोया, उसे परिवार में ही तदनुसार कर्म-विपाक (कर्मफलानुभव) होगा। या तदनुरूप तीव्रमन्द-रसानुभव होगा। किसी ने व्यावसायिक क्षेत्र में तदनुरूप कर्मबीज बोये होंगे तो उसे तदनुसार कर्मबन्ध होकर समय परिपक्व होने पर उस बद्धकर्म का फलानुभव होगा, उसे विपाक कहा जाता है। 'धवला' के अनुसार-पूर्वबद्ध कर्म जब रसोदय के अनुरूप फलभोग कराने के अभिमुख होते हैं, तब उस कर्म के उदय या उदीरणा के अनुसार अनुभव (फलभोग) को विपाक कहते हैं।[१]

इसी प्रकार कभी किसी क्षेत्र, कभी किसी पुद्गल, कभी भव और कभी किसी जीव के भाव के निमित्त से बद्ध कर्म अपना विपाक यानी फलानुभव कराते हैं। वे विपाक राग-द्वेष-मोहात्मक परिणामों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार तथा विभिन्न कर्मों के अनुसार विविध प्रकार के होते हैं। निष्कर्ष यह है कि जीव के साथ अमुक-अमुक पदार्थ से सम्बद्ध होने पर बंधे हुए कर्म समय आने पर रसोदयाभिमुख होते हैं और विपाक यानी फलानुभव कराते हैं।[२]

अष्टविध कर्म के विभिन्न विपाकों का दिग्दर्शन

मूल में कर्मों के आठ प्रकार हैं। इन अष्टविध कर्मों के विभिन्न विपाकों-अनुभावों का निरूपण **'प्रज्ञापनासूत्र'** में बहुत ही विस्तार से किया गया है। हम आठों ही कर्मों के विपाकों (फलभोगों-अनुभावों) का संक्षिप्त निरूपण कर्मविज्ञान के पंचम खण्ड में **'कर्म-महावृक्ष के सामान्य और विशेष फल'** नामक निबन्ध में कर आए हैं। यहाँ संक्षेप में आठ कर्मों के विपाक (अनुभाव) का निरूपण करेंगे।[३]

(१) **ज्ञानावरणीय** कर्म का उदय होने पर जीव की पांचों इन्द्रियों तथा मन से होने वाले लब्धिजन्य और उपयोगजन्य ज्ञान की शक्ति को रोकना ज्ञानावरणीयकर्म का विपाक है। अर्थात्-ज्ञानावरणीय कर्म का फल-विपाक जीव के ज्ञान गुण को रोकना है। ज्ञान के आवृत हो जाने पर जीव की बुद्धि, स्मृति, पढ़ने-लिखने की

---

१. "कम्माणमुदओ उदीरणा वा विवागो णाम।"-धवला १४/५, ६, १४/१०

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. ५२, ५३
   (ख) 'विपाकोऽनुभावः।'-तत्वार्थसूत्र अ. ९

३. (क) देखें-प्रज्ञापनासूत्र खण्ड ३, पद २३, पंचम अनुभावद्वार में विपाक के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन।
   (ख) ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों के अनुभाव (विपाक) के स्पष्ट निरूपण के लिए देखें-कर्मविज्ञान खण्ड ५, भाग २, में 'कर्ममहावृक्ष के सामान्य और विशेष फल' नामक निबन्ध।

शक्ति, स्फुरणा एवं निर्णय की शक्ति कुण्ठित, लुप्त तथा मन्द, मन्दतर और मन्दतम हो जाती है। ज्ञानावरणीय कर्म के विपाक के कारण जीव जानने योग्य को नहीं जान पाता, पहले जाना हुआ भी भूल जाता है, जिज्ञासा होने पर भी नहीं जान पाता।

(२) **दर्शनावरणीय** कर्म का जब विपाक होता है–यानी उदय में आता है, तब फलानुभव के रूप में जीव की दर्शन (सामान्य ज्ञान की, देखने) की शक्ति आवृत हो जाती है। अर्थात्–दर्शनावरणीय कर्म के विपाक (अनुभाव) हैं–इन्द्रियों और मन, बुद्धि अन्तःकरण से होने वाले दर्शनगुण को ढक देना। निद्रादि आने पर जीव वस्तु का यथार्थ दर्शन नहीं कर पाता।

(३) **वेदनीय कर्म** का विपाक है–जीव को सुख-दुःख का संवेदन होना। असातावेदनीय कर्म जब फलविपाक के लिए उदय में आता है, तब सुख के साधन होते हुए भी सुखानुभव नहीं कर पाता, इसके विपरीत सातावेदनीय कर्म का विपाक होने पर दुःख के साधन या परिस्थिति विद्यमान होने पर बी जीव दुःख का अनुभव नहीं करता, बल्कि सुखानुभव करता है।

(४) **मोहनीय कर्म** का विपाक होता है तब राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय का चक्र चलता रहता है। विपाक में आने पर मोहनीय कर्म का साक्षात् फल सम्यक्त्व (ज्ञान-दर्शन) और चारित्र गुणों को कुण्ठित और विकृत करना है। दर्शनमोहनीय के उदय में आने पर जीवों को मिथ्यात्व के, किसी को मिश्र के और किसी को प्रशमादि परिणामों का वेदन होता है। तथा कषाय और नोकषाय का वेदन होने पर क्रोधादि तथा हास्यादि परिणामों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

(५) **आयुष्य कर्म** का फल विपाक है, इस कर्म के उदय में आने पर (शस्त्रादि) निमित्त से, अथवा स्वभावतः (शीत-उष्णादिरूप पुद्गल-परिणामों से अथवा रोग, आतंक, भय, शोक, चिन्ता, तनाव आदि से) भुज्यमान आयु का ह्रास (अपवर्तन) होना। तथा नरकायु, तिर्यञ्चायु आदि कर्मों के उदय से तत्-तत्-आयुजनित कर्मों का स्वतः वेदन (फलानुभव) होना।

(६) **नामकर्म का विपाक**–नामकर्म के उदय में आने पर इष्ट शब्द, रूप आदि १४ पकार के शुभनामकर्म के फल का, तथा इन्हीं अनिष्ट शब्दादि १४ प्रकार के अशुभ नामकर्म के फल का अनुभव (वेदन) होता है। ये दोनों प्रकार के शुभ-अशुभ नामकर्मफल स्वनिमित्तक भी होते हैं, पर-निमित्तक भी।

(७) **गोत्रकर्म का फलविपाक** दो प्रकार का होता है। उच्चगोत्रकर्म के उदय में आने पर उसका विपाक उच्च जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, श्रुत और एश्वर्य की विशिष्टता के रूप में प्राप्त होता है। जबकि नीचगोत्रकर्म के उदय से नीच जाति,

कुल आदि की विशिष्टता प्राप्त होती है। उच्चगोत्रकर्म के विपाक (फल) के परिणामस्वरूप जीव की प्रसिद्धि, प्रशंसा, लोकप्रियता आदि में वृद्धि होती है, जबकि नीचगोत्रकर्म के विपाक के परिणामस्वरूप जीव बदनामी, निन्दा, अपकीर्ति, कलंक आदि का भाजन बनता है।

(८) **अन्तरायकर्म का फल-विपाक**–अन्तराय कर्म के उदय में आने (विपाकाभिमुख होने) पर दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (शक्ति) का कुण्ठित, होना एवं उपघात (अन्तराय) प्राप्त होना है।

आठ कर्मों के विपाक का यह चक्र अविश्रान्तरूप से गति करता रहता है। किसी समय किसी कर्म का विपाक जागता है, तो किसी समय किसी अन्य कर्म का विपाक जागृत होता है। इनकी निरन्तरता अबाध गति से चल रही है। इन आठों ही कर्मों के विपाक में मोहनीय कर्म का विपाक सर्वाधिक प्रबल एवं जन्म-जन्मान्तर तक फलानुभव कराने वाला है।[१]

गति आदि के निमित्त से कर्मफल का तीव्र-मन्द विपाक

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि गति आदि विशिष्ट निमित्तों के कारण ही सभी कर्मों का विपाक फलदान में कार्यक्षम होता है। साथ ही वह स्व, पर एवं उभय से उदीरित ज्ञानावरणीय आदि कर्म स्वतः, परतः या स्व-पर उभयतः फलोन्मुख (उदय को प्राप्त) होता है। ये आठों ही कर्म किसी गति विशेष को पाकर तीव्र अनुभाव (विपाक) वाले हो जाते हैं। जैसे–नरकगति को प्राप्त करके जीव असातावेदनीय का जितना तीव्र विपाक (अनुभाव) प्राप्त करता है, उतना तिर्यञ्चगति या मनुष्यगति वाले जीवों के लिए नहीं। इसीलिए कहा गया है–**गति पप्प**–अर्थात्–गति विशेष को प्राप्त करके। (२) दूसरा निमित्त है–**ठिइं पप्प**–स्थिति विशेष को पाकर। जैसे–सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त, अशुभ (पाप) कर्मों से बद्ध जीव मिथ्यात्व के समान तीव्र विपाक (अनुभाव=फलभोग) का भागी होता है। (३) तीसरा निमित्त है–**भवं पप्प**–भव (जन्म) विशेष को प्राप्त करके। जैसे–मनुष्य भव या तिर्यञ्चभव को पाकर जीव निद्रादिरूप दर्शनावरणीय कर्म का विशेष विपाक (फलभोग) पाता है। (४) **पोग्गलं पप्प**–किसी के द्वारा शस्त्र, ढेला, पत्थर या तलवार आदि के योग से, अथवा पत्थर, काष्ठ आदि के स्वतः गिरने से या उनके आघात-चोट आदि से असातावेदनीय आदि किसी कर्म का विपाक (अनुभाव=फलानुभव) हो जाता है। (५) **पोग्गल परिणामं पप्प**–अर्थात्–पुद्गलों के परिणमन-विशेष को पाकर भी कर्म का विपाक तीव्र हो जाता है। जैसे–मदिरापान के परिणामस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आता है, तब

१. देखें–'जैनतत्त्वकलिका' (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), कलिका ६, पृ. १७८

उसके विपाक के रूप में बुद्धिभ्रष्टता, विवेकविकलता, मूर्च्छा या निद्रा आदि रूप फल प्राप्त होता है। खाये हुए आहार का पाचन न होने से असातावेदनीय का उदय होकर अजीर्ण, आमवात, ऊर्ध्ववात (गैस) आदि रोगों का अनुभाव (फलभोग) कराता है।

इस पर से यह स्पष्ट है कि कर्मों का विपाक किसी न किसी निमित्त से होता है। निमित्त के बिना विपाक हो नहीं सकता। यही कारण है कि प्रज्ञापना सूत्र में प्रत्येक कर्म के विपाकों का स्पष्ट निरूपण करके विपाकों के गति आदि पूर्वोक्त पांच निमित्त बताए हैं। जिसका हम पूर्वोक्त पंक्तियों में उल्लेख कर आये हैं। गोम्मटसार आदि कर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में विपाकों के मुख्यतया पांच निमित्त बताए हैं–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। ये पांच बातें पूरी हों, तभी कर्म का विपाक हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रज्ञापनासूत्र में अंकित पांच निमित्तों को इन पांचों में इस प्रकार समाविष्ट कर सकते हैं–'गति के निमित्त से' को क्षेत्र में, 'स्थिति के निमित्त से' को काल में, 'भव के निमित्त से' को 'भव' में, 'पुद्गल के निमित्त से' को द्रव्य में तथा 'भाव या परिणाम के निमित्त से' को जीव के भाव या पुद्गल के परिणाम में समाविष्ट किया जा सकता है।

विभिन्न कर्मों का विपाक किन-किन कारणों से हो जाता है

इसी प्रकार वेदनीय कर्म के विपाक में जैसे पुद्गल निमित्त होता है, वैसे ही पुद्गल-परिणाम भी निमित्त होता है। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं–सातावेदनीय और असातावेदनीय। असातावेदनीय के विपाक में एक निमित्त है–पुद्गल। एक व्यक्ति असावधानी से जा रहा है। रास्ते में पड़े हुए पत्थर से पैर टकरा गया। चोट लगी कि पैर में पीड़ा का अनुभव होने लगा। असातावेदनीय का उदय (विपाक) हो गया। मन उसी में ही बार-बार दौड़ता है, साधना में नहीं टिकता। मन की सारी गति-मति उसी में लग जाती है। मन साधना का बिल्कुल स्पर्श नहीं कर पाता। इसी प्रकार असातावेदनीय के विपाक का एक कारण है–पुद्गल-परिणाम। किसी व्यक्ति ने बीमारी की हालत में ठूंस-ठूंस कर खा लिया। अजीर्ण हो गया। पेट में तीव्र पीड़ा उत्पन्न हुई। उसका मन अब साधना में न लग कर उक्त असातावेदनीय के विपाक पर ही बार-बार जाता है। यह है-पुद्गल के परिणाम के कारण असातावेदनीय का विपाक (फलोदय का अनुभव)।[१]

१. (क) देखें प्रज्ञापना पद २३ में अनुभावद्वार में–गतिं पप्प, ठिइं पप्प, भवं पप्प, पोग्गलं पप्प, पोग्गल-परिणामं पप्प।
(ख) चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांश ग्रहण, पृ. २००, से २०३.

एक व्यक्ति ने दही खूब डट कर खा लिया, फिर बैठा ध्यान-साधना में। क्या उसका ध्यान जमेगा ? उसे बार-बार नींद सताएगी। यह दर्शनावरणीय कर्म का पुद्गल-परिणाम-निमित्तक विपाक हुआ। इसमें दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का कारण बना दधि-भोजन।

एक व्यक्ति ने बहुत तेज मिर्च मसाले वाला लहसुन युक्त तामसिक भोजन किया और फिर बैठ गया साधना में। क्या ऐसे व्यक्ति के मन में काम-वासनाओं का भूचाल नहीं आएगा ? अवश्य आएगा। ध्यान-साधना के दौरान उसके मन-मस्तिष्क में विकृतियाँ पैदा होने लगीं, उत्तेजनाएँ अंगड़ाइयाँ लेने लगीं। यों 'वेद-मोहनीय' या कषायमोहनीय कर्म के विपाक का कारण बना तामसिक भोजन।

उपादान के साथ निमित्त का भी विपाक में महत्वपूर्ण स्थान

कई बार व्यक्ति भोज्य पुद्गलों की परिणति के कारण विपाक को आमंत्रित कर लेता है। इसलिए विपाक के पूर्वोक्त विविध निमित्तों पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

कई लोग कहते हैं कि उपादान पर ध्यान दो, निमित्तों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं, किन्तु यह कथन एकांगी है। अन्तःकरण के निर्बल साधक को जरा-सा निमित्त भी पतन की खाई में डाल सकता है। मोहनीय कर्म के विपाक में जरा-सा निमित्त ही दुर्बल साधक के लिए काफी होता है। स्थूलभद्रजी के गुरुभाई को रूपकोशा का रूप देखते ही कामोत्तेजना उदित हो गई थी। चित्तमुनि के साथी संभूतिमुनि को चक्रवर्ती की रानी के कोमल केशों का स्पर्श ही मोहनीय कर्म के विपाक में निमित्त बन गया था, और उसने निदान कर लिया था। शुद्ध ब्रह्मचर्य-साधना के लिए नौ बाड़ उन-उन कामोत्तेजना के निमित्तों से बचने के लिए ही तो हैं। अतएव उपादान का जैसे महत्त्व है, वैसे ही निमित्त का भी अपने स्थान पर काफी महत्त्व है।[१]

विपाक में त्रिविध निमित्त : स्वतः परतः और उभयतः

पहले विपाक के लिए पांच प्रकार के निमित्त बताए थे, उनमें कुछ बातें तो व्यक्ति के वश की (स्वतः उदीर्ण) होती हैं, और कुछ बातें व्यक्ति के नियंत्रण से बाह्य (परतः उदीर्ण) होती हैं। कुछ बातें स्व और पर दोनों के निमित्त से होती हैं। जैसे-एक व्यक्ति ने ठूंस-ठूंस कर भोजन किया, अवांछनीय, गरिष्ठ या तामसिक भोजन किया और नींद ने आ घेरा। यह व्यक्ति की अपनी भूल या प्रमाद का कारण

१. (क) चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांशग्रहण, पृ. २०२
(ख) प्रज्ञापना, पद २३, पाँचवाँ अनुभावद्वार

है। अपनी भूल के कारण उसने दर्शनावरण कर्म के विपाक को निमित्त प्रदान कर दिया। किन्तु कई बार प्राकृतिक वातावरण आदि के कारण विपाक का उदय हो जाता है। जैसे-आसमान में बादल छाये हुए हैं, रिमझिम वर्षा हो रही है। ऐसे वातावरण के निमित्त से आलस्य आने लगा, नींद ने आ घेरा। इस प्राकृतिक वातावरण (परतः उदीरणा) के निमित्त से दर्शनावरणीय कर्म के विपाक को मौका मिल जाता है। मरुस्थल का एक व्यक्ति चिलचिलाती धूप में बाहर निकला। किसी आवश्यक कार्य से उसे कहीं जाना था। किन्तु सनसनाती हुई गर्म हवाएँ चल रही थीं। उसे लू लग गई। यहाँ पर निमित्तक और स्वनिमित्तक दोनों कारणों से असातावेदनीय के विपाक को मौका मिल गया।

निष्कर्ष यह है कि वे कर्म तीन कारणों से फलभोग (विपाक) के योग्य बन जाते हैं-(१) या तो स्वयं उदीर्ण हों, (२) या पर के द्वारा उदीर्ण हों, अथवा (३) स्व-पर दोनों के द्वारा उदीर्ण हों। दूसरे शब्दों में मनुष्य के अपने प्रमाद, गफलत या भूल के कारण से; दूसरे, प्राकृतिक वातावरण, या किसी अन्य कारण से, और तीसरे, स्व और पर दोनों के संयुक्त कारण से विपाक को उदित होने का अवसर मिल जाता है।

परिस्थिति, वातावरण, विशिष्ट व्यक्ति आदि से प्रभावित हो जाता है

इसलिए यह कहना ठीक होगा कि जीवों को उपादान के अतिरिक्त निमित्त भी प्रभावित करते हैं। जैसे-शरीर की लम्बाई-चौड़ाई और रूप-रंग क्षेत्रीय (भौगोलिक) वातावरण से प्रभावित होते हैं। मानसिक उतार-चढ़ाव बाह्य सम्पर्कों से प्रभावित होते हैं। विचार भी प्रायः बाह्य दृश्यों और आदर्श या विशेष व्यक्तियों के कारण बनते हैं। कोई भी व्यक्ति परिस्थिति, वातावरण या विशिष्ट व्यक्ति (द्रव्य) के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता; जो उसके प्रभाव क्षेत्र में हो। कहीं ठंडी हवा, आँधी, तूफान चलते हैं तो आदमी कांप उठता है। यह कम्पन पुद्गल हेतुक है। कड़ी धूप में पसीना टपकने लगता है। यह भी सहेतुक है। अपने मन के प्रतिकूल कोई संयोग या व्यक्ति मिलता है तो मनुष्य चिन्तित-व्यथित हो जाता है। मनोऽनुकूल साधन-सामग्री मिल जाती है तो मनुष्य हर्षावेश में मत्त हो जाता है। एक अत्यन्त निर्धन व्यक्ति को किसी ने खबर दी-तुम्हारे नाम की लॉटरी में दो लाख रुपयों का इनाम खुला है। यह सुनते ही वह हर्षावेश में मत्त होकर बोला-हैं दो लाख ! इतना कहते ही धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा और इस लोक से कूच कर गया। यह सब **भावों के निमित्त** से विपाक का उदीरण (फलभोग) हुआ। कभी-कभी भय, उल्लास, तनाव, आवेश, सघन शोक आदि भावों के कारण मन उद्विग्न, अशान्त, बेचैन हो जाता है। मनुष्य

आत्महत्या करके मर जाता है।[१] इन सब में भावों के निमित्त से असातावेदनीय के विपाक को आमंत्रित किया गया है।

जीव अष्टविध कर्मों के विपाक के योग्य कब और कैसे बनता है ?

इसके अतिरिक्त वहाँ कर्म-विपाक की प्रक्रिया का सूक्ष्म निरूपण करते हुए कहा गया है कि अष्टविध कर्मों के ये विपाक (अनुभाव) उसी जीव को प्राप्त होते हैं, जिसके द्वारा अमुक-अमुक कर्म पहले स्पृष्ट (आस्रवरूप से आकर्षित) हों, तत्पश्चात् बद्ध हों, फिर बद्ध-स्पृष्ट हों, तदनन्तर 'चित' (संचित) हुए हों, (सत्ता में पड़ें हों); और उपचित (क्रमशः बढ़े हों, फिर आपाक प्राप्त (थोड़ा-सा फल देने के अभिमुख हुए) हों, विपाक प्राप्त (विशेष फल देने को अभिमुख हुए) हों, फल प्राप्त (फल प्रदान के अभिमुख हुए) हों, और उदय प्राप्त (समस्त सामग्रीवशात् उदय में आए) हों। कर्मविपाक के योग्य भी वही जीव होता है, जिसने कर्म (कर्मों का आस्रव और बन्ध) किया हो, निष्पादित (ज्ञानावरणीय आदि के रूप में व्यवस्थापित) किया हो, तथा परिणामित (राग-द्वेष या क्रोधादि कषायों एवं हास्यादि नोकषायों के परिणामों से उत्तरोत्तर परिणाम-प्राप्त) हों।

इस प्रकार स्पृष्ट, बद्ध, बद्ध-स्पृष्ट, चित, उपचित, आपाक प्राप्त, विपाक प्राप्त, फल प्राप्त, उदय प्राप्त, स्वयं कर्म-कृत, निष्पादित एवं परिणामित इन १२ प्रक्रियाओं के कारण कर्म विपाक योग्य बनता है।[२]

पूर्वोक्त प्रक्रिया एवं विपाक के विविध कारणों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि वह विपाक जीव, पुद्गल, क्षेत्र और भव के निमित्त से जीव को प्राप्त होता है, परन्तु होता है, वह विविध मूल कर्मप्रकृति के अनुसार। विपाक जिस निमित्त से होता है, उस कर्मप्रकृति का नाम भी उस प्रकृति को पहचानने के लिए कर्मविज्ञानविज्ञों ने तदनुसार ही रख दिया है।

विपाक के चार हेतु : क्षेत्र, जीव, भव और पुद्गल

विपाक को रसोदय भी कहा जाता है। अतः रसोदय के चार प्रमुख स्थान हैं-(१) क्षेत्र, (२) जीव, (३) भव और (४) पुद्गल। इसीलिए 'पंचसंग्रह' में

---

१. (क) चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांशग्रहण, पृ. २०१, २०२
   (ख) मैं, मेरा मन, मेरी शान्ति से भावांश ग्रहण, पृ. २११
२. (क) प्रज्ञापना पद २३, पंचम अनुभावद्वार
   (ख) बद्ध, स्पृष्ट आदि विशिष्ट पदों के अर्थ, विशेषार्थ आदि के लिए प्रज्ञापना पद २३ का पाँचवाँ अनुभावद्वार देखें।

कहा गया है–जो कर्मप्रकृति जिस हेतु को लेकर उदय में आती है, उसका नाम उसी विपाक की अपेक्षा से रखा गया है। विपाक के पूर्वोक्त चार स्थानों की अपेक्षा से कर्मप्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं–(१) क्षेत्रविपाकी, (२) जीव-विपाकी (३) भव-विपाकी और (४) पुद्गल-विपाकी।

विपाक के दो भेदों पर आधारित : हेतुविपाकी और रसविपाकी प्रकृतियाँ

पंचसंग्रह में विपाक के दो भेद किये गए हैं–हेतुविपाक और रसविपाक। इन विपाक-द्वय की अपेक्षा से कर्म-प्रकृतियाँ भी दो प्रकार की होती हैं–हेतु-विपाकी और रस-विपाकी। पुद्गलादिरूप हेतु के आश्रय से जिस कर्मप्रकृति का विपाक-फलानुभव होता है, वह प्रकृति हेतु-विपाकी कहलाती है, और रस के आश्रय से यानी रस (अनुभाग) की मुख्यता को लेकर निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है, वह प्रकृति रस-विपाकी कहलाती है। इन दोनों प्रकार के विपाकों के भी प्रत्येक के पुनः चार-चार भेद होते हैं। अर्थात्–क्षेत्र, जीव, भव और पुद्गल रूप हेतु के भेद (निमित्त) से हेतु-विपाकी कर्मप्रकृति के चार भेद हैं।[१] यथा–(१) क्षेत्र-विपाकी, (२) जीवविपाकी, (३) भवविपाकी और (४) पुद्गलविपाकी। इसी प्रकार रस-विपाकी कर्मप्रकृति के भी एकस्थान-रसा, द्विस्थान-रसा, त्रिस्थान-रसा और चतुःस्थान-रसा, ये चार भेद हैं। इनका विवेचन हम 'रसबन्ध बनाम अनुभागबन्ध' नामक प्रकरण में कर आए हैं।[२]

यहाँ हेतुविपाकी कर्मप्रकृतियों की विवक्षा अभीष्ट

प्रस्तुत निबन्ध में कर्मप्रकृतियों के विपाक (रसोदय) के हेतुओं-स्थानों के आधार से होने वाले पूर्वोक्त क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भव-विपाकी और पुद्गल-विपाकी की प्ररूपणा विवक्षित है। इस वर्णन के द्वारा यह बताना अभीष्ट है कि कौन-कौनसी प्रकृतियाँ पुद्गल-विपाकी आदि हैं और क्यों हैं?

---

१. (क) दुविहो विवागओ पुण हेउविवागाओ रसविवागाओ।
एक्केक्का वि य चउहा, जओ च सद्दो विगप्पेणं ॥–पंचसंग्रह ३/४४
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५, (मरुधरकेसरीजी म.), पृ. ७३, ७४
(ग) नामं समेच्च हेउं विवाग-उदयं उवेंति पगइओ।
ता तव्विवागसन्ना, सेसाभिहाणाइं सुगमाइं ॥–पंचसंग्रह ३/४५

२. रसविपाकी कर्मप्रकृतियों के विस्तृत बोध के लिए देखें, कर्मविज्ञान खण्ड ७, भा. ४ का 'रसबन्ध बनाम अनुभागबन्ध' प्रकरण।

क्षेत्रविपाकी कर्म-प्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य

सर्वप्रथम क्षेत्रविपाकी कर्मप्रकृतियों का निरूपण करते हैं। क्षेत्र का अर्थ है–आकाश या आकाश-प्रदेश। जिन प्रकृतियों का उदय क्षेत्र में होता है, वे क्षेत्र-विपाकी कहलाती हैं। यों तो सभी प्रकृतियों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा को लेकर होता है। परन्तु जहाँ जिस प्रकृति की मुख्यता होती है, वहाँ उस प्रकृति की मुख्यता से उसका नाम रखा जाता है। यहाँ क्षेत्र की मुख्यता है। कर्मग्रन्थकारों ने क्षेत्र माना है–आनुपूर्वी को। अतः आनुपूर्वी नामकर्म की नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी, ये चारों प्रकृतियाँ क्षेत्रविपाकी हैं। आनुपूर्वियों को क्षेत्र मानने का कारण यह है कि इनका उदय क्षेत्र में ही होता है; क्योंकि जीव जब एक शरीर को छोड़कर दूसरा (स्थूल) शरीर धारण करने के लिये परभव को गमन करता है, तब विग्रहगति के अन्तराल क्षेत्र में आनुपूर्वी का उदय (विपाक) उसे उसी तरह उत्पत्ति-स्थान के अभिमुख रखता है, जैसे–नाथ (बैल के नाक में डाला हुआ नथ) बैल को उसके गन्तव्य स्थान के अभिमुख रखता है। इसलिए आनुपूर्वी को क्षेत्र-विपाकिनी कहा गया है।[१]

जीव-विपाकी कर्मप्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य

जो कर्मप्रकृतियाँ जीव में ही साक्षात् फल दिखाती हैं; अर्थात्–जीव के ज्ञान आदि स्वरूप का घात आदि करती हैं, वे जीव-विपाकी कर्म-प्रकृतियाँ कहलाती हैं। यद्यपि सभी कर्मप्रकृतियाँ किसी न किसी रूप से जीव में ही अपना फल देती हैं। जैसे–आयुकर्म का भवधारणरूप विपाक जीव में ही होता है, क्योंकि आयुकर्म का

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन (मरुधरकेसलीजी), पृ. ७३
(ख) खित्तविवागाऽणुपुव्वीओ। –कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. १९
(ग) यद्यपि दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों ही परम्परा आनुपूर्वी को क्षेत्रविपाकी कहती हैं, किन्तु आनुपूर्वी के स्वरूप में दोनों में मतभेद हैं। श्वेताम्बर परम्परा में–एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करने के लिए जब जीव जाता है, तब आनुपूर्वी नामकर्म श्रेणी के अनुसार गति (गमन) करते हुए उस जीव को विश्रेणी में स्थित उत्पत्ति-स्थान तक ले जाता है। इस दृष्टि से आनुपूर्वी का उदय केवल वक्रगति में ही माना जाता है। यथा–'**पुढवी उदओ वक्के** ।'–प्रथम कर्मग्रन्थ गा. ४३। किन्तु दिगम्बर-परम्परा में आनुपूर्वी नामकर्म पहला शरीर छोड़ने के बाद और नया शरीर धारण करने से पूर्व, अर्थात्–विग्रहगति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखता है। तथा उसका उदय ऋजु और वक्र दोनों गतियों में होता है।''–पंचम कर्मग्रन्थ पादटिप्पण, पृ. ५३, ५४

उदय होने पर जीव को ही भव (जन्म) धारण करना पड़ता है। इसी प्रकार क्षेत्रविपाकिनी आनुपूर्वी भी श्रेणी के अनुसार गमन करने रूप जीव के स्वभाव को स्थिर रखती है। तथैव पुद्गल-विपाकिनी कर्मप्रकृतियाँ भी जीव में ऐसी शक्ति (फलदान-शक्ति) पैदा करती हैं, जिससे वह अमुक प्रकार के पुद्गलों को ही ग्रहण करता है; तथापि क्षेत्रविपाकिनी, भवविपाकिनी और पुद्गल-विपाकिनी कर्म-प्रकृतियाँ क्षेत्र आदि की मुख्यता से अपना फल देती हैं; जबकि जीवविपाकी कर्मप्रकृतियाँ क्षेत्र आदि की अपेक्षा रखे बिना ही जीव (आत्मा) के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों में तथा इन्द्रिय, उच्छ्वास आदि में अनुग्रह-उपघात रूप साक्षात् फल जीव में ही देती हैं। जैसे कि ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियों के उदय से जीव ही अज्ञानी होता है। इसी तरह दर्शनावरणीय कर्म-प्रकृतियों के उदय से जीव के ही दर्शन-गुण का घात होता है; शरीरादि में उनका कोई फल दृष्टिगोचर नहीं होता। मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उदय से जीव के ही सम्यक्त्व एवं चारित्र गुण का घात होता है। पंचविध अन्तराय कर्म के उदय से जीव ही दान आदि की उपलब्धि न तो प्राप्त कर पाता है और न ही दे पाता है। साता-असातावेदनीय कर्म-प्रकृतियों के उदय से जीव ही सुखी-दुखी होता है, सुख-दुख की अनुभूति करता है।

जीवविपाकिनी कर्मप्रकृतियाँ ७८ प्रकार की

इसलिए कर्मग्रन्थ में जीव-विपाकिनी प्रकृतियाँ ७८ कही गई हैं। उनमें से ५ ज्ञानावरण की, ९ दर्शनावरण की, २८ मोहनीय की और ५ अन्तराय कर्म की; यों ४७ घातिकर्म की प्रकृतियाँ हैं। तथा दो गोत्रकर्म की, दो वेदनीय की, एवं तीर्थंकर नामकर्म, त्रसत्रिक (त्रस, बादर, पर्याप्त), स्थावरत्रिक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त), सुभग-चतुष्क (सुभग, सुस्वर, आदेय और यश:कीर्ति) दुर्भग-चतुष्क (दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अयश:कीर्ति) उच्छ्वास-नामकर्म, जातित्रिक (एकेन्द्रिय आदि पांच जाति, चार गति, तथा शुभाशुभ-विहायोगति); इस प्रकार कुल ४७+३१=७८ कर्मप्रकृतियाँ जीव-विपाकिनी हैं।[१]

भवविपाकिनी कर्मप्रकृतियाँ : स्वरूप और प्रकार

नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु, ये चारों आयुकर्म की प्रकृतियाँ भवविपाकिनी हैं; क्योंकि परभव की आयु का बन्ध हो जाने पर भी जब तक जीव

---

१. (क) घण-घाइ दुगोय-जिणा तासियर-तिग, सुभग-दुभग-चउ सासं।
जाइतिगं जिय-विवागा ..... ॥-कर्मग्रन्थ ५, गा. २०
(ख) कर्मग्रन्थ पंचम भाग, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री), पृ. ५४, ५५

वर्तमान भव को त्याग कर अपने योग्य भव को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक आयुकर्म का उदय नहीं होता। अतः परभव में उदययोग्य होने से आयुकर्म की प्रकृतियाँ भवविपाकिनी कही जाती हैं।[१]

गतिनामकर्म की प्रकृतियाँ भवविपाकिनी नहीं हैं

यहाँ एक शंका होती है कि गति-नामकर्म भी अपने योग्य भव के प्राप्त होने पर ही उदय में आता है, ऐसी स्थिति में उसे भवविपाकी क्यों नहीं कहा गया? इसका समाधान यह है कि आयुकर्म और गतिकर्म के विपाक में बहुत अन्तर है। आयुकर्म तो जिस भव के योग्य बांधा जाता है, नियम से उसी भव में अपना फल देता है। जैसे-मनुष्यायु का उदय मनुष्यभव में ही हो सकता है; अन्य भवों में नहीं। अतः किसी भी भव में योग्य आयुकर्म का बन्ध हो जाने के पश्चात् जीव को उस भव में अवश्य ही जन्म लेना पड़ता है। जबकि गतिनामकर्म में ऐसी बात नहीं है। विभिन्न परभवों के योग्य बंधी हुई गतियों का उसी भव में संक्रमण आदि के द्वारा उदय हो सकता है। जैसे-मोक्षगामी चरमशरीरी जीव के परभव के योग्य बंधी हुई गतियों (गति-नामकर्म-प्रकृतियों) का उसी भव में क्षय हो जाता है। इसलिये गतिनामकर्म भव का नियामक नहीं है; इस कारण वह भव-विपाकी कर्मप्रकृति नहीं है।[२]

क्षेत्रविपाकी ही क्यों, जीवविपाकी क्यों नहीं?

एक शंका और-विग्रहगति के बिना भी संक्रमण के द्वारा आनुपूर्वी का उदय होता है, अतः उसे क्षेत्रविपाकी न मानकर जीव-विपाकी क्यों न माना जाए ? इसका समाधान यह है-संक्रमण के द्वारा विग्रहगति के बिना भी आनुपूर्वी का उदय होता है, किन्तु जैसे उसका क्षेत्र की प्रधानता से विपाक होता है, वैसे अन्य किसी भी कर्मप्रकृति का नहीं होता।[३]

---

१. (क) आउ-चउरो भवविवागा। -कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. २०
   (ख) पंचम कर्मग्रन्थ, विवेचन, (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री), पृ. ५५
२. (क) वही, भा. ५, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री), पृ. ५५, ५६
   (ख) आउव्व भव विवागा, गई न आउस्स परभवे-जम्हाई।
   नो सव्वहा वि उदओ, गईण पुण संकमेणत्थि ॥ -पंचसंग्रह १६५
३. (क) आणुपुव्वीणं उदओ किं संकमणेण नत्थि संते वि।
   नह खेत्तहेउओ ताण, न तह अन्नाण सविवागो॥ -पंचसंग्रह १६६
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. ५, पादटिप्पण, पृ. ५४

पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृतियाँ : स्वरूप और प्रकार

जो कर्मप्रकृतियाँ शरीररूप में परिणत हुए पुद्गल-परमाणुओं में ही अपना फल देती हैं, वे पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृतियाँ कहलाती हैं। जैसे कि निर्माण-नामकर्म के उदय से शरीररूप में परिणत पुद्गल-परमाणुओं में अंग और उपांग का नियमन होता है। स्थिरनामकर्म के उदय से दांत आदि स्थिर तथा अस्थिर नामकर्म के उदय से जिह्वा आदि अस्थिर होते हैं। शुभनामकर्म के उदय से मस्तक, नेत्र आदि शुभ और अशुभनामकर्म के उदय से पैर, गुदा आदि अवयव अशुभ कहलाते हैं। शरीर नामकर्म के उदय से गृहीत पुद्गल शरीररूप में परिणत होते हैं और अंगोपांग नामकर्म के उदय से शरीर में अंग और उपांग का विभाग होता है। संस्थान नामकर्म के उदय से शरीर का आकार बनता है, और संहनन नामकर्म के उदय से अस्थियों का बन्धन-विशेष होता है। इसी प्रकार उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योत, आतप आदि नामकर्म की प्रकृतियाँ भी शरीररूप में परिणत हुए पुद्गलों में ही अपना फल देती हैं। इसलिए निर्माण आदि से लेकर पराघात-पर्यन्त कुल छत्तीस प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी हैं।[१]

कर्मग्रन्थानुसार पुद्गलविपाकी छत्तीस कर्मप्रकृतियाँ

कर्मग्रन्थ के अनुसार पुद्गल-विपाकी कर्म-प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं–नामकर्म की बारह ध्रुवोदयी (ध्रुवबन्धिनी) प्रकृतियाँ (निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण और वर्णचतुष्क), तनुचतुष्क (तैजस और कार्मण शरीर को छोड़कर औदारिक आदि तीन शरीर, तीन अंगोपांग, छह संस्थान और छह संहनन), उपघात, साधारण, प्रत्येक और उद्योत-त्रिक (उद्योत, आतप और पराघात); ये सब मिलाकर छत्तीस कर्मप्रकृतियाँ पुद्गल-विपाकिनी हैं।[२]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन, (मरुधरकेसरीजी), पृ. ७७, ७८
(ख) नाम-ध्रुवोदय-चउतणुवघाय-साहारणियर-जोयतिगं। पुग्गलविवागि ..... ॥
(ग) निर्माण से लेकर वर्णचतुष्क तक ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ १२ हैं, जिनमें तैजस-कार्मण शरीर भी हैं।–पंचम कर्मग्रन्थ गा. २१

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ४७-४९ में भी विपाकी कर्मप्रकृतियों को गिनाया गया है। किन्तु दोनों ग्रन्थों में उल्लिखित पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृतियों की संख्या में अन्तर है। कर्मग्रन्थ में उनकी संख्या ३६ ही बतलाई हैं। जबकि गोम्मटसार कर्मकाण्ड में उनकी संख्या ६२ कही है। इस अन्तर का कारण यह है कि कर्मग्रन्थ में ५ बन्धन और ५ संघात प्रकृतियों को छोड़ दिया गया है। तथा वर्णचतुष्क से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये ४ मूलभेद ही लिये गए हैं। उत्तरभेद कुल २० होते हैं। उनमें से ४ भेद कम करने से १६ भेद वर्णादि के नहीं लिये गए। इसलिए कर्मकाण्ड के अनुसार ६२ प्रकृतियों में से १०+१६=२६ प्रकृतियाँ कम करने से ६२-२६=३६ प्रकृतियाँ ही शेष रहती हैं।"–कर्मग्रन्थ भा. ५ पादटिप्पण, पृ. ७८

इन्हें पुद्गल-विपाकी मानें या जीवविपाकी ?

रति और अरति मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं, जो जीवविपाकी में परिगणित की गई है; किन्तु इस सम्बन्ध में एक शंका उपस्थित की गई है कि कांटे आदि अनिष्ट पुद्गलों के संयोग से अरति का विपाकोदय होता है; तथा चन्दन, पुष्पमाला आदि इष्ट पुद्गलों के संयोग से रतिमोहनीय का उदय होता है। ऐसी स्थिति में इन दोनों प्रकृतियों को जीवविपाकी न कहकर; पुद्गल-विपाकी क्यों नहीं कहा जाए?

इसका समाधान यह है कि कांटा आदि पुद्गलों के संसर्ग के बिना भी इनका उदय देखा जाता है। चन्दन, कंटक आदि के सम्पर्क के बिना भी प्रिय-अप्रिय वस्तु के स्मरण, दर्शन आदि से रति-अरति मोहकर्म का अनुभव होता है। पुद्गलविपाकी तो उसे कहते हैं, जिसका उदय पुद्गल के संसर्ग के बिना होता ही न हो; किन्तु रति-अरति कर्म का उदय जैसे पुद्गलों के संसर्ग से होता है, वैसे ही उनके संसर्ग के बिना भी होता है। अतः पुद्गलों के सम्पर्क के बिना भी रति-अरति दोनों के उदय में आने के कारण, उन्हें पुद्गल-विपाकी न मानकर जीव-विपाकी ही माना गया है।[१]

इसी प्रकार क्रोध आदि कषायों और हास्य आदि नौ नोकषायों को भी पौद्गलिक या पुद्गल-संयोगजनित होने पर भी जीव-विपाकी समझनी चाहिए, पुद्गल-विपाकी नहीं। जैसे-तिरस्कार करने वाले शब्द पौद्गलिक होते हैं, जिन्हें सुनकर क्रोध, मान आदि का उदय होता है; वैसे ही पुद्गलों का संसर्ग हुए बिना भी स्मरण, श्रवण, मनन आदि के द्वारा भी उनका उदय हो जाता है। अतः क्रोधादि कषायों और हास्यादि नोकषायों को पुद्गलविपाकी न मानकर जीवविपाकी कर्मप्रकृतियाँ ही समझनी चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि यदि आत्मार्थी साधक विपाक पर आधारित इन चारों प्रकार की कर्मप्रकृतियों को समझ ले और कर्मविज्ञान की तह में जाकर विपाक के कारणों और विपाक (उदय) में आने से पहले, उनका उदात्तीकरण, संक्रमण या उत्कर्षण के रहस्यों को हृदयंगम करले तो बहुत कुछ परिवर्तन किया जा सकता है।

---

१. (क) अरइ-रईण उदओ, किन्नभवे पोग्गलं संप्पप।
अपुट्ठेहिं वि कित्तो, एवं कोहाइयाणं पि ॥ -पंचसंग्रह १६४
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से पृ. ७९, ८०
(ग) संपप्पं जीयकाले उदयं काओ न जंति पगईओ।
एवं छिणमोहहेउं आसज्ज विसेययं नत्थि ॥ -पंचसंग्रह ३/४९

कर्मप्रकृतियों के क्षेत्रविपाकी आदि भेदों का कोष्ठक

कर्मप्रकृति	संख्या	क्षेत्रविपाकी	भवविपाकी	जीवविपाकी	पुद्गलविपाकी
ओघ	१२२	४	४	७८	३६
ज्ञानावरणीय	५	०	०	५	०
दर्शनावरणीय	९	०	०	९	०
वेदनीय	२	०	०	२	०
मोहनीय	२८	०	०	२८	०
आयु	४	०	४	०	०
नामकर्म	६७	४	०	३७	३६
गोत्रकर्म	२	०	०	२	०
अन्तरायकर्म	५	०	०	५	०
कर्मप्रकृतियाँ	कुल	४	४	७८	३६=१२२[१]

कर्मविज्ञान का यह बहुत बड़ा आश्वासन है, प्रत्येक मुमुक्षु एवं आत्मार्थी साधक को कि बन्ध की पूर्वोक्त दशविध परिवर्तनीय अवस्थाओं के माध्यम से तुम अपने दुर्भाग्य को सद्भाग्य में, दुर्विपाक को सुविपाक में, अशुभकर्म को शुभकर्म में बदल सक्ते हो, अथवा रत्नत्रयादि की साधना के द्वारा शुभाशुभ विपाक के फल देने से पहले ही उदीरणा करके उक्त बद्धकर्म का क्षय कर सकते हो।

साधना की एक प्रक्रिया यह भी है कि जो विपाक उदय में आने वाले हैं, उनसे पहले ही व्यक्ति सावधान हो जाए, जागरूक हो जाए तो विपाक को बदल सकता है, अथवा वे विपाक आने ही न पाएँ, इस प्रकार की साधना (कर्मोदीरणा करके समभाव से भोगने की साधना) कर सकता है। विपाक का ज्ञाता व्यक्ति के कदाचित् प्रमादवश, अज्ञानवश या असावधानी से कर्म आकर चिपक गए, और वह जानता है कि ये कर्म विपाक में आने पर अमुक प्रकार का फल देने वाले हैं, अथवा अमुक बद्धकर्मों का यह विपाक काल चल रहा है, यह जानते ही जागृत हो जाए, उसकी प्रमादनिद्रा टूट जाए तो उसके लिए इन (विपाकों) की शक्ति में परिवर्तन लाना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। उन बद्धकर्मों की शक्ति में ऐसा परिवर्तन लाए कि उनका विपाक ही न हो सके। यह कार्य असम्भव नहीं, सम्भव है; असाध्य नहीं, साध्य है। यदि कर्म के हेतुओं, अथवा बद्धकर्मों में कोई भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता

१. पंचम कर्मग्रन्थ (मरुधरकेसरीजी), पृ. ८२

होता तो किसी भी जीव का एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में भी मनुष्य योनि में आना सम्भव नहीं था। आत्मार्थी मुमुक्षुजनों द्वारा अहिंसादि की साधना करने का प्रयोजन ही क्या रहा? हमारे अंदर बहुत बड़ी क्षमता है, उन विपाकों में परिवर्तन ला सकने की। इसी उद्देश्य से कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने विपाकाधारित कर्मप्रकृतियों का लेखाजोखा दिया है, ताकि व्यक्ति कर्मों की प्रकृतियों को ठीक-ठीक समझ ले और उनमें कैसे परिवर्तन लाया जा सकता है या उन्हें आने ही न दिया जाए, इस सूत्र को जान ले।[१]

■■

१. चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांश-ग्रहण, पृ. २००, २०१

५

कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ–१

सूर्य-प्रकाश की प्रतिबद्ध अवस्थाओं की तरह आत्मप्रकाश प्रतिबद्ध अवस्थाएँ

सूर्य का प्रखर प्रकाश तभी अभिव्यक्त होता है, जब वह बादलों से आच्छादित न हो; अथवा रात्रि का अन्धकार उसे न घेर रहा हो। सूर्य जब सघन बादलों से घिर रहा हो, तब भी वह अपने प्रखर प्रकाश से उस आवरण या प्रतिबद्धता को मन्द कर देता है। कभी-कभी तो वह स्वयं उस घने अन्धकार से इतना ढक जाता है, कि उक्त प्रतिबद्धता के वश होकर काफी देर तक आच्छादित रहता है, प्रकाशित नहीं हो पाता। इस प्रकार सूर्य जब अन्धकार के साथ बंध जाता है, तब कई प्रकार की अवस्थाएँ प्रादुर्भूत होती हैं; कभी कम, कभी ज्यादा। कभी प्रकाश अधिक तो कभी अन्धकार अधिक।

ठीक इसी प्रकार आत्मारूपी सूर्य के ज्ञानादि प्रकाश के सम्बन्ध में समझिए। राग-द्वेष-मोह के कारण कर्मबन्ध का अन्धकार कभी तो इतना गाढ़रूप से छा जाता है कि उसे अपने प्रकाश का बिलकुल भान नहीं रहता। कभी उसमें आत्मजागृति के कारण कर्मबन्ध का अन्धकार घट जाता है, प्रकाश बढ़ता है, कभी प्रकाश घट जाता है, अन्धकार बढ़ जाता है। सूर्य के प्रकाश की अवस्था की तरह कर्मबन्ध की अवस्थाओं में न्यूनाधिकता, परिवर्तन, एक कर्मबन्ध का सजातीय दूसरे कर्म में संक्रमण, स्थिति और रस (अनुभाग) की न्यूनाधिकता आदि विविध अवस्थाएँ होती रहती हैं।

कर्मबन्ध की परिवर्तनीयता के सम्बन्ध में भ्रान्ति

परन्तु अधिकांश जीवों की कर्मों के साथ बद्धता इतनी गाढ़ हो जाती है कि वे सोच ही नहीं पाते कि इस गाढ़ बन्धन से कैसे छूटा जाए? बल्कि अधिकांश मानव भी उस गाढ़ बन्धन को स्वाभाविक समझ कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं और यह सोचते हैं कि अब इस बन्धन में कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता। जैसा बांधा है, वैसा ही भोगना पड़ेगा। कर्मबन्ध न तो शिथिल हो सकता है और न गाढ़। एक बार जैसा भी, जो भी, जिस रूप में भी कर्म बांधा है, वैसा ही उस रूप में वह फलदान तक रहेगा, उसमें न तो कोई परिवर्तन हो सकता है, न उदात्तीकरण हो सकता है और न ही किसी सजातीय कर्मप्रकृतियों का संक्रमण हो सकता है।

इस विषय में कतिपय जैन भी शास्त्रों के कथन को सही रूप में न समझकर कहते हैं,-'सूत्रकृतांग सूत्र' में कर्मबन्ध के सम्बन्ध में कहा गया है-"जिसने जैसा भी कुछ कर्म अतीत में किया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है।" अथवा-जैसा किया (बंधा) हुआ कर्म वैसा ही उसका फलभोग।[१]

दूसरी भ्रान्ति-अनादिकालीन कर्मचक्र परम्परा से छूटना भी कठिन

कर्मबन्ध के सम्बन्ध में दूसरी भ्रान्ति यह भी है कि अनादिकाल से जीव और कर्मबन्ध की अटूट शृंखला चली आ रही है। समय-समय में प्रत्येक संसारी जीव के ७ कर्म तो अवश्य ही बंधते रहते हैं। इसलिए कर्मबन्ध से मुक्त होना या सर्वथा रहित होना कैसे सम्भव है? नये कर्मों का जत्था भी बँधता जाता है, पुराने कर्म भी संचित पड़े रहते हैं। 'पंचास्तिकाय' में संसारस्थ जीव और कर्म के इस अनादि सम्बन्ध को जीव-पुद्गल कर्मचक्र के नाम से अभिहित करते हुए लिखा है-"जो जीव संसार में स्थित है, अर्थात्-जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है, उसके राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामों से नये कर्म बंधते हैं। कर्मों के कारण विविध योनियों और गतियों में जन्म लेना पड़ता है। अमुक गति में जन्म लेने से शरीर प्राप्त होता है, फिर शरीर से इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। इन्द्रियों से जीव विषय ग्रहण करता है। विषयों के ग्रहण करने से राग-द्वेषरूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसाररूपी चक्र में जीव के भावों से कर्म और कर्म से भाव होते रहते हैं। इस प्रकार संसार में कर्मचक्र का

---

१. (क) 'जहा कडं कम्म तहासि भारे।'-सूत्रकृतांग, १/५/१/२६
(ख) जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।-सूत्रकृतांग १/५/२/२३

प्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है, जबकि भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-सान्त है।"[१]

इन गाथाओं के अनुसार रागादि परिणामानुसार कर्मबन्ध तथा कर्मबन्ध के अनुसार फल और फलानुसार फिर रागादि परिणामवश कर्मबन्ध; यों एक बार बांधा हुआ कर्म पूरी स्थिति पाकर छूटता है, तब तक और नये-नये कर्म बंधते रहते हैं। इस प्रकार से कर्म का चक्र रेंहट की घटिका की तरह अबाध गति से अनन्तकाल तक चलता रहेगा। जिस प्रकार समुद्र में से पानी भाप बनकर उड़ता है, बादल बनकर फिर बरसता है। फिर समुद्र में पानी आता है। इस तरह समुद्र का अस्तित्व वैसा ही बना रहता है। वैसे ही सूक्ष्म कार्मण शरीर (कर्मपिण्ड) में नये कार्मण पुद्गल परमाणु आते रहते हैं। जिन पुराने कर्मपुद्गलों की अवधि समाप्त हो चुकी होती है, वे चले जाते हैं। यह प्रक्रिया सतत चलती रहती है। कर्मपिण्डरूप सूक्ष्मकार्मण शरीर अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ ही है। अतः संसारस्थ आत्मा सदैव कर्मयुक्त बना रहता है। निष्कर्ष यह है-संसारी जीव पूर्वकर्मोदय से नये कर्म बाँधता है, नये कर्म पुनः पुराने बनते हैं, उनका पुनः उदय होगा और फिर नये कर्म का बन्ध होगा। कर्म-संयोग (बन्ध) के कारण जीव का दुःखी होना, और दुःखी होकर फिर नये कर्म बांधना, यह चक्र अनन्तकाल तक चलता रहता है।

इसलिए कर्मविज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति अथवा जैनेतर दार्शनिकों में यह भ्रान्ति घर कर गई है कि जो कर्म एक बार बंध गया, वह उसी रूप में उदय में आता है, और उसका कर्मफल उसी रूप में भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं है। तथा पूर्वोक्त कर्मचक्र के सतत प्रवाहशील होने से समस्त कर्मों से पिण्ड छुड़ाना नितान्त कठिनतम है।

प्रथम शंका का समाधान

पूर्वोक्त तथाकथित जैनों और जैनेतर दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत की हुई प्रथम शंका का समाधान यह है-यह सत्य है कि जैसा-जैसा कर्मबन्ध होता है, वैसा ही वह कर्म उदय में आता है और उसका फल कर्त्ता को भोगना पड़ता है। परन्तु यह भी सत्य है,

---

१. जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥ १२८॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं, तत्तो रागो व दोसो वा॥ १२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसार-चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादि-णिधणो सणिधणो वा॥ १३०॥-पंचास्तिकाय

कि कर्मबन्ध होने के पश्चात् उदय में आने पर ही फल देता है। उससे पहले तक-यानी उदय में आने के अव्यवहित पूर्वक्षण तक वह सत्ता में पड़ा रहता है। और कर्म-बंध यदि निकाचित नहीं है, तो कर्त्ता के शुभ या अशुभ परिणामों के अनुसार उसकी स्थिति और अनुभाग में रद्दोबदल या न्यूनाधिकता हो सकती है। एक कर्म का अपनी सजातीय उत्तरप्रकृतियों में (कुछ अपवादों के सिवाय) संक्रमण हो सकता है। अत: उदय में आने से पूर्व बन्ध की अवस्था में परिवर्तन हो सकता है। जैनकर्मविज्ञान का मनोवैज्ञानिक आधार पर यह प्रतिपादन है। इसलिए पूर्वोक्त आगमवचनों का परिष्कृत अर्थ इस प्रकार करना उचित होगा–पूर्वबद्धकर्म उदय में आने से पूर्व जैसा (जिस शुभाशुभ परिणामों से) बँधा हुआ होता है, तदनुसार ही उसका शुभ या अशुभ फल प्राप्त होता है। जैनकर्मविज्ञान का यह माना हुआ सूत्र है कि परिणामों की तीव्रता-मन्दता या शुभता-अशुभता के अनुसार बन्ध होता है। और जीव के परिणामों में परिवर्तन होते कोई देर नहीं लगती।

रमण महर्षि के विषय में यह प्रसिद्ध है कि जब वे पहले-पहल आत्म-साधना के लिए जिस गुफा में रह रहे थे, वहाँ सांप, विषैले कीट आदि जीवजन्तु भी रहते थे। परन्तु रमण महर्षि का उनके प्रति कोई दुर्भाव या हिंसा का भाव नहीं था, इसलिए वे अनेकों बार उनके शरीर पर रेंगते और लिपट जाते थे, फिर भी उन्होंने उन्हें काटा नहीं, और न ही रमण महर्षि उन पर दुर्भाव लाये।[१]

इसी प्रकार किसी व्यक्ति ने अज्ञानता या राग-द्वेषादिवश कोई अपराध कर लिया, परन्तु बाद में उसके मन में पश्चात्ताप हुआ, जिन व्यक्तियों या जीवों के प्रति अपराध किया था, उनसे क्षमा मांगी। अन्त:करण में पवित्र मैत्रीभावना उमड़ी। उसने जो अपराध किया था, समाज में एक बार तो उसकी प्रतिक्रिया उसके प्रति घृणा और द्वेष के रूप में हुई, किन्तु जब उसके परिणामों में अशुभ के बदले शुभभाव उत्पन्न हुए तो समाज ही नहीं, राज्य सरकार भी क्या उसे पूर्वकृत अपराध की उतनी ही सजा देती है? वर्तमान युग में आजन्म दण्डप्राप्त अपराधी की शुभभावना तथा शुभ आचरण देखकर सरकार भी उसकी सजा की अवधि कम कर देती है, अथवा उसकी सजा माफ करके उसे जेल से मुक्त कर देती है।

यही बात कर्म-सरकार की है। कर्म बांधते समय जैसा भी शुभ-अशुभ, कोमल-क्रूर परिणाम था, तदनुसार बन्ध हुआ, लेकिन कर्म सत्ता में पड़ा रहा, अभी तक उदय में नहीं आया, उस दौरान उसके परिणामों में शुभ या अशुभ, तीव्र या मन्द, क्रूर या कोमल जैसा भी परिवर्तन हुआ, तदनुसार बन्ध की स्थिति और रस

१. देखें-'गुप्तभारत की खोज' (पाल ब्रंटन) में रमण महर्षि की जीवनगाथा

दोनों में परिवर्तन हुआ। अतः उक्त कर्मबन्धकर्ता को उदय में आने से पूर्व बन्ध की जैसी अवस्था होती है, तदनुसार फल मिलता है। यदि कर्मबन्ध की पूर्व-स्थिति के अनुसार ही बाद में फल मिलता तो फिर शुभ कर्म करने या जीव को सुधरने का, आगे बढ़ने का मौका ही नहीं मिलता। सिंह, सर्प जैसे क्रूर प्राणी भी नम्र और अहिंसक बन सकते हैं, तो मनुष्य क्यों नहीं अहिंसक, दयालु और नम्र बन सकता?

द्वितीय शंका का समाधान

दूसरी शंका का समाधान यह है–माना कि रागद्वेषादि परिणामों के अनुसार कर्मबन्ध होता है, फिर उदय में आने पर उसका फल मिलता है, फलभोग के समय फिर रागादि परिणाम, फिर बन्ध, इस प्रकार कर्मबन्ध की अटूट शृंखला चलती है। परन्तु बीच में यदि उन पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय के लिए व्यक्ति त्याग, प्रत्याख्यान, बाह्य-आभ्यन्तर तप, व्रताचरण, संयमपालन, सम्यग्दर्शनादि धर्म का पालन, परीषह-विजय, कषायों का शमन आदि करता है तो कर्म-बन्ध की उक्त शृंखला टूट भी सकती है, उसमें मन्दता भी आ सकती है। दीर्घकालिक बन्ध अल्पकालिक और तीव्ररस मन्दरस में परिणत हो सकता है। कई बार तो रागद्वेष-कषायादि विकारों से रहित मनःस्थिति, तीव्र संवेग, तथा उत्कट वैराग्य के परिणाम एवं तीव्र पश्चाताप की धारा में अवगाहन करते-करते व्यक्ति के रहे-सहे सभी घातिकर्म बहुत ही थोड़े क्षणों में नष्ट हो जाते हैं। बाद में आयुष्य की स्थिति के अनुसार शेष रहे चार अघातिकर्म भी सर्वथा नष्ट होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-अवस्था प्राप्त हो जाती है।

अर्जुन मालाकार, दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र आदि क्रूर एवं हिंसक, लुटेरे और हत्यारे बने हुए व्यक्ति भी तीव्र संवेग, उत्कृष्ट क्षमा, कषायोपशमन एवं उत्कट वैराग्य भावों के आने से एक दिन समस्त कर्मों को सर्वथा नष्ट करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाते हैं। यदि ऐसा परिवर्तन होना सम्भव न होता तो कर्मबन्ध की अवस्थाओं में परिवर्तन या कर्मों का उपशम, क्षयोपशम, क्षय, उदीरणा आदि के लिए व्रत, नियम, त्याग, तप, प्रत्याख्यान आदि या सम्यग्दर्शनादि सद्धर्म का आचरण कोई क्यों करता?

इस प्रकार से होने वाली सकामनिर्जरा की बात छोड़ दें, तो भी प्रत्येक संसारी जीव के जीवन में प्रतिक्षण बिना इच्छा के, विवशतापूर्वक जन्म, जरा, मृत्यु व्याधि आदि के दुःखों को सहने से अकामनिर्जरा भी होती रहती है। उससे पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आने पर उनका फल भोग लेने पर कर्मों का आंशिक क्षय भी होता रहता है। यदि ऐसा न होता तो नरकगति और देवगति का इतना लम्बा आयुष्य कैसे क्षीण होता और कैसे जीव अपने शुभ-अशुभ कर्मानुसार विविध गतियों और योनियों में जाता? कैसे जीव एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि में उत्पन्न होता और एक दिन मनुष्यगति को प्राप्त करता? इसीलिए 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है–

इस प्रकार क्रमशः विविध गतियों और योनियों में भटकते हुए जीव कर्मों का क्षय होने से आत्मशुद्धि को प्राप्त करके मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं।[१]

यही कारण है कि बन्ध से लेकर कर्मफलभोग तक की बल्कि कर्मों के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से जनित विविध अवस्थाओं का निदर्शन जैन कर्मविज्ञान ने प्रस्तुत किया है। बन्ध की ये विभिन्न अवस्थाएँ या तो बन्ध के संयोग और वियोग से सम्बन्धित हैं, या फिर बन्ध की सत्ता, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, निधत्ति, निकाचना या उदय, उदीरणा, उपशमन, या क्षयोपशमन या क्षपण से सम्बन्धित हैं। ये सब बन्ध से ही सम्बद्ध विभिन्न पहलू हैं, जिनको जाने बिना बन्ध का विच्छेद करना अत्यन्त कठिन है। इसी हेतु से प्रेरित होकर कर्मबन्ध के कोने-कोने को छानकर कर्ममुक्ति के विविध क्रमिक उपायों से वीतराग केवलज्ञानी परमात्मपद को प्राप्त करने वाले परम आप्त सर्वज्ञ कर्मवैज्ञानिक शिरोमणि जिनेन्द्रों ने कर्मबन्ध की मुख्य दस या ग्यारह अवस्थाओं की प्ररूपणा की है। ये अवस्थाएँ कर्मों में बन्ध के पश्चात् होने वाली दस मुख्य क्रियाएँ हैं, जिन्हें कर्मविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में 'करण' भी कहा जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं-(१) बन्ध (या बन्धनकरण), (२) उद्वर्तनाकरण, (३) अपवर्तनाकरण, (४) सत्ता, (५) उदय, (६) उदीरणा, (७) संक्रमण, (८) उपशमन, (९) निधत्ति या निधत्त और (१०) निकाचना (निकाचित)। कहीं-कहीं उदीरणा के बदले क्षय को एक अवस्था माना गया है।

बन्ध से सम्बन्धित इन अवस्थाओं को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें से कतिपय करण तो दुर्भाग्य को सौभाग्य में तथा सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदल सकते हैं। इसमें सारा का सारा परिवर्तन जीव के अपने हाथ में है, किसी ईश्वर, देवी-देव या किसी सत्ताधीश या धनाधीश के हाथ में नहीं। इसी तथ्य को हृदयंगम करके व्यक्ति अगर अशुभबन्ध से शुभबन्ध की ओर तथा शुभबन्ध से कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय की ओर मुस्तैदी से कदम बढ़ाए तो वह बन्ध से मोक्ष की ओर की अपनी यात्रा में सफल हो सकता है। इन दस करणों के विषय में कर्म-विज्ञान के द्वितीय भाग में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।[२]

---

१. कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं॥-उत्तराध्ययन ३/७

२. (क) पंचम कर्मग्रन्थ : प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री)
(ख) कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी), पृ. १६६
(ग) दस करणों के विशेष विवेचन के लिए पढ़ें, कर्मविज्ञान द्वितीय भाग के चतुर्थ खण्ड में कर्मवाद : निराशावाद या पुरुषार्थयुक्त आशावाद? लेख तथा जैनकर्म विज्ञान की विशेषता लेख।

(१) प्रथम अवस्था–बन्ध : स्वरूप, महत्त्व और प्राथमिकता

जीव और कर्म का एक क्षेत्रावगाही होकर नीर-क्षीरवत् या लोह-अग्निवत् बँध जाना, अथवा सोने और चांदी को एक साथ पिघलाने पर दोनों का मिलकर एक रूप हो जाने की तरह कर्मप्रदेशों का आत्मप्रदेशों के साथ मिलकर एकरूप हो जाना बन्ध है। दूसरे शब्दों में–मिथ्यात्व आदि आस्रवों के निमित्त से जीव के असंख्य आत्म-प्रदेशों में हलचल (कम्पन) पैदा होती है। फलतः जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में विद्यमान अनन्तानन्त कर्मयोग्य (कर्मरूप से परिणत होने वाले) पुद्गलों का आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ बँध जाना, चिपक जाना बन्ध है। इस प्रकार जीव और कर्म के संयोग की प्रथम अवस्था बन्ध है।

बन्ध की अवस्था के विषय में महत्त्वपूर्ण तथ्य

पहली बात–यह कर्मबन्ध की पहली महत्वपूर्ण अवस्था है। इसके बिना और कोई अवस्था हो नहीं सकती, क्योंकि कर्म की शेष अवस्थाएँ इसी पर निर्भर हैं। व्यावहारिक दृष्टि से सोचें तो मूल पूंजी ही न हो तो उसके बिना व्यवसाय कैसे होगा? या धन कमाया ही नहीं है तो बैंक में कहाँ से जमा किया जाएगा? इसी प्रकार कर्म बांधा ही नहीं है तो उसमें उत्कर्षण, अपकर्षण या संक्रमण कैसे किया जाएगा? अथवा कर्मबन्ध ही न होगा तो सत्ता में कहाँ से पड़े रहेंगे। अथवा शुभ या अशुभ किसी प्रकार का कर्म बांधा ही नहीं है, तो निधत्त, निकाचित, उदय आदि दूसरी अवस्थाएँ भी कैसे सम्पन्न होंगी? अतः कर्मबन्ध की अवस्था एक तरह से मूलभूत बीज की अवस्था है। बीज होगा तो उससे अच्छे-खराब फल, फूल, वृक्ष आदि बनेंगे, अन्यथा कैसे बनेंगे ? इसी प्रकार कर्म-बीज होगा तो उससे उदय, उदीरणा, उपशम, क्षयोपशम, सत्ता आदि अवस्थाएँ होंगी। इसीलिए कर्मशास्त्र में कहा गया है–प्रत्येक जीव के प्रतिसमय आयुष्य को छोड़ कर सात प्रकृतियाँ बंधती हैं। उनमें एक प्रकृति मुख्य होती है, शेष प्रकृतियाँ गौण।[१]

दूसरी बात–कर्म के इन सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों का जो ग्रहण होता है, वह आत्मा के समग्र प्रदेशों द्वारा होता है, न कि किसी एक ही दिशा में रहे हुए आत्मा के प्रदेशों द्वारा।

---

१. (क) जैनदर्शन (न्या. न्या. न्यायविजयजी)
(ख) कर्म की गति न्यारी भा. १ (ले. पं. अरुणविजयगणि), पृ. १७५
(ग) मोक्षप्रकाश (धनमुनि), पृ. ११
(घ) भगवती सूत्र १/१/१२
(ङ) गोम्मटसार ४३८-४०

तीसरी बात-सभी संसारी जीवों को एक जैसा कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि सबका मानसिक, वाचिक, कायिक योग (व्यापार) एक समान नहीं होता। योगों में तरतमभाव होने से प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध में भी तरतमभाव (न्यूनाधिकता) आता है। कषायरहित मन-वचन-काय की चंचलता (प्रकम्प या आन्दोलन) द्वारा आत्मा में उपस्थित होने वाला स्फुरण, सामान्यतया योग कहलाता है। योग से प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध होता है, इस कर्मशास्त्रीय नियम के अनुसार योगप्रवृत्ति के निमित्त से आत्मा प्रतिसमय अनन्त कर्म परमाणुओं को आकर्षित करता है। यदि वहाँ योग की अल्पता हो तो तदनुसार कर्म परमाणुओं का आगमन (आकर्षण या आस्रवण) भी अल्प होता है, और योग अति प्रमाण में हो तो कर्मग्रहण भी अधिक होता है। अर्थात् त्रिविध योग प्रवृत्ति से होने वाले कर्मास्रव के प्रमाण को कर्म-प्रदेश कहते हैं। अल्पमात्रा में आने वाले योगास्रव से कर्मप्रदेश की न्यूनता और अधिक मात्रा में आने वाले योगास्रव से कर्मप्रदेश की अधिकता होती है।

प्रदेशबन्ध के बाद एक समय में प्रबद्ध हुई कर्मवर्गणा आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों में तथा उनके उत्तरकर्मों में बंट जाती है। अर्थात् प्रदेशरूप में बद्ध वह कर्मवर्गणा उस-उस प्रकृति के रूप में परिणमित हो जाती है। जैसे-आहाररूप में ग्रहण किये हुए परमाणु रस, रक्त, माँस, मज्जा, अस्थि, मेद, शुक्र आदि धातुओं के रूप में परिणमित हो जाते हैं, उसी प्रकार योग द्वारा आकृष्ट हुई कर्मवर्गणा का मूल और उत्तर कर्म-प्रकृति के रूप, उस-उस कर्मवर्गणा के स्वभावानुसार परिणमन हो जाता है। ऐसा नहीं होता कि एक समय-प्रबद्ध कर्मवर्गणा एक सरीखे सात भागों में बंट जाए; परन्तु उक्त प्रदेशबद्ध कर्मवर्गणा में जो विशिष्ट स्वभाव की होती है, प्रायः तद्रूप परिणमन होता है, और बाकी की प्रकृतियों में सिर्फ न्यून अंश मिलता है। अर्थात् समय-प्रबद्ध कर्म-वर्गणा भी प्रायः किसी विशिष्ट प्रकृतिरूप में परिणत होती है, अन्य अवशिष्ट प्रकृतियों में उसका थोड़ा-सा हिस्सा जाता है। इतना विशेष है कि जो प्रकृतियाँ युगलरूप हैं, जैसे हास्य-शोक, रति-अरति आदि, वहाँ दो में से सिर्फ एक को ही हिस्सा मिलता है। कोई भी कर्म एक साथ हास्य और शोक, रति और अरति, दोनों में एक साथ परिणत नहीं होता। तथैव तीन वेदों (कामभेदों) में से मात्र एक वेदरूप में ही परिणमन होता है। मतलब यह कि जो कर्म प्रकृतियाँ परस्पर विरुद्ध हैं, वहाँ उनमें से एक को हिस्सा मिलता है। आयुष्यकर्म की प्रकृति का सारी जिन्दगी में सिर्फ एक ही बार बन्ध होता है।[१]

---

१. (क) जैनदर्शन (न्या. न्या. न्यायविजय जी), पृ. ४५४
(ख) कर्म अने आत्मानो संयोग (श्री अध्यायी), पृ. २२,२३

योगास्रव-कर्तव्य: प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध

यों योगत्रय द्वारा गृहीत कर्म में से दो बातें फलित हुईं-कर्म का प्रदेश (Extent) और कर्म की प्रकृति (Nature)। योगास्रव की जिम्मेदारी यहाँ तक ही है, अर्थात् कर्मवर्गणा को खींचना और उनका जत्था इकट्ठा करना (प्रदेश-बन्ध करना) फिर उस कर्म को मूल तथा उत्तर प्रकृति के रूप में विभक्त करना (प्रकृतिबन्ध करना) तत्पश्चात् वह कर्म कितने काल तक उदयमान रहेगा? तथा उसकी फलदायिनी शक्ति का कितना तारतम्य है? इस बारे में योगास्रव से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रकृतिबन्ध में भी न्यूनाधिकता

प्रकृतिबन्ध में भी कई प्रकार की न्यूनाधिकता है। मुख्यतया यह बन्ध योग से सम्बद्ध होने से योग भी द्विविधरूप से प्रवृत्त होता है-शुभोपयोग और अशुभोपयोग। मन-वचन-काय के शुभ व्यापार अर्थात्-धर्मचिन्तन, परहितकार्य, सत्कार्य आदि अन्य प्रवृत्तियाँ, शुभोपयोग के अन्तर्गत हैं; जबकि इनसे विरुद्ध प्रवृत्ति अशुभोपयोग है। आत्मा-अनात्मा के विवेक (तत्वार्थश्रद्धान) से रहित चाहे जैसी शुभ-अशुभ योग प्रवृत्ति घातिकर्म के बन्धरूप ही होती है तथा अघातिकर्म में शुभोपयोग द्वारा सातावेदनीय आदि पुण्यप्रकृतियों का उपार्जन (बन्ध) होता है; जबकि अशुभोपयोग द्वारा असातावेदनीय आदि पापप्रकृतियों का उपार्जन। जहाँ शुभ और अशुभ की मिश्र योग-प्रवृत्ति होती है, वहाँ कितने ही पुद्गलांश पुण्यप्रकृति रूप में और कितने ही पापप्रकृतिरूप में परिणत होते हैं। जिन महाभाग महान् आत्माओं की आत्मा-अनात्मा की विवेक-ख्याति (तत्वार्थ श्रद्धान) सुदृढ़ होती है, उनके घातिकर्म का बन्ध (उपार्जन) बहुत ही अल्प होना संभवित है।

कषायभाव-निर्भर : स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध

योग से कर्म के प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का विचार करने के पश्चात् विचार करना है-वे उक्त प्रकार से बँधे हुए कर्म कितने काल तक और कैसे तीव्र या मन्द फल प्रदान करेंगे ? वस्तुतः इन दोनों को क्रमशः स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कहते हैं। इन दोनों बन्धों का आधार आत्मा के कषाय-भाव पर निर्भर है। कषाय की व्याख्या हम मोहनीयकर्म की व्याख्या के सन्दर्भ में कर चुके हैं। फिर भी संक्षेप में कहना चाहें तो कषाय की व्याख्या हो सकती है-क्रोध, मान, माया और लोभरूप आत्मा के विभाव-परिणाम। अथवा आत्मा के स्वरूपज्ञानरूप सम्यक्त्व का और स्वरूपाचरणरूप देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यात चारित्र का जो विरोध करता है, वह कषाय है।

प्रकृतिबन्ध और अनुभागबन्ध में अन्तर

प्रकृतिबन्ध और अनुभागबन्ध, इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर यह है कि प्रकृतिबन्ध का कार्य-क्षेत्र सिर्फ कर्मवर्गणा का उसकी प्रकृति के अनुसार आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ने का है; जबकि अनुभाग बन्ध का कार्य है-इन कार्मण स्कन्धों में रही हुई फलदान शक्ति का विस्तार करने का और तदनुसार आत्मा को शुभ-अशुभ रसास्वाद (फलभोगानुभव) कराने का है।[१]

कषाय सहित होने पर ही कर्म में फलदान शक्ति का प्रादुर्भाव

जब कोई आत्मा कषाय रहित होकर सिर्फ योग से कोई प्रवृत्ति करता है तब स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध को कोई अवकाश न रहने से योग मात्र से उपार्जित प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध केवल सातावेदनीय कर्म को ग्रहण करता है। परन्तु जब वे योगत्रय कषायों द्वारा अनुरंजित होते हैं, तब अनेक प्रकृतियों का बन्ध विविध अनुभाग और स्थिति से युक्त हुए बिना नहीं रहता।

पूर्वोक्त बन्धद्वय से जनित विविध अवस्थाएँ

आत्मा के साथ बंधी हुई कर्म प्रकृति जहाँ तक फलदान करने के लिए तत्पर (फलोन्मुख) नहीं होती, वहाँ तक का काल अबाधाकाल कहलाता है। उक्त अबाधाकाल के दौरान बांधे हुए कर्म निष्क्रिय एवं मूर्च्छित-से होकर सत्ता में पड़े रहते हैं। उस दौरान वे कुछ भी फल नहीं देते। उक्त अनुदयकाल में आत्मा अपनी स्वसत्ता द्वारा पूर्वबद्ध कर्मप्रकृति में अपकर्षण (अपवर्तन-अल्पत्व), उत्कर्षण (उद्वर्तन=आधिक्य), संक्रमण (सजातीय एक प्रकृति का अन्य उत्तरप्रकृतिरूप में संक्रान्त होने) अथवा उदयाभावी क्षय (फल दिये बिना कर्मों का छूट जाना) कर सकता है। परन्तु एक बार जब वह कर्म फलप्रदान करने के लिए उदयमान (उद्यत) हो जाता है, तब अपना सम्पूर्ण फल उसकी नियत स्थिति और अनुभाग के सहित दिये बिना नहीं रहता। और उस उदयमान कर्म की नियत स्थिति पूरी होने तक प्रतिसमय उस-उस प्रकृति का उदय आता ही रहता है। जहाँ तक आत्मा में कषायभाव रहता है, वहाँ तक स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध रहेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता कि जैसा कर्म बांधा है, वैसा ही उदय में आकर फल देता रहे; इसी हेतु से जैन कर्मविज्ञान ने बन्ध से सम्बन्धित अवस्थाओं में न्यूनाधिकता पूर्वोक्त अवस्थाओं द्वारा सूचित की है।

---

१. कर्म अने आत्मानो संयोग से, भाव ग्रहण, पृ. २२ से २४ तक

कषायभाव कहाँ तक और उसके बाद की अवस्थाएँ कौन-सी हैं

दसवें गुणस्थान तक व्यक्त या अव्यक्तरूप में कषायभाव रहता है। तब तक कषाय भाव के बिना कोई भी आत्मा रह नहीं सकता, परन्तु यदि क्षपकश्रेणी द्वारा साधक पुरुषार्थ करे तो वह अकषायी होकर मोहनीयकर्म का क्षय करके शेष तीन घाति कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, वीतराग बन जाता है। जिस क्षण अकषायी होकर मोहनीयकर्म का क्षय करता है, उसी क्षण कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है। परन्तु पूर्वबद्ध कर्म जब तक सत्ता में पड़े हों, तब कषायभावों में न्यूनता या अधिकता, अथवा उपशान्तता, मन्दता या क्षीणता आदि उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय अवस्था या उदीरणावस्था द्वारा होनी सम्भव है।

आयुष्यबन्ध : जीवन भर के शुभाशुभ भावों के आधार पर

इन कषायों के कारण आत्मा प्रतिसमय आयुष्य के सिवाय सात कर्म बांधता है। आयुष्य कर्म का बन्ध जिन्दगी में एक ही बार होता है, और जब आयुष्य बन्ध होता है, तब सम्पूर्ण जिन्दगी में सेवन किये हुए शुभाशुभ भावों के तारतम्य के अनुसार बंधता है।[१]

कषाय के बहुत्व-अल्पत्व पर स्थिति और अनुभागबन्ध की वृद्धि हानि

कषाय का बाहुल्य हो तो उसके द्वारा पाप प्रकृति की स्थिति का बन्ध अधिक होता है, और कषाय के अल्पत्व से देव और मनुष्य से सम्बन्धित आयुष्य की स्थिति लम्बी और उसके बहुत्व से अल्प बंधती है। घातिकर्म की समस्त प्रकृतियों में और अघातिकर्म की पाप प्रकृति में कषाय का अल्पत्व हो तो अनुभागबन्ध अल्प पड़ता है, जबकि उनके साथ कषाय का बाहुल्य हो तो उसके कारण अनुभागबन्ध अधिक पड़ता है। इसी प्रकार कषाय की अल्पता (न्यूनता) से पुण्यप्रकृति का अनुभागबन्ध बढ़ जाता है और बहुत्व से न्यून होता है। इस प्रकार विविध कषायों को लेकर स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध की मात्रा नियंत्रित (नियमबद्ध) होती है।

योगों की अति चंचलता और कषाय की अल्पता का परिणाम

जहाँ योगों की अतिचंचलता और कषाय की अल्पताा होती है, वहाँ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध न्यून होता है, परन्तु योग द्वारा उपार्जित कर्म-प्रकृति का प्रदेश बहुत विस्तार वाला होता है, क्योंकि प्रदेश का नियामक योग है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में भी अनेक बार ऐसा अनुभव करते हैं कि व्यक्ति-विशेष का

---

१. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ.-२४, २५

प्रदेश-विस्तार अतिविपुल होने पर भी उसका फलदायक प्रभाव और स्थिति नगण्य ही होती है। समग्र विश्व में प्रलय कर डालेंगे, ऐसे तथा एकदम टूट पड़ने के कगार पर दिखाई देने वाले जलपूर्ण बादल अनेक अवसरों पर सिर्फ कुछ क्षणों तक रिमझिम बरस कर कतिपय बूँद डालकर बिखर जाते हैं। वहाँ प्रदेश विस्तार वाला होने पर भी फल का तारतम्य अत्यन्त अल्प दिखाई देता है। शरीर-सम्बन्धी वेदनीय प्रसंगों में भी कई बार प्रदेशबन्ध अति विस्तृत नजर आता है फिर भी अनुभाग का अल्पत्व दृष्टिगोचर होता है। अनेक अवसर पर बहुत से लोगों के सारे शरीर पर शीतला के चकत्ते उभर आते हैं, तब ऐसा मालूम होता है, मानो सारे शरीर पर वेदनीय कर्मप्रकृति का प्रदेश विस्तार हो। परन्तु उसकी क्षणिक और वेदनीय की अति मन्दता-अर्थात् अनुभागबन्ध स्वल्प होता है। ऐसे प्रसंग पर यों समझना चाहिए कि उस प्रकार के कर्म का उपार्जन करते समय अशुभयोग के चापल्य का बहुत्व और कषाय का अल्पत्व होना चाहिए। कई मद्य ऐसे होते हैं कि अधिक मात्रा में पीने पर भी सिर्फ सहज (थोड़ी-सी) उन्मत्तता और वह भी थोड़े-से समय तक ही उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार फलदानशक्ति और स्थिति का अल्प होना उसमें हेतुरूप, उस-उस कर्म का उपार्जन करते समय सेवित कषाय का अल्पत्व है।[१]

कषाय बाहुल्य तथा योग के अल्पत्व का परिणाम

इसके विपरीत जहाँ कषाय का बाहुल्य और योग का अल्पत्व होता है,वहाँ फलदान शक्ति और स्थिति का तारतम्य अधिक होता है। बहुत दफा एक छोटी-सी फुँसी सारे शरीर में तीव्र वेदना उत्पन्न कर देती है, और अनेक उपचार करने पर भी वर्षों तक मिटती नहीं। वहाँ प्रदेशबन्ध का अल्पत्व होते हुए भी कषाय की अधिकता के बल से अनुभाग और स्थिति अधिक होती है। अतः कई बार कर्म देखने में नगण्य-सा लगता है, फिर भी फलदान शक्ति अधिक होती है। जैसे-कोई उग्र मद्य (Wine) थोड़ी-सी मात्रा में होते हुए भी दीर्घकाल तक उन्मत्तता पैदा कर देता है, वैसे ही तीव्र कषाय से बांधा हुआ कर्म का अनुभागबन्ध भी दीर्घकाल तक तीव्र फल देता जाता है।

योगों की अल्पता, किन्तु कषाय की बहुलता का निदर्शन

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कर्मबन्ध से कर्ममुक्ति की कथा इसी तथ्य का समर्थन करती है। वे एकान्त स्थल में काययोग को स्थिर करके ध्यानस्थ होकर अडोल खड़े थे। श्रेणिक नृप के सेवक के मुख से अपनी निन्दा सुन कर उनका मनोयोग शिथिल

---

१. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ.-२६,२७

हुआ, आत्मा कषायवश हुआ। उनका शरीर तो श्मशान में समाधिभाव का प्रदर्शक बन कर खड़ा रहा, किन्तु आत्मा रण-संग्राम में चढ़ गया। और मन से ही अत्यन्त कषायभाव से कल्पित शत्रुओं का पराभव किया। उनका कषायभाव इतनी हद तक आगे बढ़ गया कि उनके सातवीं नरक में जाने योग्य पाप-कर्मदलिक इकट्ठे करके सत्ता में रखे। और उस बद्ध पाप कर्म के उदय में आने तक यदि वे न चेतते तो अवश्य ही उन्हें उन कर्मों का वैसा ही फल मिला होता। परन्तु उन वीर्यवान आत्मा ने अपनी परवशता जान ली और सत्ता में पड़े हुए उन कर्म स्कन्धों का उदयाभावी क्षय कर डाला और दूसरे ही क्षण अपना परम लक्ष्य सिद्ध कर लिया।

इस दृष्टान्त में योग का अल्पत्व तो स्पष्ट ही था परन्तु साथ ही कषाय का इतना बहुत्व था कि एक क्षण में सातवीं नरक में जाने की स्थिति प्राप्त कर ली थी।

इन सब तथ्यों पर से यही फलित होता है कि योग द्वारा प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध का निर्माण होता है। वस्तुतः कर्मबन्ध में कषाय ही प्रधान हेतु है।[१]

इसी तथ्य पर जरा विशद रूप से विचार करें। बहुत-से लोग रात-दिन मन ही मन अनेक तर्क-वितर्क की उधेड़-बुन करते रहते हैं। अथवा सामान्य प्रसंगों पर कई लोगों की अत्यधिक बोलने की आदत होती है। तथैव बेचैनी के करण अथवा मनोरंजन के लिए घड़ी भर भी स्थिर न बैठकर इधर से उधर भटकते रहते हैं। ऐसे मनुष्यों का मन-वचन-काय के योग का चांचल्य बहुत अधिक नजर आता है। परन्तु उक्त योग के साथ कषाय का बहुत्व नहीं होता। वे बेचारे भोले भाव से अहर्निश योग-प्रवृत्ति करते रहते हैं। उनका मन अनेक उथल-पुथलों की जंजाल में अथवा राजनैतिक या सम्प्रदायिक चर्चाओं में अत्यधिक ग्रस्त रहता है। फिर भी उनका प्रबल रागभाव उक्त प्रवृत्तियों के पीछे नहीं होता। हाँ, उनका मन प्रमाद, अनुपयोग और असंयम के कारण पुराने रूढ़ मार्ग पर यात्रा करता रहता है। परन्तु उसमें उनका गहरा और स्निग्ध मोहभाव भी नहीं होता। ऐसे मनुष्य सिर्फ अशुभयोग द्वारा बँधने योग्य कर्म उपार्जित करते हैं, परन्तु कषाय के अल्पत्व के कारण प्रदेश के अनुपात में स्थितिबन्ध और रसबन्ध नहीं होता। इसके विपरीत अनेक व्यक्ति अल्प योग के साथ इतने तीव्र कषाय को जोड़ लेते हैं कि उनके द्वारा उपार्जित कर्म प्रकृति के प्रदेशबन्ध के प्रमाण में अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध, माना न जा सके, इतना तीव्र और चिरस्थायी होता है।

व्यवहार में पटु और आडम्बर करने में सिद्धहस्त बहुत-से लोग सयुक्तिक आडम्बर का इतना घटाटोप रच सकते हैं कि उनके गूढ़ और चिकने तथा प्रौढ़ भावों

१. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ. २७, २८

को सहसा कोई भी व्यक्ति समझ भी नहीं सकता। उनके क्रोध, मान, माया और लोभ की आन्तरिक वासनाएं, लालसाएँ और महत्वाकांक्षाएँ अत्यन्त प्रबल होती हैं और उनकी छाती के भीतर छिपाये हुए रागद्वेष के खंजर इतने तीखे, नोकदार और खूनी होते हैं कि वे अपने कार्य या तुच्छ संकीर्ण स्वार्थ के लिए सिर्फ अवसर की ताक में बैठे रहते हैं। तथापि बाह्य दिखावे में तो सरिता के किसी एकान्त शान्त तट पर ध्यानमग्न तपश्चर्यारत चतुर वगुले जैसे, वाणी और काया के संयम वाले तथा फूँक-फूँककर चलने वाले भव्य भावुक प्रतीत होते हैं। साधारण अज्ञ जन और समाज ऐसे व्यक्तियों की ओर इनकी योग-प्रकृति के अल्पत्व के स्तर पर से या फूँक-फूँक कर चलने या क्रिया करने पर से प्रभावित होकर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं। परन्तु वास्तव में योगों की न्यूनाधिकता, सत्य या न्याय को नापने का सच्चा मीटर नहीं है। वीतराग परमात्मा के घर का न्याय या सत्य की नापतौल आन्तरिक रागद्वेष वाली या कषाय की स्थिति पर से ही होती है।

कर्मबन्ध की फल नियामक कसौटी यह नहीं है कि कोई व्यक्ति सफेद, पीले, लाल या भगवे वस्त्रों से सुसज्जित होकर एकान्त में आासन मारकर हिले-डुले बिना अडोल बैठा है, अथवा इसके विपरीत कोई व्यक्ति धुँआधार सार्वजनिक प्रवृत्ति अथवा अहर्निश प्रवृत्ति करता है, वह क्षण भर भी निकम्मा नहीं बैठता; इन दोनों वृत्ति-प्रवृत्तियों पर से उसके कर्मबन्ध तीव्र अनुभाग या दीर्घ स्थिति रूप नहीं होगा। फल शक्ति उसकी आत्मा के कषायभाव पर अवलम्बित है। अन्तर् में कषायभाव तीव्र एवं प्रबल है तो बाहर की क्रिया, प्रवृत्ति या योगों की स्थिरता मात्र से कर्मबन्ध का नापतौल नहीं होता। मनुष्य दौड़धूप करता हो, अथवा आसन मारकर अडोल बैठा हो, उस पर से कर्मबन्ध का अभाव घटित नहीं होता, न ही उसकी न्यूनता परिलक्षित होती है। कर्मबन्ध का नापतौल इसी पर से किया जाता है कि जीव (आत्मा) कषायभाव के साथ कितना स्निग्ध और विमुग्ध बना है, अथवा वह रागद्वेष से कितना निकट और दूर रहा है।[१]

योगों का संकोच, किन्तु कषायों की तीव्रता : कर्मबन्ध गाढ़

आज का जैन समाज ही नहीं, मानव समाज भी प्रायः बाह्य योग प्रवृत्ति के निरोध को ही सर्वस्व गिनता है, उसके दैनन्दिन व्यवहार में वह कितना तीव्र कषाय करता है, कितने प्रबल रागद्वेष का सेवन करता है, इसका भान तक उसे नहीं रहता। बहुधा वह कषाय के स्वरूप से भी अनभिज्ञ रहता है, जिस कषाय और राग-द्वेष-

१. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ.-२९-३०

मोह की मन्दता से, समाज का नैतिक स्तर सुदृढ़ होता है, समाज में नैतिक-धार्मिक सुसंस्कार सुदृढ़ होते हैं, उस तरफ समाज में प्रायः दुर्लक्ष्य है।

यह ठीक है कि योगों के संकोच या निरोध के परिणाम वरूप प्रदेशबन्ध अल्पमात्रा में बँधता है, परन्तु दूसरी ओर, कषाय की तीव्रता से अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध प्रबलरूप से बंधता है। अतः वर्तमान युग के मानव जितना योगों के संकोच या निरोध पर ध्यान देते हैं, उतने कषाय-संकोच या कषाय-निरोध पर ध्यान दें तो कर्ममुक्ति की ओर बहुत ही शीघ्रता से पहुँच सकते हैं। अर्थात्-मोक्ष नगर, जो करोड़ों कोस दूर रहे हैं, वह शीघ्र ही निकट आ सकता है।

कषाय या राग-द्वेष के संकोच या निरोध अथवा विजय के प्रति उपेक्षा के कारण वर्तमान युग का मानव अपने दैनिक व्यवहार में कितना असत्याचरण, मायाचार, दम्भ, कपट, छल, विश्वासघात, आडम्बर, प्रपंच, अहंकार, ममकार, मद, क्रोध, अतिस्वार्थ, ईर्ष्या, लोभ, द्वेष, वैरविरोध आदि का सेवन करता है इसका सही नापतौल शायद ही कर पाता है। आगमों में स्पष्ट प्रतिपादन है कि स्थूल हिंसा की अपेक्षा सूक्ष्महिंसा, अर्थात् आत्महिंसा; अथवा द्रव्यहिंसा की अपेक्षा भावहिंसा ही महान् पाप की हेतु है। इसी प्रकार हिंसा, असत्य आदि के बाह्य आचरण की अपेक्षा उनके आन्तरिक आचरण से आत्मा संसार के कीचड़ में गहरा से गहरा धंसता चला जाता है, और फिर उस जीव के उद्धार की आशा प्रतिक्षण कम होती चली जाती है। अतः कषाय ही आत्मा पर चढ़ता जाने वाला मैल है, कर्ममल है। और वह मैल ज्यों-ज्यों कम होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा निर्मल होता जाता है। इसीलिए सम्यग्दृष्टि और विवेकी पुरुष बाह्य योग और प्रवृत्ति की अपेक्षा आत्मा द्वारा यथाशक्य कषाय और रागद्वेष का सेवन कम हो, उस ओर अधिक लक्ष्य देते हैं।[१]

आत्मा में कषायभाव की शक्ति कर्मपुद्गलों में संक्रान्त होती है

स्थूलदृष्टि से यह कहा जाता है कि जड़ पुद्गल रूप कर्मवर्गणा के परमाणु जीव को यथायोग्य फल देते हैं, किन्तु जड़ कर्मपुद्गलों में कौन-सी ऐसी शक्ति है, जो जीव को कर्मबन्ध के अनुरूप फल दे देते हैं। कर्मविज्ञान इसका समाधान देता है कि यह सच है कि कर्म में अपने आप में कोई शक्ति नहीं है, जो शक्ति है, वह आत्मा की है। कर्म में फलगर्भिता शक्ति आत्मा की शक्ति द्वारा ही निर्मित होती है। आत्मा के कषाय भाव द्वारा ही शक्ति (वैभाविक भावशक्ति) जड़ कर्म-परमाणु में उत्पादित होती है। वस्तुतः कर्मों की फलशक्ति आत्मा की अपनी ही शक्ति है। जिसके रोम-रोम में सर्प का विष चढ़ गया है, ऐसे मनुष्य पर कोई मंत्रसिद्ध व्यक्ति

१. कर्म अने आत्मानो संयोग से भावांशगहण, पृ. ३१, ३२

मंत्रित कंकरी डालकर विष उतार देता है। ऐसे प्रसंग में कंकरी में कोई शक्ति नहीं होती, किन्तु कंकरी में आरोपित मंत्रों की आत्मा के सामर्थ्य का ही प्रभाव होता है। वैसे ही कर्म में वस्तुतः कोई सामर्थ्य नहीं होता, परन्तु जीव द्वारा आरोपित आत्मा के रागद्वेष या कषाय का ही बल होता है। राग-द्वेष, आत्मा में से प्रादुर्भूत एक सामर्थ्य-विशेष है। और उस सामर्थ्य द्वारा गर्भित हुई कर्मवर्गणा ही फलप्रदान करने में समर्थ होती है।

जैसे-ग्रामोफोन के रेकार्ड के साथ सम्बन्धित लोहे की पिन में शब्द उत्पन्न करने की जो शक्ति होती है, वह विद्युत की सूक्ष्म शक्ति द्वारा ही संक्रान्त हुई होती है। लोहे की पिन तो उस सूक्ष्म शक्ति की वाहक ही है। उसी प्रकार यहाँ भी कार्मण वर्गणा में फल प्रदान करने का जो बल है, वह सिर्फ आत्मा के कषाय भाव का ही बल है। जब कर्मप्रकृति अपना विशिष्ट फल दे चुकती है, तब जो जड़पिण्ड कार्मण शरीर के साथ बहुत दफा पहले की तरह ही जुड़ा हुआ भी रहता है, फिर भी वह कभी किसी प्रकार की हानि या लाभ नहीं कर पाता, क्योंकि फल प्रदान करने के पश्चात उसकी ऊर्जा (Energy) समाप्त हो जाती है।[१] बद्धकर्म का फल देने के लिए किसी अन्य शक्ति की या नियंता की अपेक्षा नहीं रहती। इसे हम कर्मफल के विविध आयाम नामक पंचम खण्ड में स्पष्ट कर चुके हैं।[२]

मुख्य बन्धहेतुक कषायों से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति

कषाय आत्मा की वैभाविक शक्ति है, वह बन्धन का प्रबल कारण है, इसीलिए कहा गया है-'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।' जीव में रागादि भावों (विभावों) तथा काषायिक भावों से आकर्षण शक्ति उत्पन्न होती है। उससे कर्म-परमाणुओं का-कार्मण वर्गणाओं का खिंचाव होता है, फिर वे आत्मप्रदेशों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। वही कर्मबन्ध है, इससे मुक्ति पाना ही वास्तविक मुक्ति है। इसलिए बन्ध के पूर्वोक्त चारों रूपों[३] तथा उनमें भी योगों और कषायों की न्यूनाधिकता के कारण होने वाली विभिन्न अवस्थाओं को समझना अत्यावश्यक है। वास्तव में यह बन्धन बाहरी (द्रव्य बन्धन) न होकर हमारे रागादि या कषायोत्पन्न अध्यवसायों से निर्मित बन्ध है।

---

१. कर्म और आत्मानो संयोग, पृ. ३२-३३
२. देखें-कर्म विज्ञान, पंचम खण्ड 'कर्म का कर्ता कौन, फल भोक्ता कौन ?' तथा 'कर्म का फलदाता कौन ?' शीर्षक लेख।
३. देखें, कर्मविज्ञान के चतुर्थ भाग सप्तम खण्ड में-'कर्मबन्ध के अंगभूत चार रूप' शीर्षक निबन्ध।

बन्ध के भेद : द्रव्यबन्ध और भावबन्ध

बन्ध के दो प्रकार पहले हम बता चुके हैं; वे हैं-द्रव्यबन्ध और भावबन्ध। कार्मण-वर्गणाओं का कार्मण वर्गणाओं (अर्थात् पुद्गल का पुद्गल के साथ) तथा कर्मपुद्गलों का जीव प्रदेशों के साथ जो बन्ध होता है, उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं। इसी प्रकार जीव के भावों का भावों के साथ तथा उपयोग रूप शुभ-अशुभ भावों का बाह्य पदार्थों (द्रव्य) के साथ जो बन्ध होता है, वह भावबन्ध है। जैसे-किसी जीव के क्रोधादि भावों को देखकर भय आदि का होना भाव का भाव के साथ प्रथम भावबन्ध है, तथा बाह्य इष्ट-अनिष्टरूप या ग्राह्य-त्याज्य रूप इष्ट पदार्थों को देखकर उनके प्रति हर्ष-शोक का भाव होना द्वितीय भाव बन्ध है। अथवा पदार्थों के प्रति स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व भाव होता है, वह भी भावबन्ध का ही स्वरूप है। आशय यह है कि पुत्र, मित्र, कलत्र, भ्राता, माता आदि सचेतन पदार्थों के साथ अथवा धन, धान्य, वस्त्र, मकान, वाहन आदि अचेतन पदार्थों के साथ चित्त की ग्रन्थि इतनी मजबूत होती है कि इन पदार्थों में हानि, वृद्धि, क्षति, अपहरण, रोग, स्वास्थ्य आदि के रूप में कुछ भी परिवर्तन होने पर चित्त में तदनुसार परिवर्तन होने लगता है। हानि में विषाद, वृद्धि में हर्ष, वियोग में शोक (चिन्ता), संयोग में प्रसन्नता, रोग में चिन्ता, स्वस्थता में हर्ष आदि विकल्प चित्त में उठते रहते हैं। किसी के द्वारा किसी अभीष्ट वस्तु का अपहरण, नाश या बिगाड़ करने पर चित्त भी उस वस्तु के पीछे-पीछे चलता है। यही संक्षेप में भावबन्ध है।

कर्मशास्त्र में द्रव्यबन्ध की अपेक्षा कथन

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कर्म सिद्धान्त द्रव्यबन्ध की मुख्यता से और अध्यात्मशास्त्र भावबन्ध की मुख्यता से कथन करता है। चूँकि द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि किसी भी एक के जान लेने पर दूसरे का ज्ञान स्वतः हो जाता है। भावबन्ध का कथन अतिजटिल एवं विस्तृत हो जाता है। फिर भावों का कथन स्व-संवेदनगम्य होने से छद्मस्थ के लिए सम्भव नहीं है, जबकि द्रव्यबन्ध में निमित्त की भाषा पराश्रित होने से सम्भव भी है और सर्वजन परिचित होने से सुगम भी। इसलिए आसानी से सबके समझने-समझाने के लिए द्रव्यबन्ध के माध्यम से कथन करने में सरलता होती है।[१]

कर्म सिद्धान्त की पद्धति : द्रव्यकर्म-आश्रयी प्ररूपणा

कर्मसिद्धान्त की पद्धति यह है कि कर्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को जानने के लिए उसके द्रव्यकर्म का आश्रय लेना अनिवार्य होता है। अतः आगे के प्रकरणों में

---

१. कर्म सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ८०, ८१

गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, उपशमश्रेणी, क्षपकश्रेणी तथा बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि की जो भी प्ररूपणा की गई है, वह द्रव्यकर्मों के आश्रयी की गई है। उनके निमित्त से होने वाले जीव के अध्यवसायों, परिणामों, काषायिक या राग-द्वेष-मोहादि वैभाविक भावों का परिज्ञान स्वयं कर लेना पड़ता है। अनेक स्थलों पर तो कर्मविज्ञानवेत्ता आचार्यों ने स्वयं ही स्पष्टीकरण किया है। जहाँ-जहाँ द्रव्यकर्म की दिशा में जिस समय जिस प्रकृति का बन्ध होने की प्ररूपणा की गई है, वहाँ-वहाँ जीव के भावकर्म की दिशा में यह बात अवश्यम्भावी है कि वह उसी प्रकार का विकल्प या कषायादि कर रहा है। अन्यथा, उस-उस प्रकृति का बन्ध होना सम्भव नहीं था। इसी प्रकार वहाँ जिस प्रकृति का उदय होना कहा गया है, वहाँ यह बात अवश्यम्भावी है कि उस समय जीव के भावों में उसी प्रकार का विकल्प, भाव या कषाय उदित हो गये हैं। अथवा तदनुसार उसके ज्ञान-दर्शनादि गुण आवृत हो गए हैं, चारित्रगुण कुण्ठित हो गए हैं, उसकी अनाकुलता, समता या शमता क्षुब्ध हो गई है। अन्यथा, कर्म का उदय निष्प्रयोजन हो जाएगा।

जिस प्रकार थर्मामीटर का पारा देखकर व्यक्ति के तापमान (ज्वरादि) की तरतमता का ज्ञान स्वतः हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्यकर्म के बन्ध, उदय आदि पर से जीव के भावों का अनुमान स्वतः हो जाता है। इसलिए द्रव्यकर्मबन्ध आदि के कथन पर से जीवों के भावकर्मबन्ध आदि का (भावों का) अनुमान करना उचित है। द्रव्यकर्म तथा जीव के भाव, इन दोनों का साथ-साथ कथन करना बहुत ही जटिल हो जाता है। इसलिए कर्मशास्त्र की शैली में द्रव्यकर्म के बंध आदि से जीव के भावों का नापतौल करना आवश्यक है।

जीव के भावों (परिणामों) का निमित्त पाकर कर्म का बन्ध होता है। जीव के भाव दो प्रकार के हैं-योगरूप और उपयोगरूप। योग का अर्थ है-प्रदेशों का परिस्पन्दन और उपयोग का अर्थ है-रागादि भाव। योग द्रव्यात्मक है, और उपयोग भावात्मक है। इसी प्रकार कर्मबन्ध में भी दो विभाग हैं- प्रकृतियुक्त प्रदेश द्रव्यात्मक है, जबकि स्थितियुक्त अनुभाग भावात्मक है। इसीलिए योग से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तथा उपयोग से स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध होता है। इसलिए प्रदेश-परिस्पन्दनात्मक योग केवल कर्म प्रदेशों के सम्मेल तथा वियोग में कारण हो सकता है, उसके अनुभागस्वरूप भावों में नहीं। इसी प्रकार उसका रागद्वेषात्मक उपयोग उन प्रदेशों में फलदान शक्ति उत्पन्न करने में हेतु हो सकता है, प्रदेशों के संचलन-अचलन में नहीं।[१]

---

१. कर्म सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी) पृ. ८१ से ८३

यही कारण है कि कर्मसिद्धान्त में जहाँ जीवों के सात, आठ या छह आदि मूल कर्म प्रकृतियों का बन्ध बताया है, वहाँ भी बन्ध आदि में विभिन्न तरतमताएँ एवं अवस्थाएँ होती हैं। जैसे-किसी जीव के वे मूल प्रकृतियाँ हीन अनुभाग तथा हीन स्थिति से युक्त बंधती हैं, और किसी के अधिक अनुभाग तथा अधिक स्थिति से युक्त बंधती है। किसी के एक-समय-प्रबद्ध अधिक प्रदेश बंधते हैं, किसी के कम। किन्तु कर्मसिद्धान्तानुसार हीन अनुभाग वाले अधिक प्रदेशों का उदय जीव को अल्पमात्रा में बाधा पहुँचाता है; जबकि अधिक अनुभाग वाले अल्पमात्र-प्रदेशों का भी उदय जीव को अधिक बाधाकारक होता है। जैसे-उबलता हुआ कटोरी भर जल भी शरीर पर पड़ जाए तो फफोले पैदा कर देता है, जबकि एक बाल्टी भर कम गर्म जल से शरीर को कोई हानि नहीं पहुँचती; वैसे ही अधिक अनुभाग वाला कर्मबन्ध जीवन के लिए अधिक हानिकारक होता है, जबकि अधिक प्रदेश वाला कम अनुभाग से युक्त कर्मबन्ध जीवन को इतनी हानि नहीं पहुँचा पाता। इसलिए कर्मसिद्धान्त में अनुभाग और स्थिति के ही बन्ध, उदय, अपवर्तना, उद्वर्तना आदि की प्रधानता है, प्रकृति तथा प्रदेश की नहीं।[१]

बन्ध के अन्तर्गत दो विकल्प हैं-कर्म प्रदेशों का आकर इकट्ठा होना और बंधना। इकट्ठा होने को आस्रव और उनके संश्लेषण सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं। आस्रव केवल प्रदेश-परिस्पन्दन रूप या गमनागमन रूप है, जबकि बन्ध स्निग्ध-रूक्ष (राग-द्वेष) भावरूप। इसलिए जीव का प्रदेश-परिस्पन्दन रूप योग आस्रव में कारण है, जबकि उसका रागादि भावात्मक उपयोग उन आगत प्रदेशों में यथायोग्य स्निग्धादि गुणों को प्रकट करके परस्पर बांधने में कारण है।

निष्कर्ष यह है कि योगों की चंचलता के कारण प्रति समय अनन्त कार्मण वर्गणाएँ आस्रव द्वारा विस्रसोपचय से पृथक् होकर जीव प्रदेशों के साथ संयोग को प्राप्त होती रहती हैं, पर उसके साथ रागादि रूप या कषाय रूप उपयोग का निमित्त मिला हुआ न हो तो वे उसके साथ बन्ध को प्राप्त नहीं होतीं।

इसीलिए शास्त्र में बन्ध के दो प्रकार किये गए हैं-ऐर्यापथिक बन्ध, और साम्परायिक बन्ध। तत्वार्थ सूत्र में सकषाय को साम्परायिक आस्रव और अकषाय (कषाय रहित) को ऐर्यापथिक आस्रव कहा गया है। ऐर्यापथिक बन्ध तो नाममात्र का बन्ध है। एक समय मात्र की स्थिति को बन्ध संज्ञा प्राप्त नहीं होती; क्योंकि प्रथम समय में तो वह आया ही है, अगले समय टिके तो बन्ध कहलाये। आने का नहीं, टिकने का नाम बन्ध है। इसीलिए रागादि रूप उपयोग के अभाव के कारण वीतराग,

---

१. कर्म सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ८३

अर्हत, जीवन्मुक्त परमात्मा के योगों के कारण आस्रव तो होता है, किन्तु रागादि रूप उपयोग के अभाव के कारण वे कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होते। बल्कि अनन्तरवर्ती उत्तर-समय में ही सूखे वस्त्र पर पड़ी हुई धूल के समान झड़ जाते हैं। दूसरी ओर कषाययुक्त जीवों में योग तथा विकृत उपयोग होने से आस्रव तथा बन्ध दोनों होते हैं। अर्थात् उस साम्परायिक बंध में कुछ काल तक वहाँ टिके रहने (स्थितियुक्त होने) की शक्ति भी प्रकट हो जाती है, तथा उस कर्म का संस्कार (अनुभाग) जीव के चित्त पर इस प्रकार अंकित होकर बैठ जाता है कि वह सहसा शीघ्र दूर नहीं हो पाता।[१]

साम्परायिक बन्ध के दो प्रकार

साम्परायिक बन्ध भी शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है। शुभ परिणामों से शुभ या पुण्य-प्रकृतियों का और अशुभ परिणामों से अशुभ या पाप-प्रकृतियों का बन्ध होता है। शुद्ध परिणामों से-यानी समता तथा शमता से युक्त परिणामों से बन्ध नहीं होता। शुद्ध परिणाम बन्ध के कारण नहीं है, बल्कि पूर्वकृत बन्ध को काटने के हेतु हैं। यद्यपि शुभ, अशुभ या शुद्ध तीनों परिणाम किसी संसारी जीव में अकेले-अकेले नहीं पाये जाते, इन तीनों या दोनों का मिश्रित रूप ही पाया जाता है। परन्तु मिश्रित परिणाम का कथन जटिल होने से शुभ-अशुभ दोनों में से जिस परिणाम का बाहुल्य होता है, उसी परिणाम को मुख्यता से शुभ या अशुभ कहा जाता है।[२]

दौर्भाग्य को सौभाग्य में बदलने हेतु बन्ध अवस्था की प्रेरणा

सौभाग्य या दौर्भाग्य शुभ-अशुभ कर्मबन्ध के अधीन हैं। इसलिए जो व्यक्ति सौभाग्य चाहते हैं, और दुर्भाग्य से बचना चाहते हैं, उन्हें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहवृत्ति तथा क्रोधादि कषाय, अशुभ रागादि परिणाम, दुर्भाव, दुर्वचन और दुश्चेष्टा आदि अशुभ प्रवृत्तियों-अशुभ कर्मबन्ध के कारणों से बचना चाहिए। जिस प्रकार आहार के रूप में ग्रहण किए हुए अच्छे पदार्थ शरीर के लिए हितकर और सुखकर तथा बुरे पदार्थ अहितकर एवं रोगादि दुःखकर होते हैं, इसी प्रकार आत्मा द्वारा ग्रहण किये हुए शुभ कर्म परमाणु उसके लिए शुभफलदायक, सुखदायक एवं सौभाग्यबर्द्धक होते हैं, जबकि ग्रहण किये हुए अशुभ कर्मपरमाणु उसके लिए

---

१. (क) कर्म-सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी) से भावांश ग्रहण, ८४, ८५
(ख) सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकैर्यापथयोः। -तत्वार्थ सूत्र ६/५
(ग) उत्तराध्ययन सूत्र अ.२९ बोल ७१वाँ

२. (क) शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य। --तत्वार्थ सूत्र ६/३
(ख) कर्म-सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ८१

अशुभफलदायक, दुःखदायक एवं दौर्भाग्यवर्द्धक होते हैं। शुभ कृत्यों से शुभ कर्मबन्ध और अशुभकृत्यों से अशुभ कर्मबन्ध होता है, जिसका फल देर-सबेर मिलता ही है।[१] अतः कर्मबन्ध के समय व्यक्ति चाहे तो अशुभकर्मों से बच सकता है, जहाँ तक हो सके शुद्ध परिणामों से केवल निर्जरार्थ, कर्मक्षयार्थ शुद्ध निःस्वार्थ प्रवृत्ति करे, यदि वैसा न हो सके तो अशुभ कर्मबन्ध से तो बचे। यदि अज्ञानवश अशुभकर्मबन्ध विवशतापूर्वक हो ही गया हो तो उसके लिए पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त आदि द्वारा उसे शिथिल करे या उदात्तीकरण द्वारा उसे शुभ की ओर मोड़ दे। यही बन्ध अवस्था की प्रेरणा है।

(२) कर्मबन्ध की द्वितीय अवस्था : सत्ता या सत्त्व

आत्मा के द्वारा योग और कषायभाव से आकर्षित द्रव्यकर्म-समूह उसके उदय-कालपर्यन्त आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से अवस्थित रहते हैं। यह कर्मबन्ध की अनुदय स्थिति है। कर्म बन्ध होने के बाद जब तक उदय में नहीं आता, तब तक सत्ता में (In the Potential state) रहता है। अर्थात् उतने काल तक बंधे हुए वे कर्म फल देने को तत्पर नहीं होते। उस कर्मबन्ध की फलदानशक्ति सुषुप्तावस्था में रहती है। अर्थात्-उक्त कर्मसमूह की शक्ति (Static energy) स्थिररूप से सिर्फ फल प्रदान के काल की प्रतीक्षा में निश्चेष्ट पड़ी रहती है। सत्ता कर्मबन्ध की द्वितीय अवस्था है। सत्ता का अर्थ अस्तित्व या विद्यमानता (मौजूदगी) है। कर्मबन्ध से फलप्राप्ति के बीच की अवस्था सत्ता कहलाती है। इसका फलितार्थ है-पूर्व-संचित कर्म का आत्मा में अवस्थित रहना 'सत्ता' है। **सत्ता** जीव के लिए बाधक नहीं होती; क्योंकि उदय में आए बिना उसका कोई फल नहीं मिलता। अतः सुख-दुःख का कारण **उदय** है, सत्ता नहीं।

सत्ता का कार्य

बद्धकर्म तुरंत अपना फल नहीं दे देते, कुछ समय बाद ही उनका फल मिलता है। बद्धकर्म तुरंत ही फल न देकर तब तक सत्ता में पड़े रहते हैं, यानी आत्मा के साथ केवल अस्तित्व रूप में रहते हैं, जब तक कि उनका विपाक (पाचन-फलदान का समय परिपक्व) नहीं होता। बंधे हुए कर्म जितने समय तक सत्तारूप से रहते हैं, उतने समय को '**अबाधाकाल**' कहते हैं। जैसे शराब पीते ही वह तुरंत अपना असर नहीं करती, किन्तु कुछ देर बाद ही असर करती है। वैसे ही कर्म भी बंधने के कुछ अर्से तक सत्ता में पड़ा रहता है। जैसे-किसी ने एक महीने बाद की ट्रेन की टिकिट

---

१. कर्मसिद्धान्त (कन्हैयालाल लोढ़ा) से भावांश ग्रहण, पृ. ११, १२

रिजर्व कराई है। आज वह महाशय बाजार में घूम रहे हैं। किन्तु पास में रिजर्व टिकट मौजूद होने से अमुक दिन जाना निश्चित है। उसी तरह बद्ध कर्म की स्थिति दीर्घकालिक है। इस कारण आज उसकी कोई हलचल नहीं हो रही है। आज वे कर्म उदय में नहीं दिखाई दे रहे हैं। मगर इसका मतलब यह नहीं है कि वे बद्धकर्म हैं ही नहीं। वे आत्मप्रदेशों के साथ सत्ता में निश्चेष्ट पड़े हैं। वे समय परिपक्व होने पर उदय में आते हैं।

जैसे भगवान् महावीर ने तीसरे मरीचि के भव में नीचगोत्रकर्म बांधा था। वह लगातार १४ भव तक तो उदय में रहा। उन्हें सात बार नीचगोत्र में पटका। याचककुल में याचक बनाया। उसके बाद भी वह नीचगोत्रकर्म सत्ता में छिपा बैठा रहा। और अन्तिम २७वें भव में पुनः उदय में आया। जैसे-पैसा खजाने में पड़ा रहता है, वैसे ही कर्म भी आत्मा के खजाने में पड़ा रहता है।[१] इसी का नाम सत्ता है।

सत्ता में रहे हुए कर्मों का परिवर्तन शक्य है

कोई भी कर्म बंधता तो एक समय में है, किन्तु फल देता है, अनेक समयों में। वर्तमान में बंधे कर्म का कुछ भाग वर्तमान में फल देता है, और कुछ भव-भवान्तर में। तब तक वह कर्म सत्ता में पड़ा रहता है। आशय यह है कि एक समय में रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति के कारण जितनी कार्मणवर्गणाएँ कार्मण-शरीर के साथ बंध को प्राप्त होती हैं, वे सबकी सब एक समय में फल नहीं देतीं। उन सारी कर्मवर्गणाओं का कुछ भाग मात्र ही उदय को प्राप्त होकर फल भुगताने के पश्चात् झड़ जाता है। शेष सारी कर्मवर्गणाएँ कार्मण-शरीर में स्थित रहती हैं। उदय में आकर अथवा फल देकर झड़ जाने के पश्चात् जितनी कुछ वर्गणाएं कार्मणशरीर में शेष रहती हैं। वे सब मिलाकर उस कर्म या कर्मप्रकृति की **'सत्ता'** कहलाती हैं। जिस प्रकार तिजोरी में प्रतिदिन कुछ न कुछ धन आता रहता है; साथ ही उसमें से प्रतिदिन कुछ न कुछ धन निकलता भी रहता है। फिर भी बहुत-सा धन उसमें शेष रहता है। उसी प्रकार सत्ता के विषय में भी समझना। जीव के प्रतिसमय उस-उस प्रकृति, स्थिति तथा अनुभाग वाले अनेकों प्रदेश कार्मणशरीर के साथ बंधते रहते हैं। उसमें से अनेकों प्रदेश प्रतिसमय उदय में आकर झड़ते रहते हैं और शेष बहुत-से प्रदेश उसमें स्थित रहते हैं। उसमें स्थित रहने वाले शेष प्रदेशों का नाम **'सत्ता'** है। इस प्रकार प्रतिसमय

---

१. (क) कर्मरहस्य (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी) से भावग्रहण, पृ. १६७, १६८
(ख) कर्म की गति न्यारी (पं. अरुण विजयगणि) से भावग्रहण, पृ. १७६
(ग) पंचसंग्रह (प्राकृत) ३/३

एकसमय-प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य (कर्मपुद्गल) बंधता है और इतना ही उदय में आता है। इसलिए सत्ता में सदा समान द्रव्य पाया जाता है।[१]

सत्तारूप कर्म फलाभिमुख होने से पूर्व तक बदले जा सकते हैं

सत्ता में जो बद्धकर्म अवस्थित रहते हैं, उनमें शक्ति तो है, परन्तु वह अभी तक क्रियमाण (सक्रिय) रूप या उदयरूप नहीं हुई और जहाँ तक वह सत्तारूप कर्म की शक्ति फलाभिमुख नहीं हुई हैं, वहाँ तक वह शक्ति सत्ता के रूप में पड़ी रहती हैं। कर्मबन्ध की इस अवस्था (सत्तावस्था) में उसकी शक्ति में रद्दोबदल किया जा सकता है। उसकी फलशक्ति के प्रमाण और प्रकार दोनों परिवर्तनीय होते हैं। सत्तारूप कर्म जब तक फलाभिमुख नहीं होते, वहाँ तक उनका स्वरूप कुम्भकार के चक्र (चाक) पर चढ़ाये हुए और कुछ आकार लेते हुए मिट्टी के पिण्ड जैसा होता है। जैसे-उसके आकार में परिवर्तन करने की स्वतंत्रता अभी तक कुम्भकार के हाथ में से चली गई नहीं होती, वैसे ही कर्म की अनुदय-स्थिति (सत्ता-अवस्था) में उसमें परिवर्तन या उसकी मात्रा में न्यूनाधिकता करने की स्वतंत्रता भी उस आत्मा ने खोई नहीं होती। किन्तु कुम्भकार द्वारा चाक पर चढ़ाए हुए मिट्टी के पिण्ड को आकृति देने तथा आँवे में पकाने के बाद फिर उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता, वैसे ही जीव (आत्मा) भी कर्म की उदयावस्था के समय के पश्चात् उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता। उस समय उसके हाथ से सारी बाजी चली जा चुकी होती है। जैसे-विद्यार्थी परीक्षक के हाथ में लिखी हुई उत्तरपुस्तिका सौंपने से पहले तक उसमें चाहे जो परिवर्तन कर सकने में स्वतंत्र है, किन्तु उत्तरपुस्तिका परीक्षक के हथ में सौंपने के पश्चात् उसमें कुछ भी परिवर्तन करने में बिलकुल असमर्थ रहता है। वैसे ही आत्मा भी कर्म के फलोदय के काल से पूर्व तक उसमें अपकर्षण, उत्कर्षण या संक्रमण करने में समर्थ होता है। परन्तु फलोदय के पश्चात् कुछ भी नहीं कर सकता।

कर्म की रेख पर मेख मारने का आत्मा का सामर्थ्य कर्म की सत्ता-अवस्था में ही होता है। सत्ता-अवस्था में व्यक्ति किसी कर्म की स्थिति या अनुभाग अल्प हो तो उसका उत्कर्षण (उद्वर्तना) करके उसमें वृद्धि कर सकता है, इसी प्रकार स्थिति और अनुभाग के बहुत्व को अपकर्षण (अपवर्तना) करके अल्पत्व में परिणत कर

---

१. (क) कर्मसंस्कार (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १६७, १६८
(ख) एक समय में बन्ध को प्राप्त हुए कर्मस्कन्ध में अनन्तों कार्मण वर्गणाएं होती हैं। इन सबके समूह का नाम एक समय-प्रबद्ध है।
-जैनसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी), पृ. ८५

सकता है।[१] उदयकाल-पर्यन्त उसकी रचना में आत्मा के योग और कषाय के निमित्त से परिवर्तन हुआ करता है। और वैसे निमित्त के अभाव में उसका मूल स्वरूप कर्मबन्ध होते समय जैसा होता है, वैसा कायम रहता है। जो जागृत आत्माएँ कर्म की रचना का तथा उसके परिवर्तन का स्वरूप यथार्थरूप से समझ सकते हैं, वे सत्ता के दौरान उपयोग (मनोयोग) पूर्वक (Consciously) उसका यथेष्ट स्वरूप रच सकते हैं। आत्मा जब अपने निर्माण की लगाम अपने हाथ में लेता है, तब वह जैसा बनना चाहता है, वैसा अपना स्वरूप बना सकता है। वह अपने योग और कषाय की धारा स्वच्छन्दता, अनुपयोगिता और अप्रतिबन्धता के रूप में नहीं बहने देता, अपितु स्वयं जिस प्रकार का फल इष्ट हो, वैसा ही परिणाम प्रकट करने के लिए अपनी जीवनधारा अभिज्ञरूप से, संयम और उपयोग पूर्वक बहाता है। निर्बल और पामर आत्माओं की योग प्रवृत्ति असमीक्ष्यता पूर्वक (बिना विचार के), या दैवाधीनता-पूर्वक जैसे-तैसे बेढंगी चलती रहती है। इसके विपरीत सबल सशक्त आत्माएँ उस शक्ति को ऐसे मार्ग में नियोजित करते हैं कि जहाँ से उन्हें इष्ट परिणाम प्राप्त होता ही है।[२]

सत्ता में पड़ा हुआ कर्म भोगा नहीं जाता

यह सत्य है कि जो बद्ध कर्म सत्ता में पड़े हैं, उनका परिज्ञान छद्मस्थ को सहसा प्रायः नहीं होता, और जब सत्ता में पड़ा हुआ वह कर्म उदय में आ जाता है, तब बाजी हाथ से चली जाती है, उक्त कर्म को अशुभ से शुभ में बदलने की, या कर्म निर्जरा के विविध तप, त्याग, व्रत, नियम आदि उपायों द्वारा क्षय करने की। अतः एक उपाय यह है कि ज्ञाता-द्रष्टा बनकर अथवा आत्मौपम्यभाव से युक्त होकर प्रत्येक मानसिक, वाचिक या कायिक प्रवृत्ति करे और उस कर्म के उदय में आने पर समभावपूर्वक शान्ति और धैर्य के साथ उसका फल भोगे।

जिस प्रकार आम्रवृक्ष पर लगे हुए सभी आम युगपत् नहीं पकते, बल्कि धीरे-धीरे प्रतिदिन कुछ-कुछ ही पकते हैं और व्यक्ति के लिये भोज्य बनते हैं। उसी प्रकार बद्धकर्म के सभी प्रदेश भी युगपत् उदय में नहीं आते, बल्कि धीरे-धीरे प्रतिसमय कुछ न कुछ प्रदेश या एक-एक निषेक ही उदय में आता है और जीव को फल देकर झड़ जाता है।

जिस प्रकार बालकन्या किसी की दृष्टि में कामवासना जागृत नहीं कर पाती, परन्तु युवती हो जाने पर वही कामुक व्यक्तियों में कामवासना जागृत कर देती है,

---

१. कर्म अने आत्मानो संयोग (श्री अध्यायी) पृ. ३६, ३७
२. वही, पृ. ३७, ३८

उसी प्रकार अबाधाकाल पर्यन्त द्रव्यकर्म भोगयोग्य या फलदानयोग्य नहीं रहता। परन्तु उसके पश्चात् वही कर्म परिपक्व होकर जीव के गुणों में विकार एवं आवरण पैदा कर देता है तथा नये कर्मबन्ध के योग्य भोगादि आकर्षण भी।

जिस प्रकार पकने से पहले कच्चे आम वृक्ष पर अवश्य लगे रहते हैं, परन्तु वे भोज्य न होने से व्यक्ति की दृष्टि को आकर्षित नहीं कर पाते; इसी प्रकार उदय में आने से पहले वे अपरिपक्व बद्धकर्म भी सत्ता में अवश्य पड़े रहते हैं, परन्तु वे जीव में विकार, आवरण या अवरोध पैदा नहीं करते। जिस प्रकार वृक्ष पर लगा हुआ कच्चा आम भोगा नहीं जा सकता, परन्तु पकने पर खाने के लिए लोग तोड़ लेते हैं, उसी प्रकार सत्ता में पड़ा हुआ कर्म भोगा नहीं जाता, वह जब उदय में आकर फलाभिमुख होता है, तभी उसका फल भोगा जाता है, फल भुगताकर कर्म झड़ जाता है।[१] अतः कर्म सत्ता में हो तब योग और कषाय से दूर रहने का तथा यथाशक्ति ज्ञाता-द्रष्टा बने रहने का प्रयत्न करे एवं उदय में आने पर जगत् को, मानवजाति को तथा प्राणिजगत् को आत्मवत् समझ कर मोह और क्षोभ से विहीन होकर समता और शमता पूर्वक जीवन-यापन करे। यही सत्तावस्था और उदयावस्था का प्रेरणापथ है।

अबाधाकाल क्या, कैसे और कितना-कितना ?

कर्म सत्ता में तभी तक रहता है, जब तक उसका नियत अबाधाकाल पूर्ण नहीं होता। अबाधाकाल क्या है? इसे भी समझ लेना आवश्यक है। कर्म बंधने के पश्चात् जितने समय तक आत्मा को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचता, अर्थात् उदय में नहीं आता, यानी बद्धकर्म अपना शुभाशुभ फल चखाने या फल का वेदन कराने को उद्यत नहीं होता, उतने काल को अबाधाकाल कहते हैं। जितने समय तक पूर्वबद्ध कर्म सत्ता में रहता है, उतने समय तक अबाधाकाल रहता है। जिस कर्म का जितना अबाधाकाल होता है, उसके पूर्ण होने पर ही वह कर्म अपना फल देना शुरू करता है। अबाधाकाल दो तरह से पूर्ण होता है-स्वाभाविकरूप से और अपकर्षण (अपवर्तना) द्वारा। इन दोनों उपायों में से किसी भी उपाय से अबाधाकाल पूरा हो जाने पर कर्म उदय में आता है, फलाभिमुख होकर फल देना प्रारम्भ करता है।

अबाधाकाल कर्मों की स्थिति के अनुसार कम-ज्यादा होता है। जैसे-अधिक नशीली मदिरा अधिक समय में सड़कर बनती है, और कम नशे वाली मदिरा कम समय में सड़कर। उसी प्रकार अधिक स्थिति वाले कर्मों का अबाधाकाल अधिक और कम स्थिति वाले कर्मों का अबाधाकाल कम होता है। कर्मशास्त्रानुसार एक

---

१. कर्मसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी) पृ. ९४, ९५

कोटाकोटि सागर की स्थिति वाले कर्म का अबाधाकाल सौ वर्ष का तथा सत्तर कोटाकोटि सागर की स्थिति वाले कर्म का अबाधाकाल सात हजार वर्ष का होता है। अबाधाकाल पूरा होते ही कर्म अपना शुभाशुभ फल देने लगते हैं। आयुकर्म की अबाधा के नियम में कुछ अपवाद है।

निष्कर्ष यह है कि कर्म का बन्ध होते ही उसमें विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं पैदा हो जाती। यह होती है-एक निश्चित काल सीमा के पश्चात् ही। कर्म की यह अवस्था अबाधा कहलाती है। उस नियत काल के दौरान कर्म की अवस्थितिमात्र होती है, उसमें कर्तृत्व-क्षमता प्रगट नहीं होती। इसलिए अबाधाकाल कर्म का अवस्थान (ठहरने का) काल है। भगवतीसूत्र की वृत्ति में अबाधा का अर्थ किया है-जिस काल में बाधा अर्थात् कर्म का उदय न हो। अबाधा का एक फलित अर्थ होता है-अन्तर। अर्थात्-बन्ध और उदय के अन्तर (मध्य) का जो काल है, वह अबाधाकाल है।

अबाधाकाल के द्वारा स्थिति के दो भाग हो जाते हैं-(१) अवस्थितिकाल और (२) अनुभाव-काल अथवा निषेक काल। अबाधाकाल के दौरान केवल अवस्थिति होती है, अनुभाव नहीं। अनुभाव अबाधाकाल पूर्ण होने पर होता है। जितना अबाधाकाल होता है, उतना अनुभाव-काल से अवस्थिति-काल अधिक होता है। अबाधा-काल को छोड़ कर तो दोनों अवस्थितिकाल और निषेककाल या अनुभावकाल-समकालिक होते हैं।[१]

(३) उदय-अवस्था : स्वरूप, कार्य और प्रेरणा

जन्म-जन्मान्तर के बन्ध को प्राप्त अनन्त कर्मसंस्कार जब तक कार्मणशरीर के अथवा उपचेतना के कोश में कुछ करे-धरे बिना प्रसुप्त रहते हैं, तब तक वे सत्ता स्थित कहलाते हैं। जब वे ही सत्तास्थित कर्मसंस्कार जागृत होकर अथवा फलोन्मुख होकर जीव को नया कर्म करने के लिए अव्यक्तरूप से प्रेरित-प्रोत्साहित करते रहते हैं, तब उन बद्धकर्मों की उदयावस्था कहलाती है।

---

१. (क) मोक्षप्रकाश (धनमुनि), पृ. १६
(ख) जैनदर्शन (न्या.न्या. न्यायविजयजी), पृ. ४५७
(ग) जैनदर्शन : मनन और मीमांसा , पृ. ३१३
(घ) निषेको नाम कर्मदलिकस्य अनुभवनार्थं रचनाविशेषः। (कर्मपुद्गलों की एक काल में उदय होने योग्य (भोगने योग्य) रचनाविशेष)-भगवतीसूत्र वृत्ति ६/३४
(ङ) बाधा-कर्मण उदयः, न बाधा अबाधा-कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरम्।
-भगवती-वृत्ति, ६/३४

बन्ध, सत्ता और उदय–तीनों में घनिष्ठ सम्बन्ध

वस्तुतः बन्ध, सत्ता और उदय, इन तीनों कार्मिक अवस्थाओं में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रज्ञापना सूत्र के एक संवाद से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। गणधर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा–'भगवन् ! जीव कर्मबन्ध कैसे करता है?' भगवान ने कहा–'गौतम ! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शनमोह का तीव्र उदय होता है। दर्शनामोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। और मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है।[१]

उदय का फलितार्थ और लक्षण

उदय का फलितार्थ है–काल-मर्यादा का परिवर्तन। कर्म की पहली अवस्था बन्ध है, उसकी कालमर्यादा पूर्ण होती है, यह कर्म का अनुदय है–सत्तारूप है। उसके पश्चात् दूसरी कालमर्यादा शुरू होती है, वह उसका उदय है। कर्म का नियत समय पर फल देने के लिए तत्पर होता उदय है। अर्थात्–विपाक (फलदान) का समय आने पर जब कर्म शुभ या अशुभरूप में फल प्रदान करने लगते हैं, उसे उदय कहते हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश से बन्ध को प्राप्त कर्मवर्गणाओं का फलोन्मुख हो जाना, उस कर्म का उदय कहलाता है। जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही प्रकाश और ताप (सुख-दुःखरूप) देना शुरू हो जाता है, वैसे ही बंधा हुआ कर्म उदय में आते ही बांधे हुए शुभाशुभ कर्मों का सुख-दुःखरूप फल देना शुरू हो जाता है। जैसे बीज बोते ही वह फल देना शुरू नहीं करता, बीज कुछ दिन तक जमीन में पड़ा रहता है, फिर अंकुरित, पल्लवित होकर वृक्ष बनाता है, तदनन्तर उसके फल लगते हैं। उसी प्रकार कर्मबीज बोते ही–बंध होते ही-अपना फल नहीं देता, वह सत्ता में रहकर परिपक्व होता है, फिर नियत समय पर उदय में आता है और शुभाशुभ कर्म का यथायोग्य सुख-दुःखरूप फल देना शुरू करता है। निष्कर्ष यह है कि कर्मों के स्व-स्व-फल देने की अवस्था का नाम उदय है। उदयावस्था में बद्धकर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं।[२]

---

१. (क) कर्म-रहस्य (जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १७
   (ख) प्रज्ञापना पद २३/१/२८९
२. (क) जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. ३१३
   (ख) जैनदर्शन (न्यायविजयजी) पृ. ४५७
   (ग) कर्म की गति नारी भा. १, पृ. १७५
   (घ) सर्वार्थसिद्धि २/१, ६/१४
   (ङ) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. ४३९

विपाकोदय और प्रदेशोदय तथा उनका फलितार्थ

उदय के मुख्यतया दो भेद हैं-विपाकोदय और प्रदेशोदय। जो कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है, झड़ जाता है, वह विपाकोदय या फलोदय है। तथा जो कर्म उदय में आकर भी बिना फल दिये नष्ट हो जाता है, सिर्फ आत्मप्रदेशों में ही वेदन कर (भोग) लिया जाता है, वह प्रदेशोदय कहलाता है। फलोदय की उपमा सधवा युवती से और प्रदेशोदय की उपमा विधवा युवती से दी जा सकती है। यद्यपि जितने भी कर्म बंधे हैं, वे अपना फल (विपाक) प्रदान करते हैं, किन्तु कई कर्म ऐसे भी होते हैं, जो फल देते हुए भी भोक्ता को फल की अनुभूति नहीं कराते और निर्जीर्ण हो जाते हैं। ऐसे कर्मों का उदय प्रदेशोदय कहलाता है। जैसे-ऑपरेशन करते समय रोगी को क्लोरोफार्म या गैस सुंघाकर अचेतावस्था में जो शल्य क्रिया की जाती है, उसमें वेदना की अनुभूति नहीं होती; वैसे ही प्रदेशोदय में फल की अनुभूति नहीं होती। कषाय के अभाव में ईर्यापथिक क्रिया के कारण जो बन्ध होता है, उसका सिर्फ प्रदेशोदय होता है। इसके विपरीत जो कर्मपरमाणु अपनी फलानुभूति करवाकर आत्मा से निर्जीर्ण हो जाता है, उसका उदय 'प्रदेशोदय' कहलाता है। प्रदेशोदयकाल में विपाकोदय का होना अनिवार्य नहीं है, किन्तु विपाकोदयकाल में प्रदेशोदय का होना अवश्यम्भावी है।[१]

सहेतुक और निर्हेतुक उदय : एक चिन्तन

कर्म का परिपाक या उदय अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी। निर्हेतुक भी होता है और सहेतुक भी। कोई बाह्य कारण नहीं है, फिर भी क्रोधवेदनीय पुद्गलों के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आ गया, इसे निर्हेतुक क्रोध कह सकते हैं। इसी प्रकार हास्य, भय, शोक, वेद (काम) और कषायचतुष्टय के पुद्गलों का भी दोनों प्रकार का उदय होता है।

स्वतः उदय में आने वाले सहेतुक उदय

(१) **गतिहेतुक विपाकोदय**-देवगति में साता का और नरकगति में असाता (दुःख) का उदय तीव्र होता है, यह गतिहेतुक विपाकोदय हैष (२) **स्थितिहेतुक विपाकोदय**-मोहनीय कर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व-मोहनीय का तीव्र उदय होता है। यह स्थितिहेतुक विपाकोदय है। (३) **भवहेतुक विपाकोदय**-जिसके उदय से नींद आती है ऐसा दर्शनावरणीय कर्म सबके होता है, किन्तु मनुष्य

---

१. (क) मोक्षप्रकाश (धनमुनि), पृ. १६
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री), पृ. २६

और तिर्यञ्च को तो निद्रा आती है, परन्तु देव और नारक को नहीं आती। यह भव (जन्म) हेतुक विपाकोदय है। गति, स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का स्वत: विपाक होता है।[१]

परत: उदय में आने वाले विपाकोदय

(१) **पुद्गल-हेतुक विपाकोदय**–किसी ने पत्थर फैंका, चोट लगने से असाता का उदय हो गया। यह दूसरे के द्वारा दिया गया असातावेदनीय का पुद्गल-हेतुक विपाकोदय है। इसी प्रकार किसी ने गाली दी। मन में रोष उमड़ पड़ा। यह क्रोधवेदनीय पुद्गलों का सहेतुक विपाकोदय है। (२) **पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला विपाकोदय**–भोजन किया, किन्तु वह हजम नहीं हुआ। अजीर्ण हो गया। फलत: बीमारी हो गई। यह असातावेदनीय का पुद्गल परिणाम-निमित्तक विपाकोदय है। मदिरा पीने से उन्माद छा गया। फलत: ज्ञानावरणीय कर्म का विपाकोदय हुआ। ये और ऐसे और भी पुद्गलपरिणमन-हेतुक विपाकोदय हो सकते हैं। इस प्रकार अनेक हेतुओं से कर्म का विपाक-उदय होता है। अगर ये हेतु नहीं मिलते तो उन कर्मों का विपाक रूप में उदय नहीं होता। उदय का जो दूसरा प्रकार है, उसमें कर्मफल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। वह है–प्रदेशोदय। इसमें कर्मवेदन की स्पष्टानुभूति नहीं होती।[२]

प्रदेशकर्म अवश्य भोगे जाते हैं, अनुभाग कर्म कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं

एक बात निश्चित है कि जो कर्मबन्ध होता है, वह अवश्य ही भोगा जाता है। भगवतीसूत्र में इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा–कृत पापकर्म भोगे बिना नहीं छूटते। वे इस प्रकार–"मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं–प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म। प्रदेशकर्म नियमत: (अवश्य ही) भोगे जाते हैं, किन्तु अनुभागकर्म अनुभाग (विपाक) रूप में कुछ भोगे जाते हैं, और कुछ नहीं भोगे जाते।"[३]

---

१. (क) जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. ३१४
   (ख) स्थानांग वृत्ति ४/७६, ४/७६ से ७९ तक
   (ग) अपतिट्ठए–आक्रोशादि-कारण-निरपेक्ष: केवलं क्रोधवेदनीयोदयाद् यो भवति सोऽ प्रतिष्ठित:।
२. (क) प्रज्ञापना सूत्र पद २३/१/२९३
   (ख) जैनदर्शन : मनन और मीमांसा; पृ. ३१४, ३१५
३. भगवती सूत्र १/१९० वृत्ति

किस कर्म के उदय से किन-किन फलों का अनुभाव होता है ?

किस-किस कर्म के उदय से जीव को किस-किस फल का अनुभाव (वेदन) होता है? इसका विशद निरूपण प्रज्ञापना सूत्र में बहुत ही स्पष्टरूप से किया गया है। हमने कर्मविज्ञान के पंचम खण्ड-'कर्मफल के विविध आयाम' के सातवें निबन्ध में इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की है। अतः पुनः पिष्टपेषण करना उचित नहीं होगा।[१]

कर्मफल की उदयमान अवस्था में साधक क्या करे ?

पूर्वबद्ध कर्म जब उदय में आते हैं, तब प्रत्यक्ष रूप से स्वयं कुछ भी निष्पन्न नहीं कर सकते, परन्तु अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार सिर्फ कार्य होने के निमित्त की रचना कर देते हैं। कर्म का कार्य है, सिर्फ निमित्त की योजना कर देना। अवशिष्ट कर्त्तव्य आत्मा (कर्मकर्त्ता) के अधीन है। कर्म अपने स्वभाव के अनुरूप तथा अनुभाग की तीव्रता-मन्दता के प्रमाणानुसार प्रबल या निर्बल अवसर प्रस्तुत करने के पश्चात् वह स्वयं सत्त्वहीन बन जाता है। यदि निमित्त को जुटाने के उपरान्त भी कर्म के पास अधिक सत्ता या शक्ति होती तथा आत्मा को जबरन तत्प्रायोग्य कर्त्तव्य में जुटा देने का सामर्थ्य होता तो आत्मा को तीन काल में भी मोक्षप्राप्ति सम्भव न होती; एवं आत्मा को अपने परमस्थान (सिद्ध-मुक्तगति) अथवा परमात्मपद की ओर भव्य जीवों को प्रेरित करने का तीर्थंकरों तथा शास्त्रकारों का आशय या पुरुषार्थ निष्फल हो जाता। उस निमित्त, उस प्रसंग या उस अवसर का लाभ लेना या न लेना, अर्थात्-वह निमित्त, अवसर या प्रसंग आत्मा को जिस प्रवृत्ति-विशेष में नियुक्त होने के लिए लुभाता है, उसमें नियुक्त होना या नहीं ? उसकी स्वतंत्रता स्वयं आत्माधीन है। व्यक्ति चाहे तो उसमें जुड़े और न चाहे तो न जड़े, यह व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर है। यदि वह आत्मा अपनी स्वाभाविक निसर्ग-सिद्ध सत्ता का या अधिकार का उपयोग करे और उस निमित्त में जुड़कर तत्प्रायोग्य प्रवृत्ति में नियुक्त न हो तो उस कर्म की उदयमान सत्ता उसका स्पर्श नहीं कर सकती। ऐसी आत्मा का स्थान इतना उच्च होता है कि वहाँ कर्म के आग्नेय गोले पहुँच नहीं सकते। जब मनुष्य अपने मन से जगत् की समस्त सत्ताओं से पृथक् अपना स्वातंत्र्य (Mental declaration of independance) जाहिर करता है, तब अलबत्ता, उसे अपने स्वयं

---

१. (क) देखें- प्रज्ञापना सूत्र खण्ड ३, पद २३, द्वार ५ अनुभावद्वार में आठों कर्मों के अनुभावों की विस्तृत व्याख्या

(ख) देखें-कर्मविज्ञान भा. २, खण्ड ४, में 'कर्म-महावृक्ष के सामान्य और विशेष फल' शीर्षक निबन्ध में, पृ. ३५०-३६०

के पुराने प्रबल शत्रुओं (रागद्वेष, कषाय, मोह, काम आदि) के साथ सर्वप्रथम लड़ना पड़ता है, अपनी वृत्तियों और विकारों के साथ युद्ध करना पड़ता है, और असंख्य बार पराजय का मानभंग भी सहन करना पड़ता है। परन्तु अन्ततोगत्वा तो उस विग्रह में अपनी विजय होती ही है। उस आत्मा का अन्तिम भविष्य, अन्तिम परिणाम बहुत ही सुन्दर होता है। सुदृढ़ पराक्रम और प्रबल शक्ति से आमने-सामने डटकर लड़ने में कदाचित् पराजय होने में जो आनन्द है, वह मूक बनकर मार खाने में नहीं है।[१]

उदित कर्म निमित्त प्रस्तुत करता है, बलात् नियोजित नहीं करता

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध निमित्त-नैमित्तिक होने के कारण, जिस काल में वह निमित्त (बद्ध कर्म) उदय में आता है, तब निर्बल आत्मा स्वरूपभ्रष्ट हो जाती है, वह विभाव-परिणाम को अपना लेती है। ऐसा होने में आत्मा पर कर्म का बलात्कार है, यह नहीं समझना चाहिए। कर्म तो उदय में आने पर सिर्फ विभाव का निमित्त जुटा देता है। निर्बल आत्मा निमित्त की सत्ता (शक्ति) के समक्ष पराभूत होकर परभाव में रमण करने लगता है। जैसे-सूर्य के उदय काल में चकवा-चकवी मिथुनभाव में जुट जाते हैं, और वैसा होने में सूर्य तो सिर्फ तटस्थ निमित्त है, वैसे ही आत्मा द्वारा परभाव में रमण होने में उदयमान कर्म भी सिर्फ निमित्त ही है। मोहनीय कर्म के उदयकाल में वह कर्म कषाय का निमित्त प्रस्तुत करता है, परन्तु उसमें, कषाय भाव में बलात् नियोजित करने की कोई (सत्ता) क्षमता नहीं है। इसलिए जो निर्बल आत्माएँ हैं, वे ही निमित्त (कर्म) के उदयकाल में तत्प्रायोग्य विभाव के प्रवाह में बह जाते हैं। अथवा उसे अपना लेते हैं। जैसे रोड से जाते हुए व्यक्ति को नाट्यगृह, होटल, मिष्टान्न भण्डार, आदि नाटक देखने का, चाय-कॉफी पीने का, तथा मिष्टान्न खाने आदि का केवल निमित्त प्रस्तुत कर देते हैं, परन्तु वे निमित्त जबरन किसी को उस-उस कार्य में जोड़ते, घसीटते या ठेलते ही हैं। इसी प्रकार उदय में आया कर्म भी तदनुसार निमित्त को जुटाता है, परन्तु कोई भी उदयमान कर्म बलात् किसी कार्य विशेष या भावविशेष में नियोजित नहीं करता।

जो वीर्यवान् पराक्रमी आत्मा निमित्त की सत्ता के वश में नहीं होते, वे अल्पकाल में ही परम-पुरुषार्थ को सिद्ध कर सकते हैं। यद्यपि उदय मेंआए हुए कर्म तो उन्हें और अज्ञानी जीवों को एक सरीखे ही भोगने पड़ते हैं। परन्तु उन दोनों के कर्म (फल) भोगने की क्रिया में महान् अन्तर है। बलवान् आत्मा (जीव) तो उन

१. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ. ३८, ३९

फलाभिमुख हुए कर्मों को हंसते-हंसते समभाव से भोग कर अल्पकाल में ही निःसत्त्व कर डालते हैं। आठों कर्मों में मोहनीय कर्म ही अन्य कर्मों का जनक और पोषक है। उस कर्म से ही अन्य सब कर्मों को पोषण मिलता है। इसलिए ज्ञानीपुरुष मोहनीय कर्म के उदयकाल में बहुत ही सावधान रहकर उससे प्रकट होने वाले निमित्त में जरा भी रंजित न होकर अल्पकाल में ही उसे भोग लेते हैं, साथ ही वे उससे घबराकर नये भावकर्म भी नहीं बांधते। इस कारण अन्य तीन घातिकर्मों को भी नया पोषण नहीं मिलता। इस कारण वे तीनों अपनी स्थिति के अनुसार उदयमान रहकर बिखर जाते हैं। और अन्त में, वह पुरुषवर्य परमसिद्धि का वरण कर लेता है। मोहनीय कर्म के उदयकाल में अगर आत्मा तत्प्रायोग्य कषायभाव से न जुड़कर उससे प्रगट होने वाले निमित्त में स्व-भावरूप से परिणामों से परिणमन न करे और तटस्थ-ज्ञाता-द्रष्टा रहकर समभाव से उसे भोग ले तो आत्मभावों के तारतम्य के अनुसार न्यूनाधिक काल में उस कर्म का विलय हो जाता है। इससे पुनः कार्य-कारणभाव की परम्परा लम्बी नहीं होती।[१]

निर्बल आत्मा ही कर्म का आधिपत्य स्वीकारते हैं, बलवान् नहीं

निष्कर्ष यह है कि आत्मा और कर्म का केवल निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; तादात्म्य सम्बन्ध या समवाय सम्बन्ध नहीं है। इसलिए आत्मा पर कर्म का किसी प्रकार का बलात्कार है ही नहीं। केवल निर्बल आत्मा ही हैं, जो कर्म की सत्ता (आधिपत्य) स्वीकार करते हैं। जिन्होंने निमित्त की सत्ता का पराभव कर दिया है, वे वीरपुरुष संयमसिद्ध हैं। और जिन्होंने आत्मा पर विजय (Self Mastery) प्राप्त कर ली है, उन्हें तो कर्म के उदय से कोई भीति है ही नहीं। ऐसे बलवान् आत्मा तो यही मानते हैं कि उदयमान कर्म मेरे द्वारा प्रादुर्भूत बच्चे हैं। पूर्वकाल में अज्ञानदशा में मैंने ही उन्हें अपनाये हैं, बांधे हैं, अतः अब अनासक्तरूप से उन्हें निभा लेना चाहिए, यों समझ कर रोये-धोये बिना, खिन्न या क्षुब्ध हुए बिना वह उन कर्मों से भेंटता है और सम्यग्ज्ञान के दिव्य प्रकाश द्वारा पुनः नये कर्म न बंधें, इस प्रकार उदयाभिमुख हुए कर्मों को अल्पकाल में ही भोग लेता है।

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के परिणामों में अन्तर

ज्ञानी और अज्ञानी, सबल (आत्मबली) और निर्बल (कायर) में अन्तर इतना ही है कि ज्ञानीजन निमित्त के वशीभूत होने हेतु कभी ललचाते नहीं, और कदाचित् पहले बांधी हुई कर्मप्रकृति के अनुभाग के बाहुल्य से ललचाए, तो भी वे अपनी

१. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ. ९ से ११ तक

भूल तुरंत सुधार लेते हैं, जबकि अज्ञानी निर्बलजन प्रत्येक क्षुद्र निमित्त के वशवर्ती होकर अपना स्वत्त्व खो देते हैं और संयोगों के प्रबल प्रवाह में इधर से उधर तृणवत् टक्कर खाते रहते हैं। ज्ञान में शक्ति है, परन्तु किस ज्ञान में? आत्मा के स्वरूप के, अपने स्वत्व के ज्ञान में-सम्यग्ज्ञान में। इन्द्रिय ज्ञान या भौतिक विज्ञान में कोई शक्ति नहीं है। क्योंकि इनकी शक्ति सिर्फ स्थूल सृष्टि पर प्रवृत्त हो सकती है। जिस ज्ञान का कार्यक्षेत्र केवल स्थूल दृष्टि से सीमाबद्ध हो गया है, जिस ज्ञान का प्रभाव आन्तरिक सूक्ष्मप्रदेश तक पहुँच नहीं सकता, उस ज्ञान को परम पुरुषों ने केवल व्यवहार-विद्या कहा है। सत्यज्ञान की-परमार्थविद्या की कसौटी कर्म के उदय से प्रकट होने वाले निमित्त से अनुपरंजित रहने तथा आत्मा को बंधन में डालने वाले परिणामों की धारा में नहीं बहने में है। आत्मा के परम पुरुषार्थ को कर्मबन्ध न करने या कर्म शत्रु से लड़कर परास्त करने के क्षेत्र में ही अवकाश है। इसी में पुरुषार्थ की सिद्धि है। संसार-परिभ्रमण के कार्यकारण भाव की शृंखला को तोड़ डालने की गुप्तविद्या सिर्फ आत्मा के अनुपरंजित परभावों से निर्लिप्त रहकर आत्मभावों (भावविशेष) में रही हुई है। इष्ट-अनिष्ट या शुभ-अशुभ प्रसंगों की उपस्थिति के समय आत्मा के जो अशुद्ध परिणाम होते हैं, वे ही तो भावकर्म हैं, और इस परिणाम के तारतम्य के अनुसार नये कर्म आकर्षित होते हैं। इस प्रकार भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म के उदयकाल में उपस्थित होने वाले निमित्त में आसक्ति से-भावकर्म से फिर द्रव्यकर्म, यों आत्मा का संसार चक्र घूमता रहता है। द्रव्यकर्म के उदयकाल में उपस्थित होने वाले आत्मा के वैभाविक परिणामों में नहीं फंसना, यही संसार के बन्धन को शिथिल करने का और अन्त में, उसे तोड डालने का एक ही अमोघ उपाय है।'[१]

उदय की प्रक्रिया के विषय में कर्मविज्ञान की प्ररूपणा

भिन्न-भिन्न समयों में उपार्जित, किन्तु एक ही काल में उदय में आने योग्य कर्म जब उदय में आता है, तब समस्त बद्धकर्म के अनुभाग (रस) की एकत्र जो मात्रा होती है, इतना फल वह एक साथ देता है। अर्थात्-ये सब अंश एक ही साथ निष्पन्न होते हैं। एक काल में उपार्जित कर्म अनेक समयों में और अनेक समय में बांधे हुए कर्म एक समय में भी उदय में आते हैं। जब भिन्न-भिन्न अनेक प्रसंगों में उपार्जित (बद्ध) कर्म एक समय में उदय में आते हैं, तब वे अत्यन्त तीव्र फल देते हैं। कई प्रसंगों में तो उन महापुरुषों की स्थिति इतनी हद तक पेचीदा हो जाती है कि जगत् की पामरदृष्टि उन्हें पामर, पतित, अघोरी आदि दृष्टियों से देखती है, जानती है।

---

१. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ. ११, ३९ से ४१ तक

जगत् यह देखने की परवाह नहीं करता कि उन महापुरुषों को कितने प्रलोभनों या बलवान् निमित्तों के खिलाफ लड़ना है? जगत् तो सिर्फ अन्तिम परिणाम की ओर देखता है। वस्तुतः जय और पराजय का सच्चा स्तर जीतने में या हारने में नहीं है, किन्तु वह कितने विकट प्रसंगों के ताने-बाने में शुद्ध या अशुद्ध रहा है?, इसमें है। जिन्हें कर्म के बलवान् उदय के साथ संघर्ष में आना नहीं पड़ा, प्रलोभनों के प्रचण्ड पूर में बह जाने का प्रसंग नहीं आया है; तथा आन्तरिक शत्रुओं के साथ लड़कर विजय पाने के विकट मामले में सीधा निकलने का अवसर ही आया नहीं है, वे बलवान् या विजेता होने का दावा करें, यह स्वाभाविक है। परन्तु विजय का, सामर्थ्य का यथार्थ मूल्यांकन, इस बात पर निर्भर है कि कितने निमित्तों, कितने प्रलोभनों के विरुद्ध उसका सामर्थ्य काम आया; तथा कितनी तनातनी में उसकी आत्मा शुद्ध रह सकी है? मनुष्य जब ठोकर खाता है, भूल-भुलैया में पड़ जाता है, संसार की चकाचौंध से भ्रान्त हो जाता है, तब वहाँ उसके बलाबल का निर्णय सिर्फ उसके स्खलन या पतन पर से होना, उचित नहीं है; अपितु कितने संघर्ष या कितने प्रतीकार के पश्चात् वह स्खलित हुआ है, इस पर से करना योग्य है।[१]

बन्ध और उदय की प्रक्रिया

बन्ध और उदय की प्रक्रिया को ध्यान में लेना भी आवश्यक है। जिस प्रकार प्रतिसमय एकसमयबद्ध प्रमाण द्रव्य बंधता है, उसी प्रकार प्रतिसमय एक समयप्रबद्ध प्रमाण द्रव्य उदय में आता है; और फल भुगता कर झड़ जाता है। मान लो, पहले समय में एक समय प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य बन्ध को प्राप्त हुआ। फिर दूसरे, तीसरे आदि समयों में बराबर दूसरा-तीसरा आदि समय-प्रबद्ध बंधता चला गया। सभी में निषेक रचना भी होती चली गई। अबाधाकाल बीतने के पश्चात् प्रथम समयप्रबद्ध का पहला एक निषेक उदय में आया। उस समय दूसरे, तीसरे आदि समयप्रबद्धों का कोई भी निषेक उदय में न आ सका; क्योंकि एक-एक समय पीछे बंधने के कारण उनका उदय भी पहले वाले से एक-एक समय पीछे ही होना उचित है। इसी प्रकार दूसरे समय में प्रथम और द्वितीय दो समयप्रबद्धों का एक निषेक मिलकर दो निषेक उदय में आए। तथा तीसरे समय प्रथम-द्वितीय-तृतीय समयप्रबद्धों के एक-एक विषेक मिलकर तीन निषेक उदय में आए। इस तरह क्रमशः चतुर्थ, पंचम आदि समयों में ४-५ आदि निषेकों का उदय जानना चाहिए।[२]

---

१. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ. ४१, ४२
२. जैन सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ९१, ९२

निष्कर्ष यह है कि प्रतिसमय एक समय-प्रबद्ध कर्म बंधता है और एक ही समय-प्रबद्ध उदय में आता है। एक समय में बंधा द्रव्य अनेक समयों में उदय में आता है। तथैव एक समय में उदय में आने वाला द्रव्य अनेक समयों में बंधा हुआ होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वर्तमान एक समय में प्राप्त जो सुख-दुःख आदिरूप फल है, वह किसी एक समय में बंधे विवक्षित कर्म का फल नहीं कहा जा सकता; बल्कि संख्यातीत काल में बंधे अनेक कर्मों का मिश्रित एक रस होता है। फिर भी उस एक रस में निषेक मुख्यता उसी निषेक की होती है, जिसका अनुभाग सर्वाधिक होता है।[१]

पुण्य या पाप के उदय में भी परिवर्तन सम्भव

प्रत्येक जीव निरन्तर पुण्य या पाप का बन्ध करता रहता है। अतएव प्रत्येक संसारी जीव के न्यूनाधिकरूप से कभी पुण्य का और कभी पाप का उदय रहता है। जिसे आज पाप का उदय है उसे पाप का ही रहेगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। निषेक रचना में न जाने किस समय पुण्य के तीव्र अनुभाग वाला कोई निषेक उदय में आ जाए।[२]

बन्ध और उदय की समानता-असमानता कहाँ-कहाँ?

मन-वचन-काया से जीव जैसी भी कुछ प्रवृत्ति करता है, वैसी ही प्रकृति वाले कर्म प्रदेश उसके साथ **बंध** को प्राप्त होते हैं, अन्य प्रकार के नहीं। साथ ही उसकी वह प्रवृत्ति तीव्र या मन्द जैसी भी रागादि **कषायों से युक्त** होती है, डिग्री टु डिग्री उतना ही तीव्र या मन्द **अनुभाग** उस कर्म-प्रकृति में पड़ता है, न्यून या अधिक नहीं। इसी प्रकार **स्थिति** भी उस प्रकृति में डिग्री टु डिग्री उतनी ही पड़ती है, न्यूनाधिक नहीं। जिस प्रकार बंध के लिये कहा, उसी प्रकार उदय के विषय में समझना। जिस समय जिस किसी भी प्रकृति का तथा उसके साथ जितने भी अनुभाग का उदय होता है, जीव को उस समय वैसी ही और डिग्री टु डिग्री उतनी ही तीव्र या मन्द परिणाम-युक्त प्रवृत्ति करनी पड़ती है। उससे भिन्न प्रकार की अथवा उसकी अपेक्षा किंचित् भी कम या अधिक नहीं।

इस प्रकार बंधपक्ष और उदयपक्ष इन दोनों में ही यद्यपि भावकर्म और द्रव्यकर्म की परस्पर अन्वय-व्यतिरेक-व्याप्ति देखी जाती है, तदपि मुमुक्षु के कल्याण का द्वार बन्द नहीं होता, क्योंकि भाव के अनुसार डिग्री टु डिग्री बन्ध होता है और उदय के

---

१. कर्मसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ९३
२. वही, पृ. ९३

अनुसार डिग्री टु डिग्री भाव होता है, उसी प्रकार बन्ध के अनुसार डिग्री टु डिग्री उदय नहीं होता; क्योंकि बन्ध और उदय के बीच में सत्ता की एक बहुत चौड़ी और बड़ी खाई है, जिसमें प्रतिक्षण कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं।

जैसा कर्म बँधा है, वैसा का वैसा ही उदय में आए, ऐसा कोई नियम नहीं है, सत्ता में रहते हुए उस बद्ध कर्म को अनेक परिवर्तनों में से गुजरना पड़ता हैं। बन्ध, सत्ता और उदय आदि जिन १० करणों-अवस्थाओं का नामोल्लेख पहले किया गया है, उसमें से तीन करणों का ही विवेचन हो पाया है, शेष सात करणों का विवेचन अगले निबन्ध में करना है। अतः बन्ध और उदय की पूर्वोक्त व्याप्ति सुनकर आत्मार्थी एवं मुमुक्षु साधक को घबराना नहीं चाहिए। शेष सात करणों में से उद्वर्तन (उत्कर्षण), अपवर्तन (अपकर्षण), संक्रमण, उदीरण और उपशमन, ये पांच करण उसकी सहायता के लिए हरदम तैयार हैं। उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरण और उपशमन ही वस्तुतः ऐसी परिवर्तनीय अवस्थाएँ (करण) हैं, जिसमें से सत्तागत कर्मों को गुजरना पड़ता है। अगर साधक लक्ष्य की दिशा में डटकर परिवर्तन के लिए कटिबद्ध हो जाए तो कर्मों की निर्जरा और क्षय होते देर नहीं लगेगी।[१]

■■

१. कर्मसिद्धान्त, पृ. ९६, ९७ से भावग्रहण

६

कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ–२

सम्यक्-पुरुषार्थ से कर्मबन्ध में परिवर्तन संभव है

रॉबर्ट ब्रूस पाँच-पाँच बार युद्ध में हार कर निराश हो चुका था। वह थककर, निराश होकर एक दिन अपने बिछौने में लेटा-लेटा सोच रहा था कि क्या करूँ ? कैसे विजय पाऊँ ? इतने में अकस्मात् उसकी दृष्टि एक मकड़े पर गई। वह भी अपने बनाये हुए जाले में फंसा हुआ था, बार-बार पुरुषार्थ कर रहा था, वह जाले को तोड़कर बाहर निकलने के लिए। पाँच बार के पुरुषार्थ में वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। परन्तु छठी बार वह पूर्ण उत्साह और वेगपूर्वक आगे बढ़ा और जाला तोड़कर बाहर निकलने में सफल हो गया।[१]

कर्मविज्ञान का यही सन्देश कर्मबन्ध के मकड़ जाल में फँसे हुए संसारी प्राणियों के लिए है। उसका कहना है-कर्मबन्ध का जाल इतना मजबूत नहीं है कि आत्मा के साहसपूर्वक सोत्साह पुरुषार्थ-पराक्रम से तोड़ा या छिन्न-भिन्न न किया जा सके। पिछले निबन्ध में हम कर्मबन्ध के जाल को तोड़ने हेतु बन्धावस्था, सत्तावस्था और उदयावस्था की चर्चा में इस तथ्य को स्पष्ट कर चुके हैं कि मुमुक्षु मानव कैसे कर्मबन्ध के चक्रव्यूह का भेदन करने और बन्ध से मोक्ष की ओर सरपट दौड़ लगाने में सफल हो सकता है।

यब बात अवश्य है कि व्यक्ति को इसके लिए बन्धन कैसा है? किस हेतु से हुआ है? उसकी अवधि कितनी है? उसका अनुभाग कितना था ? वह उदय में आ

---

१. हिन्दी बाल शिक्षा पांचवाँ भाग में अंकित 'राबर्ट ब्रूस और मकड़ा' नामक पाठ से संक्षिप्त।

गया है, या अभी अनुदयावस्था में है? इन तथ्यों को भलीभाँति जान लेना चाहिए। भगवान् महावीर ने **सूत्रकृतांग सूत्र** में इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए कहा है-सर्व प्रथम बन्धन को समझो, और समझ कर फिर उसे तोड़ो।[१]

पुरुषार्थ कैसा और कितना हो?

बन्धन को तोड़ने का पुरुषार्थ करते समय यह भी देखना आवश्यक है कि पुरुषार्थ किस दिशा में हो रहा है, यदि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप सद्धर्म को पाने के बजाय साम्प्रदायिकता, पूर्वाग्रह, हठाग्रह, धर्मान्धता, अहंपोषण, ममत्व आदि की दिशा में पुरुषार्थ हो रहा है तो वह अधर्मयुक्त है। इसलिए सूत्रकृतांग सूत्र में निर्देश किया गया है कि जो व्यक्ति धर्म और अधर्म से सर्वथा अनजान हैं, और केवल कल्पित तर्कों के आधार पर अपने मन्तव्य या पूर्वाग्रह गृहीत मत का प्रतिपादन करते हैं, वे अपने दुःखरूप कर्मबन्धन को तोड़ नहीं सकते, जैसे कि पिंजरबद्ध पक्षी पिंजरे को नहीं तोड़ पाता।[२]

कर्मबन्धन को तोड़ने के लिए पुरुषार्थ करने वाले व्यक्ति को यह भी जानना आवश्यक है कि बन्धमुक्ति के लिए वर्तमान में धर्मदिशा में किया जाने वाला पुरुषार्थ अतीत में किये गए कर्मबन्धन के पुरुषार्थ से प्रबल है या नहीं? यदि अतीत के पुरुषार्थ से वर्तमान का पुरुषार्थ प्रबल है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है। अगर वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल है, उद्देश्य विरुद्ध है, अथवा मन्द है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता। फिर भी सम्यक् दिशा में किया हुआ वर्तमान का पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं होता।[३]

एक राजा ने एक बार रास्ते में पड़े हुए बहुत बड़े भारी भरकम पत्थर को तोड़ने के लिए यह घोषणा करवाई कि 'जो इस पत्थर को एक ही चोट में तोड़ देगा, उसे बहुत बड़ा इनाम और पद दिया जाएगा। परन्तु जो इस पत्थर को एक ही चोट में नहीं तोड़ पायेगा, उसे कारागार में बन्द किया जाएगा।' इस पर अनेक लोग अपना-अपना हथौड़ा लेकर आए; और ९९ लोगों ने बारी-बारी से एक-एक चोट की, फिर भी पत्थर नहीं टूटा। सौवें व्यक्ति ने ज्यों ही हथौड़े से चोट की, पहली ही चोट में पत्थर टूट गया। ९९ निराश व्यक्तियों को राजा ने कारागार में बन्द करने का आदेश

---

१. बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया। -सूत्रकृतांग १/१/१/१

२. एवं तक्काइं साहिता धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति सउणी पंजरं जहा॥"-सूत्रकृतांग १/१/२/२२

३. जैनदर्शन : मनन और मीमांसा से भावांशग्रहण, पृ. ३२०

मंत्री को दिया। परन्तु बुद्धिमान मंत्री ने राजा से निवेदन किया कि "राजन्! यह ठीक है कि इन ९९ लोगों की एक-एक चोट से पत्थर नहीं टूटा, किन्तु अगर इन ९९ लोगों ने एक-एक चोट न की होती तो सौवीं चोट में पत्थर कभी नहीं टूट सकता था। अतः पत्थर को तोड़ने, उसमें दरार करने, उसकी पकड़ को ढीली करने में, इन ९९ व्यक्तियों का भी हिस्सा है। अतः इन्हें भी कारागार के बजाय इनाम मिलना चाहिए।" मंत्री की बात राजा को जँच गई। उसने १०० वें व्यक्ति को विशिष्ट इनाम और ९९ व्यक्तियों को भी साधारण इनाम देकर सन्तुष्ट किया।

इसी प्रकार कर्मबन्ध की गाढ़ अवस्था को शिथिल करने, उसकी कालावधि (स्थिति) को घटाने, सत्तावस्था में रहे हुए बद्ध कर्म की अशुभता को शुभता में परिणत करने, सजातीय उत्तरप्रकृति में रूपान्तर करने, उदात्तीकरण करने तथा उदय में आने के पश्चात् भोगने के बदले अनुदय अवस्था में ही तप, त्याग, परीषहजय, उपसर्ग-सहन, समता, क्षमा आदि के पुरुषार्थ द्वारा फलभोग करके क्षीण करने का पुरुषार्थ भी आंशिक रूप से कर्ममुक्ति की, कर्म परिवर्तन की दिशा में किया हुआ पुरुषार्थ है। वह भी निष्फल नहीं है। वस्तुतः वह भी कर्मबन्ध पर किया हुआ धीमा प्रहार है। परन्तु इतने से पुरुषार्थ से सन्तोष नहीं मान लेना चाहिए।

कर्मशास्त्र में कर्मबन्ध और उदय (कर्मफल भोग) की प्रक्रिया का विशद वर्णन है। किन्तु यदि कर्म की बन्ध और उदय, ये दो ही अवस्थाएँ होतीं तो कर्मों का बन्ध होता और उनका उसी रूप में फल भोगने के बाद वे कर्म निःसत्व होकर छूट जाते, आत्मा से पृथक् हो जाते, परिवर्तन की कोई गुंजाइश ही न रहती। परन्तु कर्मशास्त्र में एक ओर यह विधान है कि बंधे हुए कर्म फल दिये बिना कदापि नहीं छूटते, वहाँ दूसरी ओर कतिपय उपायों का भी विधान है, जिनको आजमाने से बद्धकर्मों में नाना प्रकार से परिवर्तन भी किया जा सकता है। कर्म की अवस्थाएँ इन दो के सिवाय और भी हैं। उदीरणा, अपवर्तन (अपकर्षण), उद्वर्तन (उत्कर्षण) और संक्रमण ये चारों अवस्थाएँ उदयावलिका से बहिर्भूत कर्म-पुद्गलों के परिवर्तन में सक्षम हैं। बद्धकर्म जब तक सत्ता में पड़े हैं, अभी उदयावलिका में प्रविष्ट नहीं हुए हैं, तब तक उनमें परिवर्तन हो सकता है। आशय यह है कि अनुदित कर्म की अवस्था में परिवर्तन होता है, हो सकता है। पुरुषार्थ के सिद्धान्त का यही ध्रुव आधार है। यदि कर्मबन्ध की अवस्था को बदलने हेतु रूपान्तर, उदात्तीकरण, संक्रमण या क्षय, क्षयोपशम, उपशम करने का पुरुषार्थ कर्मविज्ञान द्वारा मान्य न होता तो फिर कर्मविज्ञान को आजीवक मत के नियतिवाद या निराशावाद का ही परिपोषक माना जाता।

बन्धावस्था, सत्तावस्था और उदयावस्था में कर्मबन्ध से कर्ममुक्ति की दिशा में क्या-क्या और कैसा-कैसा पुरुषार्थ हो सकता है? यह हम पिछले निबन्ध में बता चुके हैं। यहाँ बन्ध की शेष सात अवस्थाओं का निरूपण करना अभीष्ट है।

(४) उदीरणा-करण: स्वरूप, हेतु और पुरुषार्थवाद का प्रेरक

उदय और उदीरणा में अन्तर, और उदीरणा का स्वरूप

वैसे देखा जाए तो उदीरणा उदय का ही एक रूप है। उदय के ही दो भेद किन्हीं आचार्यों ने किये हैं-(१) प्राप्तकाल-उदय और (२) अप्राप्तकाल उदय। जिस उदय में कालावधि पूर्ण होने पर कर्म की वेदना या फलभोग प्रारम्भ होता है, वह प्राप्तकाल-कर्मोदय है। कालमर्यादा पूर्ण होने-उदय में आने से पूर्व ही, कर्मफल को भोग लेना यानी उदयावलिका में ले आना-उदीरणाकरण है। संक्षेप में उदय और उदीरणा में इतना ही अन्तर है कि नियत काल में कर्म का फल देना उदय कहलाता है, और नियतकाल से पूर्व कर्म का फल देना यानी कर्म का उदय में आना उदीरणा है। जैसे-आम बेचने वाले सोचते हैं कि वृक्ष पर तो आम समय आने पर ही पकेंगे, इसलिए वे उन्हें जल्दी पकाने के लिए आम के पेड़ में लगे हुए कच्चे हरे आमों को ही तोड़ लेते हैं, और उन्हें भूसे, पराल आदि में दबा देते हैं, जिससे वे जल्दी ही पक जाते हैं, इसी प्रकार जिन कर्मों का परिपक्व (उदय) काल न होने पर भी उन्हें उदय में खींच कर लाया जाता है, अर्थात्-समता, शमता, क्षमा, परीषहजय, उपसर्गसहन, तपश्चर्या, प्रायश्चित्त आदि द्वारा उन्हें (उन पूर्वबद्ध कर्मों को) उदय में आने से पूर्व ही भोग लिया जाता है, उदयावलिका में नियत समय से पूर्व ही लाया जाता है, उसे उदीरणा कहते हैं।[१]

उदीरणा पुरुषार्थ की उद्योतिनी

वस्तुत: देखा जाए तो उदीरणा पुरुषार्थ की प्रेरणादायिनी है। कर्म के स्वाभाविक उदय में नये पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। बन्ध की स्थिति या अबाधाकाल पूर्ण होते ही कर्मपुद्गल स्वत: उदय में आ जाते हैं। किन्तु उदीरणा के लिए नये पुरुषार्थ की भी आवश्यकता होती है। उदीरणा द्वारा विशिष्ट कर्मों को स्थिति क्षय से पहले ही उदय में लाया जाता है; इसलिए उदीरणा में विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

---

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री), पृ. २४
(ख) बौद्ध दर्शन में भी दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं-नियत-विपाककाल और अनियतविपाककाल। अनियतविपाककाल वाले कर्म ही उदीरणा के समान हैं।-सं.

उदीरणा के योग्य कर्मपुद्गल कौन-से हैं, कौन-से नहीं ?

उदीरणा-करण के योग्य कर्मों तथा उनमें पुरुषार्थ करने, न करने के विषय में भगवती सूत्र में एक रोचक किन्तु तथ्यपूर्ण प्ररूपणा की गई है। गौतम ने पूछा- "भंते! जीव उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है? या जीव अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है? अथवा जीव अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणायोग्य कर्मपुद्गलों की उदीरणा करता है या फिर उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्मपुद्गलों की उदीरणा करता है?"

भगवान् ने कहा-"गौतम! जीव उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता। न ही अनुदीर्ण की उदीरणा करता है। किन्तु जो अनुदीर्ण हो, साथ ही उदीरणायोग्य हो, उसकी उदीरणा करता है। लेकिन उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की जीव उदीरणा नहीं करता।"

इसका तात्पर्य यह है कि जो कर्म उदीर्ण हो चुके, उनकी फिर से कोई उदीरणा करने लगे तो उदीरणा का कहीं अन्त ही नहीं आएगा। इसलिए उदीर्ण की उदीरणा का निषेध किया गया है। जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा सुदूर भविष्य में होने वाली है, अथवा जिनकी उदीरणा नहीं होने वाली है, ऐसे अनुदीर्ण-(उदीरणा के अयोग्य) कर्मपुद्गलों की भी उदीरणा सम्भव नहीं है। तथैव जो कर्मपुद्गल उदय में आ चुके, उदयानन्तर पश्चात्कृत (सामर्थ्यहीन) हो चुके, उनकी भी उदीरणा नहीं होती। किन्तु जो कर्मपुद्गल वर्तमान में अनुदीर्ण हैं, मगर हैं वे उदीरणा के योग्य, उन्हीं की उदीरणा होती है। ऐसे ही कर्मपुद्गलों की उदीरणा करने में पुरुषार्थ सफल होता है।

उदीरणा : पुरुषार्थवाद की प्रेरणादायिनी है

इससे आगे का संवाद पढ़िये, जो पुरुषार्थवाद का प्रेरक है। गौतम ने पूछा- "भंते! अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणायोग्य कर्मपुद्गलों की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुष्कार (पौरुष) और पराक्रम द्वारा होती है, या अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुष्कार और अपराक्रम द्वारा होती है?

भगवान ने कहा-"गौतम! जीव उत्थान आदि द्वारा अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणायोग्य कर्मपुद्गलों की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा तथारूप उदीरणा नहीं करता।"[1]

---

१. (क) भगवती सूत्र श. १/१४८
(ख) जैन दर्शन : मनन और मीमांसा
(ग) भगवती सूत्र १/१४९

इससे स्पष्ट है कि पुरुषार्थ द्वारा उदीरणा आदि करके बद्ध कर्म में परिवर्तन किया जा सकता है, कर्म परतंत्रता को आत्मस्वतंत्रता में बदला जा सकता है, दुर्भाग्य की ओर ले जाने वाले कर्म को सौभाग्य की ओर पलटा जा सकता है।

उदीरणा : कब और कैसे?

प्रत्येक बंधा हुआ कर्म निश्चित रूप से उदय में आएगा ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि कर्म बंधने के पश्चात् आलोचना, प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप, प्रायश्चित, तप, त्याग आदि करके कर्मक्षय कर दिया, तो वह कर्म नष्ट हो जाता है। फिर उसके उदय में आने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कर्म का क्षय नहीं किया है तो बद्ध कर्म की कालमर्यादा पूर्ण होने से पहले, (सत्ता में कर्म रहे तभी) उस कर्म को शीघ्र क्षय करने की इच्छा हो तो स्वेच्छा से क्षमा, रत्नत्रयादि साधना, समभावपूर्वक तीव्र वेदना, असाता आदि सहन कर लेने से उदयकाल परिपक्व न होते हुए भी उन कर्मों की उदीरणा कर ली जाती है। उदीरणा के माध्यम से उन कर्मों को खींचकर उदय में लाया जाता है।[१]

उदीरणा का हेतु और रहस्य

उदीरणा का रहस्यार्थ यह है कि जिन पूर्व-संचित कर्मों का अभी तक उदय नहीं हुआ है, उनको बलपूर्वक नियत समय से पूर्व भोगने के लिए पकाकर फल देने के योग्य कर देते हैं, उसे उदीरणावस्था कहते हैं। गोम्मटसार में "अपक्व कर्मों के पाचन (पकाने) को उदीरणा कहा गया है।" आशय यह है कि अबाधाकाल पूर्ण होने पर भी जो कर्मदलिक बाद में उदय में आने वाले हैं, उन्हें विशेष प्रयत्न से खींचकर उदय में आए हुए कर्मदलिकों के साथ मिला देना और भोग लेना या लम्बे समय के बाद उदय में आने वाले कर्मों को तत्काल उदय में लाकर भोग लेना उदीरणा है। जो कर्म समय पाकर उदय में आने वाले हैं, यानी अपना फल देने वाले हैं, उनका प्रयत्न-विशेष से या किसी निमित्त से समय से पूर्व ही फल देकर नष्ट हो जाना, उदीरणा है।[२]

आजकल ऐसे यंत्र भी वैज्ञानिकों ने आविष्कृत किये हैं, जिनसे भविष्य में होने वाले किसी रोग या व्याधि का पता लग जाता है। यदि शरीर में कोई विकार रोग के

---

१. कर्म तेरी गति न्यारी भाग १ से भावांश ग्रहण, पृ. १७५
२. (क) जैनदर्शन में आत्म विचार (डॉ. लालचन्द्र जैन), पृ. १९६
   (ख) गोम्मटसार (क.) जी. त. प्र. टीका, गाथा ४३९
   (ग) मोक्षप्रकाश पृ. १६, १७

रूप में कालान्तर में फल देने वाला है, उसे इंजेक्शन, दवा या अन्य किसी उपचार द्वारा पहले से ही उस विकार को, बिना पके हुए फोड़े को पकाकर उसका फल (पीड़ारूप) भोग लेने से ही उक्त रोग, व्याधि या पीड़ा से छुटकारा मिल जाता है। कई रोगों में वमन, विरेचन आदि द्वारा शरीर का विकार निकाल कर भविष्य में आने वाले भंयकर रोग से छुटकारा पाया जाता है। उसी प्रकार उदीरणा में भी कर्म रोग के पकने से पहले ही उसका फल भोग लिया जाता है।[१]

प्रत्येक प्राणी के सहजरूप में उदय-उदीरणा प्रायः होती रहती है।

वैसे तो कुछेक अपवादों के सिवाय प्रत्येक जीव के द्वारा किये गए अमुक (अच्छे-बुरे) प्रयत्नों से, तथा अपनाये गए निमित्त से सहज रूप में उदय और उदीरणा सदा चालू रहते हैं। चूँकि उदित कर्म की ही (उदयप्राप्त कर्म वर्ग के अनुदित कर्म पुद्गलों की) उदीरणा होती है, इसलिए उदय होने पर उदीरणा प्रायः निश्चित होती है।[२]

विशेष दुष्कर्मों की उदीरणा के लिए विशेष सत्पुरुषार्थ आवश्यक

परन्तु अन्तरतम में-अज्ञात, अगाध गहराई में छिपे व स्थित कर्मों की उदीरणा के लिए पुरुषार्थ विशेष की आवश्यकता होती है। जिसे बाह्यान्तर तप, व्रतादि-साधना, परीषह-उपसर्गों का समभाव से सहन इत्यादि द्वारा कर्मों को भोग कर क्षय किया जाता है।

कर्म का विपाक कभी-कभी नियत समय से पूर्व स्वाभाविक रूप से अनायास ही हो जाता है। इसे भी उदीरणा कहते हैं, यह स्वतः उदीरणा है। इसके लिए अपवर्तना द्वारा पहले कर्म की स्थिति कम कर दी जाती है। स्थिति कम हो जाने से कर्म नियत समय से पूर्व उदय में आ जाता है। जब कोई मनुष्य अपना आयुष्य पूर्ण रूप से भोगने से पहले ही असमय में ही मर जाता है, तो वैसी मृत्यु को लोग अकाल मृत्यु कहते हैं। परन्तु कर्मविज्ञान की भाषा में ऐसा होने का कारण आयुष्य कर्म की उदीरणा हो जाना है।

अपने अन्तस्तल में स्थित कर्म की ग्रन्थियों (बन्धनों) को भी तप, संलेखना, साधना, आदि प्रयत्नों से समय से पूर्व उदय में लाकर भोगा जाता है। अपने द्वारा पूर्वकृत दोषों, पापों या अपराधों व भूलों का स्मरण करके गुरु या बड़ों के समक्ष आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा, प्रतिक्रमण, क्षमायाचना, आदि करना भी

---

१. कर्मसिद्धान्त (कन्हैयालाल लोढ़ा), पृ. ३०
२. जैनदर्शन (न्यायविजय जी) पृ. ४५८

उदीरणा का ही रूप है। इनसे सामान्य दोष या दुष्कृत निष्फल हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, फल देने की शक्ति खो बैठते हैं। प्रगाढ़ दोष हों तो प्रायश्चित्त या संलेखना-संथाराव्रत (शरीर निढाल हो जाने पर) स्वीकार करके उनका नाश किया जाता है।[१]

ईसाई धर्म में और मनोविज्ञान में भी उदीरणा का रूप

ईसाई धर्म में भी उदीरणा के इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। ईसाई धर्म में 'Confess thy sins' तुम्हारे पापों को स्वीकार करो, का सिद्धान्त प्रतिक्रमण का ही रूप है कि अज्ञात मन में स्थित मनोग्रन्थियों का विरेचन या वमन कराने से व्यक्ति को शारीरिक-मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है। मनोवैज्ञानिक पद्धति से अज्ञात मन में छिपी हुई ग्रन्थियाँ, कुण्ठाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ ज्ञात मन में उभर आती हैं, उदित होती हैं और उनका फल भोग लिया जाता है तो वे नष्ट हो जाती हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वर्तमान में अधिकांश शारीरिक-मानसिक रोगों का कारण अज्ञात मन में प्रच्छन्न या दबी हुई ये ग्रन्थियाँ ही हैं, जब ये ग्रन्थियाँ बाहर प्रगट होकर नष्ट हो जाती हैं तो इनसे सम्बन्धित रोग भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार की मानसिक चिकित्सा भी उदीरणाकरण का एक रूप है।

उदीरणा में विशेष सावधानी आवश्यक

उदीरणा के लिए पहले आत्मार्थी साधक को शुभभावों से अपवर्तनाकरण द्वारा पूर्व संचित कर्मों की स्थिति घटानी अनिवार्य है। स्थिति घट जाने पर कर्म नियत समय से पूर्व उदय में आ जाते हैं और उक्त कर्म का फल भोग कर उसे नष्ट कर दिया जा सकता है। आत्मार्थी मुमुक्षु को यह ध्यान रखना है कि उदीरणा के उदय में आने पर कषायभाव की अधिकता न होने पाए, अन्यथा उदीरणा से जितने कर्म कटते (निर्जीर्ण होते) हैं, उनसे कई गुणे अधिक कर्म बँध भी सकते हैं। जैसे-कोई तपस्या करके या आतापना लेकर कर्मों की उदीरणा करके उन्हें क्षीण करने का उपक्रम करता है, किन्तु साथ ही तपस्या या साधना का मद, अहंकार, क्रोध, माया, लोभ, ईर्ष्या, शापप्रदान आदि कषायभाव हों तो कर्म क्षय होने के साथ-साथ कर्मबन्ध का जत्था अधिक बढ़ जाएगा।[२]

(५-६) उद्वर्तनाकरण और अपवर्तनाकरण : स्वरूप और कार्य

सत्ता में स्थित पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति एवं उसके रस (अनुभाग) में वृद्धि होना उद्वर्तना-अवस्था है, और इन दोनों में कमी होना अपवर्तना-अवस्था है। जिस

---

१. कर्म सिद्धान्त पृ. ३१, ३२
२. कर्म सिद्धान्त (कन्हैया लाल लोढ़ा) से भावग्रहण

क्रिया या प्रवृत्ति से बंधे हुए कर्म की स्थिति और रस बढ़े, उसे उद्वर्तनाकरण और जिस क्रिया या प्रवृत्ति से पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति एवं रस में कमी हो जाए, उसे अपवर्तनाकरण कहते हैं। संक्षेप में स्थिति और अनुभाग का बढ़ना उद्वर्तना है, इन दोनों का घटना अपवर्तना है। ये दोनों क्रियाएँ बन्ध के बाद सत्ता की अवस्था में होती हैं। इन्हें दिगम्बर परम्परा में क्रमशः **उत्कर्षण** और **अपकर्षण** भी कहते हैं। उत्कर्षण का अर्थ-उन्नतिशील होना है। तात्पर्य यह कि बन्ध के समय कषायों की तीव्रता-मन्दता आदि के अनुसार स्थिति और अनुभाग होते हैं। कर्म से बंधी हुई स्थिति और अनुभाग में किसी तीव्र अध्यवसाय विशेष के द्वारा बढ़ाना उत्कर्षण (उद्वर्त्तना) है, इसके विपरीत उत्कर्षण की विरोधी अवस्था अपकर्षण है। सम्यग्दर्शनादि से पूर्व-संचित कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग को क्षीण कर देना अपकर्षण है। इसका दूसरा नाम अपवर्त्तना है। उद्वर्त्तना के द्वारा कर्म स्थिति का दीर्घीकरण एवं रस का तीव्रीकरण होता है, जबकि अपवर्त्तना के द्वारा कर्मस्थिति का अल्पीकरण (स्थितिघात) और रस का मन्दीकरण (रसघात) होता है।

उद्वर्त्तना और अपवर्त्तना का रहस्य

आशय यह है कि बद्धकर्मों की स्थिति और अनुभाग (रस) का निश्चय कर्मबन्ध के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। किन्तु जैन-कर्मविज्ञान के अनुसार-यह नियम एकान्त नहीं है। कोई सत्त्वशाली आत्मा नवीन बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति (काल-मर्यादा) और अनुभाग (काषायिक रस की तीव्रता) में वृद्धि भी कर सकता है। इस प्ररूपणानुसार पूर्वबद्ध कर्मों का स्थिति-विशेष और अनुभाव (अध्यवसाय) विशेष का बाद में किसी प्रबल अध्यवसाय-विशेष द्वारा बढ़ जाना उद्वर्त्तना या उत्कर्षण है। ठीक इसके विपरीत पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति एवं अनुभाग को कालान्तर में नवीन कर्मबन्ध के समय कम कर देना-अपवर्त्तना या अपकर्षण है।

अशुभ कर्म का बन्ध करने के पश्चात् जीव यदि किसी शुभ अध्यवसाय, सद्गुरु या सद्धर्म से, सत्संग से या सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से प्रेरित होकर सत्कार्य करता है, तो उसके पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग-फलदान शक्ति घट जाती है, तब उसे अपवर्त्तनाकरण कहा जाता है। दिगम्बर धर्मग्रन्थों के अनुसार-राजा श्रेणिक ने एक जैन मुनि के गले में धर्म-सम्प्रदाय द्वेषवश मरा हुआ साँप डाल दिया। इस दुष्कर्म बन्ध के निमित्त से उसने सप्तम नरक का आयुष्य बाँध लिया था। किन्तु बाद में भूतपूर्व बौद्ध-अनुयायी राजा श्रेणिक को अपने उक्त कार्य पर पश्चात्ताप हुआ। उसने भगवान् महावीर के समवसरण में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया, तब शुभ

परिणामों के प्रभाव से उसकी सप्तम नरक की आयु घटकर पहले नरक की रह गई थी।[१] यह अपवर्तनाकरण का ही कार्य है।[२]

अपकर्षण और उत्कर्षण का कार्य

जितने काल तक उदित रहने की या फल-प्रदान करते रहने की शक्ति को लेकर कर्म बंध को प्राप्त होता है, वह उसकी स्थिति कहलाती है। इसी प्रकार तीव्र या मन्द जैसा कुछ भी फल प्रदान करने की शक्ति को लेकर बन्ध को प्राप्त हुआ है, वह उसका अनुभाग कहलाता है। अपने कृतकर्म की स्वीकृति से तथा तद्विषयक आत्म-निन्दा, गर्हा, पश्चात्ताप आदि से बद्ध कर्म-संस्कारों की पूर्वोक्त शक्ति घटाई जा सकती है। अतः शुभ अध्यवसाय-विशेष के द्वारा पूर्वबद्ध एवं वर्तमान में सत्ता में स्थित कर्म की स्थिति और अनुभाग का घट जाना अपवर्त्तना या अपकर्षण है, इसके विपरीत इन दोनों का बढ़ जाना उत्कर्षण या उद्वर्त्तना है। स्थिति का अपकर्षण हो जाने पर सत्ता में स्थित पूर्वबद्ध कर्म अपने समय से पहले ही उदय में आकर झड़ जाते हैं, तथा स्थिति का उत्कर्षण होने पर वे कर्म अपने नियतकाल का उल्लंघन करके बहुत काल पश्चात् उदय में आते हैं। अपकर्षण तथा उत्कर्षण के द्वारा जिन-जिन और जितने कर्मों की स्थिति में अन्तर पड़ता है उन्हीं के उदयकाल में अन्तर पड़ता है। इनके अतिरिक्त जो अन्य कर्म सत्ता में पड़े हैं, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। यह अन्तर भी कोई छोटा-मोटा नहीं होता, प्रत्युत एक क्षण में करोड़ों-अरबों वर्षों की स्थिति घट-बढ़ जाती है।

जिस प्रकार स्थिति का अपकर्षण-उत्कर्षण होता है, उसी प्रकार अनुभाग का भी होता है। विशेषता केवल इतनी ही है कि स्थिति के अपकर्षण-उत्कर्षण द्वारा कर्मों के उदयकाल में अन्तर पड़ता है, जबकि अनुभाग के उत्कर्षण-अपकर्षण द्वारा उनकी फलदान-शक्ति में अन्तर पड़ता है। अपकर्षण द्वारा तीव्रतम शक्ति वाले कर्म एक क्षण में मन्दतम हो जाते हैं, जबकि उत्कर्षण द्वारा मन्दतम शक्ति वाले संस्कार (कर्म) एक क्षण में तीव्रतम हो जाते हैं।[३]

---

१. यह कथा दिगम्बर जैन ग्रन्थों में है।

२. (क) पंचम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना से भावांश ग्रहण, पृ. २५
   (ख) जैन दर्शन में आत्मविचार पृ. १९६
   (ग) जैनदर्शन (न्यायविजयजी), पृ. ४५५
   (घ) जैन दर्शन : मनन एवं मीमांसा

३. कर्म रहस्य (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १७२, १७३

अपवर्त्तनाकरण का चमत्कार : पापात्मा से पवित्रात्मा

तात्पर्य यह है कि अशुभ कर्म का बन्ध होने के पश्चात् यदि जीव अच्छे यानी शुभ कार्य करे तो पहले बंधे हुए बुरे कर्म की स्थिति एवं रस कम हो सकते हैं। इस पर से यही बोध पाठ मिलता है कि यदि किसी व्यक्ति ने अज्ञानता अथवा मोहवश बुरा आचरण करके अपना जीवन कलंकित एवं कलुषित बना लिया है, परन्तु समझ आने या ठोकर खाने के बाद यदि वह अपना आचरण सुधार कर सदाचारी और सत्कर्मकर्त्ता बनना चाहे तो उसके सच्चारित्र के पवित्र भावोल्लास के बल से उसके पहले के बुरे कर्मों की स्थिति तथा कटुता में अवश्य कमी आ सकती है। गिरा हुआ मनुष्य अवश्य ऊँचा उठ सकता है। जिन्होंने एक दिन घोर नरक में ले जाएँ, ऐसे अशुभतर कर्मदलिक का बन्ध कर लिया था, वे पापात्मा भी एक दिन पवित्रात्मा बन गए हैं और अपने दृढ़ चारित्रबल एवं आत्मबल से कर्ममुक्ति के आग्नेय पथ पर आरूढ़ हुए हैं। उनके उस रत्नत्रय के तथा तपस्या के बल के प्रभाव से घोरातिघोर पापकर्म अल्पकाल में उदय में आकर विध्वस्त हो गए और वे महानुभाव महात्मा बनकर परमात्मपद प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं। चिलातीपुत्र, अर्जुनमालाकार, दृढ़ प्रहारी आदि अनेकों महान् व्यक्ति पापात्मा से महात्मा और परमात्मा बन गए। योगशास्त्र में कहा गया है–"ब्राह्मण, स्त्री, भ्रूण (गर्भस्थ बालक) और गाय, इन सबकी हत्या करने से नरक के मेहमान बनकर जाने वाले दृढ़ प्रहारी और उसके समान अन्य महापापी भी योग (मोक्षमार्गयोजक धर्मपथ) की शरण लेकर संसार सागर को पार कर गए।"[१]

अपकर्षण या उद्वर्त्तनाकरण भी दो प्रकार का

अपवर्त्तनाकरण या अपकर्षण भी दो प्रकार का है–एक तो सर्वसाधारण जीवों के जीवन में नित्य होने वाला आंशिक अपकर्षण, अमुक आदत में सुधार, सत्संग आदि से अमुक व्यसन का त्याग करना आदि। और दूसरा है–साधकों या तपस्वियों के जीवन में होने वाला पूर्ण अपकर्षण। पहले का शास्त्रीय नाम है–**अव्याघात अपकर्षण** और दूसरे का नाम है–**व्याघात-अपकर्षण**। व्याघात अपकर्षण ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी है। इसके द्वारा साधक प्रतिक्षण हजारों, लाखों और करोड़ों वर्षों का स्थितिघात, रसघात करता हुआ थोड़े ही समय में कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है।[२]

---

१. (क) जैनदर्शन (न्यायविजय जी), पृ. ४५६
(ख) ब्रह्म-स्त्री-भ्रूण-गो-घात-पातकान्नरकातिथेः।
दृढ़प्रहारि प्रभृतेर्योगो, हस्तावलम्बनम्॥-योगशास्त्र १/१२

२. कर्मसिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) पृ. १०३

उद्वर्त्तना में अशुभ परिणामों की प्रबलता होती है

उद्वर्त्तना या उत्कर्षण का कार्य इससे विपरीत है। जैसे-किसी जीव ने पहले अल्पस्थिति के अशुभ कर्म का बन्ध किया हो, और बाद में और अधिक बुरे कार्य करे, उसके आत्म परिणाम और अधिक कलुषित बनें तो उसके उन बुरे परिणामों के आधिक्य के कारण उसके अशुभकर्मों की स्थिति एवं रस में वृद्धि हो सकती है। साथ ही अशुभ परिणामों की प्रबलता से शुभकर्मों की स्थिति एवं रस कम हो सकते है।[१]

अपवर्त्तना और उद्वर्त्तना के नियम और कार्य

इन दोनों अपवर्त्तना और उद्वर्त्तना के कारण कोई कर्म जल्दी फल दे देता है, कोई देर से। कोई कर्म मन्दफलदायी होता है, और कोई तीव्रफलदायी। उद्वर्त्तन में संक्लेश (अधिक तीव्ररस, रागद्वेष, कषाय की तीव्रता) के निमित्त से आयुकर्म के सिवाय शेष सब कर्मों-की प्रकृतियों की स्थिति का तथा समस्त पापप्रकृतियों के अनुभाग (रस) में वृद्धि होती है। दूसरी ओर विशुद्धि (शुभभावों) से पुण्यप्रकृतियों के अनुभाग (रस) में वृद्धि होती है। जबकि अपवर्त्तन में संक्लेश (कषाय) की कमी एवं विशुद्धि (शुभभावों की वृद्धि) से पूर्वबद्ध कर्मों में आयुकर्म को छोड़कर शेष सब कर्मों की स्थिति एवं पापप्रकृतियों के रस में कमी हो जाती है तथा संक्लेश (कषाय) की वृद्धि से पुण्यप्रकृतियों के रस में भी कमी होती है।[२]

(७) संक्रमण-करण : स्वरूप, प्रकार और कर्म

एक कर्मप्रकृति का अन्य सजातीय (उत्तर) कर्मप्रकृतियों में परिणत हो जाना, यानी एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जाना-**संक्रमणकरण** है। यह संक्रमण कर्म के मूल भेदों में नहीं होता है। कर्मों के जो ८ मूल भेद हैं, उनमें से एक कर्म दूसरे कर्मरूप नहीं हो सकता। अर्थात्-ज्ञानावरणीयादि आठों कर्म जिस रूप में बंधते हैं, ठीक उसी रूप में फल देते हैं। जैसे-ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान का आच्छादन करता है, किन्तु दर्शन का आच्छादन नहीं कर सकता। इसी प्रकार वेदनीयादि कर्म भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही सुख-दुःखादिरूप फल देते हैं। अतः संक्रमण का परिष्कृत स्वरूप यह है कि जिस प्रयत्न-विशेष से कर्म

१. कर्म सिद्धान्त (कन्हैयालाल लोढ़ा) से भावांशग्रहण, पृ. १७, १८
२. वही, पृ. १७

एक स्वरूप को छोड़कर दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त करना है, उस प्रयत्न-विशेष का नाम संक्रमण है।[१]

व्यावहारिक क्षेत्र में संक्रमणवत् कर्मसंक्रण

व्यावहारिक क्षेत्र में हम देखते हैं कि एक द्रव्य का उसी के सजातीय द्रव्य में रूपान्तर हो जाना द्रव्य संक्रमण है, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चले जाना क्षेत्र संक्रमण है, एक ऋतु के चले जाने से दूसरी ऋतु का आ जाना काल संक्रमण है और एक व्यक्ति के प्रति पहले घृणा थी, बाद में किसी कारणवश उसके प्रति स्नेहभाव हो गया, यह भाव संक्रमण है। इसी प्रकार कर्म जगत् में भी पूर्वबद्ध कर्मप्रकृतियों का संक्रमण या रूपान्तर वर्तमान में बंधने वाली सजातीय प्रकृतियों में होता है।[२]

चार प्रकृतियों का कर्म-संक्रमण

स्थानांगसूत्र में संक्रमण चार प्रकार का बताया है-(१) प्रकृति-संक्रमण, (२) स्थिति-संक्रमण, (३) अनुभाग-संक्रमण और (४) प्रदेश-संक्रमण।

(१) **प्रकृति-संक्रमण**-किसी कर्म की उत्तरप्रकृति का उसकी सजातीय प्रकृति में परिवर्तन होना, अर्थात्-कर्मों की सजातीय उत्तरप्रकृतियों में परिवर्तन या रूपान्तर होना प्रकृति संक्रमण है। जैसे-वेदनीय कर्म के दो भेद हैं -सातावेदनीय और असातावेदनीय। इनका परस्पर में संक्रमण (परिवर्तन) हो सकता है। सातावेदनीय असातावेदनीय रूप और असातावेदनीय सातावेदनीय रूप हो सकता है। मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण के रूप में और श्रुतज्ञानावरण मतिज्ञानावरण के रूप में, शुभनाम अशुभनाम के रूप में, और अशुभनाम शुभनाम के रूप में, उच्चगोत्र नीचगोत्र के रूप में, और नीचगोत्र उच्चगोत्र के रूप में, दानान्तराय लाभान्तराय आदि के रूप में और लाभान्तराय आदि दानान्तराय आदि के रूप में परिवर्तित=संक्रान्त होकर अपना फल दिखलाने लगता है। अर्थात् बांधते समय, मान लो, मतिज्ञानावरणीय था, वह फल देते समय श्रुतज्ञानावरण आदि का, या सातावेदनीय आदि असातावेदनीय आदि का रूप ले लेता है, और तदनुसार ही वह फल देता है।

स्थानांगसूत्र में इस सम्बन्ध में एक चौभंगी बतलाई गई है-एक कर्म शुभ होता है, और उसका विपाक भी शुभ होता है, एक कर्म शुभ होता है, किन्तु उसका विपाक अशुभ होता है, एक कर्म अशुभ होता है, किन्तु उसका विपाक शुभ होता

---

१. (क) गोम्मटसार (क.) गा. ४३८ (ख) पंचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना, पृ. २७
(ग) कर्मग्रन्थ भा. २ गा. १ की व्याख्या, (घ) मोक्ष-प्रकाश (धनमुनि), पृ.१७

२. कर्म सिद्धान्त (कन्हैयालाल लोढ़ा), पृ. १९

है। तथा एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है।[१] कर्म के बन्ध और उदय में यह जो अन्तर आता है, उसका कारण संक्रमण है, अर्थात् बध्यमान कर्म में दूसरे सजातीय कर्म के प्रदेश होने के कारण उसके विपाक (फलदान) में रूपान्तर हो जाना है।

निष्कर्ष यह है कि जिस अध्यवसाय से जीव कर्म के अवान्तर भेद का बन्ध करता है, कालान्तर में उस कर्मप्रकृति के अन्य सजातीय कर्म की तीव्रता के कारण वह पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है-परिणत या परिवर्तित कर देता है, यही संक्रमण की परिभाषा है।

यद्यपि प्रकृति संक्रमण में पहले बंधी हुई प्रकृति (कर्मस्वभाव) वर्तमान में बंधने वाली सजातीय प्रकृति के रूप में बदल जाती है, लेकिन इसमें आयुकर्म और मोहनीय कर्म अपवाद रूप हैं। चार प्रकार के आयुकर्मों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। नरक की आयु बांध लेने पर जीव को नरक में ही जाना होता है, अन्य किसी गति में नहीं जा सकता। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता, न ही चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों का दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों में संक्रमण होता है।[२]

(२) **स्थिति-संक्रमण**—कर्मों की स्थिति में परस्पर संक्रमण यानी परिवर्तन होना स्थिति-संक्रमण है। स्थिति संक्रमण तीन अवस्थाओं पर निर्भर है-(१) अपवर्त्तना पर (२) उद्वर्त्तना पर और (३) पर-प्रकृतिरूप परिणमन पर। कर्म की स्थिति का घटना अपवर्त्तना है, बढ़ना उद्वर्त्तना है और प्रकृति की स्थिति का समान जातीय अन्य प्रकृति की स्थिति में, परिवर्तन होना-प्रकृत्यन्तर-परिणमन होना-संक्रमण है। दूसरे शब्दों में उद्वर्त्तना, अपवर्त्तना क्रियाओं द्वारा कर्मों की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों में स्थिति-सम्बन्धी परिवर्तन-स्थिति की न्यूनाधिकता होना स्थिति संक्रमण है।

(३) **अनुभाग-संक्रमण**—अनुभाग (रस) में परिवर्तन होना- परिणामों में परिवर्तन होना अनुभाग-संक्रमण है, अर्थात् कर्मों की फल देने की तीव्र-मन्द शक्ति में परिवर्तन होना अनुभाग-संक्रमण है। स्थिति संक्रमण के समान अनुभाग संक्रमण भी तीन प्रकार का है- अपवर्त्तना, उद्वर्त्तना एवं पर-प्रकृतिरूप परिणमन।

(४) **प्रदेश-संक्रमण**—आत्मप्रदेशों के साथ बंधे हुए कर्म पुद्गलों का अन्य प्रकृति (स्वभाव) का हो जाना प्रदेश संक्रमण है। अर्थात् प्रदेशाग्र का अन्य प्रकृति

---

१. स्थानांगसूत्र ४/४/३१२

२. (क) स्थानांग. ४/३/२९६ (ख) मोक्ष प्रकाश, पृ. १८,
(ग) जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. ३२१

को ले जाया जाना प्रदेश-संक्रमण है। प्रदेश संक्रमण पाँच प्रकार का है-(१) उद्वेलन, (२) विध्यात, (३) अधः प्रवृत्त, (४) गुण संक्रमण और (५) सर्व संक्रमण।

इसका सामान्य नियम यह है कि जिस प्रकृति का जहाँ तक बन्ध होता है, उस प्रकृति का अन्य सजातीय प्रकृति का संक्रमण वहीं तक होता है। जैसे-असातावेदनीय का बन्ध छठे गुणस्थान तक होता है, अतः सातावेदनीय का असातावेदनीय के रूप में संक्रमण भी छठे गुणस्थान तक तथा असातावेदनीय का सातावेदनीय के रूप में संक्रमण तेरहवें गुणस्थान तक होता है।

वस्तुतः संक्रमण के इन चारों प्रकारों का सम्बन्ध संक्लिश्यमान एवं विशुद्ध्यमान अर्थात् पाप और पुण्य प्रवृत्तियों से है। जैसे-जैसे वर्तमान के अध्यवसायों में विशुद्धि आती जाती है, वैसे-वैसे पूर्वबद्ध पाप प्रवृत्तियों (प्रकृतियों) का रस (अनुभाग) एवं स्थिति स्वतः घटते जाते हैं, इसके बदले पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग एवं स्थिति स्वतः बढ़ते जाते हैं। इसके विपरीत जैसे-जैसे परिणामों में कलुषितता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे स्थिति बढ़ती जाती है, तथा पापप्रकृतियों का अनुभाग पहले से अधिक बढ़ता जाता है। पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग घटता जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण जो सात कर्म नियमतः बंधते जाते हैं, उनमें भी पूर्वबद्ध सजातीय कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग बन्ध में निरन्तर घटा-बढ़ी चलती रहती है। एक क्षण भी पूर्वबद्ध कर्मों की यह घटा-बढ़ी रुकती नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व-उपार्जित कर्मों में सदैव सतत् परिवर्तन चलता रहता है, कोई भी कर्म एक क्षण भी ज्यों का त्यों नहीं रह पाता। संक्रमण की यह प्रक्रिया अपने ही शुभाशुभ परिणामों के अनुसार कार्य-कारण भाव के नियम को लेकर चलती है, किसी भी ईश्वर, देवी-देव या शक्ति की कृपा-अकृपा से नहीं। संक्रमण-प्रकृतियों का बहुत ही विस्तृत वर्णन पंचसंग्रह, कर्म प्रकृति, जयधवला टीका आदि ग्रन्थों में मिलता है। संक्रमण की प्रक्रिया मनोविज्ञानानुसार मानसिक ग्रन्थियों से छुटकारा पाने का मानवजाति के लिए अतीव उपयोगी, सरलतम एवं महत्वपूर्ण उपाय है।[१]

वनस्पति विज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में भी संक्रमण प्रयोग

जिस प्रकार आज वनस्पति-विज्ञान विशेषज्ञ खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। निम्न जाति के बीजों को उन्नत

१. (क) मोक्ष प्रकाश (धनमुनि) से भावग्रहण, पृ. १८
(ख) कर्म सिद्धान्त (कन्हैया लाल जी लोढ़ा), पृ. २१, २२

जाति के बीजों में रूपान्तरित कर देते हैं, जिसे वे संकर-प्रक्रिया कहते हैं। संकर गेहूँ, संकर मक्का आदि इसी संक्रमण प्रक्रिया के रूप हैं। इसी प्रकार पूर्व में बँधी हुई कर्म प्रकृतियाँ वर्तमान में बँधने वाली सजातीय कर्म प्रकृतियों के रूप में संक्रमित या परिवर्तित हो जाती हैं। जिस प्रकार चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में विकृत हृदय के स्थान पर स्वस्थ हृदय का, विकृत नेत्र के स्थान पर स्वस्थ लेंस का प्रत्यारोपण कर दिया जाता है, और उससे व्यक्ति रोग के कष्ट से बच जाता है तथा स्वस्थ अंग की शक्ति की प्राप्ति से लाभान्वित हो जाता है। इसी प्रकार संक्रमण प्रक्रिया से पूर्व बद्ध अपनी अशुभ कर्म प्रकृति को अपनी सजातीय शुभकर्म-प्रकृति में परिवर्तित करके उसके दुःखद फल से बचा जा सकता है, और आत्मशक्ति और मनःशुद्धि में वृद्धि होने से आत्मगुण विकास भी किया जा सकता है।

कर्म विज्ञानवत् मनोविज्ञान भी सजातीय प्रकृतियों में संक्रमण मानता है

जिस प्रकार कर्मविज्ञान में संक्रमण केवल सजातीय प्रकृतियों में सम्भव है, उसी प्रकार मनोविज्ञान में भी रूपान्तरण केवल सजातीय प्रकृतियों मनोवृत्तियों में ही सम्भव माना गया है। दोनों ही विजातीय प्रकृतियों के साथ संक्रमण या रूपान्तरण नहीं मानते हैं।

उदात्तीकरण की प्रक्रिया और संक्रमण प्रक्रिया

कर्म सिद्धान्तानुसार पाप प्रकृतियों से छुटकारा पाने के लिए पुण्य प्रवृत्तियाँ अपनाई जा सकती हैं, इसी सिद्धान्त का अनुसरण मनोविज्ञानवेत्ता भी कर रहे हैं। आधुनिक मनोविज्ञान शास्त्र में उदात्तीकरण की प्रक्रिया पर विशेष जोर दिया जा रहा है। वर्तमान में उदात्तीकरण की प्रक्रिया का प्रयोग उद्दण्ड, शरारती, अनुशासनहीन, तथा तोड़-फोड़ करने व दंगा करने वाले अपराधी मनोवृत्ति के छात्रों एवं व्यक्तियों पर किया जा रहा है। अपनी रुचि के अनुरूप किसी रचनात्मक कार्य में लगाया जाता है। कई जेलों में अपराधियों को सुधारने और सामाजिक बनाने के लिए तथा उनकी अपराधी मनोवृत्ति का समाजोपयोगी कार्यों में मोड़ने का प्रयोग किया जा रहा है। कई युवकों की कुत्सित वासना की प्रवृत्ति को मोड़ कर चित्रकला, काव्यकला, समाज सेवा, बाल-सेवा, प्रभु भक्ति आदि में लगाई जा रही है।[१]

रूपान्तरण भी संक्रमणवत् दो प्रकार का

कर्मविज्ञान में प्ररूपित इस संक्रमणकरण को वर्तमान मनेविज्ञान की भाषा में मार्गान्तरीकरण या रूपान्तरण कहा जा सकता है। यह मार्गान्तरीकरण दो प्रकार का

---

१. कर्म सिद्धान्त (कन्हैयालाल लोढ़ा), पृ. २२ से २४ तक

है-अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति में, तथा शुभ (उदात्त) प्रकृति का अशुभ (कुत्सित) प्रकृति में। उदात्त प्रकृत्ति का कुत्सित प्रकृति में रूपान्तरण अनिष्टकारी है, जबकि कुत्सित प्रकृति का उदात्त प्रकृति में रूपान्तरण हितकारी है।

संक्रमण प्रयोग से विकार का संस्कार में परिवर्तन

कर्मविज्ञान के अनुसार पहले बंधी हुई (अभ्यस्त) प्रकृतियों (स्वभावों या आदतों) को, वर्तमान में बध्यमान (बंधने वाली) प्रकृतियों (आदतों या स्वभावों) में संक्रमण किया जा सकता है। नवीन बनने वाली आदत के अनुसार पुरानी उस आदत में परिवर्तन भी संक्रमण का एक रूप है। जैसे-किसी व्यक्ति की प्रवृत्ति-प्रकृति झूठ बोलने की थी। परन्तु वर्तमान में सत्संग से, स्वाध्याय आदि के कारण वह सत्य बोलता है। इससे पुरानी आदत नयी सत्य बोलने की आदत में बदल गई। इसी प्रकार कोई पहले सत्य बोलता था, परन्तु अब बात-बात में उसकी झूठ बोलने की आदत पड़ गई, इससे पुरानी आदत लुप्त होकर नई असत्य बोलने की आदत में बदल गई है। कामुकता को वत्सलता में, क्रोध को क्षमा में, अहंकार को नम्रता में, माया को सरलता में, लोभ को सन्तोष और शान्ति में, हिंसा को दया में, स्वार्थ को परमार्थ एवं परोपकार में, क्रूरता को करुणा में, तथैव अज्ञान को ज्ञान में परस्पर वर्तमान सजातीय प्रकृति के अनुरूप संक्रमित या परिवर्तित किया जा सकता है।

मार्गान्तरीकरण भी संक्रमण के तुल्य है : कुछ उपयोगी तथ्य

कुत्सित प्रकृतियों या प्रवृत्तियों को उदात्त प्रकृतियों या प्रवृत्तियों में संक्रमण या मार्गान्तरीकरण करने के लिए कुछ उपयोगी तथ्य उसके हृदय में ठसा देने आवश्यक हैं। कुछ महत्वपूर्ण तथ्य ये हैं-(१) भोगों में सुख क्षणिक, पराधीन, परिणाम में दुःखद, नीरस एवं अशान्तिजनक हैं, अतः क्षणिक सुखभोग का त्याग करके अपनी प्रवृत्ति आत्मसंयम में लगाना, स्व-सुखसामग्री या स्वसुख को दूसरों की निःस्वार्थ सेवा, परोपकार एवं वात्सल्य बढ़ाने में लगाना चाहिए। (२) दैनिक जीवन की घटनाओं तथा जगत् की वर्तमान भौतिक प्रवृत्तियों से होने वाले दुःखद परिणामों और उनके बदले सेवा, मानवता, परोपकार, अहिंसा, दया आदि से होने वाली सुखशान्ति एवं सन्तुष्टि की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाए। (३) स्वार्थ-साधन में दुःख, अशान्ति वैर विरोध, संघर्ष है। परमार्थ या परार्थ-साधन में सुख, शान्ति, सन्तोष, मैत्री एवं वात्सल्य आदि गुणों की वृद्धि है।[१]

---

१. कर्म सिद्धान्त (कन्हैयालाल लोढ़ा) से भावांशग्रहण, पृ. २४ से २८ तक

संक्रमणकरण का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए आशास्पद और प्रेरक

संक्रमण का यह सिद्धान्त स्पष्टतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए आशास्पद एवं पुरुषार्थ प्रेरक है कि व्यक्ति पहले चाहे जितने दुष्कृतों (पापों) से घिरा हो, परन्तु वर्तमान में वह सत्कर्म कर रहा है, सद्भावना और सद्वृत्ति से युक्त है तो वह कर्मों के दुःखद फल से छुटकारा पा सकता है और उत्कृष्ट रसायन आने पर कर्मों से सदा-सदा के लिए छुटकारा पा सकता है। जैसे-तुलसीदास जी एक दिन कामुक वृत्ति के थे, अपनी पत्नी के पीहर चले जाने से, वे व्याकुल होकर वहाँ पहुँच गये, किन्तु वहाँ उनकी पत्नी की एक फटकार-(जेती प्रीत हराम में, तेती हर में होय। चला जाए बैकुण्ठ में, पल्ला न पकड़े को।।) से उनका जीवन बदल गया। वे कामुक तुलसीदास से गोस्वामी तुलीसदास बन गए। रामचरित मानस के निर्माण में अपनी वृत्ति, प्रवृत्ति और शक्ति लगा दी। वाल्मीकि, अर्जुन-माली, अंगुलिमाल, कपिल विप्र आदि के जीवन का रूपान्तर भी इसी संक्रमण के सिद्धान्त पर हुआ है। परन्तु इसके विपरीत अगर किसी व्यक्ति ने पहले अच्छे कर्म बांधे हो, किन्तु वर्तमान में वह दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाकर बुरे (पाप) कर्म बांध रहा है तो पहले के पुण्य कर्म भी पापकर्म में बदल जाएँगे। फिर उनका कोई भी अच्छा व सुखद फल नहीं मिल सकेगा। अतः संक्रमणकरण द्वारा मनुष्य अपने जीवन का सदुपयोग या दुष्प्रयोग कर अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में या सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदल सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपना भाग्य विधाता स्वयं ही है, भाग्य को बदलने में वह पूर्ण स्वाधीन है।[१]

कर्मविज्ञान के नियमानुसार उद्वर्त्तना, अपवर्त्तना, उदीरणा और संक्रमण ये चारों ही करण या क्रियाएँ अनुदित (उदय में नहीं आए हुए) कर्म पुद्गलों में ही होते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट (उदयावस्था को प्राप्त) कर्म पुद्गलों में किसी प्रकार के परिवर्तन या संक्रमणादि नहीं हो सकते।[२]

(८) उपशमना (उपशम) करण : स्वरूप और कार्य

कर्मों की उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना, इन चारों ही क्रियाओं को अयोग्य कर देने को उपशम अवस्था कहते हैं। दूसरे शब्दों मे, कर्मों की सर्वथा अनुदय अवस्था को उपशप कहते हैं। इस अवस्था में प्रदेशोदय और विपाकोदय, इन दोनों प्रकार का उदय नहीं रहता। उपशम केवल मोहनीय कर्म का होता है, दूसरों का नहीं। उपशम अवस्था में उदित कर्म को उपशान्त कर दिया-भस्माच्छन्न

---

१. कर्मसिद्धान्त (कन्हैयालाल लोढ़ा) से, भावांश ग्रहण, पृ. २८, २९

२. मोक्ष प्रकाश, पृ. १८

अग्नि की तरह दबा दिया जाता है। इसलिए धवला में इसका लक्षण दिया गया है- कर्मों की उदय-उदीरणा को रोक देना-दबा देना उपशमन है। बद्ध कर्मों के विद्यमान (सत्ता में) रहते हुए भी उन्हें उदय में आने के लिए अक्षम बना देना उपशम है। अर्थात् बद्धकर्म की वह अवस्था, जिसमें उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना सम्भव न हो, किन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन और संक्रमण की सम्भावना हो, वह उपशमन है। जिस प्रकार अंगारे को राख से इस प्रकार आच्छादित कर देना, जिससे वह अपना काम न कर सके, वैसे ही उपशमन क्रिया से बद्धकर्म को इस प्रकार दबा देना, जिससे वह अपना फल न दे सके। किन्तु जैसे राख का आवरण हटते ही, अंगारे जलाने का काम करने लगते हैं, वैसे ही उपशमभाव के दूर होते ही, उपशान्तकर्म पुनः उदय में आकर अपना फल देना शुरू कर देते हैं। अतः उपशम का फलितार्थ है-कुछ देर के लिए पूर्व-बद्ध कर्म का शान्त होकर बैठ जाना। जैसे- मलिन जल को कुछ देर निश्चल रखने पर उसका मैल बर्तन की तली में नीचे शान्त होकर बैठ जाता है, और उसके ऊपर वाला जल सर्वथा निर्मल शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार कुछ काल पर्यन्त निश्चलरूप से दृढ़भाव से समता, शमता आदि की साधना करने पर कर्ममल कुछ देर के लिए अन्तस्तल में (अवचेतन मन में) शान्त होकर बैठ जाता है, अर्थात्-निश्चल होकर फलदान से विरत हो जाता है। जितने काल तक वह इस प्रकार सुषुप्त अवस्था में नीचे अन्तस्तल में बैठा रहता है, उतने काल तक जीव के परिणाम पूर्णतः शुद्ध तथा निर्मल हो जाते हैं। किन्तु जिस प्रकार बर्तन के हिल जाने पर नीचे जम कर बैठा हुआ मैल ऊपर आ जाता है और जल को पुनः मलिन कर देता है, उसी प्रकार उक्त कर्मों का मूर्च्छाकाल बीत जाने पर वह, कर्म पुनः सचेष्ट हो जाता है और जीव के परिणामों पर अपना प्रभाव डालने लगता है। फलतः जीव के परिणाम पुनः पूर्ववत् मलिन होने लगते हैं।[१]

उपशमनकरण का भी बहुत बड़ा महत्व : क्यों और कैसे ?

उपशमन का भी जीव को बन्ध से मुक्ति की ओर ले जाने में बहुत बड़ा हाथ है। क्योंकि जितनी देर तक कर्ममल उपशम-अवस्था में शान्त रहा-दबा रहा, या उदय

---

१. (क) मोक्ष प्रकाश, पृ. १८,
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ , प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री)
(ग) अनुयोग द्वार पृ. १२६
(घ) धर्म और दर्शन (आचार्य देवेन्द्र मुनि), पृ. ९७,९८
(ङ) धवला पु. सं.४ भा. १० पृ. ६४५
(च) कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १०७, १०८

से विरत रहा, उतनी देर तक आत्मा के परिणाम शत-प्रतिशत निर्मल तथा शुद्ध रहे। इतने काल तक उसमें न तो कोई रागादि का विकल्प उठा, और न ही कोई कषाय। वह उतनी देर तक पूर्णतया समता अथवा शमता से युक्त रहा। यह थोड़ा-सा काल बीत जाने पर भले ही कर्म उदय में आ जाए, और उसके प्रभाव से जीव में पुनः विकल्प एवं कषाय जागृत हो जाए; किन्तु उपशम काल में तो वह उतनी देर तक पूर्णतया निर्विकल्प तथा वीतराग रहा ही है। यद्यपि यह काल अतीव अल्प होता है, फिर भी मुमुक्षु साधक के जीवन में, बन्ध से मुक्ति की ओर दौड़ लगाने में इसका महत्व बहुत अधिक है। बन्ध से मुक्ति की यात्रा में उपशम का पड़ाव वीतरागता और निर्विकल्पता की झाँकी दिखने वाला पड़ाव है।[१]

(९) निधत्तिकरण : स्वरूप और कार्य

बन्ध की नौवीं अवस्था निधत्ति है। कर्मबन्ध की वह अवस्था, जिसमें कर्म अग्नि में तपाई हुई सूइयों की तरह इतना दृढ़तर बंध जाए-इतने गाढ़ रूप से मिल जाए कि उसमें स्थिति और रस में तो परिवर्तन तथा घट-बढ़ सम्भव हो, लेकिन उसमें संक्रमण, उदीरणा एवं आमूलचूल परिवर्तन सम्भव न हो, उसे निधत्तिकरण या निधत्तकरण कहते हैं। अर्थात् निधत्त अवस्था वह है, जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन के सिवाय शेष करणों के लिए कर्म को अयोग्य कर दिया जाए। आशय यह है कि निधत्त अवस्था में कर्म अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित नहीं हो सकते हैं और अपना फल उसी रूप में देते हैं। किन्तु इसमें बद्ध कर्मों की काल-मर्यादा (स्थिति) और रस (विपाक) की तीव्रता को न्यूनाधिक किया जा सकता है। निधत्त भी चार-प्रकार का है-(१) प्रकृतिनिधत्त, (२) स्थिति-निधत्त, (३) अनुभाग निधत्त और (४) प्रदेश निधत्त।[२]

बद्धकर्म की निधत्त अवस्था किसी प्रकृति, वृत्ति--प्रवृत्ति या क्रिया में बार-बार अधिक रस लेने, उक्त वृत्ति-प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति करने से होती है। जिस प्रकार किसी पौधे को बार-बार उखाड़ा जाए या हानि पहुँचाई जाए तो वह सूख-सा जाता है, उसकी फलदान शक्ति नष्ट हो जाती है या किसी बीज को उगाने के लिए जमीन में दबा कर उसे बार-बार निकाला जाए, देखा जाए, बार-बार छेड़ा जाए तो उस बीज की उत्पादन शक्ति नष्ट हो जाती है, वह धरती में रख देने पर सूख जाता है, सड़ जाता है, सत्वहीन हो जाता है। उसमें उगने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अथवा किसी को शराब पीने की आदत इतनी बद्धमूल हो जाए कि बार-बार सौगन्ध लेने

१. कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) पृ. १०८
२. स्थानांग ४/२९६

पर भी वह छूट नहीं पाती। भले ही मात्रा में कुछ कमीबेशी हो जाए। इसी प्रकार विषय लोलुपतावश कोई बार-बार मिथ्या आहार-विहार करे,[१] अतिकामुक बनकर अहर्निश कामवासना में डूबा रहे, जिससे उसके शरीर में भगन्दर, क्षय, केंसर, एड्स आदि दु:साध्य रोग पैदा हो जाएँ, जिन्दगी भर उसी रोग से वह घिरा रहे, भले ही उसमें उतार-चढ़ाव आ जाए। इसी प्रकार जिस वृत्ति-प्रवृत्ति या क्रिया में मन वचन कायरूप योग की प्रवृत्ति इतनी अधिक डूबी रहे, पुनरावृत्ति अधिकाधिक हो, साथ ही उसमें राग, द्वेष, क्रोधादि कषाय रस की अधिकता हो तो कर्म की ऐसी अवस्था का बन्ध हो जाता है, जिसमें कुछ घट-बढ़ तो हो सके; लेकिन उसका रूपान्तरण तथा अन्य प्रकृतिरूप में परिवर्तन बिलकुल न हो सके, उसके फल को भोगना ही पड़े, वह निधत्त अवस्था है। यह कर्मबन्ध की ऐसी कठोर अवस्था है, जो उदीरणा और संक्रमण आदि करणों की पहुँच से बाहर है। इस अवस्था में सिर्फ उद्वर्त्तन और अपवर्त्तन हो सकते हैं।[२]

(१०) निकाचनाकरण (निकाचित अवस्था) स्वरूप और कार्य

कर्मबन्ध की यह दसवीं अवस्था है। इस अवस्था में कर्म इतने दृढ़तर रूप में बद्ध रहते हैं कि उनमें किंचित् भी रद्दोबदल नहीं हो सकता। अर्थात्-जीव ने जिस रूप में, जिस तीव्रतम रस से कर्म बांधा है, प्राय: उसी रूप में भोगना पड़े। उस रूप में उस बद्धकर्म का फल भोगे बिना निर्जरा हो ही नहीं सकती; ऐसी अवस्था निकाचितकरण की है। ऐसी अवस्था जिसमें जीव को समस्त करणों के अयोग्य कर दिया जाए, वह निकाचनावस्था है। निकाचन अवस्था में उद्वर्त्तना, अपवर्त्तना, उदीरणा और संक्रमण तो हो ही नहीं सकते। निकाचनावस्था में कर्मों का बन्ध इतना प्रगाढ़ होता है, कि उनकी कालमर्यादा और तीव्रता (रस मात्रा) में कोई भी परिवर्तन या समय से पूर्व उनका फलभोग नहीं किया जा सकता । इस अवस्था में जीव कर्मों से इतना गाढ़तर रूप में जकड़ जाता है, कि वह कितना ही जोर लगाए, प्राय: उसी रूप में उनका फल भोगे बिना, उन बद्ध कर्मों को पृथक् नहीं कर सकता। इसमें इच्छा स्वातंत्र्य का सर्वथा अभाव रहता है। कर्म की यह दशा निधत्तिकरण से भी अधिक प्रबल होती है। कर्म के गाढ़तर बंध की स्थिति किसी प्रवृत्ति में अत्यधिक गृद्धि आसक्ति, प्रगाढ़ मूर्च्छा और प्रबल लालसा के कारण होती है। जैसे-किसी डायबिटीज, कैंसर, टी०वी० आदि के रोगी द्वारा बार-बार कुपथ्य करने पर, मिथ्या

---

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना, पृ. २७, (ख) धर्म और दर्शन पृ. ९८
(ग) कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी), पृ.१३, १४

२. कर्म सिद्धान्त (कन्हैयालाल लोढ़ा) से भावग्रहण, पृ. १३, १४

आहार-विहार, अत्यधिक सुखशीलता, कामुकता आदि के कारण परहेज बिगड़ जाने से ऐसी स्थिति में पहुँच जाए कि यह रोग असाध्य हो जाए, ज्यों-ज्यों दवा ली जाए, त्यों-त्यों अधिक बढ़ता जाए, उसमें कमी न आए, रोग अन्तिम स्टेज में पहुँच जाए, तब उस रोग का कष्ट भोगे बिना प्राणान्त तक कोई छुटकारा ही नहीं होता। वैसे ही जो कर्म इतना गाढ़रूप से बंध जाए कि किसी भी उपाय से उसके दुष्फल से बचना कठिन हो जाए, उसके भोगे बिना कोई चारा न हो,[१] वह निकाचित अवस्था है। प्रवृत्ति में अत्यधिक गृद्धि ही इसका मूल कारण है। कर्मबन्ध की यह निकाचनावस्था अत्यन्त कठोरतम एवं घातक अवस्था है। इससे बचना तभी सम्भव है, जब किसी प्रवृत्ति में न अत्यन्त राग (आसक्ति, मूर्च्छा) की जाए और न अत्यन्त द्वेष (ईर्ष्या, मात्सर्य, घृणा, वैरविरोध) किया जाए। समय पकने पर जब निकाचित कर्म उदय में आता है, तब उसे प्रायः अवश्य ही भोगना पड़ता है। निकाचनावस्था चार प्रकार की है-(१) प्रकृति निकाचित, (२) स्थिति-निकाचित, (३) अनुभाग-निकाचित और (४)प्रदेश-निकाचित।

कर्मबन्ध की निधत्त और निकाचित ये दोनों अवस्थाएं असाध्य रोग के समान हैं। उनमें भी निकाचित तो निधत्त से भी अधिक दुःखद, अप्रतीकारक और प्रबलतर है। मुमुक्षु आत्मार्थी साधक को इनसे बचना ही श्रेयस्कर है। पूर्वोक्त १० अवस्थाओं में उदय और सत्ता को छोड़कर शेष ८ करण होते हैं। करण का अर्थ-प्रयत्न विशेष है।[२]

कर्म बलवान है या आत्मा?

निधत्त और निकाचित अवस्थाओं को देखते हुए ऐसा लगता है कि आत्मा से कर्म अधिक बलवान् है, जो मनुष्य जैसे बुद्धिमान् प्राणी को नहीं छोड़ता, बांध लेता है। यहाँ प्रश्न होता है कि क्या कर्म बलवान् है, जो आत्मा पर हावी हो जाता है और इसे प्रगाढ़रूप से जकड़ लेता है? जिस प्रकार कर्म को महाशक्तिरूप माना जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी अनन्तशक्तिमान् है। फिर क्या कारण है कि कर्म आत्मा की शक्ति को दबा देता है? कर्म की कैद में बंद हो जाने पर आत्मा का वश क्यों नहीं चलता?

यद्यपि इस विषय में हमने कर्मविज्ञान के तृतीय खण्ड (प्रथम भाग) में **'कर्म का परतंत्रीकारक स्वरूप'** तथा **'क्या कर्म महाशक्ति रूप है?'** इन दो निबन्धों

१. (क) कर्मसिद्धान्त (कन्हैया लाल जी लोढ़ा), पृ. १४, १५,
(ख) धर्म और दर्शन, पृ. ९८
(ग) जैनदर्शन (न्यायविजयजी) पृ. ४५९, (घ) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. ४४०

२. (क) जैनदर्शन (न्याय विजयजी) से पृ. ४५, (ख) स्थानांग सूत्र ४/४९६
(ग) कर्म प्रकृति गा. २

द्वारा इस विषय में विस्तार से चर्चा की है और कर्मशक्ति से आत्मशक्ति को बलवत्तर सिद्ध किया गया है, फिर भी प्रस्तुत प्रसंग पर निकाचित और निधत्त कर्म के प्रसंग में थोड़ा-सा पुनः इस तथ्य पर प्रकाश डालना आवश्यक है। बद्धकर्म के दो रूप आचार्यों ने बताए हैं–**निकाचित और दलिक।** निकाचित वह है, जिसका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता। और दलिक वह है- जिसका विपाक अन्यथा भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में इन्हें क्रमशः निरुपक्रम और सोपक्रम भी कहा गया है। निरुपक्रम का अर्थ है- जिसका कोई भी प्रतीकार न हो सके तथा जिसका उदय (फलदान) अन्यथा न हो सके। और सोपक्रम वह है- जो उपचारसाध्य हो। निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा तो जीव बिलकुल कर्माधीन ही होता है, किन्तु दलिक की अपेक्षा दोनों बातें हैं–(१) जहाँ जीव धृति-शरीर-मनोबल की सहायता से सम्यक् दिशा में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार (पौरुष-पुरुषार्थ) और पराक्रम करता है, वहाँ कर्म उसके अधीन हो जाता है, और (२) जहाँ जीव उसे सम्यक् रूप से परिवर्तन करने के लिए कोई उत्थानादि सत्पुरुषार्थ नहीं करता, वहाँ वह स्वयं कर्म के अधीन हो जाता है।

यह सत्य है कि आत्मा अनन्तशक्तिमान् है, परन्तु जब तक आत्मा स्वयं जागृत होकर अपना भान नहीं करता, अपने को कायर समझ कर कर्म के आगे घुटने टेक देता है, तब कर्म उस पर हावी हो जाता है। पूर्वोक्त ८ करणों के स्वरूप और कार्य को देखते हुए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यदि कर्म के उदय में आने से पूर्व वह सावधान एवं जागृत हो जाए तो कर्म को अशुभ से शुभ में बदल सकता है, उसकी स्थिति और अनुभाग को घटा सकता है, उदीरणा करके उदयकाल से पूर्व कर्म को उदय में लाकर उसे तोड़ सकता है, उसके उदय को उपशान्त करके समता और शमता का विकासानुभव कर सकता है, क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय करने के साथ ही शेष घातिकर्मों का भी सर्वथा क्षय कर सकता और परमात्मा केवली वीतराग बन सकता है। परन्तु यह सब न होता तो पूर्वबद्ध कर्मों को संयम और तप से क्षय करना कर्म की फलशक्ति और स्थिति को शीघ्र तोड़ने का उपक्रम क्यों किया जाता है। अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है बंध से मुक्ति की यात्रा में मुमुक्षु यात्री अप्रमत्त और सावधान होकर आगे बढ़े तो निःसंदेह कर्मों की शक्ति को परास्त करके विजयी बन सकता है।[१] ■■

---

१. (क) देखें-कर्मविज्ञान भा-१, खण्ड ३ में "कर्म का परतंत्रीकारक" तथा "क्या कर्म महाशक्तिरूप है?" लेख
(ख) देखें-जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. ३२१, ३२२

७

बद्ध जीवों के विविध अवस्था-सूचक स्थानत्रय

अनन्तानन्त जीवों की कर्मसम्बन्धित विविध अवस्थाएँ

इस संसार के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें ऐसा लगता है, संसार एक विशाल अजायबघर हो। एक-एक जीव की लाखों-लाखों किस्म की अवस्थाएँ। वे सारी अवस्थाएँ पूर्वबद्ध कर्मबन्ध के कारण होती हैं। उन सब अनन्त-अनन्त अवस्थाओं का एक साथ वर्णन करना सामान्य छद्मस्थ मनुष्य के लिए तो क्या, केवलज्ञानी भगवन्तों और सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरों तक के लिए अशक्य है। अतः कर्मविज्ञानमर्मज्ञ ज्ञानी पुरुषों ने उन सभी अवस्थाओं को तीन भागों में विभिन्न मार्गणाओं द्वारा प्ररूपित करके यह बतला दिया है कि अमुक जीव किस अवस्था का है, किस गुणस्थान, गति, जाति आदि का है? उसकी वह अवस्था स्वाभाविक है अथवा वैभाविक, औपाधिक या कर्मकृत है? तथा उसकी कौन-कौन सी अवस्थाएँ स्वाभाविक होने से उपादेय एवं स्थायी हैं, तथा कौन-कौन सी अवस्थाएँ कितनें अंशों में अस्थायी, अल्पस्थायी, अधिक स्थायी हैं तथा हेय, उपादेय या कथंचित् हेय-लक्ष्यी उपादेय हैं? साथ ही उन कर्मविज्ञान-विशेषज्ञों ने यह भी बतलाया है कि आत्मा का स्वभाव प्रायः ऊर्ध्वगमन, ऊर्ध्वारोहण या विकास करने का है। अतएव वह अपने स्वभावानुसार कब, किस प्रकार, किन-किन साधनों से औपाधिक या वैभाविक अवस्थाओं का त्याग करके अपनी स्वाभाविक आत्मशक्ति द्वारा स्वाभाविक अवस्थाओं को उपलब्ध करता है? इसके अतिरिक्त यह भी प्ररूपित किया गया है कि इन सब अवस्थाओं में जीव की कैसी-कैसी स्थितियाँ

बनती हैं तथा विकास-स्वभावी होने से वह किस-किस प्रकार का पुरुषार्थ करके अपने लक्ष्य में सफल होता है?[१]

बाह्य-आभ्यन्तर अवस्थाओं का तीन स्थानों में वर्गीकरण

इस प्रकार संसारी जीव अनन्त हैं। वे सभी स्व-स्व-कर्मानुसार विविध प्रकार के शरीरों, इन्द्रियों, योग, उपयोग, ज्ञान, बुद्धि, लेश्या आदि के धारक हैं। उन जीवों की शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक क्षमता एवं योग्यता की दृष्टि से विविधताएँ भी अनन्त हैं। उनकी एक-एक जीव-विशेष की दृष्टि से भी एक दूसरे से परस्पर तुलना नहीं की जा सकती और न ही एकरूपता या समानता का अवबोध या अनुमान किया जा सकता है। फिर भी उन सभी स्थितियों को दृष्टिगत रखकर कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने उन अनन्त जीवों को बाह्य-शारीरिक तथा आन्तरिक-आध्यात्मिक भावों के विकास-ह्रास के अनुरूप सामान्यतया तीन मुख्य स्थानों में वर्गीकृत किया है-(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान और (३) गुणस्थान। इन तीन मुख्य विषयों द्वारा संसारी जीवों की बाह्य एवं आन्तरिक सभी स्थितियों का स्पष्ट बोध हो जाता है।[२]

सर्वप्रथम जीवस्थान का ही निर्देश क्यों ?

प्रश्न होता है-सांसारिक जीवों की अनन्त-अनन्त विभिन्नताओं, विशेषताओं, विषमताओं और विचित्रताओं के सूचक पूर्वोक्त तीन स्थानों में सर्वप्रथम जीवस्थान का निरूपण क्यों किया गया है ? इसका समाधान कर्म-विज्ञान-मर्मज्ञों ने इस प्रकार दिया है-

संसार की व्यवस्था में जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्त्व हैं। इन दोनों के संयोग और वियोग का नाम ही संसार और मोक्ष है। जीव में भी परिणमन होता है और अजीव में भी। किन्तु दोनों की परिणमन क्रिया में अजीव पुरुषार्थ नहीं करता, जबकि जीव की परिणमन क्रिया में उसका उपयोग और पुरुषार्थ मुख्य है। जीव की क्रिया आन्तरिक और बाह्य, स्वाभाविक और वैभाविक, तथा साहजिक और संयोगज दोनों प्रकार की होती है। जब जीव की क्रिया स्वाभाविक और साहजिक होती है, तब यह स्वरूप-स्थिति को उपलब्ध करने में अग्रसर होता है, और जब वह वैभाविक और परभाविक स्थिति में अपना अस्तित्त्व सुदृढ़ मानकर या बनाये रखकर पर-पदार्थों या विभावों को अपने मान लेता है, तब इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगों में द्वेष, अरुचि, आदि होते हैं, तथा इष्टसंयोग और अनिष्टवियोग के समय में रागभाव,

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना (मरुधरकेसरी जी) से भावांशग्रहण, पृ. ३७
२. कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन गा. १ (मरुधरकेसरीजी) से पृ. ३

आसक्ति, तृष्णा आदि होना निश्चित है। रागद्वेष ही कर्म के बीज (मूल) हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। जन्म-मरण का मूल अगर कोई है तो कर्म ही है और कहने दीजिए, जन्म-मरणरूप संसार ही दुःखरूप है।[१]

कर्म करने वाला जीव स्वयं ही है, उसका आंशिक क्षय, आगमन-निरोध या उसका फलभोग करके सर्वथा क्षय करने वाला भी जीव ही है बांधने वाला भी वही हैं। अतः संसार और मोक्ष दोनों जीव के अपने हाथ में हैं। इन दोनों स्थितियों में जीव तत्त्व मुख्य है। इसलिए संसार की विविध अवस्थाएँ और मोक्ष की स्थिति जीव-तत्त्व के होने पर ही सिद्ध होती हैं। यदि जीव न हो तो किसको होगा-संसार-बन्धन और किसका होगा-कर्मबन्धन से मुक्तिरूप मोक्ष? जीव (आत्मा) अनन्त आत्मिक गुणों का अधिकारी, अमूर्त्त, सत्तावान् पदार्थ है। जीव (आत्मा) न तो पृथ्वी आदि पंचभूतों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाला कोई भौतिक संयोगी पदार्थ है और न तज्जीव-तच्छरीर रूप है। संसारी अवस्था में अपनी योग्यता के अनुरूप प्राप्त शरीर में रहते हुए भी अपनी स्वाभाविक-वैभाविक परिणतियों का कर्त्ता-भोक्ता होकर भी जीव (आत्मा) निश्चयदृष्टि से केवल उनका ज्ञाता-द्रष्टा है।

इन सब कारणों से जीवस्थान का सर्वप्रथम निर्देश किया गया है। जैसे-मूल के अभाव में वृक्ष के अस्तित्व की संभावना ही नहीं होती और न ही उसकी शाखा प्रशाखाओं की कल्पना या विवेचना की जा सकती है। इसी प्रकार जीव की विद्यमानता के बिना उसकी गति, इन्द्रिय आदि की मार्गणा का अस्तित्व संभव नहीं है। जीव हो तभी तो उसके विषय में मार्गणा की जा सकती है। मकान हो तभी उस पर रंग-रोगन या पेंटिंग किया जा सकता है, वैसे ही जीव हो तभी उसकी विभिन्न अवस्थाएँ, विशेषताएँ या विभिन्नताएँ निरूपित की जा सकती हैं। इसीलिए जीव आधार है, मार्गणा आधेय है। आधार के बिना आधेय का टिकना, सम्भव ही नहीं। इसी कारण मार्गणास्थान से पहले जीवस्थान का निर्देश किया गया है।[२]

समस्त संसारी जीवों के त्रिविध मुख्य रूप

संसारी जीवों के तीन रूप हैं-पहला रूप जीवस्थान है, दूसरा रूप है-मार्गणास्थान और तीसरा रूप है-गुणस्थान। अर्थात् संसारी जीवों की तीन

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ४
(ख) रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयंति॥
-उत्तराध्ययन सूत्र ३२ अ. गा.७

२. कर्मग्रन्थ गा. ४, गा. १ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ५

स्वाभाविक-वैभाविक (दूसरे शब्दों में प्राकृतिक-विकृतिक) अवस्थाएँ हैं, वे ही उनके तीन रूप हैं। पहला रूप है-बाह्य शरीर, दूसरा रूप है-शरीर और आत्मा के विकास का मिश्रित रूप और तीसरा रूप है-अन्तरंग भाव विशुद्धि की न्यूनाधिकता। संसारी जीव इन तीनों ही स्थान वाले हैं।[१]

जीवस्थान के अनन्तर मार्गणास्थान क्यों ?

जीवस्थान के अनन्तर मार्गणास्थान का निर्देश इसलिए किया गया है कि जीवों के व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक रूप की विभिन्नताओं का ज्ञान या बोध किसी न किसी गति, इन्द्रिय, काय आदि विविध पर्यायों की अन्वेषणा-गवेषणा (मार्गणा) के द्वारा ही किया जा सकता है। इस जन्म-मरणादिरूप संसारचक्र में विद्यमान अनन्त-अनन्त जीवों की न तो एक ही गति है, न ही एक जाति है और न ही एक प्रकार की काया है। सभी में विभिन्न प्रकार की विविधताएँ हैं। कोई मनुष्यगति में जी रहा है, तो कोई तिर्यञ्चगति में पशु-पक्षी या एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की योनियों में उत्पन्न है, कोई देवगति में विद्यमान है तो कोई नरकगति में जी रहा है। इसी प्रकार कोई जीव एकेन्द्रिय है, तो कोई द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय कहला रहा है। पंचेन्द्रिय में भी देव, नारक, मनुष्य या तिर्यञ्च के विभिन्न शरीर हैं। उनमें भी कोई औदारिक शरीर को, कोई वैक्रिय शरीर को धारण किये हुए हैं। तैजस और कार्मण शरीर तो समस्त संसारी जीवों के होते हैं। इन और इस प्रकार की विविध अनेकताएँ जीवों में दिखलाई देती हैं। संसारी जीवों में इन सब दृश्यमान विविधताओं, विचित्रताओं तथा विषमताओं आदि का कारण तो कर्म ही है। कर्माधीन होने के कारण ही संसार के अनन्त-अनन्त जीव विभिन्न प्रकार की गति, इन्द्रिय, शरीर योग आदि की न्यूनाधिकता एवं विसदृशता वाले हैं। इतना ही नहीं, उनके वैभाविक और स्वाभाविक गुणों की न्यूनाधिकता का कारण भी कर्मसंयोग तथा कर्मवियोग से सम्बन्धित है।[२]

मार्गणास्थान की विशेषता

यही कारण है कि मार्गणा कर्मबन्ध से तथा कर्मक्षय से सम्बन्धित होने के कारण मार्गणास्थान में संसारी जीवों की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओं का वर्गीकरण किया जाता है। मार्गणाएँ जीवों के विकास की सूचक नहीं हैं, अपितु जीवों के स्वाभविक-वैभाविक रूपों का विविध प्रकार से वर्गीकरण करके उनका

१. कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना पृ. ४
२. पंचसंग्रह भा. १ प्रस्तावना, पृ. १५

व्यवस्थित रूप प्रदर्शित करती हैं; जिससे कि उनकी शारीरिक-मानसिक क्षमता और क्षमता के कारण होने वाले आध्यात्मिक विकास-ह्रास की तरतमता का सही आकलन हो सके। निष्कर्ष यह है कि मार्गणास्थान के माध्यम से जीवों के उन विविध रूपों का बोध कराया जाता है। मार्गणास्थान के माध्यम से किया जाने वाला वर्गीकरण इतना क्रमबद्ध, व्यवस्थित और सयुक्तिक तथा मनोविज्ञान-सम्मत होता है कि उनमें दृश्यमान शरीर, इन्द्रिय आदि की स्थिति के साथ-साथ उनकी आध्यात्मिक या आभ्यन्तरिक स्थिति की तरतमता का भी बोध सहज हो जाता है।[१]

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के द्वारा होने वाला बोध

निष्कर्ष यह है कि जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये स्थानत्रय सांसारिक जीवों की कर्मजन्य विविध अवस्थाएँ हैं। जीवस्थान के निरूपण से यह बोध हो जाता है कि अनन्त जीवों को १४ प्रमुख वर्गों में वर्गीकृत करके उनकी शारीरिक रचना के विकास एवं इन्द्रियों की न्यूनाधिक संख्या के कारण कैसी-कैसी दशा होती है? जीवस्थान में जाति सापेक्षता एवं कर्मकृत अवस्थाओं के होने से वे सब अन्त में हेय हैं। मार्गणास्थान के द्वारा जीव की स्वाभाविक-वैभाविक अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। मार्गणास्थान के बोध से यह ज्ञात हो जाता है कि सभी मार्गणाएँ जीव की स्वाभाविक अवस्थारूप नहीं हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र और अनाहारकत्व के सिवाय शेष समस्त मार्गणाएँ न्यूनाधिक रूप में अस्वाभाविक होने से हेय हैं। अतएव आत्मा के शुद्ध स्वरूप की पूर्णता के इच्छुक जीवों के लिए तो अन्त में वे हेय ही हैं। गुणस्थान के परिज्ञान से आत्मा के उत्तरोत्तर विकास का बोध होता है, क्योंकि गुणस्थान आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने वाले जीवों की उत्तरोत्तर विकास-सूचक भूमिकाएँ हैं। पंचविध भावों की जानकारी होने से यह निश्चय हो जाता है कि पारिणामिक और क्षायिक भाव को छोड़कर अन्य सब भाव, चाहे वे उत्क्रान्ति के सोपान पर आरोहण करते समय उपादेय क्यों न हो, अन्त में हेय ही हैं। इस प्रकार जीव के स्वाभाविक-अस्वाभाविक रूप का विवेक करने के लिये जीवस्थान आदि तीन स्थानों की विचारणा आध्यात्मिक विकास के लिए बहुत उपयोगी है।[२]

यद्यपि ये तीनों स्थान जीव की विविध अवस्थाएँ हैं, तथापि इनमें यह अन्तर है कि जीवस्थान जाति-नामकर्म, पर्याप्त नामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म के औदयिक भाव

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ४ (मरुधरकेसरीजी)
२. कर्मग्रन्थ भा. ४ (पं. सुखलालजी) प्रस्तावना, पृ. ८, ९

हैं। मार्गणास्थान नामकर्म, मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय आदि भावरूप तथा पारिणामिक भावरूप है और गुणस्थान सिर्फ मोहनीय कर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावाभावरूप हैं।

अध्यात्मविद्या में जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान का स्थान

आध्यात्मिक विद्या के अन्य ग्रन्थों में जहाँ सिर्फ आत्मा के शुद्ध, अशुद्ध और मिश्रित स्वरूप का वर्णन किया गया है, वहाँ कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, गोम्मटसार आदि कर्मविज्ञान विषयक ग्रन्थों में व्यवहारपरायण अध्यात्मजिज्ञासु जनों के लिए आत्मा के बाह्य (शारीरिक, मानसिक) एवं आन्तरिक –आत्मिक अत्यन्त उपादेय एवं परमार्थस्वरूपग्राही दृष्टि खोलने वाला वर्णन है। आशय यह है कि अध्यात्मविद्या के प्रत्येक अभ्यासी की यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आत्मा अपना विकास किस-किस क्रम से और किस-किस प्रकार से करता है? तथा विकास के समय उसे कैसी-कैसी अवस्थाओं का अनुभव होता है? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए जीवस्थान और मार्गणास्थान की अपेक्षा गुणस्थान का विश्लेषण अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी होता है।[१]

जीवों के बाह्याभ्यन्तर जीवन की विभिन्नताएँ १४ भागों में

संसार में जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव का बाह्य-आभ्यन्तर जीवन भी पृथक्-पृथक् रूप का होता है। शरीर का आकार-प्रकार, रंग-रूप, डील-डौल, रचना, विचारशक्ति, मनोबल इत्यादि विभिन्न बाह्य विषयों में एक जीव की, इतना ही नहीं, एक ही जाति के जीव की दूसरे जीव से, या अपनी ही जाति के जीव से भिन्न होती है, न्यूनाधिक विकासरूप होती है; न्यूनाधिक अवस्थासूचक होती है। और ये सब विभिन्नताएँ कर्मोपाधिक होती हैं। अर्थात् यह कर्मजन्य विभिन्नताएँ औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक तथा सहज पारिणामिक भाव को लेकर होती हैं। इन अनन्त भिन्नताओं को कर्म-विज्ञानमर्मज्ञ ज्ञानी महापुरुषों ने १४ विभागों में वर्गीकृत किया है। मार्गणा की दृष्टि से इन्हीं १४ विभागों के जो कि जीवों के बाह्य-आभ्यन्तर जीवन से सम्बन्धित हैं, ६२ अवान्तर भेद होते हैं, जिन्हें मार्गणास्थान के माध्यम से निरूपित किया जाता है।

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना (पं. सुखलालजी) पृ. ९

गाढ़तम मोहावस्था से पूर्ण मोक्षावस्था तक का विकास क्रम

जीव की मोह और अज्ञान की प्रगाढ़तम अवस्था को कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने निम्नतम अवस्था कही है, और मोहरहित समग्र ज्ञानावस्था को जीव की उच्चतम आध्यात्मिक विकासावस्था=मोक्षावस्था कही है। जीव अपने पुरुषार्थ से अपनी निम्नतम अवस्था से शनैः शनैः मोहावरणों को दूर करता हुआ आगे बढ़ता जाता है और आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि का विकास करता जाता है, तथा इस दौरान विकासमार्ग में गति-प्रगति करता हुआ जीव अनेक अवस्थाओं से गुजरता है, इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं के सूचक गुणस्थान हैं। अर्थात् इन्हीं अध्यात्म विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान सूचित करता है। इन्हीं क्रमिक असंख्यात अवस्थाओं को कर्म वैज्ञानिक ज्ञानियों ने १४ भागों में विभक्त किया है। जिन्हें कर्मशास्त्रीय भाषा में गुणस्थान कहा जाता है।[१]

मार्गणास्थान के पश्चात गुणस्थान का निर्देश इसलिये भी

मार्गणास्थान के अनन्तर गुणस्थान का निर्देश इसलिये भी किया गया है कि जीव (आत्मा) ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि अनन्त आत्मिक गुणों का पुंज है। वे अनन्त गुण मुक्त (सिद्ध) अवस्था में पूर्णतया विकसित हो जाते हैं किन्तु उससे पूर्व संसारावस्था में विद्यमान जीवों में, चाहे वे किसी भी गति, जाति आदि पर्यायों वाले हों, कर्मावरण के कारण गुणों की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिकता दृष्टिगोचर होती है। गुणों की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिकता से जनित आत्मा की स्थिति और कर्मावरण के क्षय से क्रमशः विकासोन्मुखी स्वभाव आदि का वर्गीकरण गुणस्थान क्रम द्वारा किया जाना सम्भव है।

यद्यपि मार्गणास्थान द्वारा भी जीवों का वर्गीकरण किया जाता है, किन्तु मार्गणास्थान द्वारा किया जाने वाला वर्गीकरण जीवों की शरीर, इन्द्रिय, काय, योग आदि बाह्य आकार-प्रकारों के साथ-साथ उनके ज्ञान, दर्शन, आदि गुणों की अपेक्षाओं को लिये हुए भी होता है, जबकि गुणस्थानों द्वारा किये हुए वर्गीकरण में जीवों की शारीरिक आदि बाह्य अवस्थाओं की विवक्षा न होकर सिर्फ जीव (आत्मा) के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि स्वाभाविक गुणों तथा तत्सम्बन्धित कषाय आदि वैभाविक गुणों की ही मुख्यता रहती है।

मार्गणास्थान द्वारा किया जाने वाला विचार कर्मों की अवस्थाओं के तारतम्य भाव का सूचक नहीं है; किन्तु मार्गणाओं द्वारा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक

१. कर्मग्रन्थ भा. ४ (मरुधरकेसरीजी) से भावांश ग्रहण, पृ. ५

विभिन्नताओं से युक्त जीवों का विचार जरूर किया जाता है। जबकि गुणस्थान कर्मपटलों के तरतम भावों और कषायों तथा योगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति के अवबोधक हैं।[१]

मार्गणास्थान और गुणस्थान के कार्य में अन्तर

आशय यह है कि मार्गणाएँ जीवों के आध्यात्मिक विकासक्रम को प्रतिपादित नहीं करतीं, किन्तु उनके स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का विविध प्रकार से विश्लेषण करती हैं। जबकि गुणस्थान जीव के आध्यात्मिक विकासक्रम को बताते हैं और उक्त विकास की क्रमिक अवस्थाओं का वर्गीकरण करते हैं, साथ ही मोहनीय कर्म की मुख्यता से जनित कर्मों की गाढ़ता, शिथिलता एवं क्षीणता के क्रम को भी सूचित करते हैं। मार्गणाएँ सहभावी हैं, जबकि गुणस्थान क्रमभावी हैं। अर्थात्-एक ही जीव में १४ मार्गणाएं हो सकती हैं, जबकि गुणस्थान एक जीव में एक ही हो सकता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थानों को पार करके उत्तरोत्तर आगे के गुणस्थान प्राप्त किये जा सकते हैं और आध्यात्मिक विकास में उत्तरोत्तर वृद्धि की जा सकती है, जबकि पूर्व-पूर्व मार्गणाओं को छोड़कर उत्तरोत्तर आगे की मार्गणाएँ प्राप्त नहीं की जा सकतीं, और न ही मार्गणाओं से आध्यात्मिक विकास की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जैसे कि किसी जीव में गुणस्थान तो सिर्फ १३वाँ ही एकमात्र होता है, लेकिन केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले तेरहवें गुणस्थानवर्ती साधक में कषायमार्गणा के सिवाय सभी मार्गणाएँ होती हैं। तथा अन्तिम अवस्था प्राप्त साधक में तो तीन-चार मार्गणाओं को छोड़कर सभी मार्गणाएँ होती हैं तथा चौदहवें-गुणस्थान के अन्त में तो सिर्फ चौदहवाँ गुणस्थान होता है, मार्गणा एक भी नहीं होती।[२] इस प्रकार मार्गणास्थान और गुणस्थान के कार्यों में अन्तर है।[३]

इसी दृष्टि से जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान ये तीन मुख्य विभाग क्रमशः किये गए हैं। तथा इनमें से प्रत्येक में क्रमशः आठ या दस अथवा चौदह छह और दस विषयों की प्ररूपणा की गई है। प्रसंगवश भाव और संख्या का भी प्ररूपण किया गया है।[३]

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ५
२. कर्मग्रन्थ भा. ३ (प्रस्तावना), पृ. २, ३
३. कर्मग्रन्थ भा. ४ प्राक्कथन, पृ. ३५

गुणस्थान में आत्मा की शुद्धि-अशुद्धि के उत्कर्ष-अपकर्ष की सूचक अवस्थाएँ

आशय यह है कि आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप तो सच्चिदानन्दमय है, किन्तु जब तक मोहकर्म की दर्शन और चारित्र, ये दोनों शक्तियाँ प्रबल रहती हैं, तब तक कर्मों का आवरण सघन होता है। उस स्थिति में आत्मा का यथार्थ रूप अभिव्यक्त नहीं हो पाता है, किन्तु आवरणों के निर्जीर्ण, क्षीण या क्षय हो जाने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रगट होता है। तात्पर्य यह है कि कर्मावरण की जब अत्यन्त सघनता या तीव्रता होती है, तब आत्मा के आविकास की अन्तिम या अधस्तम अवस्था रहती है; और जैसे-जैसे आवरण क्रमशः क्षीण होता-होता पूर्णतया नष्ट हो जाता है, तब आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है। इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं के मध्य में आत्मा विविध प्रकार की उच्च-नीच, सघन-विरल अवस्थाओं का अनुभव करती है। ये मध्यवर्तिनी अवस्थाएँ अपेक्षा से उच्च और नीच कहलाती हैं। यानी ऊपर वाली स्थिति की अपेक्षा नीची और नीची वाली अवस्था की दृष्टि से ऊँची कहलाती हैं। इन उच्च और नीच अवस्थाओं के बनने और कहलाने का प्रमुख कारण कर्मों की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक स्थितियाँ हैं।[१]

आत्मा की इन सब अवस्थाओं का सूचक गुणस्थान है। इसलिए मार्गणास्थान के पश्चात् गुणस्थान की प्ररूपणा की गई है।

दूसरी दृष्टि से देखें तो गुण कहते हैं-आत्मा (जीव) के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि स्वभाव को और उनके स्थान, यानी गुणों की शुद्धि-अशुद्धि के उत्कर्ष एवं अपकर्षकृत स्वरूप-विशेष के भेद को गुणस्थान कहते हैं। और आत्मिक गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के कारण हैं-आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा। कर्मों का आस्रव और बन्ध होने पर आत्मगुणों में अशुद्धि का उत्कर्ष होता जाता है, जबकि संवर और निर्जरा होने पर कर्मों का आस्रव और बन्ध क्रमशः रुकने व क्षय होने से गुणों में शुद्धि का उत्कर्ष और अशुद्धि का अपकर्ष होता जाता है। फलतः जीवों के परिणामों=अध्यवसायों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्धि बढ़ती जाती है। आत्मिक गुणों का विकास भी होता जाता है। आत्मगुणों के विकास-क्रम तथा उससे होने वाली जीव की भूमिकाओं=अवस्थाओं के सूचक या निर्देशक को गुणस्थान कहते हैं। इसी कारण मार्गणास्थान के पश्चात् गुणस्थान की प्ररूपणा की गई है।[२]

---

१. कर्मग्रन्थ, भा. ४ विवेचन (मरुधर केसरीजी) पृ. १२

२. वही भा. ४ प्रस्तावना से, पृ. ३५

संसारी-जीवों के मुख्य तीन रूप : तीन स्थान

वस्तुतः संसारी जीवों के मुख्यतया तीन रूप हैं–पहला बाह्य शरीर तथा उससे सम्बन्धित रूप, दूसरा बाह्य और आन्तरिक (आध्यात्मिक) दोनों का मिश्रित रूप तथा तीसरा है–आन्तरिक भाव विशुद्धि की न्यूनाधिकता का रूप। इन तीनों रूपों की विविध अवस्थाओं को प्रदर्शित करने हेतु कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने क्रमशः जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान की प्ररूपणा की है। संसारी जीव इन तीनों ही स्थानों वाले हैं। अतएव इनका परस्पर एक दूसरे से गाढ़-सम्बन्ध है। इसलिए जीवस्थानवर्ती १४ प्रकार के जीवों में शरीर, गति, इन्द्रिय आदि कौन-कौन से हैं? इस जिज्ञासा के साथ-साथ इनमें गुणस्थान कितने हैं? तथा गुणस्थानों में जीवस्थानवर्ती कौन-कौन से जीव हैं? इन जिज्ञासाओं की पूर्ति इन तीनों स्थानों के माध्यम से की जाती है।

यही कारण है कि जीवस्थान के बाद मार्गणास्थान और उसके साथ ही गुणस्थान की प्ररूपणा करके संसारस्थ अनन्त जीवों की बाह्य और आन्तरिक तथा स्वाभाविक और वैभाविक सभी अवस्थाओं को सूचित किया गया है; ताकि जिज्ञासु और मुमुक्षु जीव कर्मबन्ध से लेकर कर्ममुक्ति की तमाम अवस्थाओं पर विचार करके पूर्ण आत्मविकास की ओर क्रमशः अपना कदम दृढ़तापूर्वक उठा सकें।

■■

८

चौदह जीवस्थानों में संसारी जीवों का वर्गीकरण

जीवों की अनन्त विभिन्नताओं का चौदह भागों में वर्गीकरण

संसारी जीव अनन्त हैं; और उनको विभिन्न रूपों में विभक्त करने वाले कर्म हैं। संसारी जीवों के साथ कर्म प्रवाहरूप से अनादिकाल से लगे हुए हैं। जब तक कर्म हैं, तब तक एक गति से दूसरी गति में, एक योनि से दूसरी योनि में परिभ्रमण करना पड़ता है। फिर उस-उस गति और योनि में तदनुरूप तथा अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर, इन्द्रियाँ, वेद आदि मिलते हैं। साथ ही उनके पूर्वकर्मानुसार तथा वर्तमान में प्रत्येक मानसिक वाचिक कायिक प्रवृत्ति के साथ राग, द्वेष, मोह या कषाय के अनुरूप कर्मबन्ध होता रहता है। यही कारण है कि संसारी जीवों में शरीर, ज्ञान, उपयोग, कषाय, वेद, योग आदि में असंख्य विभिन्नताएँ हैं। कर्मावरण के कारण उनके ज्ञान, दर्शन, सुख और आत्मशक्ति आदि आत्मिक गुणों में तरतमता है। उनकी शारीरिक-मानसिक क्षमता एवं योग्यता के कारण आत्मस्वरूप की स्थिति को प्राप्त करने की उनकी क्षमता और योग्यता में अन्तर पड़ता है। प्रत्येक जीव का बाह्य और आभ्यन्तर जीवन भी पृथक्-पृथक् होता है। शरीर का आकार, डील-डौल, चेष्टा, इन्द्रियाँ, रंग-रूप, विचारशक्ति , मनोबल, कायबल आदि विषयों में एक जीव दूसरे जीव से भिन्न है। यह भेद कर्मजन्य औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि भावों के कारण तथा सहज पारिणामिक भाव को लेकर होता है। कर्मावरण के कारण उनके ज्ञान, दर्शन, सुख और आत्मशक्ति में तरतमता होनी स्वाभाविक है। इसी कारण प्रत्येक जीव की शारीरिक और आत्मिक यानी, बाह्य और आन्तरिक क्षमता की दृष्टि से उनमें अनन्त विभिन्नताएँ-विषमताएँ हैं। एक ही

मनुष्य जाति को ले लीजिए। उनमें भी एक से दूसरे की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षमता में एकरूपता और समानता नहीं मिलेगी। अपितु अनेकविध विभिन्नता ही दृष्टिगोचर होगी। कर्मावरण की तरतमता के कारण उनमें आत्मिक गुणों के विकास और अभिव्यक्तिकरण में भी अवश्यमेव तरतमता दृष्टिगोचर होगी। जैसे–कोई मूर्ख है तो कोई बुद्धिमान् है। किसी में ज्ञान का विकास अधिक है तो किसी में अत्यल्प है। कोई शरीर से सशक्त एवं बलिष्ठ है तो कोई बिलकुल अशक्त एवं दुर्बल है। इन्हीं विविध स्थितियों को लेकर उनमें न्यूनाधिकता का व्यवहार होता है। विकास की न्यूनाधिकता का मूल कारण परिणाम यानी उनके भाव हैं। औदयिक आदि पांच प्रकार के भावों द्वारा जीवों के विकास की अल्पाधिकता का बोध हो जाता है। इसलिए जीवस्थान के माध्यम से उन अनन्त-अनन्त जीवों का १४ भागों में वर्गीकरण करके उनमें गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, बन्धहेतु, अल्पबहुत्व, भाव और संख्या की प्ररूपणा की गई है।[१]

जीवस्थान में जीव से सम्बन्धित कुछ प्रश्न और उत्तर

पूर्वोक्त सभी अवस्थाएँ जीवों की होती हैं, इसलिए अनन्त जीवों को चौदह भागों में वर्गीकृत करके सर्वप्रथम जीवस्थान की प्ररूपणा की गई है। जीवस्थान के माध्यम से जीवों के बाह्य-आभ्यन्तर विकास-ह्रास के निरूपण का विचार आया तो 'पंचसंग्रह' में सर्वप्रथम जीव के वस्तुस्वरूप को जानने की दृष्टि से छः आवश्यक प्रश्न उठाये गए हैं–(१) जीव क्या है? (२) किसका प्रभु-स्वामी है? (३) (जीव को) किसने बनाया है? (४) जीव कहाँ रहता है? (५) वह कितने काल तक रहने वाला है? (६) जीव कितने भावों से युक्त होते हैं?

(१) **जीव क्या है ?** इसका समाधान पंचसंग्रह में बताया गया है। जीव क्या है? इस प्रश्न का समाधान वहाँ दिया गया है–जीव का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न को उठाने का कारण यह है कि स्वरूप बोध होने के पश्चात् ही उस वस्तु का विशेष विचार या उसकी विशेषता का–असाधारणता का विचार किया जाना सम्भव है। अतः जीव एक द्रव्य होने के कारण प्रत्येक द्रव्य का लक्षण है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हो, वह द्रव्य है। परन्तु यह लक्षण तो अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है। अतः जीव की–सांसारिक जीव की विशेषता को व्यक्त करने के लिए कहा गया–जीव औपशमिक, औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक एवं पारिणामिक भावों से युक्त द्रव्य है। यहाँ एक प्रश्न और उठाया गया है कि औदयिक भाव निगोद से

१. कर्मग्रन्थ भा.३ प्रस्तावना (मरुधरकेसरीजी), पृ. ४

लेकर सभी संसारी जीवों के होता है, जबकि औपशमिक भाव तो कतिपय जीवों को ही होता है, ऐसी स्थिति में औदयिक भाव को छोड़कर सर्वप्रथम औपशमिक भाव को क्यों ग्रहण किया गया? इसका समाधान यह है कि औदयिक और पारिणामिक भाव तो जीव के सिवाय अजीव द्रव्य में भी पाये जाते हैं तथा क्षायिक भाव औपशमिक भावपूर्वक ही होता है। कोई भी जीव उपशम भाव को प्राप्त किये बिना क्षायिक भाव को प्राप्त नहीं करता और क्षायोपशमिक भाव भी औपशमिक भाव से भिन्न नहीं है। इसलिए जीव के असाधारण स्वरूप को बताने और अन्य से व्यावृत्ति करने हेतु सर्वप्रथम औपशमिक भाव को ग्रहण किया गया है। राजवार्तिक में बताया गया है कि पर्यायार्थिकनय से जीव औपशमिकादि भावरूप है और निश्चयनय से जीव अपने अनादि पारिणामिक भावों से ही स्वरूपलाभ करता है।[१]

(२) जीव किस का प्रभु है? : समाधान यह है कि जीव (निश्चयनय से) अपने स्वरूप का प्रभु-स्वामी है। संसार में, लौकिक व्यवहार में जो स्वामि-सेवकभाव दृष्टिगोचर होता है, वह कर्मोपाधिक है-कर्मजन्य है, वास्तविक नहीं और न ही परमात्मा और संसारी जीवात्मा में कोई स्वामि-सेवक भाव है। भजनों में भक्ति भाववश जो 'हूँ सेवक तूं धणी" कहा जाता है, वह भी औपचारिक है। जैसे-कर्मों से मुक्त हुए जीवों (आत्माओं) में कोई स्वामि-सेवक भाव नहीं है वैसे ही कर्मयुक्त संसारी जीवों में भी आध्यात्मिक दृष्टि से स्वामि-सेवक भाव नहीं है। सभी जीव अपने-अपने स्वरूप के स्वामी हैं। जीव स्वतंत्र है, कर्म भी स्वतंत्र है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के संसारी जीव और मुक्त जीवों में स्वरूप की दृष्टि से समानता है। इसीलिए स्थानांगसूत्र में कहा गया है- एगे आया (स्वरूपापेक्षा सभी आत्माएँ एक (समान) हैं।)

(३) जीव को किसने बनाया है? इस प्रश्न का उत्तर है-न केणइ कयं (जीव को किसी ने नहीं बनाया है) किन्तु आकाश की तरह अकृत्रिम है। कई लोग कहते हैं-ईश्वर ने जीव को बनाया है, परन्तु यह कथन भी सिद्ध नहीं होता; इसकी चर्चा हम कर्मविज्ञान में कर चुके हैं। यह सार्वभौम नियम है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है,

---

१. (क) औपशमिकादि-भाव-पर्यायो जीवः पर्यायादेशात् पारिणामिक भाव-साधनो निश्चयतः। औपशमिकादिभावसाधश्च व्यवहारतः।
-तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/७/३८/३८

(ख) अन्यासाधारणा भावाः पंचौपशमिकादयः।
स्वतत्त्वं यस्य तत्त्वस्य जीवः स व्यपदिश्यते॥ -तत्त्वार्थसार

उसका विनाश सुनिश्चित है। इसलिए जीव (आत्मा) को यदि उत्पन्न हुआ (बनाया) माना जाए तो उसका भी नाश होना चाहिए। परन्तु आत्मा त्रिकालस्थायी, अविनाशी और शाश्वत है; इसीलिए वह अकृत्रिम है।

(४) **जीव कहाँ रहते हैं?** इस प्रश्न के उत्तर में कहा-'सरीरे लोए व हुंति', अर्थात् जीव अपने-अपने सरीर में अथवा लोक में रहते हैं। इस उत्तर में सामान्य और विशेष, दोनों अपेक्षाओं से जीव के अवस्थान का विचार किया गया है। सामान्यापेक्षया विचार करते हुए बताया कि जीव लोक में रहते हैं; अलोक में नहीं, चाहे वे बन्धक हों या अबन्धक, संसारस्थ हों या मुक्त हों। अलोक में तथा-स्वभाव के कारण धर्मास्तिकाय आदि तथा जीवों और पुद्गलों का अभाव है। विशेषापेक्षया विचार करने पर जीव अपने-अपने यथायोग्य प्राप्त औदारिक आदि शरीर में रहता है, अपने शरीर से बाहर नहीं, क्योंकि शरीर के परमाणुओं के साथ आत्मप्रदेशों का नीर-क्षीरवत् अन्योन्यागमरूप परस्पर एकाकार सम्बन्ध है। कारण यह है कि जैसे पानी और दूध एकाकार रूप में रहे हुए हैं, वैसे ही जीव (आत्मा) और शरीर दोनों एक-दूसरे के साथ घुले-मिले एकाकार-से रहे हुए हैं। उनमें यह जीव है, यह शरीर है, ऐसा पृथक्करण नहीं हो पाता।

(५) जीव कितने कालपर्यन्त जीवरूप में रहेगा, उसका नाश कब होगा?-यह पांचवाँ प्रश्न है। इसका उत्तर है-'सव्वकालं तु।' अर्थात्-जीव सदैव जीव रूप में रहेगा, उसका कदापि नाश नहीं होगा। जीव अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा।

(६) जीव औपशमिक आदि कितने भावों से युक्त होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि कितने ही जीव पाँच भावों से, कितने ही चार भावों से और कितने ही तीन भावों से और कई दो भावों से युक्त होते हैं। इसका स्पष्टीकरण तथा पृथक्-पृथक् विश्लेषण पिछले प्रकरण में किया गया है।[१]

---

१. (क) देखें-पंचसंग्रह भा. २ गा. २/३ का विवेचन पृ. ५

(ख) किं जीवा? उवसमाइएहिं भावेहिं संजुयं दव्वं।
कस्स सरूवस्स पहू केणंति? न केणइ कया उ ॥२॥
कत्थ? सरीरे लोए व हुंति, केवच्चिरं? सव्वकालं तु।
कइ भावजुया जीवा? दुग-तिग-चउ-पंच-मीसेहिं ॥३॥

-पंचसंग्रह भा. २ गा. २, ३

जीव का लक्षण : विभिन्न दृष्टियों से

द्रव्यसंग्रह के अनुसार जीव का लक्षण है–जो शुद्ध निश्चयनय से निश्चय प्राणों (ज्ञान, दर्शन, सुख और आत्मवीर्य) से जीता है, तथापि अशुद्ध निश्चयनय से द्रव्यप्राणों (पांच इन्द्रिय, मन-वचन-काय, उच्छ्वास, आयु इन १० प्राणों) से तथा भावप्राणों जीता है, वह जीव है। गोम्मटसार के अनुसार–(अशुद्ध निश्चयनय से) कर्मोपाधिसापेक्ष ज्ञानदर्शनोपयोगरूप चैतन्यप्राणों (जीव के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व, इन छह गुणों) से जीते हैं, वे जीव हैं।[१]

प्रवचनसार के अनुसार–'जो (निश्चयनय से) चार प्राणों से, (व्यवहारनय से दश प्राणों से) जीता है, जीयेगा और पहले भी जीता था, वह जीव है।' अथवा राजवार्तिक में जीव (संसारी जीव) का लक्षण किया है– जो दश प्राणों में से अपनी पर्याय के अनुसार यथायोग्य गृहीत प्राणों के द्वारा जीता है, जीता था और जीयेगा, इस त्रैकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते हैं।[२]

पंचास्तिकाय के अनुसार–'आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोग विशेष वाला है।' भावपाहुड में इसी का परिष्कृत लक्षण दिया गया है–जीव कर्त्ता है, भोक्ता है, अमूर्त है, शरीरप्रमाण है, अनादिनिधन है, दर्शन-ज्ञान-उपयोगमय है, ऐसा श्री जिनेश्वरदेवों द्वारा निर्दिष्ट है। (शुद्ध–कर्मादि विकाररहित) जीव का शुद्ध निश्चयनय से समयसार में लक्षण दिया गया है–"हे भव्य! तू जीव को रसरहित, गन्धरहित, अव्यक्त अर्थात्–इन्द्रियों से अगोचर, चेतनागुणरूप, शब्दरहित, किसी भी चिन्ह या अनुमानज्ञान से ग्रहण न होने वाला, और आकाररहित जान।" आचारांग सूत्र के अनुसार–वह (शुद्ध आत्मा) न शब्द रूप है, न गन्धरूप है, न रसरूप है, न स्पर्शरूप है। वह न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त (गोल) है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मंडलाकार है। वह न कृष्ण है, न नीलादि है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक

---

१. (क) शुद्धनिश्चयनयेन ..... शुद्ध चैतन्यलक्षण-निश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति तथाप्यशुद्धनयेन ..... द्रव्य-भाव-प्राणैर्जीवति जीवः।
–द्रव्यसंग्रह टीका २/८/५

(ख) कर्मोपाधि-सापेक्ष-ज्ञानदर्शनोपयोग-चैतन्यप्राणेन जीवन्तीति जीवा॥
–गोम्मटसार जीवकाण्ड (जी. प्र.)२/२१/८

२. (क) पाणेहिं चदुहिं जीवदि, जीविस्सदि, जो हि जीविदे, पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता॥ –प्रवचनसार १४७ गा.

(ख) दशसु प्राणेषु यथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवात् 'जीवति' अजीवीत 'जीविष्यति' इति वा जीवः। –राजवार्तिक १/४/७/२५

है, वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है। अरूपी सत्ता है, उसके लिए कोई उपमा नहीं है। वह अपद है, वचन-अगोचर है। कोई पदवाचक नहीं है।[१] धवला के अनुसार-'जीव कर्त्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गलरूप है, वेत्ता है, विष्णु है, स्वयम्भू है, शरीरी है, तथा मानव है, और जन्तु मानी, मायी, योगयुक्त, संकुट, असंकुट, क्षेत्रज्ञ और अन्तरात्मा है।' महापुराण में इसके १० पर्यायवाचक शब्द हैं-'जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी।'[२]

निष्कर्ष यह है-'जीता है, जीता था और जीएगा, इस प्रकार के त्रैकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते हैं।' 'जीव चेतना लक्षण है, अथवा जीव का लक्षण उपयोग है। जीव के जीवित रहने के दो आधार हैं-द्रव्यप्राण और भावप्राण। स्पर्शन, रसन आदि पांच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काय-ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य, ये दस द्रव्यप्राण कहलाते हैं और ज्ञान, दर्शन, आत्म-सुख और वीर्य (आत्मशक्ति), ये चार भावप्राण कहलाते हैं। इसलिए जीव का परिष्कृत लक्षण हुआ जो द्रव्यप्राणों और भावप्राणों से जीवित है, जीवित था और जीवित रहेगा, वह जीव है।[३]

---

१. (क) जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग-विसेसिदे..... .. । -पंचास्तिकाय गा. २७
(ख) कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिधणो य।
दंसण-णाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं॥ -भावपाहुड १४८ गा.
(ग) अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगगाहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं। -समयसार गा. ४९
(घ) से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे इच्चेव। से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरंसे न परिमंडले, न किन्हे..... ... न लुक्खे। न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिन्ने, सन्ने, उवमा न विज्जए अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि।..... .... तक्का तत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया। -आचारांग १/५/६

२. (क) जीवो कत्ता य वत्ता य, पाणी भोत्ता य पोग्गलो।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो।
सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकडो।
असंकडो य खेत्तण्णू अंतरप्पा तहेव य॥ -धवला १/११२/गा. ८१, ८२
(ख) जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा।
पुमानात्माऽन्तरात्म च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययः। -महापुराण २४/१०३

३. (क) तत्र चेतनालक्षणोजीवः। -सर्वार्थसिद्धि १/४/१४
(ख) उपयोगो लक्षणम्। -तत्वार्थ २/८
(ग) कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना (मरुधरकेसरी) पृ. ९/१०

सभी जीवों में भावप्राण : संसारी जीवों में भाव प्राणयुक्त द्रव्यप्राण

जीव अनन्त हैं और जीवत्व की अपेक्षा अनन्त संसारी और अनन्त सिद्ध जीवों का स्वरूप एक है। जीवों के मुख्य दो प्रकार हैं–संसारी और सिद्ध (मुक्त)। इन दोनों प्रकार के अनन्त जीवों में चैतन्यरूप तथा ज्ञानादिरूप चतुष्टयरूप भावप्राण तो रहते ही हैं, साथ ही संसारी जीवों में भावप्राणों के साथ-साथ यथायोग्य इन्द्रियादि द्रव्यप्राण भी होते हैं; जबकि मुक्त (अशरीरी सिद्ध) जीवों में सिर्फ ज्ञानादि भावप्राण ही होते हैं। जब तक इन्द्रियादि कर्मजन्य द्रव्यप्राण हैं, तब तक वे यथायोग्य इन्द्रिय आदि से युक्त रहते हैं। मगर कर्ममुक्त हो जाने पर सिर्फ ज्ञानादि चैतन्य परिणाम युक्त भावप्राण रहते हैं।

जीव की व्याख्या-निश्चय-नय-सापेक्ष

जीव की यह व्याख्या व्यवहार और निश्चय, दोनों नयों की अपेक्षा से की गई है। अर्थात् संसारी जीव की इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों तथा ज्ञानादि भावप्राणों से युक्त त्रिकाल जीवित रहने की व्याख्या व्यवहारनय-सापेक्ष है; जबकि मुक्त (विदेहमुक्त) जीवों की सिर्फ ज्ञानादि भावप्राणों से सहित जीवित रहने की व्याख्या निश्चय-नय-सापेक्ष है। मुक्त और संसारी दोनों ही जीव हैं, किन्तु जीवस्थान के सन्दर्भ में प्ररूपणा संसारी जीवों की की गई है।[१]

संसारी जीव : शुद्ध और अशुद्ध कैसे?

द्रव्य संग्रह के अनुसार–अशुद्ध नय की दृष्टि से समस्त संसारी जीव चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं। जबकि शुद्ध नय की दृष्टि से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं।[२]

---

१. (क) शुद्ध निश्चयनयेनादि-मध्यान्त-वर्जित-स्वपर-प्रकाशकाविनश्वर-निरुपाधि-शुद्ध-चैतन्य-लक्षण-निश्चय-प्राणेन यद्यपि जीवति, तथाऽप्यशुद्ध नयेनानादिकर्मबन्ध वशादशुद्ध-द्रव्य-भाव-प्राणैर्जीवतीति जीवः।
–द्रव्य संग्रह टीका २/७

(ख) तिक्काले चदु पाणा इंदियबलमाउ-आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥ –द्रव्यसंग्रह ३

(ग) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन, (मरुधरकेसरीजी), पृ. १०

२. मग्गण-गुणठाणेहिं च चउद्दसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा.हु सुद्धणया॥ –द्रव्यसंग्रह १३

कर्मयुक्त होने से संसारी जीवों की अपेक्षा से जीवस्थान-प्ररूपणा

मुक्त जीव कर्मरहित हैं, इसलिए उनमें किसी प्रकार का भेद, या स्वरूप की दृष्टि से अन्तर नहीं है। सभी मुक्त जीव स्व-भाव से परिपूर्ण और समान हैं। किन्तु संसारी जीव कर्मयुक्त होने के कारण उनमें गति, जाति, शरीर आदि विभिन्न अपेक्षाओं से अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ, विविधताएँ और विषमताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वे कर्मजन्य अवस्थाएँ अनन्त हैं। अतः उनका एक-एक जीव की अपेक्षा से ज्ञान करना छद्मस्थ व्यक्ति के लिए न तो सहज है, न ही सम्भव है। किन्तु ज्ञानियों ने जीवस्थान के माध्यम से उनका १४ प्रकारों में वर्गीकरण करके उनमें गति आदि की स्पष्ट प्ररूपणा की है, जिससे उनकी विविध अवस्थाओं का आसानी से बोध हो जाता है।[१]

जीवस्थान का स्वरूप

जीवस्थान कहते हैं-जीवों-अर्थात् सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, संज्ञी, असंज्ञी तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक से संसारी जीवों-के इन रूपों द्वारा होने वाले प्रकारों-भेदों को। संक्षेप में, संसारी जीवों के इन वर्गों अर्थात्-सूक्ष्म, बादर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि रूप में होने वाले प्रकारों-भेदों को जीवस्थान कहते हैं।[२]

जीवस्थान का स्वरूप

सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवन्तों ने समस्त संसारी जीवों के एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति आदि के रूप में विभागानुसार वर्गीकरण करके चौदह वर्ग बताये हैं। उनमें समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। इन्हीं चौदह वर्गों को **जीवस्थान** कहते हैं।[३]

कर्मविज्ञान के साहित्य में प्रयुक्त जीवस्थान शब्द के बदले में समवायांग आदि आगमों में '**भूतग्राम**'[४] और दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में '**जीवसमास**' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु शब्द प्रयोग में अन्तर के सिवाय इनके अर्थ और भेद प्रायः मिलते-जुलते हैं। समवायांग में 'भूतग्राम' शब्द का प्रयोग करके जीवस्थान में जिन १४ जीववर्गों का निर्देश किया है, उन्हीं का उसमें निर्देश किया गया है।

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. १०
२. (क) वही, पृ. ९
   (ख) पंचसंग्रह भा. १, विवेचन, पृ. ४४
३. पंच-संग्रह भा. १ विवेचन, पृ. ४४
४. समवायांग १४/१

जीवसमास का स्वरूप

गोम्मटस्पर (जीव काण्ड) में कहा गया है-"जिन धर्मों के द्वारा अनेक जीवों तथा उनकी अनेक जातियों का बोध होता है, उन पदार्थों का संग्रह करने वाले धर्मविशेषों को जीवसमास समझना चाहिए।" त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण, इन युगलों में अविरुद्ध नामकर्म (जैसे-सूक्ष्म से अविरुद्ध स्थावर) के उदय से युक्त जाति नामकर्म का उदय होने पर जो तद्भव-सादृश्यरूप **ऊर्ध्वता-सामान्य** जीवों में होता है, वह **जीवसमास** होता है। संक्षेप में-"जिन स्थानों में जीवों का सद्भाव पाया जाता है, उन स्थानों का नाम जीवसमास है।"[१]

चौदह जीवस्थान और सब में जीवत्व धर्म का सद्भाव

कर्मग्रन्थ के अनुसार इस लोक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी-पंचेन्द्रिय और संज्ञी-पंचेन्द्रिय ये सातों अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के होने से जीवस्थान चौदह होते हैं।[२]

प्रस्तुत गाथा में प्ररूपित ये चौदह भेद संसारी जीवों के हैं। जीवत्व-चैतन्यरूप सामान्य धर्म की समानता होने से अनन्त जीव समान हैं-एक जैसे हैं, स्वरूप से वे एक समान हैं। सभी के गुण-धर्म समान (एक सदृश) होने से उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। इसीलिए सामान्य दृष्टि से जीव का लक्षण **चैतन्य** या **जीवत्व** है, तथा चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं। यह चैतन्य और उसका उपयोगरूप परिणाम जीव को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। जो जीव की प्रवृत्ति-परिणति में सदैव अन्यत्र रूप में इसका परिणमन होता रहता है।

---

१. (क) जेहिं अणेया जीवा, णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासा त्ति विण्णेया॥ -गोम्मटसार (जी.) गा. ७०
(ख) दिगम्बर पंचसंग्रह १/३२
(ग) तस-चदु-जुगाण-मज्झे, अविरुद्धेहिं जुद-जादि-कम्मुदये।
जीवसमासा होंति हु तब्भव-सारिच्छ-सामण्णा॥ -गो. जी. ७१ गा.
(घ) कालक्रम से अनेक अवस्थाओं के होने पर भी एक ही वस्तु का जो पूर्वापर सादृश्य देखा जाता है, वह **ऊर्ध्वता-सामान्य** है। इससे विपरीत एक समय में ही अनेक वस्तुओं की जो परस्पर समानता देखी जाती है, वह **तिर्यक्-सामान्य** है।

२. इय सुहुम-बायरेगिंदिवि-ति-चउ-असन्नि-सन्नि-पंचिंदी।
अपज्जत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा॥ -कर्मग्रन्थ भा. ४, गा. २

संसारी जीवों के संक्षेप में पांच प्रकार

संसारी जीवों के संक्षेप में पांच ही प्रकार होते हैं, जिन्हें शास्त्रीय परिभाषा में 'जाति' कहा गया है। जैसे-(१) एकेन्द्रिय जाति, (२) द्वीन्द्रिय जाति, (३) त्रीन्द्रिय जाति, (४) चतुरिन्द्रिय जाति और (५) पंचेन्द्रिय जाति।

जाति का अर्थ है-सामान्य। अर्थात्-जिस शब्द के बोलने या सुनने से समस्त समान गुणधर्म वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाय। जैसे-एकेन्द्रिय कहने से पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के सभी एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय वाले जीवों का ग्रहण या ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जाति आदि के विषय में समझ लेना चाहिए। एक इन्द्रिय वाले जीव **'स्थावर'** तथा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीव 'त्रस' कहलाते हैं।

इन्द्रियाँ और उनका स्वरूप

इन्द्रिय कहते हैं-जो अपने-अपने विषय के ज्ञान और ग्रहण (सेवन) करने में स्वतंत्र हो। जैसे-रसनेन्द्रिय अपने विषय (स्वाद) का ग्रहण (ज्ञान) करने में स्वतंत्र है, दूसरी इन्द्रियाँ स्वाद का ग्रहण करने में प्रायः समर्थ नहीं होतीं। सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने अधीनस्थ विषय को ही प्रायः जान या ग्रहण कर सकती हैं।

द्विविध इन्द्रियों के पांच-पांच भेद : स्वरूप, कार्य

प्रज्ञापना आदि आगमों में इन्द्रियों के पांच भेद बताये हैं-श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय। ये इन्द्रियाँ भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की होती हैं। द्रव्येन्द्रियाँ, पुद्गल-जन्य होने से जड़रूप हैं और भावेन्द्रियाँ चेतनाशक्ति की पर्याय होने से भावरूप हैं। द्रव्येन्द्रियाँ अंगोपांग और निर्माण नामकर्म से निर्मित होती हैं। द्रव्येन्द्रिय अपने-अपने विषय में तभी प्रवृत्त हो सकती हैं जब भावेन्द्रियों का उन्हें सहयोग प्राप्त हो। उनकी उत्पत्ति और प्रवृत्ति में कारण हैं-भावेन्द्रियाँ। इस दृष्टि से भावेन्द्रियाँ कारण हैं, द्रव्येन्द्रियाँ कार्य हैं। भावेन्द्रिय के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त होती है। भावेन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करने तथा व्यक्त करने में द्रव्येन्द्रियाँ उपकरणरूप हैं। अर्थात् भावेन्द्रियों की प्रवृत्ति, तथा विषयों को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति द्रव्येन्द्रियों के माध्यम से होती है।[१]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ३४-३५

(ख) कति णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता?

गोयमा ! पंचेंदिया पण्णत्ता, तं.-सोइंदिय चक्खिंदिय घाणिंदिय जिब्भिंदिए फासिंदिए। -प्रज्ञापनासूत्र पद १५/१/१९१

(शेष पृष्ठ १६१ पर)

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद : स्वरूप और कार्य

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं–निर्वृत्ति और उपकरण। इन्द्रियों की बाह्य तथा आभ्यन्तर रचना, बनावट या आकृति को निर्वृत्ति कहते हैं और उनकी निर्वृत्ति (रचना) में उपकारी-सहायक उपकरणेन्द्रिय है। जैसे–नेत्रेन्द्रिय में कृष्णा-शुक्ल मण्डल आभ्यन्तर उपकरण है और पलक, बरौनी आदि बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

भावेन्द्रिय कहते हैं–मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मविशुद्धि को। भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं–लब्धि और उपयोग। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम को अर्थात् चेतनाशक्ति की योग्यता विशेष को लब्धिरूप भावेन्द्रिय कहते हैं। तथा लब्धिरूप भावेन्द्रिय के अनुसार आत्मा की विषय-ग्रहण में होने वाली प्रवृत्ति को उपयोगरूप भावेन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रियाँ शब्द, रूप (वर्ण), गन्ध, रस और स्पर्श नामक मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा उभयरूप भावेन्द्रियों के होने पर ही अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं।[१]

संसारी जीवों के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पांच भेद माने जाने का कारण द्रव्येन्द्रियाँ हैं। बाहर में प्रकटरूप से जिस-जिस जीव के जितनी-जितनी इन्द्रियाँ दिखलाई देती हैं, उनके आधार से एकेन्द्रिय आदि भेद किये जाते हैं। किन्तु भावेन्द्रियाँ तो लब्धि इन्द्रिय की अपेक्षा से सभी संसारी जीवों के पांचों ही होती हैं। यद्यपि एकेन्द्रिय आदि से पंचेन्द्रिय तक के संसारी जीवों के भावेन्द्रियाँ पांचों ही होती हैं, किन्तु उत्तरोत्तर व्यक्त से व्यक्ततर हैं, दूसरे शब्दों में–विकसित से विकसिततर हैं। इसी प्रकार क्रमशः पंचेन्द्रिय तक समझना चाहिए। एकेन्द्रिय आदि

(पृष्ठ १६० का शेष)

(ग) कतिविहा णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता?
गोयमा। दुविहा पण्णत्ता, तं. दव्विंदिया य भाविंदिया य। –प्रज्ञापना १५/१

(घ) पंचेन्द्रियाणि, द्विविधानि। –तत्त्वार्थसूत्र २/२०, १६

(ङ) विशेष विवरण के लिए देखें–प्रज्ञापना १५वाँ पद, तथा तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि।

१. (क) देखें–प्रज्ञापना पद १५ में द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार–उपचय और निर्वर्तना।

(ख) निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। –तत्त्वार्थ २/१७

(ग) सा द्विविधा बाह्याभ्यन्तर भेदात्। –सर्वार्थसिद्धि १/१७

(घ) येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। –सर्वार्थसिद्धि २/१७

(ङ) मदि-आवरण-खओवसम-समुत्थ-विसुद्धी हु तज्जबोहो वा, भाविंदियं ··· ॥
–गो. जी. १६५

(च) लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।

जीवों के पांचों भावेन्द्रियों को मानने में आज कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। डॉ. जगदीशचन्द्र बसु ने एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक जीवों में स्मरणशक्ति, मानस शक्ति आदि का अस्तित्व सिद्ध करके बता दिया है कि वनस्पतियों में निम्नस्तर की चेतना वाली अव्यक्त इन्द्रियाँ मानने में कोई आपत्ति नहीं है। विशेषावश्यकभाष्य में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि लब्धि-इन्द्रिय की अपेक्षा से सभी संसारी जीव पांचों (भाव) इन्द्रियों वाले हैं।[१]

एकेन्द्रिय जीवों के पांच प्रकार हैं-(१) पृथ्वीकाय, (२) अप् (जल) काय, (३) तेजस्काय (अग्निकाय), (४) वायुकाय और (५) वनस्पतिकाय। इन पांचों में सिर्फ एक स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) होने से तथा ये स्वयं हलचल करते दिखाई न देने से स्थावर कहलाते हैं। शेष द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में क्रमशः रसन आदि एक-एक इन्द्रिय बढ़ती जाती है। जैसे-एकेन्द्रिय में सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय में स्पर्शन और रसन (जीभ), त्रीन्द्रिय में स्पर्शन, रसन और घ्राण (नाक), चतुरिन्द्रिय में स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु (आँख), पंचेन्द्रिय में स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय (कान) हैं। तत्त्वार्थसूत्र में पांचों इन्द्रियों के नाम इसी क्रम से दिये गए हैं।[२]

एकेन्द्रिय जीवों के सूक्ष्म और बादर पर्याय का स्वरूप

पृथ्वीकाय आदि पांचों स्थावर एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं-सूक्ष्म और बादर। लेकिन द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में सूक्ष्म-बादरकृत भेद नहीं होते, वे सभी बादर (स्थूल) ही होते हैं। जीवस्थान के चौदह भेदों में से एकेन्द्रिय जीवों के सूक्ष्म और बादर, इन दो भेदों को मानने का कारण यह है कि सूक्ष्मशरीर वाले एकेन्द्रिय जीव आँखों (चर्मचक्षुओं) से नहीं दिखाई दे पाते, उनका अस्तित्व तो ज्ञानगम्य है, या सर्वज्ञ-आप्त द्वारा प्ररूपित होने से मान्य है। जबकि बादर शरीर

---

१. (क) कतिविहा णं इंदियलद्धी पण्णत्ता?
गोयमा ! पंचविहा इंदियलद्धी पं., ... पंचविहा (वि) इंदिय उवउगद्धा पण्णत्ता। -प्रज्ञापना २/१५
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ, ३६, ३७
(ग) अहवा पडुच्च लद्धिंदियं पि पंचिंदिया सव्वे। -विशेषावश्यक गा. ३००१

२. (क) पृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पतयः स्थावराः। संसारिणस्त्रस-स्थावराः।
-तत्त्वार्थसूत्र २/१३, १२
(ख) संसार-समावन्नगा तसे चेव थावरे चेव। -स्थानांग २/५७
(ग) स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्राणि। -तत्त्वार्थ २/२०

वाले एकेन्द्रिय जीव ज्ञानगम्य होने के साथ-साथ चर्मनेत्रों से भी दिखाई देते हैं। जैसे-पृथ्वी का शरीर पृथ्वीरूप, जल का शरीर जलरूप आदि। एकेन्द्रिय जीवों को सूक्ष्म और बादर शरीर की प्राप्ति क्रमशः सूक्ष्म नामकर्म और बादर नामकर्म के उदय से होती है। सूक्ष्म नामकर्म और बादर नामकर्म को इनके साथ-साथ प्राप्त होने वाली अन्य प्रकृतियाँ क्रमशः स्थावरदशक और त्रस-दशक कर्म-प्रकृतियों में परिगणित की गई हैं। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से एकेन्द्रियों को प्राप्त होने वला सूक्ष्मशरीर परस्पर व्याघात से रहित है। वह न किसी के रोके रुकता है और न अन्य किसी को रोकता है। यह शरीर अन्य जीवों के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य होता है। यह तो अनुभव-सिद्ध है कि जैसे सूक्ष्म होने से अग्नि लोहे में प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार सूक्ष्म नामकर्म से प्राप्त सूक्ष्मशरीर भी किसी भी प्रदेश में प्रविष्ट हो सकता है।[१]

सूक्ष्मशरीर की विशेषता

तैजस कार्मण शरीर तो सूक्ष्मतम हैं ही। उनका सभी संसारी जीवों के साथ अनादि सम्बन्ध है और वे भी आघात-प्रतिघात से रहित हैं। संसारी जीव के मरणकाल में आत्मा इन दोनों शरीरों के साथ ठोस वज्रमय या लोहमय बंद कमरा हो तो भी उसमें से बिना किसी प्रकार का छेदन या दरार किये, निकल जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिकाय वाले स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का सूक्ष्म शरीर नेत्र से अगोचर होने के अतिरिक्त मूर्त द्रव्यों के आघात-प्रतिघात एवं अनुग्रहादि अवस्थाओं से रहित है।

बादरकाय का स्वरूप और विश्लेषण

जिस नामकर्म के उदय से जीव को बादरकाय की प्राप्ति होती है, उसे बादर नामकर्म कहते हैं। जो शरीर नेत्रों से दिखाई दे, नेत्रों से देखा जा सके और अन्य को बाधा पहुँचाए, उस शरीर का नाम बादर शरीर है। बादर का इतना ही अर्थ नहीं है, अपितु जो उन पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीवों के शरीर-समूह में एक प्रकार के बादर-परिणाम को उत्पन्न करता है, उसे भी बादर पृथ्वी आदि जीव कहते हैं।[२]

एकेन्द्रिय जीवों के सूक्ष्म और बादर भेद मानने के पीछे कारण

एकेन्द्रिय जीवों के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद मानने के पीछे कारण यह है कि पूर्वोक्त लक्षण के अतिरिक्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव ऐसे हैं कि उनमें सूक्ष्म नामकर्म

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ४२
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (पं. सुखलालजी)
२. कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ४२

ऐसा परिणाम उत्पन्न कर देता है, जिससे वे अनन्त शरीर एकत्रित हो जाएँ, तो भी दृष्टिगोचर नहीं हो पाते हैं, वे समग्र लोक में व्याप्त हैं। ज्ञान के द्वारा जानने योग्य होने पर भी ये वाचिक व्यवहार के अयोग्य हैं। किसी अन्य से उनका घात-प्रतिघात नहीं होता, वे अपने प्राप्त शरीर में विद्यमान रहते हैं। किन्तु बादर एकेन्द्रिय जीवों में बादर नामकर्म का उदय होने से वे जीव लोक के प्रतिनियत देश में रहते हैं, सर्वत्र नहीं। यद्यपि बादर जीवों का, प्रत्येक का पृथक्-पृथक् शरीर इन चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु उनके शारीरिक परिणमन में बादर रुप से परिणमित होने-अभिव्यक्त होने की विशेष क्षमता होने से वे समुदायरूप में दिखलाई दे सकते हैं. इसलिए उन्हें ज्ञानगम्य होने के साथ-साथ व्यवहारयोग्य कहा गया है।[१]

षट्कायिक या पंचेन्द्रिय जीवों की पहचान

सूक्ष्म और बादर सभी प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों के सिर्फ पहली स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा अथवा शरीर) होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति काय से ये पांचों एकेन्द्रिय जीव पहचाने जाते हैं।

द्वीन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके स्पर्शन (त्वचा=शरीर) और रसन (जीभ) ये दो द्रव्येन्द्रियाँ हों। जैसे-लट, गिंडौला, अलसिया, शंख, कृमि आदि जीव।

त्रीन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके स्पर्शन, रसन और घ्राण, ये तीन इन्द्रियाँ हों, जैसे-जूँ, लीख, खटमल, चींचड़, गजाई, खजूरिया, उद्दई आदि।

चतुरिन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु (आँख), ये चार द्रव्येन्द्रियाँ हों। जैसे-भ्रमर, टिड्डी, मक्खी, मच्छर, बिच्छू आदि।

पंचेन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान), ये पांचों इन्द्रियाँ हों। जैसे-तिर्यञ्च (गाय, घोड़ा आदि) मनुष्य, देव और नारक।[२]

संसार में नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में विद्यमान समस्त जीवों में से तिर्यंचगति के जीवों के सिवाय नारक, मनुष्य और देव पंचेन्द्रिय ही होते हैं। उनमें पूर्वोक्त पांचों इन्द्रियाँ होती हैं। किन्तु तिर्यंचगति के जीवों में कितने ही के एक, कितने ही के दो, तीन, चार अथवा पांच इन्द्रियाँ होती हैं।

---

१. कर्मग्रन्थ भाग-४ विवेचन गा. २ (मरुधरकेसरी), पृ. ४४, ४५

२. (क) वही, गा. २ के विवेचन पर से (मरुधर केसरी), पृ. ४५
   (ख) कर्मग्रन्थ भा.४ गा. २ का विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ. १०

तिर्यंचगति के पूर्वोक्त एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में से द्वीन्द्रिय से, लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव अपने-अपने हित-अहित में प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए स्वयं हलन-चलन करने में समर्थ हैं, जबकि एकेन्द्रिय जीव असमर्थ हैं।[१]

चौदह प्रकार के जीवस्थानों में संज्ञी-असज्ञी-विचार

पूवोक्त चौदह प्रकार के जीव वर्ग में एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी होते हैं, तथा तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों में कोई संज्ञी होते हैं, कोई असंज्ञी।[२]

संज्ञी-असंज्ञी का प्रचलित अर्थ

संज्ञी का अर्थ सामान्यतया किया जाता है-जो (द्रव्य) मन के सहित हो, और असंज्ञी का अर्थ किया जाता है, जो (द्रव्य) मन से रहित हो। वैसे-संज्ञी का अर्थ होता है-जिसके संज्ञा हो और असंज्ञी का अर्थ किया जाता है-जिसके संज्ञा न हो।[३]

आगमों द्वारा प्ररूपित संज्ञा के प्रकार

आगमों में यत्र-तत्र संज्ञा शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त किया गया है-(१) **नामनिक्षेप**-अर्थात् किसी पदार्थ का नाम रखना, जैसे-राम, कृष्ण, गाय, घोड़ा इत्यादि। (२) आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह की संज्ञा-अभिलाषा और (३) धारणात्मक या चिन्तनात्मक ज्ञान-विशेष। प्रस्तुत प्रसंग में संज्ञा का अर्थ निक्षेपरूप न होकर आभोग यानी मानसिक प्रवृत्ति विशेष है। मानसिक प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है-ज्ञानात्मिका और अनुभवात्मिका (आहारादि की अभिलाषारूप)। इस दृष्टि से संज्ञा के दो प्रकार हो जाते हैं-ज्ञान और अनुभव। मति, श्रुत आदि पांच प्रकार के ज्ञान ज्ञान-संज्ञा रूप हैं और आहारादि १०, १६ या ४ अनुभवात्मक संज्ञा हैं।[४] भगवती सूत्र एवं प्रज्ञापनासूत्र में १० संज्ञाएँ इस प्रकार बताई गई हैं-(१) आहारसंज्ञा,[५] (२)

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा.२ विवेचन, (मरुधरकेसरी) पृ. ४५
   (ख) कर्मग्रन्थ भा.४ गा. २ विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ. १०
२. कर्मग्रन्थ भा.४, विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ४५-४६
३. संज्ञिनः समनस्काः। समनस्काः अमनस्काः। -तत्वार्थसूत्र २/२५, ११
४. आहारादि चारों संज्ञाओं के प्रमुख कारण क्रमशः असातावेदनीय, भय, वेद, लोभकर्म की उदीरणा है।
५. (क) इह जाहि नाहिया विय, जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
   सेवंता वि य उभये, ताओ चत्तारि सण्णाओ॥ -गोम्मटसार (जी.) गा. १३४
   (ख) आहारादि विषयाभिलाषः संज्ञेति। -सर्वार्थसिद्धि २/२४

भयसंज्ञा, (३) मैथुनसंज्ञा, (४) परिग्रहसंज्ञा, (५) क्रोधसंज्ञा, (६) मानसंज्ञा, (७) मायासंज्ञा (८) लोभसंज्ञा, (९) ओघसंज्ञा और (१०)लोकसंज्ञा।

आचारांगनिर्युक्ति में निर्युक्ति में अनुभवसंज्ञा के ये दश तथा इनके अतिरिक्त ६ इस प्रकार है-(११) मोहसंज्ञा, (१२) धर्मसंज्ञा, (१३) सुख-संज्ञा, (१४) दुःखसंज्ञा, (१५) जुगुप्सासंज्ञा और (१६) शोकसंज्ञा।[१]

चैतन्य के उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि से चार कोटि की संज्ञाएँ

ये अनुभव संज्ञाएँ सभी जीवों में न्यूनाधिक प्रमाण में पाई जाती हैं, इसलिए वे संज्ञित्व-असंज्ञित्व-व्यवहार की नियामक नहीं है। आगमों में संज्ञी-असंज्ञी का जो भेद है, वह अन्य संज्ञाओं की अपेक्षा से है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में चैतन्य का विकास उत्तरोत्तर अधिकाधिक है। ये संज्ञाएँ चैतन्य-विकास की न्यूनाधिकता के आधार पर निर्दिष्ट हैं। चैतन्यविकास के तारतम्य को समझाने हेतु शास्त्र में इसके स्थूलदृष्टि से चार विभाग किये गए हैं-(१) ओघसंज्ञा, (२) हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा, (३) दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा, और (४) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा।

(१) **प्रथम विभाग** में एकेन्द्रिय जीव आते हैं, जिनमें ज्ञान का अत्यल्प विकास होता है। इस विकास वाले जीव ओघसंज्ञा वाले होते है, जिनकी चेतना सुषुप्त और मूर्च्छितवत् चेष्टारहित अव्यक्ततर होती है। इसी अव्यक्ततर चैतन्य को ही ओघसंज्ञा कहते हैं।[२]

(२) **दूसरे विभाग** में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीव आते हैं, जिनमें चेतना के विकास की इतनी मात्रा विवक्षित है, जिससे उन्हें सुदीर्घ भूतकाल का तो नहीं, किन्तु आसन्न यत्किंचित् भूतकाल का स्मरण हो जाता है। जिससे उनकी अपने इष्ट विषयों से प्रवृत्ति और अनिष्ट विषयों से निवृत्ति भी होती है। इस प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्तिकारी ज्ञान (चैतन्यविकास) को

---

१. (क) स्थानांग, स्थान ४, (ख) सण्णा चउव्विहा-आहार-भय-मेहुण परिग्गह सण्णावेति। धवला २/१, १/४, १३/१
(ग) आचारांग-निर्युक्ति गा. ३८, ३९
(घ) भगवती सूत्र शतक ७, उद्देशक ८
(ङ) प्रज्ञापना पद ८

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ परिशिष्ट 'ग' संज्ञा शब्द पर, (पं. सुखलाल जी) पृ. ३८
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ४६-४७

हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा कहा गया है। इस दृष्टिकोण से पांच स्थावर असंज्ञी हैं तथा द्वीन्द्रिय आदि चार त्रस संज्ञी हैं।

(३) **तीसरे विभाग** में देव, नारक, गर्भज मनुष्य, गर्भज तिर्यंच-पंचेन्द्रिय आते हैं; जिनमें चेतना का पूर्वोक्त दोनों विभागों से अधिक विकास विवक्षित है जिससे सुदीर्घ भूतकाल में अनुभूत विषयों का स्मरण और उस स्मरण द्वारा वर्तमान-कालिक कर्तव्यों का निर्धारण किया जाता है। यह ज्ञानरूप कार्य होता है-विशिष्ट मन की सहायता से। इस ज्ञान को **दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा** कहा गया है। दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा के फलस्वरूप सदर्थ (सम्यगर्थ) का विचार करने की बुद्धि, निश्चयात्मक विचारणा, अन्वयधर्म का अन्वेषण, व्यतिरेक धर्म (स्वरूप) का पर्यालोचन, तथा अतीत में यह कार्य कैसे हुआ? वर्तमान में कैसे हो रहा है? भविष्य में कैसे होगा? इत्यादि प्रकार के (सत्पदप्ररूपणादि) चिन्तन-मनन, विचार-विमर्श एवं प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाण द्वारा वस्तु-स्वरूप को अधिगत करने की क्षमता प्राप्त होती है।

(४) **चतुर्थ विभाग** में विशिष्ट श्रुतज्ञानी आते हैं, क्योंकि इस विभाग में विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है। यह ज्ञान इतना शुद्ध (चैतन्यविकासात्मक) होता है, कि सम्यग्दृष्टि जीवों के सिवाय अन्य जीवों में सम्भव नहीं है। इस विशिष्ट चैतन्यविकासात्मक विशुद्ध ज्ञान को **दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा** कहा गया है।

निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त चार विभागों में जीवों का वर्गीकरण करके जहाँ कहीं भी शास्त्रों में संज्ञी-असंज्ञी का उल्लेख किया है, वहां ओघसंज्ञा और हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा वाले जीवों को 'असंज्ञी', तथा दीर्घकालोपदेशिकी एवं दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा वाले जीवों को 'संज्ञी' कहा गया है। इस प्रकार की अपेक्षा से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रय जीवों को असंज्ञी और पंचेन्द्रिय जीवों को संज्ञी-असंज्ञी दोनों प्रकार का कहा गया। इस दृष्टि से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के कुल सात मुख्य भेद हो जाते हैं।[1]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ संज्ञा शब्द पर परिशिष्ट 'ग' (पं. सुखलाल जी)
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन गा. २ पर (मरुधरकेसरीजी), पृ. ४७-४८
(ग) इस विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें-तत्त्वार्थ भाष्य २/२५, नन्दी सूत्र, सूत्र ३९, विशेषावश्यक गा. ५०४-५२६, लोकप्रकाश सर्ग ३ श्लोक. ४४२-४६३।

(शेष पृष्ठ १६८ पर)

चौदह प्रकार के जीवस्थानों में पर्याप्ति-अपर्याप्ति-मीमांसा

जीवस्थानवर्णित पूर्वोक्त सात मुख्य भेदों के जीव पर्याप्त भी होते हैं, अपर्याप्त भी। जिनके पर्याप्ति नामकर्म का उदय हो, वे जीव पर्याप्त कहलाते हैं और अपर्याप्ति नामकर्म के उदय वाले जीवों को अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्ति नामकर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है, जबकि अपर्याप्ति-नामकर्म का उदय होने पर उनकी रचना नहीं होती।[१]

पर्याप्ति शब्द जैन कर्मविज्ञान का पारिभाषिक शब्द है। पर्याप्ति एक प्रकार की विशिष्ट शक्ति है (जिसे आधुनिक विज्ञान रासायनिक ऊर्जाशक्ति कहता है) जिसके द्वारा जीव, आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलों को आहारादि रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्गलों के उपचय से बनती है।[२] आशय यह है कि जिस प्रकार पेट के भीतरी भाग में विद्यमान पुद्गलों में एक प्रकार की शक्ति होती है, जिससे खाया हुआ आहार रस, रक्त आदि भिन्न-भिन्न रूप में परिवर्तित होता जाता है। इसी प्रकार मृत्यु के बाद संसारी जीव दूसरा जन्म लेने के लिये योनि (जन्म) स्थान में प्रवेश करते ही अपने शरीर के योग्य आहारादि पुद्गलवर्गणा को ग्रहण करता है, इसी को आहार कहते हैं। फिर उस जीव के द्वारा गृहीत पुद्गलों में ऐसी शक्ति बन जाती है, जो आहारादि पुद्गलों को खलभाग-रसभाग आदि रूप में (परिणत कर) बदल देती है। जीव की इसी शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्ति-जनक पुद्गलों में से कुछ तो ऐसे होते हैं, जो जन्मस्थान में आये हुए जीव के द्वारा प्रथम समय में ही ग्रहण किये हुए

(पृष्ठ १६७ का शेष)

(घ) दिगम्बर ग्रन्थों (गो. जी. ७९ आदि) में गर्भजतिर्यञ्चों को संज्ञी न मान कर संज्ञी-असंज्ञी दोनों तथा सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च को असंज्ञीमात्र न मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभयरूप माना है।

(ङ) दिगम्बर ग्रन्थों में संज्ञी-असंज्ञी का यह विचार दृष्टिगोचर नहीं होता, जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थों में ओघसंज्ञा के सिवाय शेष तीन संज्ञाओं का विचार किया गया है। -कर्मग्रन्थ ४, परिशिष्ट 'ग', पृ. ३९

१. जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव। -गो. जी. १२१

२. (क) आहार-सरीरिंदिय-णिस्सासुस्सास-भास-मणसाणं।
परिणइ वावारेसुय जाओ छच्चेव सत्तीओ॥
तस्सेव कारणाणं पुग्गल-खंधाण जाहु णिप्पत्ती।
सा पज्जत्ती भण्णदि····· । -कार्तिकेयानुप्रेक्षा १३४,१३५

(ख आहार-शरीर·····निष्पत्तिः पर्याप्तिः। -धवला १/१/१/७०
शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते। -धवला १/१/१/७६

होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं, जो पीछे से प्रत्येक समय में ग्रहण किये जाकर पूर्वगृहीत पुद्गलों के संसर्ग से तद्रूप बने हुए होते हैं और बनते जाते हैं।

जीव के द्वारा गृहीत इन पुद्गलों का कार्य भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए कार्यभेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित ६ भेद हो जाते हैं-(१) आहार-पर्याप्ति, (२) शरीर-पर्याप्ति, (३) इन्द्रिय-पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, (५) भाषा-पर्याप्ति और (६) मन-पर्याप्ति। इन छह पर्याप्तियों का प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि जन्मसमय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है, किन्तु इनकी पूर्णता क्रमशः होती है।

इन छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीव के चार पर्याप्तियाँ होती हैं-आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास तथा विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) एवं असंज्ञीपंचेन्द्रियों के मनःपर्याप्ति के सिवाय शेष ५ पर्याप्तियाँ होती हैं और संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।[१]

लब्धि और करण से अपर्याप्त और पर्याप्त के लक्षण

जो पर्याप्त जीव होते हैं, उनमें गृहीत पुद्गलों को आहारादि रूप में परिणत करने की शक्ति होती है, जबकि अपर्याप्त जीवों में इस प्रकार की शक्ति नहीं होती। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त और अपर्याप्त के निम्नोक्त दो-दो प्रकार होते हैं-

(१) लब्धि-अपर्याप्त, (२) करण-अपर्याप्त
(३) लब्धि-पर्याप्त और (४) करण-पर्याप्त।

(१) जो जीव, अपर्याप्त नाम-कर्म के उदय के कारण ऐसी शक्ति वाले हों, जिससे कि स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, वे लब्धि-अपर्याप्त हैं।

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा.२ का परिशिष्ट 'घ' (पं. सुखलालजी) पृ. ४१
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. २ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ४९
(ग) थानांग स्था. ६
(घ) आहारे य सरीरे तह इंदिय आणपाण भासाए।
होंति मणो वि य कमसो पज्जत्तीओ जिणमादा। -मूलाचार १०४५
(ङ) आहार-सरीरिंदिय-पज्जत्ती आणपाण-भास-मणो।
चत्तारि पंच छप्पिय, एगिंदिय-विगल-सन्नीणं ॥
गो. जी. ११९, बृहत्संग्रहणी ३४९
(च) पज्जत्ती पट्ठवणं जुगवं तु कम्मेण होदि निट्ठवणं। -गो. जी. १२०

(२) किन्तु करण-अपर्याप्त के विषय में यह बात नहीं है। वे पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले भी होते हैं, और अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले भी। तात्पर्य यह है कि चाहे पर्याप्त नामकर्म का उदय हो, चाहे अपर्याप्त नामकर्म का, पर जब तक करणों-शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियों की पूर्णता न हो, तब तक जीव करण-अपर्याप्त कहे जाते हैं।

(३) जिनके पर्याप्त नामकर्म का उदय हो, और इससे जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने के बाद ही मरते हैं, पहले नहीं, वे लब्धि-पर्याप्त हैं।

(4) किन्तु करण-पर्याप्तों के लिए यह नियम नहीं है कि वे स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं।

जो लब्धि-अपर्याप्त है, वे भी करण पर्याप्त होते ही हैं, क्योंकि आहारपर्याप्ति बन चुकने के बाद कम से कम शरीरपर्याप्ति बन जाती है, तभी से जीव करणपर्याप्त माने जाते हैं। यह भी नियम है कि लब्धि-अपर्याप्त जीव भी कम से कम आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना मरते नहीं। इसका सारांश यह है कि शरीररूप करण के पूर्ण करने से करण-पर्याप्त और इन्द्रिय रूप करण पूर्ण न करने से करण-अपर्याप्त है। इसलिए शरीर-पर्याप्ति से लेकर मनःपर्याप्ति-पर्यन्त पूर्व-पूर्व-पर्याप्ति के पूर्ण होने पर करण-पर्याप्त और उत्तर-उत्तर की पर्याप्ति के पूर्ण न होने से करण-अपर्याप्त कह सकते हैं। किन्तु जीव जब स्व-योग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है, तब उसे करण-अपर्याप्त नहीं कहते, अपितु करण पर्याप्त ही कहते हैं। यह नियम है कि सभी प्राणी आगामी भव की आयु को बाँध कर ही मरते हैं, बिना बाँधे नहीं और आयु भी तभी बांधी जा सकती है, जब आहार, शरीर, इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकी हों। लब्धि-अपर्याप्त जीव भी आदि की तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करके ही आगामी भव की आयु बांधता है। जो आगामी आयु को नहीं बांधता और अबाधाकाल को पूर्ण नहीं करता, वह मर ही नहीं सकता।[१]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. २ का परिशिष्ट 'घ' (पं. सुखलाल जी), पृ.४०, ४१
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. २ का विवेचन (मरुधरकेसरीजी)
(ग) करणानि शरीराक्षादीनि। -लोकप्रकाश सर्ग.३, श्लोक १०
(घ) यस्मादागामि-भवायुर्बध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः तच्चाहार-शरीरेन्द्रिय-पर्याप्ति-पर्याप्तानामेव बध्यत इति। -नन्दीसूत्र, मलयगिरिटीका, पृ. १०५
(ङ) लोकप्रकाश सर्ग ३ श्लोक ३१

सामान्यतया एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव पांच प्रकार के होने पर भी एकेन्द्रियों के सूक्ष्म और बादर तथा पंचेन्द्रियों के संज्ञी और असंज्ञी ये विशेष भेद होने से ७ प्रकार के हो जाते हैं। फिर सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने या न करने की शक्ति वाले होते हैं। अत: इन सभी संसारी जीवों का बोध कराने हेतु जीवस्थान के चौदह भेद किये गए हैं। समवायांग सूत्र में इन्हें '**१४ भूतग्राम**' कहा गया है और द्रव्यसंग्रह में इनके लिए १४ 'जीवसमास' का प्रयोग किया गया है। इन चौदह प्रकारों का वर्गीकरण इतना वैज्ञानिक और युक्तिसंगत है कि उनमें समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।[१]

प्रज्ञापना, भगवती आदि आगमों में प्राय: २४ दण्डकों में संसारी जीवों का वर्गीकरण करके लेश्या, योग, उपयोग, बन्ध, उदय आदि का विचार प्रस्तुत किया गया है। परन्तु कर्मशास्त्र में प्राय: चौदह भागों में समस्त जीवों को वर्गीकृत किया गया है।

■■

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४, गा. २ विवेचन (मरुधरकेसरीजी)

(ख) चउदस भूअग्गामा पण्णत्ता, तं जहा-सुहुम अपज्जत्तया, सुहुम पज्जत्तया, बादरा अपज्जत्तया, बादरा पज्जत्तया, बेइंदिया अपज्जत्तया, बेइन्दिया पज्जत्तया, तेइंदिया अपज्जत्तया, तेइंदिया पज्जत्तया, चउरिंदियाऽपज्जत्तया, चउरिंदिया पज्जत्तया, पंचिंदिया असन्नि अपज्जत्तया, पंचिंदिया असन्नि-पज्जत्तया, पंचिंदिया सन्नि अपज्जत्तया, पंचिंदिया सन्निपज्जत्तया। -समवायांगसूत्र समवाय १४/१

(ग) पुढवी-जल-तेज-वाऊ-वणप्फदी विविह-थावरेन्दी।
बिग-तिग-चदु-पंचक्खा तस जीवा होंति संखादि॥
समणा अमणा णेया, पंचिंदिय-णिम्मणा परे सव्वे।
बादर-सुहुमे इन्दी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥ -द्रव्यसंग्रह गा. ११, १२.

९

जीवस्थानों में गुणस्थान आदि की प्ररूपणा

आत्मा अपने आप में स्वभाव से शुद्ध एवं स्फटिक के समान निर्मल है। वह अनन्त ज्ञान, दर्शन, आत्मिक सुख एवं आत्मशक्ति से प्रकाशमान है। परन्तु कर्म-बन्ध से बार-बार श्लिष्ट होने के कारण प्रवाहरूप से अनादिकाल से वह अपने इन आत्मगुणों को अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा है। समस्त संसारी जीवों के साथ कर्मबन्ध की अटूट शृंखला का चक्र चल रहा है। कर्मबन्ध के कारण ही संसारी जीव पृथक्-पृथक् शरीरों, योनियों, गतियों, अवस्थाओं, मूढ़ताओं आदि में बंटा हुआ है। उसे मालूम ही नहीं पड़ता कि मैं किस कारण से इन विभिन्न अवस्थाओं और रूपों से घिरा हुआ हूँ? अतः महामनीषी सर्वज्ञ आप्त कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने संसारस्थ समस्त जीवों को चौदह भागों में वर्गीकृत करके कर्मबन्ध की अपेक्षा से अमुक-अमुक जीवों में पाये जाने वाले आठ विषयों का निरूपण किया है। ऐसा करके उन महानुभावों ने संसारी जीवों की आँखें खोल दी हैं-अपने में स्वाभाविक और वैभाविक दशा प्राप्त होने के कारणों और विकारी अवस्थाओं से छुटकारा पाने के उपायों को बता कर।

चतुर्दश जीवस्थानों में गुणस्थान आदि की प्ररूपणा

कर्मग्रन्थ में पूर्वोक्त चौदह जीवस्थानों में निम्न आठ विषयों को लेकर प्ररूपणा की गयी है कि किन-किन जीवों में वे किस-किस रूप में पाये जाते हैं। वे आठ विषय ये हैं-(१) गुणस्थान, (२) उपयोग, (३) योग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता।[१]

१. (क) नामेय जिण वत्तव्वा, चउदस-जिअ-ठाणएसु गुणठाणा।
जोगुवओगो लेसा, बंधुदओदीरणा सत्ता ॥१॥
-प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ पर जीवविजयकृत टब्बा

(शेष पृष्ठ १७३ पर)

आठ प्ररूपणीय विषयों का स्वरूप

इन सब का संक्षेप में लक्षण इस प्रकार है-

(१) **गुणस्थान**-ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों में शुद्धि-अशुद्धि की तरतमता (न्यूनाधिकता) से होने वाली जीव की विभिन्न अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं।

(२) **उपयोग**-चेतना शक्ति का बोधरूप व्यापार, जो जीव का असाधारण लक्षण है, तथा जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य और विशेष स्वरूप या वस्तुस्थिति जानी जाती है उसे **उपयोग** कहते हैं।

(३) **योग**-मन, वचन, काया के द्वारा होने वाले वीर्य-शक्तिमूलक परिस्पन्द; अर्थात्-आत्मा के प्रदेशों में हलचल या कम्पन **योग** है।

(४) **लेश्या**-आत्मा का सहज स्वरूप स्फटिक के समान निर्मल है, परन्तु कृष्ण, नील आदि अनेक रंग वाले पुद्गलविशेषों के सान्निध्य (प्रभाव) से जो आत्मा के विविध परिणाम (अध्यवसाय) होते हैं, अथवा कषाय और योग से आत्मा में उत्पन्न होने वाली विविध निकृष्ट-उत्कृष्ट मनोवृत्तियाँ को **लेश्या** कहते हैं।

(५) **बन्ध**-आत्म-प्रदेशों के साथ राग-द्वेष, कषाय या मिथ्यात्वादि पंचविध कारणों से नीर-क्षीर के समान कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध (संश्लेष) होना, **बन्ध** है।

(६) **उदय**-पूर्व में बंधे हुए कर्मदलिकों का विपाकानुभव (फलभोग) प्राप्त होना '**उदय**' कहलाता है। यह विपाकानुभव (फलोदय) कभी तो अबाधाकाल (सत्ता में संचित पड़े हुए कर्मों की कालावधि) पूर्ण होने पर होता है, और कभी नियत अबाधाकाल पूर्ण होने से पहले भी अपवर्तना आदि करणों से होता है।

(७) **उदीरणा**-जिन बद्ध कर्मदलिकों का उदयकाल न आया हो, अथवा पूर्वबद्ध कर्म अभी उदय में न आए हों, उन्हें प्रयत्न-विशेष से या अमुक निमित्त-विशेष से खींचकर बन्धकालीन स्थिति से हटा कर, उदयावलिका में प्रविष्ट करना '**उदीरणा**' है।

(८) **सत्ता**-बन्धन या संक्रमणकरण से जो कर्मपुद्गल जिस कर्म (बन्ध) रूप में परिणत हुए हों, उनका 'निर्जरा' या संक्रमण आदि से रूपान्तर न होकर ज्यों का त्यों तत्-स्वरूप में पड़े (बने) रहना '**सत्ता**' है।

(पृष्ठ १७२ का शेष)

(ख) चउदस-जिय-ठाणेसु चउदस- गुणठाणगाणि जोगा य।
उवओग-लेस-बंधुदओदीरण-संत अट्ठपए ॥१॥
-वही, सोमविजयसूरि कृत टब्बा

इनके साथ ही कर्मग्रन्थ (चतुर्थ भाग) आदि में बन्धहेतु, अल्पबहुत्व और पंचविध भावों की प्ररूपणा भी की है। उनका स्वरूप इस प्रकार है–

बन्धहेतु–मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक (आत्मा के कर्मोदयजन्य विकृत क्रोध आदि) परिणामों से कर्मयोग्य पुद्गल, कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं, उन परिणामों (अध्यवसायों) को बन्ध हेतु कहते हैं।

अल्प-बहुत्व–पदार्थों के परस्पर न्यूनाधिक भाव को 'अल्प-बहुत्व' कहते हैं।

पंचविध भाव–जीव और अजीव की स्वभाविक या वैभाविक औदयिकादि पंचविध अवस्थाओं को भाव कहते हैं।

जीवस्थानों को लेकर प्ररूपणायोग्य पूर्वोक्त विषयों का क्रम

सर्वप्रथम गुणस्थानों का निर्देश करने का अभिप्राय यह है कि संसारस्थ प्रत्येक जीव किसी न किसी गुणस्थान में होता है। गुणस्थान का निर्देश कर देने से उस-उस जीव के आत्मगुणों के विकास-ह्रास का पता लग जाता है। क्योंकि प्रत्येक जीव किसी न किसी गुणस्थान में विद्यमान होता ही है। गुणस्थान के पश्चात् उपयोग के निर्देश का तात्पर्य यह है कि जो उपयोगवान् है, उसी में गुणस्थानों की सम्भावना है, उपयोगशून्य आकाश आदि या जड़ पदार्थों में नहीं। उपयोग के पश्चात् योग की प्ररूपणा इसलिये की गई है कि उपयोग वाले जीव त्रिविधि योग के बिना कर्म-ग्रहण नहीं कर सकते जैसे-सिद्ध परमात्मा। योग के अनन्तर लेश्या की प्ररूपणा इस आशय से की गई है कि योग द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध का निर्माण लेश्या से ही होता है। लेश्या के पश्चात् बन्ध का निर्देश इसलिए किया गया है, कि जो जीव लेश्या से युक्त हैं, वे ही कर्मबन्ध कर सकते हैं,अलेश्यी नहीं। बन्ध के बाद उदय, उदीरणा और सत्ता तो बद्धकर्मों के फलभोग-अभोग से सम्बद्ध हैं। बद्ध जीवों में परस्पर न्यूनाधिकता अवश्य होती है, उसके कथन के लिए अल्प बहुत्व की प्ररूपणा की गई है और इन कर्म से संयुक्त या वियुक्त होने वाले जीवों में किसी न किसी भाव का होना निश्चित है। अतः अल्पहुत्व के बाद भावों की प्ररूपणा की गई है।[१]

जीवस्थानों में गुणस्थानों की प्ररूपणा

गुणस्थानों के स्वरूप, प्रकार, क्रम, कार्य आदि की व्याख्या हम अगले प्रकरणों में करेंगे। यहाँ तो विशेष रूप से यह बताया जाएगा कि कर्मविज्ञान की दृष्टि से

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. १ का विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ४ से ७
(ख) वही, (पं. सुखलालजी) पृ. ७-८

चौदह जीवस्थानों में से किस-किस जीव के कौन-कौन-से गुणस्थान हो सकते हैं? क्योंकि चौदह गुणस्थानों में से कोई न कोई गुणस्थान प्रत्येक संसारी जीव में पाया ही जाता है।

पांच जीवस्थानों में मिथ्यात्व तथा सास्वादन गुणस्थान : क्यों? कैसे?

जीवस्थान के १४ भेदों में से बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, विकलेन्द्रिय-त्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) अपर्याप्त, इन पांच जीवस्थानों में मिथ्यात्व और सास्वादन, ये दो गुणस्थान पाये जाते हैं।

इन पांच जीवस्थानों में से बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के जो दो गुणस्थान कहे गए हैं, वे तेजस्कायिक और वायुकायिक को छोड़कर शेष पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के ही समझने चाहिए, क्योंकि तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव, चाहे बादर हों, या सूक्ष्म उनमें ऐसे परिणाम सम्भव ही नहीं हैं, कि सास्वादन-सम्यक्त्वयुक्त जीव पैदा हो सकें।

इसके अतिरिक्त बादर एकेन्द्रिय आदि पांच अपर्याप्त जीवों में जो दो गुणस्थान माने गए हैं, यहाँ अपर्याप्त का अर्थ लब्धि-अपर्याप्त नहीं, करण-अपर्याप्त समझना चाहिए, क्योंकि सास्वादनसम्यक्त्व वाला जीव लब्धि अपर्याप्त रूप में पैदा ही नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि सूक्ष्म और बादर तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के सिवाय शेष तीन प्रकार के बादर एकेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और विकलेन्द्रियत्रिक, इन पांचों जीवस्थानों में करण-अपर्याप्त होने पर पहला और दूसरा दो गुणस्थान तथा लब्धि-अपर्याप्त होने पर केवल प्रथम गुणस्थान ही समझना चाहिए।

संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त में पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान : क्यों और कैसे?

संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त में मिथ्यात्व, सास्वादन और चौथा अविरत सम्यग्दृष्टि, ये तीन गुणस्थान होते हैं, क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में मिश्र गुणस्थान नहीं होता और मिश्र गुणस्थान में मरण नहीं होता, तथा जब कोई जीव चतुर्थ गुणस्थानसहित मरकर संज्ञिपंचेन्द्रिय रूप से पैदा होता है, तब उसे अपर्याप्त अवस्था में चतुर्थ गुणास्थान सम्भव है। इस प्रकार जो जीव सम्यक्त्व का त्याग करता हुआ सास्वादन भाव में प्रवर्तमान होकर संज्ञि-पंचेन्द्रिय रूप से उत्पन्न होता है, उसमें शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने तक द्वितीय गुणस्थान की सम्भावना है तथा अन्य सभी संज्ञि-पंचेन्द्रिय जीवों को अपर्याप्त अवस्था में प्रथम गुणस्थान ही होता है। अपर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रिय में तीन गुणस्थानों की शक्यता बताई, यहाँ अपर्याप्त से करण-अपर्याप्त समझना चाहिए

लब्धि-अपर्याप्त में तो प्रथम गुणस्थान के सिवाय किसी गुणस्थान की योग्यता ही नहीं होती।[१]

पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रिय में सभी गुणस्थान : क्यों और कैसे?

पर्याप्त संज्ञि-पंचेन्द्रिय में सभी गुणस्थान पाये जाते हैं। कारण यह है कि गर्भज मनुष्य में सब प्रकार की शुभ, अशुभ तथा शुद्ध-अशुद्ध परिणामों की योग्यता होने से पहले से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक (सभी गुणस्थान) सम्भव हैं। वे संज्ञिपंचेन्द्रिय ही हैं।

एक शंका इस विषय में उपस्थित होती है कि संज्ञि-पंचेन्द्रिय पर्याप्त में पहले के १२ गुणस्थान ही होते हैं, तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान कैसे हो सकते हैं? क्योंकि इन दो गुणस्थानों के दौरान उनमें संज्ञित्व का अभाव हो जाता है। उस समय उनमें क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान) होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञानात्मक संज्ञा, जिसे भावमन भी कहते हैं, नहीं होती।

इस शंका का समाधान यह है कि संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्त में तेरहवें चौदहवें गुणस्थानद्वय का जो कथन है, वह द्रव्यमन के अस्तित्व के सम्बन्ध से संज्ञित्व का व्यवहार अंगीकार करके है, परन्तु भावमन की अपेक्षा से जो संज्ञी हैं, उनमें आदि के बारह गुणस्थान ही होते हैं। सप्ततिकाचूर्णि तथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी इसी कथन का समर्थन मिलता है।[२]

---

१. (क) बादर-असन्नि-विगले अपज्जि पढम-बिय सन्नि-अपज्जत्ते।
अजम-जुय सन्निपज्जे सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु॥ —कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. ३
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. २ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ५३
(ग) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. २ विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ११/१२

२. (क) मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेषा सन्निणो भन्नंति; मणोविन्नाणं पडुच्च ते सन्निणो न भवंति त्ति। —सप्ततिका चूर्णि
(ख) मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तपुव्वमिदि संजोगम्हि।
उत्तो मणोवयारेणिंदिय-णाणेण हीणम्हि॥२२७॥
अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणिंद चंदम्हि।
मणवग्गण-खंधाणं, आगमणादो दु मणजोगो॥२२८॥
अर्थात्-सयोगी केवली गुणस्थान में मन न होने पर भी वचन होने के कारण उपचार से मन माना जाता है और उपचार का कारण यह है कि पूर्व गुणस्थानों में मन वालों के भी वचन देखा जाता है। जिनेन्द्र देव के भी द्रव्यमन के लिए अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों का आगमन हुआ करता है, इसलिए उनके मनोयोग कहा है।

(शेष पृष्ठ १७७ पर)

अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त विकलेन्द्रियत्रिक, अपर्याप्त संज्ञी-पंचेन्द्रिय और पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन सात जीवस्थानों के सिवाय शेष निम्नोक्त सात जीवस्थानों में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है:-(१) अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (३) बादर एकेन्द्रिय, (४) पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, (५) पर्याप्त द्वीन्द्रिय, (६) पर्याप्त त्रीन्द्रिय, (७) पर्याप्त चतुरिन्द्रिय।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त शेष सात जीवस्थानों में परिणाम ऐसे संक्लिष्ट होते हैं, जिससे मिथ्यात्व के सिवाय अन्य कोई गुणस्थान ही सम्भव नहीं है।[१]

(२) जीवस्थानों में उपयोग की प्ररूपणा

उपयोग बारह हैं-५ ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान), ३ अज्ञान (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान) और ४ दर्शन (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन)। इनमें से पांच ज्ञान और तीन अज्ञान ये आठ साकार (विशेषज्ञानरूप) हैं, और चार दर्शन अनाकार (सामान्य ज्ञानरूप) हैं।

उपयोग को सामान्य-विशेष रूप मानने का कारण

इस अपेक्षा से उपयोग के दो भेद भी होते हैं-ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग अथवा साकारोपयोग और निराकारोपयोग। ज्ञान और दर्शन उपयोगों को विशेष-सामान्यरूप मानने का कारण यह है कि वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। जिनमें से उत्पाद या साकार निराकाररूप व्ययरूप अंश पर्यायात्मक एवं त्रिकाल अस्तित्व (ध्रुवत्व) रूप अंश द्रव्यात्मक (ध्रौव्यात्मक) है। पर्यायें प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने से विशेषरूप कहलाती हैं और तब उनका कुछ न कुछ आकार अवश्य होता है। पर्यायें परिवर्तित होते रहने पर भी वस्तु के अस्तित्व या सदात्मकत्व में किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं आती। अतः इसमें न्यूनाधिकता न होने से वस्तु को निराकार सामान्यात्मक माना जाता है। इसीलिए ज्ञानोपयोग से वस्तुगति विशेष धर्मों का,

---

(पृष्ठ १७६ का शेष)

(ग) अथ कथं संज्ञिनः सयोग्योगिरूप-गुणस्थानद्वयसम्भवः, तद्भावे तस्याऽमनस्कतया संज्ञित्वाऽयोगत्? न, तदानीमपि हि तस्य द्रव्यमनः-सम्बन्धोऽस्तीति समनस्काश्चाविशेषेण संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते ततो न तस्य भगवतः संज्ञिता-व्याघातः। -चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ. १२०

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन गा.३ (पं. सुखलालजी) पृ. १३, १४
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. ३ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ५७

उत्पत्ति-विनाशात्मक पर्यायों का बोध होता है तथा दर्शनोपयोग से वस्तुगत सामान्यधर्म की-सद्रूप ध्रौव्यात्मकता की प्रतीति होती है।[१]

पर्याप्त संज्ञि-पंचेन्द्रिय जीवों में बारह ही उपयोग क्यों?

पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रिय जीवों में पूर्वोक्त बारह ही उपयोग पाये जाते हैं। क्योंकि गर्भज मनुष्य संज्ञि-पंचेन्द्रिय हैं, उनमें सब प्रकार के उपयोगों की सम्भावना है। इनमें से केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगद्वय की स्थिति समयमात्र की और शेष छाद्मस्थिक दस उपयोगों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की मानी गई है। पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में छद्मस्थों से लेकर केवलज्ञानियों तक का समावेश होता है; इसलिए उनमें समस्त उपयोगों के मानने का कथन सामान्य की अपेक्षा से है। छद्मस्थों के उपयोग क्रमभावी होते हैं-यानी दर्शन के पश्चात् ज्ञानोपयोग।[२]

केवली भगवन्तों के उपयोग सहभावी हैं, या क्रमभावी? : तीन पक्ष

किन्तु केवलियों के उपयोग सहभावी हैं या क्रमभावी? इसको लेकर तीन मत हैं-(१) सिद्धान्तपक्ष केवलज्ञान-केवलदर्शन को क्रमभावी मानता है, इसके समर्थक जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, भद्रबाहुस्वामी और कार्मग्रन्थिक आदि हैं। आवश्यक-निर्युक्ति में कहा है-इन दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, भिन्न-भिन्न आवरण हैं, केवलज्ञान और केवलदर्शन की अनन्तता भिन्न-भिन्न लब्धि की अपेक्षा से है; उपयोग की अपेक्षा से नहीं। उपयोगापेक्षया भी इन दोनों की स्थिति एक समय की है। उपयोगों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसलिए प्रथम मत पक्ष केवलज्ञान और केवलदर्शन को क्रमभावी और पृथक् पृथक् मानता है।[३]

---

१. (क) उपयोग-स्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्तपरिमाणः प्रकर्षाद् भवति।
-तत्वार्थ-भाष्य २/८ टीका
(ख) उपयोगतोऽन्तर्मुहूर्तमेव जघन्योत्कृष्टाभ्याम्। -तत्वार्थभाष्य टीका २/९
(ग) मदि-सुद-ओहि-मणोहिं य सग-सग-विसये विसेस-विण्णाणं। अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो दु आयारो॥
इंदिय-मणोहणि वा अत्थे अविसेसि दूण जं गहणं॥
अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो अणायारे॥ -गोम्मटसार जीवकाण्ड ६७४,६७५

२. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ५ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ७१, ७२
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ५ परिशिष्ट व विवचेन (पं. सुखलालजी), पृ. ४३, ४४

३. (क) भगवती श. १८/२५ उ. ६
(ख) प्रज्ञापना पद ३०

दूसरा मत पक्ष केवलज्ञान और केवलदर्शन को सूर्य के प्रकाश और ताप की तरह युगपद् सहभावी मानता है। इस मत के समर्थक दिगम्बर सम्प्रदाय तथा श्री मल्लवादी सूरि आदि हैं। उनका मन्तव्य है कि केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का क्षय युगपत् होता है, तथा पदार्थगत सामान्य-विशेष धर्म भी सहभावी होते हैं; अतः आवरणक्षयरूप निमित्त और सामान्य-विशेषात्मक विषय समकालिक होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् सहभावी होते हैं, क्रमभावी नहीं। छद्मस्थिक उपयोगों में कार्यकारणभाव या परस्पर प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धकभाव घटित हो सकता है, क्षायिक उपयोग में नहीं; क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा जब पूर्णतः निरावरण हो जाती है, तब उसके दोनों क्षायिक उपयोग निरन्तर ही होने चाहिए। युगपत्-पक्ष में ही इन दोनों क्षायिक उपयोगों की अनन्तता (सादि-अपर्यवसितता) घटित हो सकती है; क्योंकि दोनों उपयोग इस पक्ष में युगपत् और निरन्तर होते रहते हैं।

तीसरा मत पक्ष उभय उपयोगों में भेद न मानकर दोनों में अभेद (ऐक्य) मानने वालों का है। इसके पक्षधर हैं-श्री सिद्धसेन दिवाकर। उनका मन्तव्य है कि ज्ञानयोग्य सामग्री प्राप्त होने पर एक ज्ञान-पर्याय में अनेक घट-पटादि प्रतिभासित होते हैं, वैसे ही आवरणक्षय, विषय आदि सामग्री प्राप्त होने पर एक ही कैवल्य-उपयोग पदार्थों के सामान्य-विशेष उभय स्वरूप को जान सकता है। जैसे केवलज्ञान के समय मतिज्ञानावरणीय आदि चार ज्ञानों का अभाव होने पर भी मतिज्ञान आदि केवलज्ञान से पृथक नहीं माने जाते, उसी में समाविष्ट हो जाते हैं वैसे ही केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर केवलदर्शन को केवलज्ञान से पृथक् मानना उचित नहीं है। विषय और क्षयोपशम की विभिन्नता के कारण छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन में विभिन्नता मानी जा सकती है, किन्तु अनन्तविषयकता और क्षायिक भाव एक समान होने से केवलदर्शन और केवलज्ञान में किसी प्रकार का भेद मानना उचित नहीं। केवलदर्शन को केवलज्ञान से भिन्न मानने पर केवलदर्शन सामान्य विषय मात्र ग्राही होने से वह अल्पविषयवाला सिद्ध होगा, जिससे उसमें अनन्तविषयत्व सिद्ध नहीं होगा। केवली का वचनोच्चारण केवलज्ञान-केवलदर्शनपूर्वक होता है, यह कथन अभेद पक्ष में ही घटित हो सकता है। दोनों का आवरणभेद कथंचित् है, आवरण भी वास्तव में एक होने पर भी कार्य और उपाधि-भेद की अपेक्षा से उनका भेद समझना चाहिए।

उपाध्याय यशोविजय जी ने उक्त तीनों मतों का नयी दृष्टि से समन्वय किया है। सिद्धान्त पक्ष शुद्ध ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से, श्री मल्लवादी का पक्ष व्यवहारनय की

अपेक्षा से और सिद्धसेन दिवाकर का पक्ष संग्रहनय की अपेक्षा से संगत जानना चाहिए।[१]

पर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय में चार उपयोग : क्यों और कैसे?

पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय में चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन तथा मतिअज्ञान और श्रुत-अज्ञान, ये चार उपयोग होते हैं। इसका कारण यह है कि इनके पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। अतः आवरण की सघनता के कारण चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनोपयोगों की, तथा मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानोपयोगों की सम्भावना नहीं है। इसलिए उपर्युक्त चार उपयोग ही इन दोनों प्रकार के जीवों में माने जाते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि दस जीव स्थानों में भी पर्याप्त चतुरिन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय में माने गए चार उपयोगों में से चक्षुर्दर्शन नहीं होने से सिर्फ अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान एवं श्रुत-अज्ञान, ये तीन उपयोग ही होते हैं। निष्कर्ष यह है कि (१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, (३) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (४) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, (५) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, (६) द्वीन्द्रिय पर्याप्त, (७) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, (८) त्रीन्द्रिय पर्याप्त, (९) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त और (१०) असंज्ञी

---

१. (क) ते च क्रमेणैव, न तु युगपत् उपयोगानां तथा जीव-स्वभावतो यौगपद्याऽसम्भवात्। उक्तं च-'समए दो णुवओगा' इति। श्री भद्रबाहुस्वामिपादाअप्याहुः-
नाणम्मि दंसणम्मि य एतो एगयरयम्मि उवउत्ता।
सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दो नत्थि उवओगा॥ -आवश्यक निर्युक्ति गा. ९७९, कर्मग्रन्थ ४ स्वो. टीका

(ख) जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दसणं च तहा।
दिणयर-पयास-तावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥ -नियमसार १६०

(ग) एकस्मिन् समये ज्ञानं, दर्शनं चापरोक्षणे।
सर्वज्ञस्योपयोगौ द्वौ समयान्तरितौ सदा॥ -लोकप्रकाश ३/९७३

(घ) दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जम्हा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि॥ -द्रव्यसंग्रह ४४

(ङ) सिद्धाणं सिद्धगई केवलणाणं च दंसणं खवियं।
सम्मत्तमणाहारं उवजोगा ण क्कमपउत्ती॥ -गोम्मटसार जीवकांड ७३०

(च) ज्ञानबिन्दु (उपाध्याय यशोविजयजी), पृ. १६४

पंचेन्द्रिय अपर्याप्त; इन दस प्रकार के जीवों के अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान, ये तीन उपयोग होते हैं।[1]

सैद्धान्तिकों का कर्मग्रान्थिकों से इस विषय में मतभेद

सैद्धान्तिक मत में कुछ अन्तर है। कर्मग्रान्थिकों के मतानुसार पूर्वोक्त दस जीवस्थानों में तीन उपयोग माने गए हैं, जबकि सैद्धन्तिकों के मतानुसार सभी प्रकार के एकेन्द्रियों (चाहे वे सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त या अपर्याप्त हों) में प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है, परन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय, इन चार अपर्याप्त जीवस्थानों में प्रथम और द्वितीय यों दो गुणस्थान होते हैं और दूसरे गुणस्थान के समय मति आदि को अज्ञानरूप न मानकर ज्ञानरूप माना है। अतः इन चार अपर्याप्त जीवस्थानों में ५ उपयोग होते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो उपयोग अधिक समझने चाहिए।

प्रश्न होता है-एकेन्द्रिय जीवों में भाषालब्धि और श्रवणलब्धि न होने से श्रुतज्ञानोपयोग कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान यह है कि एकेन्द्रिय वृक्षादि जीवों में स्पर्शेन्द्रिय के सिवाय अन्य द्रव्येन्द्रियों के न होने पर भी पांच भावेन्द्रियों का सद्भाव होने से अस्पष्ट भावश्रुतज्ञान का होना शास्त्रसम्मत है, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों में आहाराभिलाषा होती है। आहाराभिलाषा शब्द और अर्थ के विकल्पपूर्वक होती है। अतः विकल्प के सहित उत्पन्न होने वाला अध्यवसाय भावश्रुत माना गया है।[2]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. ६ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ७५
(ख) सव्व-जियट्ठाण मिच्छे सगसासणिपण अपज्ज-सन्निदुगं।
सम्मे सन्नी दुविहो, सेसेसुं सन्निपज्जत्तो॥ -कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. ४५

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. ५,६ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ७६
(ख) भावसुयं भासा-सोयलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स।
भासाभिमुहस्स सुयं सोऊण य जे हविज्जाहि॥ -विशेषावश्यक, १०२
(ग) जह सुहुमं भाविंदियनाणं दव्विंदियावरोहे वि।
तह दव्वसुया भावम्मि वि भावसुयं पत्थिवाईणं॥ -विशेषावश्यक १०३
(घ) आहार संज्ञा आहारभिलाषः, क्षुद्वेदनीयोदय-प्रभवः खल्वात्म-परिणाम-विशेषः। -आवश्यक हारी. वृत्ति १८०१
(ङ) इंदिय-मणो-निमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
नियतत्थुत्ति-समत्थं तं भावसुयं मईसेसं॥ -विशेषा. १०० गा.

संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त में आठ उपयोग ही क्यों?

संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त में मनःपर्यायज्ञान, चक्षुर्दर्शन, केवलज्ञान और केवलदर्शन इन चार उपयोगों को छोड़कर शेष आठ उपयोग होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त को अपर्याप्त दशा में मनःपर्याय-ज्ञानादि चार उपयोग न मानने का कारण यह है कि मनःपर्यायज्ञान संयमी जीवों को होता है और अपर्याप्त दशा में संयम संभव नहीं है। चक्षुर्दर्शन भी चक्षुरिन्द्रिय वालों को होता है और वह चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार की अपेक्षा रखता है किन्तु अपर्याप्त अवस्था में चक्षुरिन्द्रिय का व्यापार नहीं होता है। अतः उनमें चक्षुर्दर्शन भी सम्भव नहीं है। केवलज्ञान-केवलदर्शन भी उनमें सम्भव नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग कर्मक्षयजन्य है, किन्तु अपर्याप्त दशा में कर्मक्षय होना सम्भव नहीं है। इसीलिए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्तदशा में पूर्वोक्त ८ उपयोग ही माने जाते हैं। यहां अपर्याप्त का अर्थ-लब्धि-अपर्याप्त नहीं, करण-अपर्याप्त समझना चाहिए। लब्धि अपर्याप्त में तो मति-अज्ञान, श्रुतअज्ञान और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग ही समझने चाहिए।[१]

जीवस्थानों में पन्द्रह योगों की प्ररूपणा

योग का स्वरूप और उसके भेद-योग की परिभाषा है-वीर्यशक्ति के जिस परिस्पन्दन से-आत्मप्रदेशों की हलचल से-आत्मा की जो गमनागमनादि क्रियाएँ होती हैं, तथा जो परिस्पन्दन तन-मन-वचन की वर्गणाओं के पुद्गलों की सहायता से होता है, वह योग है। दूसरे शब्दों में-पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्म के उदय से मन-वचन-काययुक्त जीवों की जो-कर्म-ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते हैं।

योग के मुख्य तीन भेद हैं-(१) मनोयोग, (२) वचनयोग और (३) काययोग। इन तीनों मुख्य योगों के १५ प्रकार हैं-**मनोयोग के ४ भेद**-सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, मिश्र (सम्यमृषा) मनोयोग तथा असत्यामृषा मनोयोग। **वचनयोग**

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भाग ४ गा. ६ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से, पृ. ७९-८०
(ख) पंचसंग्रह में चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन तीनों को अपर्याप्त दशा में इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् चक्षुर्दर्शन होना माना है। देखिये, उसकी मलयगिरि टीका-
अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्याः, अन्यथा करणाऽपर्याप्तकेषु चतुरिन्द्रिया दिव्विन्द्रिय-पर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते, मूलटीकायामाचार्येणाऽभ्युमनुज्ञानात्। -पंचसंग्रह १/८ की टीका

के ४ भेद–सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, सत्यमृषा वचनयोग तथा असत्यामृषा वचनयोग। काययोग के सात भेद–(१) औदारिक, (२) औदारिकमिश्र, (३) वैक्रिय, (४) वैक्रियमिश्र, (५) आहारक, (६) आहारकमिश्र और (७) कार्मण-काययोग।

पन्द्रह प्रकार के योगों का स्वरूप

मनोयोग–सद्भाव यानी समीचीन पदार्थों को विषय करने वाले मन को सत्य-मन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग (स्पन्दन या क्रिया) होता है, उसे '**सत्यमनोयोग**' कहते हैं। इससे विपरीत योग को **मृषा-मनोयोग** कहते हैं तथा सत्य और मृषा योग को **सत्य-मृषा-मनोयोग** कहते हैं। जो मन न तो सत्य होता है और न मृषा; उसे असत्यामृषा मन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है, उसे **असत्यामृषा मनोयोग** कहते हैं।

वचनयोग–दस प्रकार के सत्य वचन में वचनवर्गणा के निमित्त से जो योग हो, उसे सत्यवचनयोग कहते हैं। इसके विपरीत जो योग हो, उसे मृषावचन-योग कहते हैं। सत्य और मृषा वचनरूप योग को उभय (सत्यमृषा) वचनयोग कहते हैं तथा जो वचनयोग न तो सत्यरूप हो और न मृषारूप, उसे असत्यामृषा वचनयोग कहते हैं।

काययोग–औदारिक शरीर द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति से जीव-प्रदेशों में परिस्पन्द का कारणभूत जो प्रयत्न होता है, उसे औदारिक काययोग कहते हैं। औदारिक शरीर की उत्पत्ति के प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त्त तक मध्यवर्ती काल में जो अपूर्ण शरीर है उसे औदारिकमिश्र काययोग कहते हैं।

वैक्रियशरीर के अवलम्बन से उत्पन्न हुए परिस्पन्द द्वारा जो प्रयत्न होता है, उसे वैक्रिय काययोग कहते हैं। वैक्रियशरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीर-पर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को वैक्रियमिश्र काययोग कहते हैं।

स्वयं को किसी सूक्ष्म अर्थ या विषय में सन्देह उत्पन्न होने पर सर्वविरत मुनि जिसके (मुंड हाथ के शरीर के) द्वारा केवली भगवान् के पास जाकर अपने सन्देह को दूर करता है, उसे आहारककाय और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले योग (परिस्पन्द-क्रिया) को आहारक काययोग कहते हैं। आहारक शरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के समय से लगाकर शरीर-पर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को आहारकमिश्र काय कहते हैं, उसके द्वारा जो योग उत्पन्न होता है, वह आहारक-मिश्र काययोग कहलाता है।

कार्मणशरीर नामकर्म के उदय से कर्मवर्गणाओं (कर्मसमूह) से उत्पन्न होने वाले काय को कार्मणकाय और उसके द्वारा होने वाले योग को कार्मण काय-योग कहते हैं। अर्थात्-औदारिकादि अन्य शरीरवर्गणाओं के बिना सिर्फ कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य (शक्ति) के निमित्त से आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप जो प्रयत्न होता है, वह कार्मण काययोग कहलाता है।[१]

चौदह जीस्थानों में योगत्रय-प्ररूपणा

चौदह जीवस्थानों में मुख्य तीन योगों की प्ररूपणा इस प्रकार की गई है-संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीनों ही होते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रिय तक के जीवों में वचनयोग और काययोग होते हैं; तथा एकेन्द्रिय जीवों में सिर्फ काययोग ही होता है।

चौदह जीवस्थानों में पन्द्रह योगों की प्ररूपणा

सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त छह अपर्याप्त (सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त) जीवस्थानों में कार्मण काययोग और औदारिक मिश्र काययोग होते हैं। कारण यह है कि सभी प्रकार के जीवों को अन्तराल (विग्रह) गति में तथा जन्म-ग्रहण करने के प्रथम समय में कार्मणयोग ही होता है, क्योंकि उस समय औदारिकादि स्थूल शरीरों का अभाव होने से योग-प्रवृत्ति केवल कार्मण शरीर से होती है। उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर स्वयोग्य-पर्याप्तियों के पूर्ण होने तक मिश्र काययोग सम्भव है। अर्थात्-अपर्याप्तदशा में कार्मण काययोग के बाद औदारिक मिश्र काययोग ही होता है।

अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नरक जीव गर्भित हैं। इसलिये उनमें कार्मण काययोग, औदारिकमिश्र काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग ये तीन योग माने गए हैं। अर्थात्-मनुष्यतिर्यंचों की अपेक्षा से औदारिकमिश्र काययोग और देव-नारकों की अपेक्षा से वैक्रियमिश्र काययोग होते हैं तथा इन दोनों में कार्मणकाययोग समान है।[२]

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ६०,६१

२. (क) अपज्जत्त छक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसंनिसु ते।
सविउव्व-मीसएसु तणु-पज्जेसुं उरलमन्ने।
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन गा. ४ (मरुधरकेसरीजी), पृ. ६२, ६३

कार्मग्रन्थिकों और सैद्धान्तिकों में मतविभिन्नता का अभिप्राय

कर्मग्रन्थ में ही पूर्वोक्त सातों प्रकार के अपर्याप्त जीवों के योग के सम्बन्ध में मतभेद प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि मतान्तर से पूर्वोक्त सातों प्रकार के अपर्याप्त जीव जब शरीर-पर्याप्ति पूर्ण कर लेते हैं, तब उनमें औदारिक काययोग तथा वैक्रिय काययोग ही होता है, औदारिकमिश्र काययोग तथा वैक्रियमिश्र काययोग नहीं। इस मतान्तर का आशय यह है कि शरीर-पर्याप्ति पूर्ण हो जाने से शरीर पूर्ण बन जाता है। इस स्थिति में दूसरी पर्याप्तियाँ पूर्ण न बनने पर भी जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाती है, तभी से मिश्रयोग नहीं रहता, अपितु औदारिक शरीर वालों के औदारिक काययोग और वैक्रियशरीर वालों के वैक्रियकाययोग ही होता है। सैद्धान्तिकों की मान्यता है कि शरीर-पर्याप्ति पूर्ण हो जाने पर ही औदारिक काययोग तथा वैक्रिय काययोग ही मानना चाहिए, दूसरी पर्याप्तियाँ पूर्ण हों चाहे न हों। जबकि कार्मग्रन्थिकों का मानना है कि समस्त पर्याप्तियों के पूर्ण होने से बने हुए को ही औदारिक काययोग तथा वैक्रियकाययोग माना जाता है, क्योंकि जब तक इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति पूर्ण न हों, तब तक शरीर अपूर्ण है, और कार्मणशरीर का व्यापार (प्रवृत्ति) भी चालू रहता है। इसलिए औदारिकमिश्र काययोग तथा वैक्रियमिश्र काययोग मानना ही युक्तिसंगत है।[१]

पर्याप्त संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों में पन्द्रह ही योग : क्यों और कैसे?

यह हुई सात अपर्याप्त जीवस्थानों में योग की प्ररूपणा। अब सात पर्याप्त जीवस्थानों में योग की प्ररूपणा इस प्रकार है-पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में सभी योग पाये जाते हैं, क्योंकि उनमें आहार, शरीर आदि छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं।

प्रश्न होता है-पहले कहा गया था कि कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीनों योग अपर्याप्त-अवस्थाभावी है, फिर पर्याप्त-अवस्था में भी उन्हें मानने का कारण क्या है?

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ की 'एसुं तणुपज्जेसुं उदल-मन्ने' इस चतुर्थ गाथा में मतान्तर व्यक्त किया गया है।

(ख) औदारिककाययोगस्तिर्यग्मनुजयोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं तदाऽरतस्तु मिश्रः।
-आचारांग श्रु. १अ. २ उ. १ का टीका

(ग) यद्यपि तेषां शरीर-पर्याप्तिः समजनिष्ट, तथापि इन्द्रिय-श्वासोच्छ्वासादीनाम-द्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्याऽसम्पूर्णत्वाद्, अतएव कार्मणस्थाप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वात् औदारिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानकमिति।
-कर्मग्रन्थ भा. ४ स्वोपज्ञ टीका पृ. १२१

इसका समाधान यह है कि कार्मण तथा औदारिकमिश्र काययोग तभी होता है, जब केवली भगवान् केवलि-समुद्घात करते हैं। प्रशमरति में कहा गया है–केवलि-समुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में कार्मणकाययोग होता है, जबकि दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र काययोग तथा पहले और आठवें समय में औदारिक काययोग होता है। पर्याप्त दशा में वैक्रियमिश्र काययोग तब होता है, जब कोई वैक्रियलब्धिधारक मुनि आदि वैक्रियशरीर बनाते हैं।[१]

आहारक काययोग के अधिकारी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य ही हैं। जब चतुर्दश पूर्वधारी मुनि आहारक शरीर बनाते हैं, तब आहारक शरीर बनाने और उसे त्यागने के समय आहारकमिश्र काययोग और उस शरीर को धारण करने के समय आहारक काययोग होता है। औदारिक काययोग तो समस्त पर्याप्त मनुष्यों और तिर्यञ्चों को होता है तथा वैक्रिय काययोग समस्त देवों और नारकों को होता है। अतः इन सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्चों के जीवस्थानों में १५ योग माने हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के औदारिक शरीर माना गया है, क्योंकि उनमें जैसे मन और वचन की लब्धि नहीं है, वैसे ही वैक्रियादि लब्धि भी नहीं है। इसलिए उनमें वैक्रिय काययोग आदि भी सम्भव नहीं हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्याप्त जीवों में औदारिक काययोग और (असत्यामृषा भाषा-व्यवहार भाषा) वचन योग; ये दो योग होते हैं क्योंकि ये सभी तिर्यञ्च जीव हैं, अतः इनके शरीर औदारिक काययोग-निष्पन्न होते हैं। रसना होने के कारण इनमें व्यवहार भाषारूप वचन योग भी सम्भव है।

बादर एकेन्द्रिय जीवों के पर्याप्त-अवस्था में औदारिक काययोग तो होता ही है, उसके साथ-साथ बादर वायुकाय की दृष्टि से वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिश्र

---

१. (क) केवलि-समुद्घात की स्थिति ८ समय-प्रमाण है। इन आठ समयों में केवली भगवान् आत्मप्रदेशों को समग्र लोकव्यापी बनाते हैं।

(ख) औदारिक-प्रयोक्ता प्रथमाऽष्टम-समययोरसाविष्टः।
मिश्रौदारिक-प्रयोक्ता, सप्तम-षष्ठ-द्वितीयेषु ॥२७६॥
कार्मणशरीर-योगी चतुर्थके पंचये तृतीये च।
समय-त्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥२७७॥ –प्रशमरति

(ग) वैक्रियमिश्रं संयतादेर्वैक्रियं प्रारभमाणस्य प्राप्यते। औदारिकमिश्र-कार्मणकाययोगौ तु केवलिनः समुद्घातावस्थायाम्।
–चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १२

काययोग भी होता है; क्योंकि बादर वायुकायिक (दिगम्बर परम्परानुसार तेजस्कायिक भी) जीवों के वैक्रियलब्धि होती है, इसलिए जब वे वैक्रियशरीर बनाते हैं, तब उनमें वैक्रियमिश्र काययोग होता है, और जब वैक्रियशरीर पूर्ण बन जाता है, तब वैक्रिय काययोग होता है।[१]

इस प्रकार चौदह जीवस्थानों में पन्द्रह योगों की प्ररूपणा समझनी चाहिए।

चौदह जीवस्थानों में छह लेश्याओं की प्ररूपणा

लेश्याएँ छह हैं–कृष्ण, नील, कापोत, तेज (पीत), पद्म और शुक्ल। इनका स्वरूप तथा कार्य हम मार्गणास्थान के प्रकरण में बताने का प्रयत्न करेंगे।

जीवस्थानों में लेश्याओं की प्ररूपणा जीवस्थान के तीन विभाग करके की गई है। **प्रथम विभाग** में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों का ग्रहण करके इन दोनों में कृष्णादि छहों लेश्याओं की प्ररूपणा की गई है। **दूसरे विभाग** में अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय में आदि की चार लेश्याएँ बतलाई हैं। **तीसरे विभाग** में संज्ञी-पंचेन्द्रिय पर्याप्त, अपर्याप्त तथा अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय शेष ग्यारह जीवस्थानों में आदि की कृष्णादि तीन लेश्याएँ बतलाई हैं।[२]

अपर्याप्त और पर्याप्त दोनों प्रकार के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में छहों लेश्याएँ बताने का कारण यह है कि उनमें शुभ और अशुभ, तथा तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र आदि सभी प्रकार के परिणाम होते हैं, इसलिए उन परिणामों से जन्य शुभ-अशुभ लेश्याएँ भी

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ५ सव्वे सन्निपज्जत्ते, उरलं सुहुमे सभास तं चउसु।
बायरि सव्विउव्वि-दुगं ..... ।।५।।
का विवेचन पृ. १७ (पं. सुखलालजी)

(ख) आद्यं (शरीरं) तिर्यग्मनुष्याणां, देव-नारकयोः परम्।
केषांचिल्लब्धिमद् वायु-संज्ञि-तिर्यग्नृणामपि ॥ –लोकप्रकाश सर्ग ३/१४४

(ग) वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययमेव, इत्यादि।
–तत्वार्थ अ. २ सू. ४८ की भाष्यवृत्ति

(घ) वैक्रियिकं देव-नारकाणां, तेजो-वायुकायिक-पंचेन्द्रिय-तिर्यग्मनुष्याणां च केषांचित्। –तत्वार्थ-अ. २ सू. ४९ राजवार्तिक

(ङ) बादर-तेऊ-वाऊ, पंचेन्दिय-पुण्णगा विगुव्वंति।
ओरालियं सरीरं, विगुव्वणप्पं हवे जेसिं॥ –गोम्मटसार जीवकाण्ड २३२

२. सन्नि-दुगि छलेस, अपज्ज-बायरे पढम चउ, ति सेसेसु॥ –कर्मग्रन्थ भा. ४ गा.७

उनमें होनी अवश्यम्भावी हैं। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर उनमें छहों लेश्याएँ बतलाई गई हैं।

अपर्याप्त पंचेन्द्रिय पद में अपर्याप्त का अर्थ है-करण-अपर्याप्त, क्योंकि उसी में छहों लेश्याएँ होनी सम्भव हैं। लब्धि-अपर्याप्त में तो सिर्फ कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन ही लेश्याएँ होती हैं।

वैसे तो सामान्यतया सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, चारों प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों में आदि की तीन लेश्याएँ पाई जाती हैं, किन्तु अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों की यह विशेषता है कि उनका लेश्या-स्वामित्व कृष्णादि चार लेश्याओं का है।

अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों में तेजोलेश्या बताने का कारण यह है कि भगवती-सूत्रोक्त-**'जल्लेसे मरड, तल्लेसे उववज्जइ'** (जिस लेश्या में मरण होता है, तत्पश्चात् उसी लेश्या में उत्पत्ति होती है), इस सिद्धान्त के अनुसार तेजोलेश्या वाले ज्योतिषी आदि देव जब उसी लेश्या में मरते हैं, तब वे बादर पृथ्वीकाय, अप्काय या वनस्पतिकाय में जन्म लेते हैं। ऐसी स्थिति में तेजोलेश्या के परिणामों में उनकी मृत्यु होने पर उन बादर एकेन्द्रियों की अपर्याप्तदशा में उनमें तेजोलेश्या होती है।

पूर्वोक्त संज्ञीद्विक और बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, इन तीन जीवस्थानों के सिवाय शेष ११ जीवस्थानों में कृष्ण, नील, कापोत, ये तीन लेश्याएँ बताई गई हैं, उसका कारण यह है कि उनमें अशुभ परिणाम ही होते हैं, अतः अशुभ परिणामजन्य तीन, अशुभ लेश्याएँ ही होती है, शुभ परिणामजन्य तथा शुभ परिणामरूप तीन शुभ लेश्याएँ नहीं होतीं। वे ११ जीवस्थान ये हैं-(१-२) अपर्याप्त-पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (३) पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, (४-५) अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, (६-७) अपर्याप्त-पर्याप्त त्रीन्द्रिय, (८-९) अपर्याप्त पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, (१०-११) अपर्याप्त-पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव।[1]

चौदह जीवस्थानों में अष्टविध कर्मबन्ध, उदीरणा, उदय-सत्ता की प्ररूपणा

जीवस्थानों में बंध आदि की प्ररूपणा दो विभागों में की गई है-प्रथम विभाग में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त को छोड़कर शेष १३ जीवस्थानों के बन्ध आदि का कथन है, तथा द्वितीय विभाग में है संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के बन्ध आदि का।

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सिवाय शेष अपर्याप्त, पर्याप्त, सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय आदि सभी प्रकार के जीव प्रतिसमय सात या आठ कर्मों-कर्मप्रकृतियों का

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ७ का विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ८२, ८३

बन्ध करते हैं। इसका कारण यह है कि जब आयुकर्म का बन्ध नहीं होता, तब सात कर्म प्रकृतियों का और आयुकर्म का बन्ध होने पर आठ प्रकृतियों का बन्ध होता है। यह सिद्धान्त है कि आयुकर्म का बन्ध एक भव में एक ही बार, वह भी जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है।[१] वह भी नियमानुसार वर्तमान आयु के तीसरे, नौवें, सत्ताइसवें आदि भाग शेष रहने पर या इन स्थितियों में बन्ध न हो तो वर्तमान आयु के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहने पर परभवायुबन्ध अवश्य होता है।

चौदह जीवस्थानों में उदीरणा, सत्ता और उदय की प्ररूपणा

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सिवाय शेष तेरह जीवस्थानों में प्रत्येक समय में जैसे सात या आठ कर्मों का बन्ध बताया गया है, वैसे ही प्रत्येक समय में सात या आठ कर्मों की उदीरणा हुआ करती है। आयुकर्म की उदीरणा न होने के समय सात कर्मों की उदीरणा और आयुकर्म की उदीरणा जीवन की अन्तिम आवलिका में पायी जाती है। कारण यह है कि उस समय आवलिका मात्र[२] स्थिति शेष रहने के कारण उदयमान आयु की और अधिक स्थिति होने पर भी उदयमान न होने के कारण आगामी भव की आयु उदीरणा नहीं होती। शेष समय में आठ कर्मों की उदीरणा हो सकती है। उदीरणा का नियम यह है कि जो कर्म उदय-प्राप्त है, उसी की उदीरणा होती है, दूसरे की नहीं, और उदयप्राप्त कर्म भी आवलिकामात्र शेष रह जाता है, तब से उसकी उदीरणा रुक जाती है।

उक्त तेरह प्रकार के जीव-स्थानों में जो अपर्याप्त जीवस्थान हैं, उनमें अपर्याप्त का अर्थ लब्धि-अपर्याप्त समझना चाहिए, करण-अपर्याप्त नहीं; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त जीवों के ही सात या आठ कर्मों की उदीरणा सम्भव है। ऐसे जीव लब्धि-अपर्याप्त-दशा में ही मर जाते हैं, इसलिए उनमें आवलिकामात्र आयु शेष रहने पर

---

१. (क) 'सत्तट्ठ बंधुदीरण संतुदया अट्ठतेरससु।' -कर्मग्रंथ भा. ४ गा. ७
(ख) कर्मग्रंथ भा. ४ गा. ७ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ८५
(ग) यह नियम सोपक्रम (अपवर्त्य-घट सकने वाली) आयु वाले जीवों के लागू पड़ता है, निरुपक्रम आयु वालों के नहीं। यदि वे देव, नारक या असंख्यातवर्षीय मनुष्य या तिर्यंच हों तो छह महीने आयु बाकी रहने पर ही परभव की आयु बांधते हैं। यदि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय या सामान्य मनुष्य या तिर्यंच हों तो वर्तमान भव के तीसरे भाग के शेष रहने पर ही आयु बांधते हैं।
-पंचम कर्मग्रन्थ गा. ३४, बृहत्संग्रहणी ३२१-३२३.

२. एक मुहूर्त्त के १,६७,७७,२१६वें भाग को **आवलिका** कहते हैं। दो घड़ी = ४८ मिनट को एक **मुहूर्त्त** कहते हैं। -सं.

सात कर्मों की और उससे पूर्व आठ कर्मों की उदीरणा सम्भव है। किन्तु करण-अपर्याप्त जीवों की अपर्याप्त दशा में मृत्यु होने का नियम नहीं है। यदि वे लब्धि-पर्याप्त हुए तो पर्याप्त अवस्था में ही मृत्यु होती है। इसलिए उनके अपर्याप्तदशा में आवलिकामात्र आयु शेष रहना और सात कर्मों की उदीरणा का होना शक्य नहीं है।[१]

तेरह जीवस्थानों में सत्ता और उदय आठ ही कर्मों का सम्भव

पूर्वोक्त तेरह जीवस्थानों में यद्यपि बन्ध और उदीरणा सात या आठ कर्मों की बतलाई है, किन्तु सत्ता और उदय के लिए यह नियम नहीं है। सत्ता और उदय तो आठ ही कर्मों का होता है। इसका कारण यह है कि सामान्यतया आठ कर्मों की सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक होती है, जबकि उदय दसवें गुणस्थान तक होता है। परन्तु पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के सिवाय शेष १३ जीवस्थानों में अधिक से अधिक पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान सम्भव हैं। इसीलिए इन तेरह जीवस्थानों में आठों ही कर्मों की सत्ता और उदय माने जाते हैं।[२]

---

१. (क) सत्तट्ठ छेगबंधा संतुदया सत्त-अट्ठ-चत्तारि।
सत्तट्ठ-छ-पंच-दुगं, उदीरणा संनिपज्जत्ते॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. ८
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. ८ का विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ८६, ८७
(ग) ..... त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सप्तानामष्टाना वा बन्धः सप्तानामष्टानां वा उदीरणाः। तथाहि-यदाऽनुभूयमान भवायुषस्त्रिभाग-नवमभागादि रूपे शेष सति परभवायुर्बध्यते, तदाऽष्टानामपि कर्मणां बन्धः, शेष काले त्वायुषो बन्धाभावात् सप्तानामेव बन्धः। तथा यदाऽनुभूयमान-भवायुरुदयावलिकाऽवशेषं भवति, तदा सप्तानामुदीरणा, अनुभूयमान-भवायुषोऽनुदीरणात, आवलिका-शेषस्योदीरणाऽनर्हत्वात्। उदीरणा हि उदयावलिका-बहिर्वर्तिनीभ्यः स्थितिभ्या सकाशात् कषाय-सहितेन कषायरहितेन वा योगकरणेव दलिकामाकृष्य उदय-समय प्राप्त-दलिकेन सहाऽनुभवनम्। -चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १२४
(घ) **आशय**-उदयावलिका के बाहर की स्थिति वाले कर्मदलिकों को कषायसहित या कषायरहित योग द्वारा खींचकर उदयप्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा है। -कर्मप्रकृति चूर्णि

२. तथाहि-एतेषु त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु सर्वकालमष्टानामपि सत्ता, यतोऽष्टानामपि कर्मणां सत्ता उपशान्तमोह-गुणस्थानं यावद्अनुवर्तते। एते च जीवा उत्कर्षतो यथासम्भवमविरत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थानक-वर्तिन एवेति। एवमुदयोऽप्येतेषु जीवस्थानेष्वष्टानामेव कर्मणां द्रष्टव्यः। तथाहि-सूक्ष्म-सम्पराय गुस्थानकं यावदष्टानामपि कर्मणामुदयोऽवाप्यते। एतेषु च जीव-स्थानकेषूत्सर्गतोऽपि यथासम्भवमविरत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थानक-सम्भव इति । -कर्मग्रन्थ भा. ४ टीका पृ. १२५

कर्मों का बन्धस्थान : स्थिति और गुणस्थान-प्ररूपणा

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के चार बन्ध-स्थान हैं–सात कर्म का, आठ कर्म का, छह कर्म का और एक कर्म का। इन चारों बन्धस्थानों में से ७ कर्मों का बन्धस्थान उस समय पाया जाता है, जिस समय आयु का बन्ध नहीं होता। एक बार आयु के बन्ध हो जाने के पश्चात् दूसरी बार उसका बन्ध होने में जघन्यकाल-अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्टकाल-अन्तर्मुहूर्त्त कम १/३ करोड़ पूर्व वर्ष, तथा छह मास कम तेतीस सागरोपम-प्रमाण काल चला जाता है। अतएव सात कर्मों के बन्धस्थान की स्थिति भी पूर्वोक्त काल-प्रमाण जितनी ही समझनी चाहिए।

आठ कर्मों का बन्धस्थान आयुकर्म के बन्ध के समय पाया जाता है। आयुबन्ध जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक होता है। अतएव आठ कर्मों के बन्धस्थान की भी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण समझनी चाहिए।

छह कर्मों का बन्धस्थान दसवें गुणस्थान में ही पाया जाता है, क्योंकि उसमें आयु और मोहनीय, इन दो कर्मों का बन्ध नहीं होता है। इस बन्धस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति दसवें गुणस्थान के बराबर है, अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण है।

एक कर्म का बन्धस्थान ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें, तीन गुणस्थानों में होता है। इसका कारण यह है कि इन गुणस्थानों के दौरान सातावेदनीय कर्म के सिवाय अन्य कर्म का बन्ध नहीं होता। ग्यारहवें गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय की और तेरहवें गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम करोड़पूर्व वर्ष की होती है। अतएव इस बन्धस्थान की जघन्य स्थिति एक समय मात्र की और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम करोड़ पूर्व वर्ष की समझनी चाहिए।[१]

---

१. (क) नौ समयप्रमाण, दस समयप्रमाण, यों एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते अन्त में एक समय कम मुहूर्त प्रमाण, यह सब प्रकार का काल अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त ९ समय का, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त एक समय कम मुहूर्त का और मध्यम अन्तर्मुहूर्त १०, ११ समय आदि बीच के सब प्रकार के काल का समझना चाहिए। -सं.

(ख) दस कोटाकोटि पल्योपम का एक सागरोपम और असंख्य वर्षों का एक पल्योपम होता है। चौरासी लक्ष वर्ष का एक पूर्वांग और और ८४ लक्ष पूर्वांग का एक पूर्व होता है। -तत्त्वार्थसूत्र अ-४ सू. १५ का भाष्य

(ग) जिन प्रकृतियाँ का बन्ध एक साथ (युगपत्) हो, इनके समुदाय को बन्धस्थान, जिन प्रकृतियों की सत्ता एक साथ पाई जाए, उनके समुदाय को सत्तास्थान,

(शेष पृष्ठ १९२ पर)

गुणस्थानों की अपेक्षा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के कर्मबन्ध का विचार

गुणस्थानों की अपेक्षा यदि संज्ञी-पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के कर्मबन्ध का विचार किया जाए तो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्त-संयत गुणस्थान तक सात या आठ कर्मों का, आयुकर्म का बन्ध न होने से आठवें और नौवें गुणस्थान में सात कर्मों का, दसवें गुणस्थान में छह कर्मों का (मोहनीयबन्ध के सिवाय) तथा ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्याप्त के सात, आठ, छह और एक; ये चार बन्धस्थान कहे गए हैं, किन्तु सत्तास्थान तीन हैं-जो आठ, सात और चार कर्मों के हैं।[१]

कर्मों का सत्तास्थान

आठ कर्मों का सत्तास्थान पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त पाया जाता है। इसकी स्थिति अभव्य की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है, क्योंकि अभव्य की कर्म परम्परा की जैसे आदि नहीं है, वैसे अन्त भी नहीं है; जबकि भव्य की अपेक्षा से अनादि-सान्त है, क्योंकि उसकी कर्मपरम्परा की आदि तो नही है, परन्तु अन्त अवश्य होता है। सात कर्मों का सत्तास्थान केवल बारहवें गुणस्थान में होता है; क्योंकि इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का समावेश है। मोहनीय कर्म का क्षय होने पर ही बारहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। बारहवें गुणस्थान

(पृष्ठ १९१ का शेष)

जिन प्रकृतियों का उदय एक साथ पाया जाए उनके समुदाय को उदयस्थान तथा जिन प्रकृतियों की उदीरणा एक साथ पाई जाए, उनके समुदाय को उदीरणास्थान कहते हैं।

-कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन गा. ८ (पं. सुखलालजी) पृ. २७

(घ) देखें-चतुर्थ कर्मग्रंथ की गाथा ८ :
सत्तट्ठ छेगबंधा संतुदया सत्त-अट्ठ-चत्तारि।
सत्तट्ठ-छ-पंच-दुगं, उदीरणा सत्ति-पज्जत्ते ॥८॥ का विवेचन
(पं. सुखलालजी) पृ. २७ से २९

(ङ) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ८ का विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ९०

१. अत्र चायं तात्पर्यार्थः-मिथ्यादृष्टयाद्यप्रमत्तान्तेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः। आयुर्बन्धाभावादपूर्वकरणा निवृत्तिबादरयोश्च सप्तानां बन्धः, (तृतीय गुणस्थाने ह्यायुकर्मबन्धाभावात् सप्तानां बन्धोज्ञेयः), सूक्ष्मसम्पराये षण्णां बन्धः उपशान्तमोहादिषु (त्रिषु) एकस्याः प्रकृतेर्बन्धः।

-चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञटीका पृ. १२५

की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण होने से इस सत्तास्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण समझनी चाहिए।

चार कर्मों का सत्तास्थान तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पाया जाता है, क्योंकि इन दो गुणस्थानों में चार अघाति कर्मों की सत्ता शेष रहती है। इन दो गुणस्थानों की मिलाकर जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है, जबकि उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष सात मास कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है। अतः चार कर्मों के सत्तास्थान की भी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति इतनी ही समझनी चाहिए।[१]

कर्मों का उदयस्थान

कर्मों के उदयस्थान भी तीन हैं, जो आठ, सात और चार कर्मों के हैं। आठ कर्मों का उदयस्थान पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसकी स्थिति अभव्य की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और भव्य की अपेक्षा से अनादि-सान्त है। किन्तु उपशमश्रेणि से गिरे हुए भव्य की अपेक्षा सादि-सान्त है। उपशमश्रेणि से गिरने के बाद अन्तमूर्हूर्त्त में फिर से श्रेणि की जा सकती है। यदि अन्तर्मुहूर्त्त में श्रेणि न की जा सकी तो अन्त में कुछ कम अर्धपुद्गल-परावर्तन काल के बाद तो अवश्य की जाती है। इसलिए आठ कर्मों के उदय स्थान की सादि-सान्त स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट देशोन (कुछ कम) अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल प्रमाण समझनी चाहिए।

सात कर्मों का उदयस्थान ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में पाया जाता है। इस उदयस्थान की स्थिति जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की मानी जाती है। एक समयमात्र की जघन्य स्थिति उस समय होती है, जब जीव ग्यारहवें गुणस्थाम में एक समयमात्र रह कर मरता है, और अनुत्तरविमान में पैदा होता है। तब पैदा होते ही वह आठ कर्मों के उदय का अनुभव करता है। इस अपेक्षा से सात कर्मों के उदयस्थान की जघन्य स्थिति समयमात्र की कही गई है। जो जीव बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, वह अधिक से अधिक उस गुणस्थान की स्थिति-अन्तर्मुहूर्त्त तक-सातकर्मों के उदयस्थान का अनुभव करता है। इसके बाद तो तेरहवें गुणस्थान को प्राप्तकर सिर्फ चार (अघाती) कर्मों के उदय का अनुभव करता है। इस अपेक्षा से सात कर्मों के उदयस्थान की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण कही गई है।

चार कर्मों का उदय-स्थान तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पाया जाता है क्योंकि इन दो गुणस्थानों में चार अघाति कर्मों के उदय के सिवाय अन्य किसी कर्म

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ८ का विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ३०

का उदय नहीं रहता। इस उदयस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व वर्ष की है।[१]

कर्मों के उदीरणास्थान पांच : क्यों और कैसे?

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में पांच उदीरणास्थान हैं–आठ कर्मों का, सात कर्मों का, छह कर्मों का, पांच कमों का और दो कर्मों का।

आठ कर्मों का उदीरणास्थान आयुकर्म की उदीरणा के समय और सात कर्मों का उदीरणास्थान आयुकर्म की उदीरणा रुक जाने के समय होता है। आयु की उदीरणा तब रुक जाती है, जब वर्तमान आयु आवलिका-प्रमाण शेष रह जाती है। वर्तमान आयु की अन्तिम आवलिका के समय पहला, दूसरा, चौथा, पांचवाँ और छठा, ये पांच गुणस्थान पाये जा सकते हैं, दूसरे नहीं। अतः सात के उदीरणा स्थान का सम्भव, इन पांच गुणस्थानों में समझना चाहिए। तृतीय गुणस्थान में सात कर्मों का उदीरणास्थान नहीं होता, क्योंकि आवलिकाप्रमाण आयु के शेष रहने के समय यह गुणस्थान ही सम्भव नहीं है। इसलिए तीसरे गुणस्थान में आठ कर्मों का उदीरणास्थान माना गया है।[२]

छह कर्मों का उदीरणास्थान सातवें से लेकर दसवें गुणस्थान की एक आवलिका-प्रमाण स्थिति बाकी रहती है, तब तक पाया जाता है, क्योंकि उस समय आयु और वेदनीय, इन दो कर्मों की उदीरणा नहीं होती।

पांच कर्मों का उदीरणास्थान दसवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका, जिसमें मोहनीय कर्म की उदीरणा रुक जाती है, से लेकर बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका-पर्यन्त है। इस समय में उदीरणायोग्य पांच कर्म ये हैं–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय।

बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका से लेकर तेरहवें गुणस्थान के अन्त तक नाम और गोत्र, इन दो कर्मों का उदीरणास्थान होता है, क्योंकि १२वें गुणस्थान की

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ८ विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ३०-३१

२. तत्र यदाऽनुभूयमान-भवायुरावलिकाऽवशेषं भवति, तदा तथास्वभात्वेन तस्यानुदीर्यमाणत्वात् सप्तानामुदीरणा, यदा त्वनुभूयमान- भवायुरावलिकाऽवशेषं न भवति तदाऽष्टानां प्रकृतिनामुदीरणा। तत्र मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानकात् प्रभृति यावत् प्रमत्तसंयत-गुणस्थानकं तावत् सप्तानामष्टाना वां उदीरणा, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके तु सदैवाऽष्टानामेव उदीरणा, आयुष आवलिकाशेषे मिश्र-गुणस्थानस्यैवाऽभावात्। –चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १२६

अन्तिम आवलिका में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मों की उदीरणा रुक जाती है।[१]

चौदहवाँ आयोगीकेवली गुणस्थान अनुदीरक है, क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में नाम और गोत्र का उदय रहने पर भी योग न होने के कारण उदीरणा नहीं होती। इस सम्बन्ध में कर्मग्रन्थ में एक प्रश्न उठाया गया है कि सयोगि-केवली गुणस्थान की तरह अयोगिकेवली गुणस्थान में भी भवोपग्राही चार कर्म-प्रकृतियों का उदय होने पर भी अनुदीरक कैसे माना गया है? इसका समाधान यह है कि इस गुणस्थान में भवोपग्राही चार प्रकृतियों का उदय होने पर भी कर्मप्रकृतियों की उदीरणा के कारणभूत योग का अभाव होने से अयोगिकेवली गुणस्थान को अनुदीरक कहा गया है।[२]

ध्यान रहे कि पूर्वोक्त सभी बन्धस्थान, सत्तास्थान, उदयस्थान और उदीरणास्थान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के हैं, क्योंकि संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव ही चौदह गुणस्थानों के अधिकारी हैं। किस-किस गुणस्तान में कौन-कौन-सा बन्धस्थान, सत्तास्थान, उदयस्थान और उदीरणास्थान है? इसका विशेष विवरण आगे गुणस्थान-प्रकरण में दिया जाएगा।

अष्ट विषयों की प्ररूपणा का उद्देश्य

इस प्रकार चौदह प्रकार के जीवस्थानों में गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बन्ध, सत्ता, उदय और उदीरणा, इन आठ विषयों की सांगोपांग प्ररूपणा की गई है। कर्मविज्ञान का इन आठ विषयों की प्ररूपणा के पीछे उद्देश्य यही है कि आत्मार्थी जिज्ञासु एवं मुमुक्षु संसारी जीवों के साथ विभिन्न पर्यायों में लगे हुए कर्मबन्ध और उसके पश्चात उसकी सत्ता, उदय और उदीरणा के स्थानों को जान कर उत्तरोत्तर इनका निरोध और क्षय करके मुक्ति की ओर प्रयाण कर सके। ■■

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. ८ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ९३,९४
(ख) तथाऽप्रमत्तगुणस्थानकात् प्रभृति यावत् सूक्ष्म-सम्परायगुणस्थानकस्याऽवलिकाशेषो न भवति तावद् वेदनीयाऽयुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतिनामुदीरणा, तदनीमतिविशुद्धत्वेन वेदनीयाऽयुरुदीरणायोग्याऽध्यवसायस्थानाभावात्।
-चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १२६

२. अयोगिकेवली-गुणस्थानके तु वर्तमानो जीवः सर्वथाऽनुदीरक एव। ननु तदानीमप्येष सयेगिकेवली-गुणस्थानक इव भवोपग्राहि कर्म-चतुष्टयोदयवान् वर्तते, ततः कथं तदापि तयोर्नामगोत्रयोरुदीरको न भवति? नैष दोषः, उदये सत्यपि योगसव्यपेक्षत्वाद् उदीरणायाः, तदानीं च तस्य योगाऽसम्भवादिति। -चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ. १२७

चौदह जीवस्थानों में गुणस्थान आदि आठ द्वारों तथा अल्पबहुत्व का यंत्र

जीवस्थानों में	१ सू.ए.अ.	२ सू.ए.प.	३ बा.ए.अ.	४ बा.ए.प.	५ द्वी.अ.	६ द्वी.प.	७ त्री.अ.	८ त्री.प.	९ चतु.अ.	१० चतु.प.	११ असं.प.अ.	१२ असं.प.प.	१३ सं.प.अ.	१४ सं.पं.प.
१४ गुणस्थान	१ पहला	१ पहला	२ पहला, दूसरा	१ पहला	२ पहला, दूसरा	२ पहला	२ पहला, दूसरा	१ पहला	२ पहला, दूसरा	१ पहला	२ पहला, दूसरा	१ पहला	२ पहला, दूसरा	१४ चौदह ही
१५ योग	२/३ १ कार्मण २ औदारिक ३ औदा. मिश्र	१ औदारिक	२/३ १ कार्मण २ औदारिक ३ औदा. मिश्र	३ १ औदारिक २-३ वैक्रिय द्विक	२/३ १ कार्मण २ औदा. ३ औदा. मिश्र	२ १ औदारिक २ असत्या. मृषा	२/३ १ कार्मण २ औदा. ३ औदा. मिश्र	२ १ औदा. २ असत्या. मृषा	२/३ १ कार्मण २ औदा. ३ औदा. मिश्र	२ १ औदा. २ असत्या. मृषा	२/३ १ कार्मण २ औदा. ३ औदा. मिश्र	२ १ औदा. २ असत्या. मृषा	३/५ कार्मण औदारिक द्विक वैक्रियद्विक	१५ योग
१२ उपयोग	३ मति-अज्ञान श्रुत.अज्ञान अचक्षु दर्शन	३ मति. अ. श्रुत. अ. अचक्षु.द.	३ मति. अ. श्रुत. अ. अचक्षु.द.	३ मति. अ. श्रुत. अ. अचक्षु.द.	३ म. अ. श्रु. अ. अच.द.	३ म. अ. श्रु. अ. अचक्षु.द.	३ म. अ. श्रु. अ. अच.द.	३ मति. अ. श्रु. अ. अच.द.	३ मति. अ. श्रु. अ. अचक्षु द.	४ म. अ. श्रु. अ. चक्षु-अच.द.	३ म. अ. श्रु. अ. अच.द.	४ मति. अ. श्रु. अ. चक्षु-अचक्षु.द.	८ केवलद्विक मनः पर्याय, चक्षुदर्शन के सिवाय	१२ उपयोग
६ लेश्या	३ आदि की तीन	३ आदि की तीन	४ आदि की चार	३ आदि की तीन	३ आदि की तीन	३ आदि की तीन	३ आदि की तीन	३ आदि की तीन	३ आदि की तीन	३ आदि की तीन	३ आदि की तीन	३ आदि की तीन	६ कृष्णादि छह	६ कृष्णादि छह
कर्मबन्ध	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	८, ७, ६, १
उदय	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	७, ८, ४
उदीरणा	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७, ८, ६, ५, २
सत्ता	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	७, ८, ४
अल्पबहुत्व	असंख्यात गुणा	संख्यात गुणा	असंख्यात गुणा	अनन्त गुणा	विशेषाधिक	विशेषाधिक	विशेषाधिक	विशेषाधिक	विशेषाधिक	संख्यात गुणा	असंख्यात गुणा	विशेषाधिक	असंख्यात गुणा	सबसे कम

संकेत-सू. = सूक्ष्म, ए. = एकेन्द्रिय, अ. = अपर्याप्त, प. = पर्याप्त, बा. बादर, द्वी. = द्वीन्द्रिय, त्री. त्रीन्द्रिय, चतु. - चतुरिन्द्रिय, असं. = असंज्ञी, पं. = पंचेन्द्रिय। म. अ. - मतिअज्ञान, श्रु.अ = श्रुत अज्ञान

१०

मार्गणास्थान द्वारा संसारी जीवों का सर्वेक्षण–१

मार्गणा : एक सर्वेक्षण

सरकार को किसी जगह रेलवे लाइन निकलनी होती है, तब सर्वप्रथम सर्वेक्षण (Survey) करना अनिवार्य होता है। सर्वेक्षण द्वारा यह पता लगाना होता है कि रेलवे लाइन के रास्ते में कहाँ टीले हैं, कहाँ पहाड़ हैं, कहाँ गड्ढे हैं, कहाँ सीलनवाली या मुलायम जमीन है, और कहाँ कठोर भूमि है, तथा कहाँ-कहाँ नदियाँ हैं, कहाँ-कहाँ पुल बनाने होंगे या कहाँ गुफाएँ बनानी होंगी, कहाँ रास्ते रखने होंगे? यदि रेलवे लाइन बिछाने से पहले इन सबका सर्वेक्षण नहीं किया जाता है, और जैसे-तैसे रेलवे लाइन बिछाना प्रारम्भ कर दिया जाता है तो वह कार्य न तो व्यवस्थित ढंग से पूरा हो सकता है, और न ही कोई ट्रेन उस पर व्यवस्थित ढंग से सही सलामत यात्रा कर सकती है। उस अव्यवस्थित लाइन द्वारा रेलयात्रा करने वाले यात्रियों को भी कहीं आकस्मिक दुर्घटना का शिकार होना पड़ सकता है।

संसारी जीवों के आध्यात्मिक सर्वेक्षण हेतु : मार्गणास्थान

इसी तथ्य को ध्यान में रख कर जैनकर्मविज्ञान ने संसारी जीवों द्वारा मोक्षधाम की अध्यात्म यात्रा करने हेतु यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व आध्यात्मिक सर्वेक्षण किया है। उक्त आध्यात्मिक सर्वेक्षण का नाम कर्मविज्ञान की भाषा में 'मार्गणास्थान' रखा गया है। यहाँ भी मोक्षधाम की आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व मार्गणास्थानों द्वारा आध्यात्मिक राजमार्ग को बनाने वाले जीवरूपी इंजीनियर को भी उसी प्रकार सर्वेक्षण करना पड़ता है, जिस प्रकार रेलवे लाइन निकालने वाले इंजीनियर को पूर्वोक्त बातों का सर्वेक्षण करना आवश्यक होता है।

लौकिक की तरह लोकोत्तर पदार्थों का चतुरंगी मार्गणा-कथन

'धवला' में यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है-लोक में यानी व्यावहारिक पदार्थों का विचार करते समय तो निम्नोक्त चार प्रकार से अन्वेषण (सर्वेक्षण) किया जाता है, यथा-मृगयिता (सर्वेक्षण-मार्गण-अन्वेषणकर्त्ता), मृग्य (जिस चीज का अन्वेषण-सर्वेक्षण करना है वह), मार्गण (अन्वेषणकर्त्ता को अन्वेषण करने में सहायक-आधारभूत माध्यम) और मार्गणोपाय (अन्वेषण करने के उपाय)। परन्तु यहाँ लोकोत्तर पदार्थ (आध्यात्मिक यात्रा विषयक कर्ममुक्ति के सार्वजनिक मार्ग) की विचारणा करने में उक्त चारों प्रकार तो पाये नहीं जाते, अतः मार्गणा का कथन करना लोकोत्तर मार्ग के विषय में कैसे बन सकता है? इसका समाधान यह है कि लौकिक की तरह यहाँ लोकोत्तरमार्ग में मार्गणा सम्बन्धी चारों प्रकार पाये जाते हैं। वे इस प्रकार हैं-जीवादि तत्त्वों-पदार्थों के प्रति श्रद्धालु आत्मार्थी भव्य पुण्डरीक मृगयिता है, अर्थात्-भव्य मुमुक्षु एवं जिज्ञासु जीवरूपी इंजीनियर अन्वेषक-सर्वेक्षक है। चौदह गुणस्थानों तथा गति, इन्द्रिय आदि विभिन्न अवस्थाओं से युक्त संसारी जीव ही मृग्य है-सर्वेक्षणीय है। जो इस मृग्य (विविध रूपों में अन्वेषणीय संसारी जीव) के आधारभूत हैं, अर्थात्-मृगयिता जिन प्ररूपणीय विषयों के माध्यम से अन्वेषण कर सकता है, अथवा जो गति, इन्द्रिय आदि सहायक, माध्यम या आधारभूत हैं, वे मार्गणा हैं। तथा पहले जिन्होंने केवलज्ञान के प्रकाश में मार्गणीय विषयों की मार्गणा का अनुभव किया है, वे तीर्थंकर, गणधर उनके अनुगामी स्थविर, आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी आदि तथा जिन शिष्यों ने मार्गणा का अभ्यास किया है, जो मार्गणा करने में सिद्धहस्त हैं, ये और ऐसे महानुभाव मार्गणा के उपाय या मार्गदर्शक हैं।[१]

यहाँ मृगयिता मुमुक्षु जीवरूपी इंजीनियर को संसारी जीवों की आध्यात्मिक यात्रा के लिए मार्ग का अन्वेषण-सर्वेक्षण करने के लिए चार गति रूप चार मार्ग का विचार करना पड़ेगा कि वे संसार के मार्ग हैं या मोक्ष के ? सिद्धिगति पंचम गति है, जो कर्मरहित है। इसी प्रकार यह भी देखना होगा कि मार्ग में कहाँ कषायों की घाटियाँ हैं ? कहाँ घातिकर्म रूपी पर्वत हैं? कहाँ-कहाँ कौन-सी लेश्यारूपी नदी है?

---

१. "अथ स्याज्जगति चतुर्भिर्मार्गणा निष्पद्यमानोपलभ्यते। तद्यथा-मृगयिता, मृग्यं, मार्गणं, मार्गणोपाय इति। नाऽत्र ते सन्ति; नैष दोषः, तेषामप्यत्रोपलम्भात्। तद्यथा-मृगयिता भव्य-पुण्डरीकः तत्त्वार्थ-श्रद्धालु जीवः ; चतुर्दश-गुणस्थान-विशिष्टजीवा मृग्यं, मृग्यस्याधारतामास्कन्दन्ति मृगयितुः करणतामादधानानि वा गत्यादीनि मार्गणम्, विनेयोपाध्यायादयो मार्गणोपाय इति।"

-धवला १/१,१,४/१३३; गो. जी. (जी. प्र.)२/११/१०

कहाँ-कहाँ काया रूपी पुल है? और इन्द्रियों का आकर्षण या प्रलोभन है? कहाँ नोकषाय रूपी खड्डे हैं? कहाँ उपशान्त-मोह की फिसलनभरी मुलायम भूमि है? सर्वेक्षण करने के लिए मिले हुए ज्ञान और उपयोग का कहाँ, किसको कितना सहारा है? कहाँ विविध बन्धों का भय है? और कहाँ संयम के सहारे आगे गति-प्रगति की जा सकती है? मृगयिता जीव इंजीनियर पूर्वोक्त चारों प्रकार के मार्गणारूपों के माध्यम से विभिन्न जीवों की अवस्थाओं का नापजोख कर सकता है।

मार्गणा और मार्गणास्थान का अर्थ, फलितार्थ और परिभाषा

अतः सर्वप्रथम मार्गणा और मार्गणास्थान का स्वरूप समझना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

मार्गणा का सामान्यतया अर्थ होता है- अनुसन्धान, खोज, अन्वेषण, विचारणा, गवेषणा आदि। इसीलिए मार्गणा के एकार्थवाचक शब्दों के नाम धवला आदि में प्रतिपादित किये हैं, यथा-ऊहा, ईहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा, अन्वेषण, मीमांसा आदि। इसके फलितार्थ को हम आध्यात्मिक सर्वेक्षण कह सकते हैं। जैसे कि धवला में कहा गया है-जिन-प्रवचन-दृष्ट जीव (चौदह प्रकार के जीवस्थान) जिन भावों के द्वारा, जिन विविध-पर्यायों (अथवा अवस्थाओं) में (उनके विविध कारणों के माध्यम से) अनुमार्गण किये जाते हैं, खोजे जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवों की विविध स्वाभाविक-वैभाविक अवस्थाओं की जिनके माध्यम से मार्गणा-अन्वेषणा की जाती है, ऐसी मार्गणाएँ कर्मशास्त्र में १४ बताई गई हैं।[१] इसीलिए मार्गणा के उन स्थानों को मार्गणा-स्थान कहते हैं, अर्थात्-संसारी जीवों में पाये जाने वाले गति, इन्द्रिय, काय, योग, उपयोग, वेद, कषाय, ज्ञान आदि विचारणीय-अन्वेषणीय-सर्वेक्षणीय स्थानों (विषयों) को मार्गणा स्थान कहते हैं।

मार्गणा का उद्देश्य और मार्गणास्थानों का प्रतिफल

संसारस्थ जीव अनन्त हैं। वे अनन्त जीव कर्मयुक्त होकर जन्म-मरणादि रूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। फिर भी जीव (आत्मा) के ज्ञान, दर्शन, सुख और

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४, विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ११
(ख) धवला १/१/१/२,
(ग) षट्खण्डागम ६३/५/५/३८,
(घ) यकाभिः यासु वः जीवाः मृग्येत सा मार्गणाः। -गो. जी. (जी. प्र.)
(ङ) जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा। ताओ चोद्दसजाणे सुदणाणेण मग्गणाओ त्ति। -पं. सं. (प्रा.) १/५६
(च) चतुर्दशानां जीवस्थानानां गुणस्थानानामित्यर्थः। तेषां मार्गणागवेषणमन्वेषणमित्यर्थः। -धवला १/१/१, २/१३१

वीर्य (आत्मशक्ति) आदि स्वाभाविक गुण उसमें किसी न किसी रूप में रहते हैं, किन्तु कर्मयुक्त होने के कारण परभाविक पर्यायें तथा वैभाविक गुण उसके साथ तब तक लगे रहते हैं, जब तक कि वे पूर्णतया कर्ममुक्त, सिद्ध, बुद्ध एंवं अयोगी नहीं हो जाते। अतः आत्मार्थी मुमुक्षु एवं जिज्ञासु जीवों को उन सब स्वाभाविक- वैभाविक अवस्थाओं, पर्यायों या रूपों का बोध कराने के लिए सर्वज्ञ आप्त पुरुषों ने १४ प्रकार के मार्गणास्थान बताये हैं, जिनके माध्यम से जीवों की विभिन्न पर्यायों का भलीभांति सर्वेक्षण-अन्वेषण किया जा सकता है। मार्गणा के द्वारा समस्त जीवराशि के भावों तथा पर्यायों-अवस्थाओं का अन्वेषण किया जा सकता है।

वस्तुतः लोक में विद्यमान जीवों के अन्वेषण-सर्वेक्षण का मुख्य आधार है, उनके बाह्य आकार-प्रकार की कर्मजन्य विभिन्न अवस्थाएँ, साथ ही उनमें विद्यमान स्वाभाविक-वैभाविक भावों के विविध रूप। केवल बाह्य आकार-प्रकार से युक्त कर्मजन्य अवस्था-विशेष से किये जाने वाले अन्वेषण से उन समस्त जीवों के स्वाभाविक-वैभाविक भावों-आन्तरिक परिणामों का ग्रहण - बोध नहीं हो पाता। यदि बाह्य शरीर, इन्द्रिय आदि कर्मजन्य अवस्थाओं को छोड़कर केवल आत्मिक भावों अथवा आत्मा के स्वाभाविक -वैभाविक भावों - आन्तरिक परिणामों की अपेक्षा से ही अन्वेषण किया जाए तो उक्त अन्वेषण से बाह्य शरीरादि की विभिन्नता वाले कर्मोपाधिक जीवों की अवस्थाओं का बोध नहीं होगा। इसलिये मार्गणास्थान में मुख्यतया समस्त संसारी जीवों की शरीर, इन्द्रिय आदि आकार-प्रकार की विभिन्नता रखने वाले जीवों की बाह्य अवस्थाओं के साथ ही गौणरूप से उन जीवों की आन्तरिक भावों की अवस्थाओं का बोध कराने हेतु मार्गणास्थानों की प्ररूपणा की गई है।

मार्गणास्थान के बोध से यह ज्ञात हो जाता है कि सभी मार्गणाएँ जीव की स्वाभाविक अवस्थारूप नहीं हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, और अनाहारकत्व के सिवाय अन्य सब मार्गणाएँ न्यूनाधिक रूप में अस्वाभाविक हैं। अतएव स्वरूप की पूर्णता के इच्छुक जीवों के लिए तो अन्त में वे हेय ही हैं।[१]

मार्गणास्थान और गुणस्थान में अन्तर

दूसरी बात-मार्गणा में किया जाने वाला विचार कर्म की अवस्थाओं के तरतमभाव का सूचक नहीं है, अपितु शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १९ का विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ९९
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, भूमिका से भावांशग्रहण, (पं. सुखलालजी) पृ. ९

भिन्नताओं से घिरे हुए जीवों का सर्वेक्षण विविध मार्गणाओं के माध्यम से किया जाता है । जबकि गुणस्थान जीव पर आये हुए कर्मपटलों के तरतमभावों और योगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का बोध कराते हैं। मार्गणाएँ जीवों के विकासक्रम को नहीं बतातीं, अपितु उनके स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से विश्लेषण-पृथक्करण करती हैं।[1]

मार्गणास्थानों के चौदह भेद

जिनके माध्यम से मार्गणा (सर्वेक्षण) की जाती हैं, उन मार्गणास्थानों के १४ भेद हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं- (१) गति-मार्गणा, (२) इन्द्रिय-मार्गणा, (३) काय-मार्गणा, (४) योगमार्गणा, (५) वेदमार्गणा, (६) कषाय-मार्गणा, (७) ज्ञानमार्गणा, (८) संयम-मार्गणा, (९) दर्शन-मार्गणा, (१०) लेश्या-मार्गणा, (११) भव्यत्व-मार्गणा, (१२) सम्यक्त्व-मार्गणा, (१३) संज्ञित्व-मार्गणा और (१४) आहारकत्व-मार्गणा।

मार्गणा के ये १४ भेद संसारी जीवों की अपेक्षा से किये जाते हैं। मार्गणा के इन चौदह भेदों में संसारी जीवों की समस्त पर्यायों और उनमें विद्यमान भावों का समावेश हो जाता है।[2]

चौदह मार्गणाओं के लक्षण

(१)**गति**–गति-नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय तथा जिससे जीव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव अथवा नारक व्यवहार का अधिकारी कहलाता है। या चार गतियों–नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव में गमन करने की गति कहते हैं।

(२) **इन्द्रिय**–त्वचा, नेत्र, जीभ आदि जिन साधनों से आत्मा को सर्दी, गर्मी, काले-पीले तथा खट्टा-मीठा आदि विषयों का ज्ञान होता है, वे इन्द्रिय कहलाती हैं, अथवा जो गूढ़-सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने के कारण हैं, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

(३) **काय**–जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल-स्कन्धों से होती है तथा जो शरीरनामकर्म के उदय से निष्पन्न होता है; अथवा

---

१. तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. १ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ३

२. (क) गइ-इंदिए य काए, जोए, वेए, कसाय-नाणेसु।
संजम-दंसण-लेस्सा भवसम्मे सन्नि-आहारे॥ –चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ९

(ख) गइ-इंदिएसु काये जोगे वेदे कसाय-णाणे य।
संजम-दंसण-लेस्सा भविया सम्मत-सण्णि-आहारे॥
गोम्मटसार (जीवकाण्ड) १४१

जातिनामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की (कर्मजन्य वैभाविक) पर्याय को काय कहते हैं।[१]

(४) **योग**–वीर्य-शक्ति के जिस परिस्पन्द से-आत्मिक प्रदेशों की हलचल से, आत्मा की चिन्तन, वचन, गमन, भोजन आदि क्रियाएँ होती हैं वह योग है। तथा शरीर, भाषा और मनोवर्गणा के पुद्गलों की सहायता से होने वाला परिस्पन्द योग कहलाता है अथवा पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काययुक्त जीवों की कर्मग्रहण करने की शक्ति को भी योग कहते हैं।[२]

(५) **वेद**–जिससे इन्द्रियजन्य संयोगज सुख का वेदन किया जाय। अथवा वेदमोहनीयकर्म के उदय से ऐन्द्रिय-रमण करने या संभोगजन्यसुख की अभिलाषा को वेद कहते हैं। अथवा वेदमोहनीय की उदीरणा से होने वाले जीव के परिणामों का सम्मोह (चंचलता), जिससे जीव को गुण-दोष का विवेक नहीं रहता, उसे वेद कहते है।[३]

(६) **कषाय**–किसी पर राग व किसी पर द्वेष करना इत्यादि मानसिक विकार, जो संसारवृद्धि के कारण हैं, तथा जो कषायमोहनीय के उदय-जन्य हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा जो आत्मगुणों को कषे-नष्ट करे, या कष यानी संसार की आय-वृद्धि करे, जिससे संसाररूपी विस्तृत सीमा वाले कर्मरूपी क्षेत्र का कर्षण

---

१. (क) जं णिरय-तिरिक्ख-मणुस्स-देवाणं णिव्वत्तयं कम्मं तं गदिणामं।
-धवला १३/५/२०१/३१३
(ख) इन्दतीति इन्द्र आत्मा। तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरण-क्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धि-लिंगं तदिन्द्रस्यलिंगमिन्द्रियित्युच्यते।
-सर्वार्थसिद्धि १/१४
(ग) आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाऽधिगमे लिंगमिन्द्रियम्। -वही १/१४
(घ) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. ९ विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ४८

२. (क) युज्यते धावन-वल्गनादि-चेष्टास्वात्माऽनेनेतियोगः।
-कर्मग्रन्थ भा. ४ स्योपज्ञ वृत्ति पृ. १२७
(ख) पुग्गल विवाइदेहोदएण मण-वयण-काय. जुत्तस्स।
जीवस्स जाहु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो॥ -गोम्मट. जी. गा. २१५-२१६

३. (क) वेद्यतेऽनुभूयत इन्द्रियोद्भूतं सुखमनेनेति वेदः।
-चतुर्थकर्मग्रन्थ स्वो. टीका. पृ. १२७
(ख) वेयस्सोदीरणाए परिणामस्स या हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणादि जीवो हि गुणं वा दोसं वा॥ -गो. जीव. गा. २७२

किया जाए; अथवा सम्यक्त्व तथा देश-सकल-यथाख्यात चारित्र-त्रय का घात करे, वह कषाय है।[१]

(७) **ज्ञान**—सामान्य-विशेषात्मक वस्तु में से उसके विशेष अंश को जानने वाले आत्म-व्यापार को ज्ञान कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा त्रिकालविषयक (भूत-वर्तमान-भविष्यकाल सम्बन्धी) समस्त द्रव्य और उनके गुणों और पर्यायों को जाना जा सके, वह ज्ञान है।[२]

(८) **संयम**—सावद्य योगों से निवृत्ति अथवा जिसके द्वारा पाप व्यापार रूप आरम्भ-समारम्भों से आत्मा नियंत्रित किया जाए उसे संयम कहते हैं अथवा अहिंसादि व्रतों के धारण, ईर्यादि समितियों के पालन, कषायों के निग्रह तथा मन आदि दण्ड के त्याग और इन्द्रिय-जय को 'संयम' कहा गया है।[३]

(९) **दर्शन**—सामान्य-विशेषात्मक वस्तु-स्वरूप में से वस्तु के सामान्य अंश को जानने-देखने वाले चेतनाशक्ति के उपयोग या व्यापार को दर्शन कहते हैं। पदार्थों के आकार को विशेषरूप से न जानकर सामान्यरूप से जानना दर्शन है।[४]

---

१. (क) सुह-दुक्खसु बहुसस्सं कम्मखेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेत्ति॥ —गो. जीव. गा. २८२,२८१

(ख) सम्मत्त-देस-सयल-चरित्त-जहक्खाद-चरण-परिणामे।
घादंति वा कसाया.....॥ गो. जी. २८३

२. (क) सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः।
—कर्मग्रन्थ भा. ४ स्वो. टीका पृ. १२७

(ख) जाणइ-तिकाल-विसए दव्व-गुणे पज्जए य बहुभेदे। —गोम्मट-जीव. २९८

३. (क) संयमनं सम्यगुपरमणं सावद्ययोगादिति संयमः। यद्वा संयम्यते नियम्यत आत्मा पाप-व्यापार-सम्भारादनेनेति संयमः।'
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १२७

(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ४६४

(ग) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ९ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. १०१,१०२

४. (क) दृश्यते विलोक्यते वस्त्वनेनेति दर्शनम्, यदि वा दृष्टिर्दर्शनम्। सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि सामान्यात्मको बोध इत्यर्थः।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १२७

(ख) सामान्य-प्रधानमुपसर्जनीकृत विशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते।
—स्याद्वादमंजरी १/१०/२२

(ग) गो. जीवकाण्ड गा. ४८१

(१०) **लेश्या**–जिस परिणाम द्वारा आत्मा कर्मों के साथ श्लिष्ट होता है, चिपकता है, उसे लेश्या कहते हैं। अथवा कषायोदय से अनुरंजित योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।[१]

(११) **भव्यत्व**–मोक्ष पाने की योग्यता-प्राप्ति को भव्यत्व कहते हैं। अथवा जो जीव सिद्धि के योग्य हैं, यानी जिन जीवों की सिद्धि-मुक्ति कभी होने वाली हो वे भव्य तथा इसके विपरीत, जिनकी कभी संसार से मुक्ति या सिद्धि नहीं होगी, वे अभव्य हैं।[२]

(१२) **सम्यक्त्व**–वीतराग-प्ररूपित पांच अस्तिकाय, छह द्रव्य तथा नौ तत्त्वों (पदार्थों) पर आज्ञापूर्वक या अधिगमपूर्वक (प्रमाण-नय-निक्षेप द्वारा) श्रद्धा करना सम्यक्त्व है। अथवा मोक्ष के अविरोधी आत्मा के परिणाम को सम्यक्त्व कहते हैं। जीवादि तत्त्वभूत पदार्थों का वीतरागदेव ने जैसा कथन किया है, उसी प्रकार से, विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। वह प्रशम, संवेग आदि पांच लक्षणों से युक्त है।[३]

(१३) **संज्ञित्व**–दीर्घकालिकी संज्ञा की प्राप्ति को संज्ञित्व कहते हैं। या भूत, भविष्य-वर्तमान भाव-स्वभाव का पर्यालोचन जिनमें विद्यमान हो, उन्हें संज्ञी कहते हैं। अथवा नोइन्द्रियावरण (मन के आवरण) के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं, इस संज्ञा के धारक को संज्ञी कहते हैं, इसके विपरीत जिसको द्रव्य-मन के सिवाय अन्य इन्द्रियों से ज्ञान होता है, उसे असंज्ञी कहते हैं।[४]

---

१. (क) लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा सहाऽत्माऽनमेति लेश्या।
–चतुर्थकर्मग्रन्थ स्वो. टीका. पृ. १२७
(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ४८८

२. (क) भवति-परमपदयोग्यतामासादयतीति भव्यः सिद्धिगमन योग्यः। –कर्मग्रन्थ भा. ४ स्वो.टी. पृ. १२७
(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ५५६

३. (क) गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ५६०
(ख) प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा प्रशम-संवेगादिलक्षण आत्मधर्मः इति।
–चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वो. टी. पृ. १२७
(ग) तस्मात् सम्यग्दर्शनमात्म-परिणामः श्रेयोऽभिमुखमध्यवसायः।
–तत्त्वार्थ-अ. १. सू. २, राज. १६.

४. (क) संज्ञानं संज्ञा-भूत-भवद्-भावि-भाव-स्वभाव-पर्यालोचनं, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः॥ –चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वो. टी. पृ. १२७
(ख) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा. ६५९

(१४) **आहारकत्व**–शरीरनामकर्म के उदय से शरीर, वचन और द्रव्यमनोरूप बनने योग्य नोकर्म-वर्गणा का जो ग्रहण होता है, उसे आहार कहते हैं। अथवा ओज-आहार, लोम-आहार, कवलाहार आदि में से किसी न किसी आहार को ग्रहण करना आहारकत्व है। अथवा औदारिक आदि तीन शरीर तथा आहार, शरीर आदि पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं, आहरण करना आहारकत्व है।[१]

इन चौदह मार्गणाओं के लक्षणों को जानने से यह स्पष्ट है कि इन चौदह भेदों द्वारा संसारी जीवों में विद्यमान स्वाभाविक-वैभाविक (कर्मोपाधिक) विभिन्नताओं का बोध हो जाता है; सर्वेक्षण भी स्थूलरूप से हो जाता है।

मूल में मार्गणाओं के चौदह भेद हैं, लेकिन संसारी जीवों में विद्यमान विभिन्नताएँ इन चौदह प्रकार की विभिन्नताओं में परिसमाप्त नहीं होतीं। वे विभिन्नताएँ मार्गणाओं के प्रत्येक प्रकार के अनेक भेदों को लेकर अनेक प्रकार की हैं। कोई मनुष्य है तो कोई तिर्यञ्च, तो कोई देव है तो कोई नारक योनि का शरीर धारण किये हुए है। गति की अपेक्षा विद्यमान विभिन्नताओं की तरह इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान आदि से जनित विभिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। इसलिए उन अनेक प्रकार की

---

१. (क) ओज-आहार-लोमाहार-कवलाहाराणामन्यतममाहारमाहारयति गृण्हातीत्याहारः।
–चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वो. टीका. पृ. १२८

(ख) णोकम्म-कम्महारो-कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज-मणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥
–प्रमेयकमल मार्तण्ड, द्वितीय परिच्छेद
(दि. परम्परा में) नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार और मानसाहार, ये आहार के क्रमशः छह भेद हैं।)

(ग) सरीरेणोयाहारो तयाइ फासेण लोम-अहारो।
पक्खेवाहारो पुण कवलिओ होइ नायव्वो॥
(गर्भ में उत्पन्न होने के समय जो शुक्र-शोणितरूप आहार कार्मण-शरीर द्वारा लिया जाता है, वह ओज-आहार; स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, वह लोम-आहार; और जो अन्न आदि खाद्य पदार्थ मुख द्वारा पेट में डाला जाता है, वह प्रक्षेपाहार=कवलाहार कहलाता है।)
–प्रवचन-सारोद्धार गा. ११८० टीका

(घ) गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ६६४ : उदयावण्ण. सरीरोदएण तद्देहवयण-चित्ताणं णोकम्म-वग्गणाणं गहण आहारयं णाम॥

(ङ) चौदह मार्गणाओं के लक्षण लिए देखें–चतुर्थ कर्मग्रन्थ, विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. १०० तथा (पं. सुखलालजी) पृ. ४७ से ५०

विभिन्नताओं का समावेश करने और बोध कराने हेतु प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेदों का भी कथन करके उनको लेकर होने वाली विभिन्नताओं की प्ररूपणा की गई है।[१]

(१) गति-मार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

गति-मार्गणा के ४ भेद हैं-(१) देवगति, (२) मनुष्यगति, (३) तिर्यंचगति और (४) नरकगति। इन चारों गतिमार्गणाओं के लक्षण इस प्रकार हैं-

(१) **देवगति**-देवगति नामकर्म के उदय से होने वाली पर्याय (शरीरादि का विशिष्ट आकार-प्रकार), जिससे 'यह देव है' ऐसा व्यवहार किया जाए, उसे देवगति कहते हैं। देवगति नामकर्म के उदय होने पर वे दिव्यजन नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप, समुद्रादि अनेक स्थानों पर क्रीड़ा करते हैं, विशिष्ट ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं, दिव्य वस्त्राभूषणों की समृद्धि तथा स्वदेह की सहज कान्ति से जो देदीप्यमान रहते हैं, वे देव कहलाते हैं। ऐसे विभिन्न प्रकार के देवों की गति-गम्यस्थान-देवगति है।

(२) **मनुष्य गति**-जो मन के द्वारा नित्य ही हेय, ज्ञेय, उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का मनन-चिन्तन करते हैं, विचारपूर्वक कार्य करने में निपुण हैं, उत्कृष्ट विकासशील चेतना तथा मानस के धारक हैं, विवेकशील होने से न्याय-नीतिपूर्वक आचरण करते हैं, वे मानव-मनुष्य हैं और 'यह मनुष्य हैं', इस प्रकार का व्यवहार कराने वाली मनुष्यगति नामकर्म की उदयजन्य पर्याय को मनुष्यगति कहते हैं।

(३) **तिर्यञ्चगति**-जो मन-वचन-काय की कुटिलता-मायात्व को प्राप्त हैं, जिनकी आहारादि संज्ञाएँ सुव्यक्त हैं; जो निकृष्ट अज्ञानी हैं, तिरछे गमन करते हैं, जिनके जीवन में अत्यधिक पाप की बहुलता पाई जाती है; उन्हें तिर्यञ्च कहते हैं। तिर्यञ्चगति नामकर्म के उदय से होने वाली जिस पर्याय से जीव तिर्यञ्च कहलाता है, उसे तिर्यञ्च गति कहते हैं। उपपाद जन्म वालों (देवों और नारकों) तथा मनुष्यों को छोड़कर शेष सब एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक तिर्यञ्चगति वाले हैं।

(४) **नरकगति**-जिनकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में तथा परस्पर में प्रीति (रति) नहीं है, जो भावों से हिंसादि कार्यों में रत-संलग्न रहते हैं; जो पूर्व वैरभाव स्मरण करके एक दूसरे से लड़ते-भिड़ते रहते हैं, दुःखी होते हैं, दुःख भी देते हैं, उन्हें नारक कहते हैं। नरकगति नामकर्म के उदय से जिस पर्याय को प्राप्त कर जीव नारक कहलाता है, उसे नरकगति कहते हैं।[२]

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ विवेचन (मरुधरकेसरी) से भावांशग्रहण पृ. १०५

२. वही भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरी) से साभार उद्धृत पृ. १०६-१०७

(२) इन्द्रियमार्गणा के भेद और स्वरूप

इन्द्रियमार्गणा के ५ भेद हैं-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। **एकेन्द्रिय**-जिन जीवों के एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म के उदय से एक ही इन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय है, उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं। **द्वीन्द्रिय**-द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से जिन जीवों के स्पर्शन और रसन (जीभ) ये दो ही इन्द्रियाँ हैं, उन्हें द्वीन्द्रिय कहते हैं। **त्रीन्द्रिय**-त्रीन्द्रिय नामकर्म के उदय से जिन जीवों के स्पर्शन, रसन और घ्राण (नाक) ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें त्रीन्द्रिय कहते हैं। **चतुरिन्द्रिय**-चतुरिन्द्रिय नामकर्म के उदय से जिन जीवों के स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें चतुरिन्द्रिय कहते हैं। **पंचेन्द्रिय**-पंचेन्द्रिय नामकर्म के उदय से स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान), ये पांचों इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं।[१]

(३) काय-मार्गणा के भेद और स्वरूप

कायमार्गणा के छह भेद होते हैं-पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। **पृथ्वीकाय**-पृथ्वी से बनने वाला पार्थिव शरीर। **अप्काय**-जल-परमाणुओं से बनने वाला जलीय शरीर। **अग्नि (तेजस्) काय**-अग्नि या तेज के परमाणुओं से बनने वाला शरीर। **वायुकाय**-वायु (हवा) से बनने वाला वायवीय शरीर वायुकाय है और **वनस्पतिकाय**-जिन जीवों का शरीर वनस्पतिमय हो, उन्हें वनस्पतिकाय कहते हैं। पृथ्वी आदि का शरीर, शरीर नामकर्म के उदय से स्वयोग्य रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त पृथ्वी, जल आदि में ही बनता है। ये पांचों काय स्थावर नामकर्म वाले होते हैं।

त्रसकाय-जो शरीर दूसरे किसी से प्रेरित किये बिना स्वतः प्रेरणा से चल-फिर सकता है, उस जीव को त्रसकाय कहते हैं।

द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के त्रसनामकर्म का उदय होता है और वे अपने-अपने प्राप्त शरीर से स्वयं चल-फिर सकते हैं। हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्तिरूप क्रिया भी कर सकते हैं।[२]

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ. ५२
   (ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. १०७,१०८

२. (क) वही, विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. १०८
   (ख) सुर-नर-तिरि-निरयगइ इग-बिय-तिय-पणिंदि छक्काया।
   भू-जल-जलणानिल-वण-तसा य मण-वयण-तणु-जोगा॥
   -चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १०

(४) योगमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

योगमार्गणा के तीन भेद हैं–मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

मनोयोग–जीव के उस व्यापार को मनोयोग कहते हैं, जो औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर द्वारा ग्रहण किये हुए, मनो-प्रायोग्य वर्गणा (मनोद्रव्य समूह) की सहायता से होता है। अथवा मनोवर्गणा से निष्पन्न द्रव्यमन के अवलम्बन से जीव का जो संकोच-विकोच होता है, वह मनोयोग है। **वचनयोग**–जीव के उस व्यापार को वचनयोग कहते हैं, जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर की क्रिया द्वारा संचय किये हुए भाषाद्रव्य की सहायता से होता है, अथवा भाषावर्गणा के पुद्गल स्कन्धों का अवलम्बन लेकर जीवप्रदेशों का संकोच-विकोच होता है, वह वचनयोग है। **काययोग**–शरीरधारी आत्मा की शक्ति (वीर्य) के व्यापार-विशेष को काययोग कहते हैं।

यद्यपि मनोयोग और वचनयोग के अवलम्बनभूत मनोद्रव्य तथा भाषाद्रव्य का ग्रहण किसी प्रकार के कायिकयोग से ही होता है, इसलिए मनोयोग और वचनयोग भी काययोग से पृथक् नहीं है, तथापि जब काययोग मनन करने में सहायक होता है, तब वह मनोयोग माना जाता है, और जब काययोग भाषा बोलने में सहकारी होता है, तब वह वचनयोग कहलाता है किन्तु काययोग की सहायता से होने वाले भिन्न-भिन्न व्यापारों के व्यवहार के लिए उसके मनोयोग, वचनयोग और काययोग, ये तीन भेद किये जाते हैं।[१]

(५) वेद-मार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

वेद मार्गणा के तीन भेद्र हैं–पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। स्त्री के संसर्ग की अभिलाषा को **पुरुषवेद**, पुरुष के संसर्ग की अभिलाषा को **स्त्रीवेद** और स्त्री-पुरुष दोनों के संसर्ग की अभिलाषा को **नपुंसकवेद** कहते हैं।

---

१. (क) तनुयोगेन मनः प्रायोग्य-वर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणामितानि वस्तु-चिन्ता-प्रवर्तकानि द्रव्याणि मन इत्युच्यन्ते, तेन मनसा सहकारिकारण-भूतेन योगो मनोयोगः। –चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १२८

(ख) मण-वग्गणादो-णिप्पण-दव्वमणमवलंबिय जीव पदेसाणं संकोच-विकाचो सो मणजोगो॥ –धवला टीका ७/२, १, ३३/७६

(ग) उच्यते इति वचनं, भाषा-परिणामापन्नः पुद्गलःसमूहः इत्यर्थः।
तेन वचनेन सहकारि-कारणभूतेन योगो वचनयोगः।
–चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १२८

(घ) भासावग्गणा पोग्गलखंधे अवलंबिय जीवपदेसाणं संकोच-विकाचो सो वचिजोगो णाम। –धवला ७/२/१/३३/७६

वेद के दो प्रकार हैं-द्रव्यवेद और भाववेद। उपर्युक्त लक्षण भाववेद के हैं। द्रव्यवेद का निर्णय बाह्य चिन्हों से किया जाता है। पुरुष के चिन्ह दाढ़ी, मूंछ आदि, स्त्री के चिन्ह दाढ़ी-मूंछ आदि का अभाव और स्तन आदि हैं; तथा नपुंसक में स्त्री-पुरुष दोनों के कुछ चिन्ह होते हैं। द्रव्यवेद का निर्माण शरीर और अंगोपांग नामकर्मजन्य होता है, जबकि भाववेद मोहनीय कर्म के भेद वेद-नोकषाय मोहनीय-कर्मजन्य होता है। द्रव्यवेद और भाववेद में प्रायः समानता होती है, लेकिन कहीं-कहीं विषमता भी पाई जाती है। अर्थात्-बाह्य शरीर, आकृति या चिन्ह पुरुष के होते हैं, मगर भाव स्त्री या नपुंसक जैसे होते हैं। प्रज्ञापनासूत्र भाषापद की टीका में इसकी द्रव्य-भाव-वेदपरक व्याख्या की गई है।[१]

(६) कषाय-मार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

कषाय-मार्गणा के मुख्य चार भेद हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ। यहाँ काषायिक शक्ति के तीव्र-मन्द आदि भावों की अपेक्षा से कषाय चतुष्टय के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी एवं संज्वलन, ये प्रत्येक के चार-चार प्रकार न बतलाकर जाति की अपेक्षा से सिर्फ क्रोधादि चार भेद किये गए हैं।

क्रोध-अन्तर् में परम उपशमरूप अनन्त गुणयुक्त आत्मा में सकारण या अकारण सजीव या अजीव पदार्थों के प्रति असहिष्णुता के कारण क्षोभ, रोष, प्रकोप, आवेश, क्रूरता या क्रूरपरिणाम उत्पन्न होता है, जो स्व-पर का उपघात या अनुपकार आदि करने वाला होता है, वह क्रोध कहलाता है।

मान-जाति, कुल, बल, श्रुत, तप, लाभ, ऐश्वर्य आदि के अहंकार के कारण दूसरों के प्रति तिरस्कारयुक्त वृत्ति हो, नमने की वृत्ति न हो या छोटे-बड़े के प्रति

---

१. (क) नरस्य पुरुषस्य स्त्रियं प्रत्यभिलाषो नरवेदः।
स्त्रियः योषितः पुरुषं प्रत्यभिलाषः स्त्रीवेदः।
नपुंसकस्य षण्ढस्य स्त्री-पुरुषौ प्रत्यभिलाषो नपुंसकवेदः।
-चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टी. पृ. १२९

(ख) योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीबता स्तनौ।
पुंस्कामितेति लिंगानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते॥१॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्यं श्मश्रुधृष्टता।
स्त्रीकामितेति लिंगानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादि भावाभाव-समन्वितम्।
नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम्॥३॥ -प्रज्ञापना. भाषापद टीका

उचित नम्रभाव न रखा जाता हो उसे मान कहते हैं। गर्व, मद, घमंड, अहंकार, दर्प, स्तब्धत्व, ये सब मान के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

माया–आत्मा के कुटिल, वक्र या छल-कपट, ठगी, वंचना, धूर्तता आदि भाव को माया कहते हैं। अथवा दूसरों को ठगने, धोखा देने या चकमा देने के लिये जो कुटिलता, छल-प्रपंच या प्रवंचना की जाती है, या अपने हृदय के भावों को छिपाने की जो चेष्टा की जाती है, वाह माया है।

लोभ–धन, अभीष्ट पदार्थ, या पद-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने की, संचित करने की, वृद्धि करने की या ममत्व मूर्च्छापूर्वक रखने की आकांक्षा, इच्छा, गृद्धि, आसक्ति, लालसा, तृष्णा या वासना को लोभ कहते हैं। बाह्य पदार्थों के प्रति 'यह मेरा है' इस प्रकार की अनुरागबुद्धि को भी लोभ कहते हैं।[१]

(७) ज्ञान-मार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

ज्ञानमार्गणा के ५ ज्ञान और तीन अज्ञान, यों कुल ८ भेद बताये गए हैं। यथा–(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यायज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) मति-अज्ञान, (७) श्रुत-अज्ञान और (८) विभंगज्ञान। ज्ञान के साथ तीन अज्ञानों को इसलिए ग्रहण किया गया है कि ये भी ज्ञान की एक विशेष पर्याय हैं तथा मिथ्यात्वयुक्त होने से इनसे पदार्थ का सम्यग्ज्ञान न होकर मिथ्या (विपरीत) ज्ञानरूप कार्य होता है, ये तीनों अज्ञान ज्ञानाभावरूप नहीं, कुज्ञानरूप हैं।

मतिज्ञान–इन्द्रियों और मन के द्वारा यथायोग्यस्थान में अवस्थित वस्तु के होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान प्रायः वर्तमानकालिक विषयों को जानता है।

श्रुतज्ञान–जो ज्ञान श्रुतानुसारी होता है, यानी जिसमें शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है, और जो मतिज्ञानपूर्वक इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है, वह श्रुतज्ञान है। जैसे-जल शब्द सुनकर, यह जानना कि यह शब्द 'पानी' का बोधक है अथवा पानी देखकर यह विचारना कि यह जल शब्द का अर्थ है। इसी प्रकार उससे सम्बन्धित अन्यान्य बातों का विचार करना श्रुतज्ञान है।[२]

अवधिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखे बिना जो ज्ञान साक्षात् आत्मा के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादापूर्वक पदार्थ को ग्रहण

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ११ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ११६
(ख) चतुर्थ कर्मविपाक गा.११ विवेचन से सारांश ग्रहण (पं. सुखलालजी) पृ. ५५

२. (क) मन्यते-इन्द्रिय-मनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः-योग्यदेशावस्थित-वस्तु-विषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगम-विशेषः।
(ख) श्रवणं श्रुतम्-शब्दार्थ-पर्यालोचनानुसारी इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेषः।
-चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टी., पृ. १२९

करता-जान लेता है,वह अवधिज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान का विषय रूपी (मूर्त) पदार्थ हैं।

मनःपर्यायज्ञान-संज्ञी जीवों की, मन की पर्यायों-चिन्तनगत परिणामों को जानना मनःपर्यायज्ञान है। इस ज्ञान के होने में भी इन्द्रिय और मन की सहायता की नहीं, किन्तु आत्मा के असाधारण गुण ज्ञान के आवरणभूत ज्ञानावरणीय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा होती है।

केवलज्ञान-ज्ञानावरणीय कर्म का निःशेष (पूर्ण) रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य त्रैकालिक सब तस्तुएँ जानी जाती हैं उसे केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान परिपूर्ण अव्याघाती, असाधारण, अनन्त, स्वतंत्र और अनन्तकाल-स्थायी एवं केवल एक, असहायी ज्ञान होता है। केवलज्ञान का प्रादुर्भाव क्षयोपशमजन्य मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्याय इन छाद्मस्थिक ज्ञानों के क्षय होने पर होता है।

मति-अज्ञान-मिथ्यात्व के उदय से तथा इन्द्रिय मन से होने वाले विपरीत उपयोग को मतिअज्ञान कहते हैं।

श्रुत-अज्ञान-मिथ्यादर्शन के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान को अज्ञान कहते हैं। जैसे-चौर्यशास्त्र, कामशास्त्र, हिंसाशास्त्र आदि हिंसादि आपत्तिजनक पापकर्मों के विधायक या निर्देशक-प्रेरक तथा अयथार्थतत्त्व-प्रतिपादक ग्रन्थ कुश्रुत कहलाते हैं, उनका ज्ञान श्रुत-अज्ञान कहलाता है।

अवधि-अज्ञान (विभंगज्ञान)-रूपी पदार्थों के मर्यादित द्रव्यादिरूप से जानने वाले अवधिज्ञान को मिथ्यात्व के उदय से विपरीत रूप में जानना अवधि-अज्ञान या विभंगज्ञान है।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को अनेकान्तदृष्टि से देखता है, उसका ज्ञान हेय-ज्ञेय-उपादेय की बुद्धि से युक्त होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि का ज्ञान व्यवहार में ससीचीन होने पर भी वस्तु को एकान्त दृष्टि से जानने वाला, कदाग्रही तथा हेयोपादेय-विवेकरहित होता है। मनःपर्याय और केवल, ये दो ज्ञान सम्यक्त्व के सद्भाव में ही होते हैं, अतएव ये दोनों अज्ञानरूप नहीं होते।

मतिज्ञान आदि आठ प्रकार के ज्ञान साकार कहलाते हैं, क्योंकि वे वस्तु के प्रतिनियत आकार को विशेष को-ग्रहण करते हैं।[१]

---

१. (क) वेय नरित्थि-नपुंसा, कसाय कोह-मय-माय-लोभ त्ति।
मइ-सुयऽवहि-मण-केवल-विभंग-मइ-सुअ-नाण सागारा॥११॥
-चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ११

(शेष पृष्ठ २१२ पर)

(८) सयंममार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

संयम-मार्गणा के सात भेद हैं-(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहार-विशुद्धि, (४) सूक्ष्म-सम्पराय, (५) यथाख्यात, (६) देश-विरति और (७) अविरति (असंयम)।

१. **सामायिक-संयम**-रागद्वेष के अभाव को समभाव कहते हैं; और जिस संयम (चारित्र-साधना) से समभाव की प्राप्ति हो, वह सामायिक संयम है। अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सम कहते हैं, उनकी आय-लाभ या प्राप्ति होने को समाय, तथा समाय के भाव को या समाय को सामायिक कहते हैं।

सामायिक संयम के दो प्रकार हैं-इत्वर और यावत्कथित।

इत्वरसामायिक वह है, जो अभ्यासार्थी (नवदीक्षित) शिष्यों को स्थिरता प्राप्त करने के लिये पहले पहल दिया जाता है; जिसकी काल-मर्यादा उपस्थापन-पर्यन्त (बड़ी दीक्षा लेने तक) मानी जाती है। यह संयम भरत और ऐरवत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के समय अंगीकार किया जाता है। इस संयम के धारण करने वाले साधक को प्रतिक्रमण-सहित अहिंसादि पांच महाव्रत अंगीकार करने पड़ते हैं, और इसके अधिकारी स्थविरकल्पी साधु-साध्वी होते हैं।

(पृष्ठ २११ का शेष)

(ख) अवधानमवधि:-इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मन: साक्षादर्थग्रहणम्, यद्वा अवधि:-मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधि:। अवधिश्च तद्ज्ञानं च अवधिज्ञानम्।

-चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १२९

(ग) मनसि मनसो वा पर्यवो मन:पर्यव: सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ:। मन:पर्यवश्च तद्ज्ञानं मन:पर्यवज्ञानम्। यद्वा मन:पर्यायज्ञानम् ..... तेषां (संज्ञि जीवानां) मनसां पर्याया:-चिन्तनानुगा: परिणामा-मन:पर्याया:। तेषु तेषां च सम्बन्धि ज्ञानम्-मन:पर्यायज्ञानम्।

(घ) शुद्धं वा केवलं तदावरण-मल-कलंक-पंकावगमात् ..... यथावस्थित भूत-भवद्-भावि-भावावभासि ज्ञानमिति।

-चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ. १२९

(ङ) केवलं-एकं मत्यादिरहितत्वात् नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे।

-आवश्यकनिर्युक्ति गा. ५३९

(च) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ११ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ११५ से ११९

(छ) वि-विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भंग: विपर्यय:, इति विभंग:।

यावत्कथित-सामायिक संयम वह है, जो ग्रहण करने के समय से जीवन-पर्यन्त पाला जाता है। ऐसा संयम भरत-ऐरवत क्षेत्र में मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शासन में ग्रहण किया जाता है। महाविदेह क्षेत्र में तो यह संयम, सब समय में लिया जाता है। इस संयम को अंगीकार करने वालों के चार महाव्रत और स्थितास्थित कल्प होते हैं।[१]

(२) **छेदोपस्थापस्थापनीय संयम**–पूर्व संयम-पर्याय को छेद कर फिर से उपस्थापन (व्रतारोपण) करना–पहले जितने समय तक संयम का पालन किया हो, उतने समय को व्यवहार में न गिनना और दुबारा (नये सिरे से) संयम ग्रहण करने के समय से दीक्षाकाल गिनना व छोटे-बड़े का व्यवहार करना–छेदोपस्थापनीय संयम है। इसके भी दो भेद हैं–सातिचार और निरतिचार। **सातिचार छेदोपस्थापनीय– संयम** वह है, जो किसी कारण से मूलगुणों–महाव्रतों का भंग हो जाने पर फिर से ग्रहण किया जाता है। **निरतिचार छेदोपस्थापनीय** उस संयम को कहते हैं, जिसे इत्वरसामायिक संयम वाले बड़ी दीक्षा के रूप में स्वीकारते हैं। यह संयम भरत, ऐरवत क्षेत्र में प्रथम तथा चरम तीर्थंकर के साधु-साध्वीवर्ग के होता है, तथा जब एक तीर्थ के साधु, दूसरे तीर्थ में प्रविष्ट होते हैं। जैसे–भगवान्-पार्श्वनाथ के साधु केशी, गांगेय[२] आदि सन्तानीय साधु भगवान् महावीर के तीर्थ में प्रविष्ट हुए थे, तब उन्होंने भी पुनर्दीक्षा के रूप में यह संयम अंगीकार किया था।[३]

(३) **परिहारविशुद्धि-संयम** वह है, जिस संयम में परिहार नामक तपोविशेष से चारित्रशुद्धि प्राप्त की जाती है। परिहार-विशुद्धि तप की विधि संक्षेप में इस प्रकार

---

१. (क) समः राग-द्वेष-वियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः। समस्य आयः समायः, समाय एवं सामायिकम्।

(ख) समानां ज्ञान-दर्शन-चारित्राणामायः लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्।
–चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १३०.

(ग) आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातरपिण्ड, राजपिण्ड, कृतिक्रम व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा, इन १० कल्पों में जो स्थित हैं, वे स्थितकल्पी तथा इन १० में से शय्यातरपिण्ड, व्रत, ज्येष्ठ तथा कृतिक्रम इन चार कल्पों में जो नियम से स्थित और शेष ६ कल्पों में अस्थित होते हैं वे स्थितास्थित कल्पी कहलाते हैं। –पंचाशक प्रकरण १७–आवश्यक हारि. वृत्ति पृ. ७९०

२. इसका वर्णन भगवतीसूत्र में है।

३. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा, १२, विवेचन, (पं. सुखलालजी), पृ. ५८,५९

(ख) तत्र पूर्वपर्यायस्य छेदेनोपस्थापना महाव्रतेष्वारोपणं यत्र चारित्रे तत् छेदोपस्थापनम्। –चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १३०

है–नौ साधुओं का एक गण (समुदाय) मिलता है। जिसमें से चार साधु इस तप का आचरण करने वाले और चार साधु उनके परिचारक (सेवा करने वाले) तथा एक वाचनाचार्य बनते हैं। जो तपस्वी होते हैं, वे ग्रीष्मकाल में जघन्य एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन उपवास करते हैं, तथा शीतकाल में जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार उपवास करते हैं; एवं वर्षाकाल में जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पांच उपवास करते हैं। ये तपस्वी पारणे के दिन साभिग्रह आयम्बिल (आचाम्ल) तप करते हैं। यह क्रम ६ महीने तक चलता है। इसके पश्चात् दूसरे छह महीनों में पहले के तपस्वी परिचारक बनते हैं और परिचारक तपस्वी। तपस्वी बने हुए साधुओं के तपश्चरण का वही (पूर्ववत्) क्रम रहता है, और जो परिचारक पद अंगीकार करते हैं, वे सदा आयम्बिल तप ही करते हैं। दूसरे छह महीने के बाद तीसरे छह महीने के लिए भूतपूर्व वाचनाचार्य तपस्वी बन जाता है और शेष आठ साधुओं में से एक वाचनाचार्य और बाकी के सात साधु परिचारक बनते हैं। इस प्रकार तीसरे छह महीने पूर्ण होने के पश्चात् अठारह मास का यह परिहारविशुद्धि नामक तपश्चरण पूर्ण हो जाता है। इसके पश्चात् वे नौ ही साधु या तो 'जिनकल्प' अंगीकार करते हैं, या फिर पहले वे जिस गच्छ के रहे हों, उसी में पुनः प्रविष्ट हो जाते हैं; अथवा वे पुनः परिहारविशुद्धि तपश्चरण प्रारम्भ करते हैं। परिहारविशुद्धि तप के इसी अपेक्षा से दो भेद हो जाते हैं–एक **निर्विशमानक**, जो वर्तमान में परिहारविशुद्ध हैं, दूसरे **निर्विष्टकायिक**, जो अतीत में परिहारविशुद्ध हो चुके हैं।[१]

---

१. (क) इस संयम के अधिकारी के लिए श्वेताम्बर परम्परा में जघन्य २९ वर्ष का गृहस्थपर्याय (उम्र) तथा जघन्य २० वर्ष का साधु दीक्षा पर्याय (दीक्षाकाल) तथा दोनों पर्यायों का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ कम करोड़ वर्ष पूर्व माना गया है। इस संयम के अधिकारी को साढ़े नौ पूर्व का ज्ञान होना आवश्यक है। इस संयम का ग्रहण तीर्थंकर या तीर्थंकर के अन्तेवासी के पास लेने का विधान है। इस संयम के धारक मुनि तीसरे पहर में ही भिक्षा या विहार कर सकते हैं, शेष समय में ध्यान, कायोत्सर्ग आदि। दिगम्बर परम्परा में तीस वर्ष की उम्र वाले को इस संयम का अधिकारी माना है साथ ही तीन सन्ध्याओं को छोड़कर दिन के किसी भाग में दो कोस तक जाने का विधान है। इस संयम का ग्रहण तीर्थंकर के सिवाय अन्य किसी के पास नहीं हो सकता; ऐसा विधान है। यथा–तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयर-मूले।
पच्चक्खाणं पढिदो, संझूण दुगाउयविहारो॥ –गोम्मटसार जीवकाण्ड ४७२

(ख) श्वेताम्बर परम्परा में प्रमाण–एयस्स एस नेओ, गिहि-परिआओ जहंन्नि गुणतीसा।
जइ-परियाओ वीसा; दोसु वि उक्कोस देसूणा॥ –जयसोमसूरिकृत टब्बा

(ग) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १२ टिप्पण (पं. सुखलालजी), पृ. ५९

(४) सूक्ष्म-सम्पराय-संयम-जिस संयम में सम्पराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म (अतिस्वल्प, अतिमन्द) रहता है, वह सूक्ष्मसम्पराय-संयम है। इसमें सिर्फ सूक्ष्म लोभकषाय का उदय रहता है, अन्य कषायों का नहीं। यह संयम दशम गुणस्थानवर्ती साधकों को होता है। इसके दो प्रकार होते हैं-संक्लिश्यमानक और विशुद्धयमानक। उपशमश्रेणी से गिरने वालों को दसवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय जो संयम होता है, वह **संक्लिश्य-मानक सूक्ष्मसम्परायसंयम** होता है, क्योंकि पतन होने के कारण उस समय परिणाम संक्लेशप्रधान होते जाते हैं तथा उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वालों को जो संयम दसवें गुणस्थान में होता है, वह **विशुद्धयमानक सूक्ष्म-सम्पराय** संयम है, क्योंकि उस समय के परिणाम विशुद्धि-प्रधान ही होते हैं।[1]

(५) यथाख्यात-संयम-जिस संयम में कषाय का उदय लेशमात्र भी नहीं है, जो संयम यथातथ्य है, वह यथाख्यात संयम है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से निष्पन्न तथा आत्मा का जैसा शुद्ध स्वभाव है, तदवस्थारूप जो वीतरागसंयम होता है, उसे यथाख्यात संयम कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं-(१) छाद्मस्थिक और (२) अछाद्मस्थिक। **छाद्मस्थिक यथाख्यात संयम** यह है, जो ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान वालों को होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय का उदय तो नहीं है किन्तु कषाय की सत्ता है, जबकि बारहवें गुणस्थान में कषाय की सत्ता भी नहीं है। **अछाद्मस्थिक यथाख्यात संयम**-केवलियों को होता है। सयोगीकेवली का संयम सयोगी यथाख्यात और अयोगी केवली का संयम अयोगी यथाख्यात है।

(६) देशविरति-संयम-कर्मबन्धजनक आरम्भ-समारम्भ से किसी अंश में निवृत्त होना देशविरति संयम है। इसके अधिकारी गृहस्थ हैं।

(७) अविरति-किसी भी प्रकार के संयम का स्वीकार न करना अविरति है। यह पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक पाया जाता है।[2]

---

१. (क) सम्परैति-पर्यटति संसारमनेनेति सम्पराय: क्रोधादि-कषाय:, सूक्ष्मो लोभांश-मात्रावशेषतया सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसम्पराय:।
-चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १३७

(ख) इदमपि संक्लिश्यमानक-विशुद्धयमानकभेदात् द्विधा। तत्र श्रेणि-प्रच्यवमानस्य संक्लिश्यमानकम्, श्रेणिमारोहतो विशुद्धयमानकमिति।"
-वही स्वो. टीका पृ. १३७

२. (क) उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि।
छद्मत्थो वा जिणो वा अहक्खाओ संजओ साहू॥ -पंचसंग्रह १/३३

(शेष पृष्ठ २१६ पर)

(९) दर्शन-मार्गणा के भेद और उनके स्वरूप

दर्शनमार्गणा के चार भेद हैं-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। **चक्षुदर्शन** वह है, जिसमें चक्षुरिन्द्रिय द्वारा पदार्थ के सामान्य अंश का बोध हो। **अचक्षुदर्शन** वह है, जिसमें चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थ के सामान्य अंश का बोध हो। अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियों की सहायता के बिना अवधि-लब्धिवालों को जो रूपीद्रव्यविषयक सामान्य बोध होता है, वह **अवधिदर्शन** है। सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायों को सामान्यरूप से विषय करने वाले बोध को '**केवलदर्शन**' कहते हैं। समस्त आवरणों के अत्यन्तक्षय से सिर्फ आत्मा ही मूर्त-अमूर्त सर्वद्रव्यों का पूर्णतया सामान्यरूप अवबोध करती है। दर्शन को अनाकार उपयोग इसलिए कहते हैं कि वह वस्तु के सामान्य विशेष उभय रूपों में से सामान्य रूप (आकार) को ही मुख्यतया जानता-देखता है। न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में दर्शन को '**निर्विकल्प-अव्यवसायात्मक ज्ञान**' कहा गया है।[१]

(१०) लेश्या मार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

लेश्या-मार्गणा के छह भेद हैं-कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल। लेश्या के दो भेद हैं-द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेषात्मक है। इसके रंग, रस, गन्ध और स्पर्श चारों होते हैं। द्रव्यलेश्या का स्वरूप तीन प्रकार का पाया जाता है-(१) कर्मवर्गणानिष्पन्न, (२) कर्मनिष्यन्न और (३) योगों का परिणाम। प्रथम मतानुसार-लेश्याद्रव्य कर्मवर्गणा से बने हुए हैं, तथापि वे अष्टविध कर्मों से भिन्न हैं; जैसे कि कार्मणशरीर। यह मत उत्तराध्ययन (अ. ३४) की टीका

(पृष्ठ २१५ का शेष)

(ख) देशे-संकल्प-निरपराध-त्रसवध-विषये यतं-यमनं संयमो यस्य स देशयतः सम्यक्दर्शनयुत एकाणुव्रतादिधारी अनुमतिमात्रश्रावक इत्यर्थः।

(ग) न विद्यते यतं-विरतं विरतिर्यस्य सोऽप्यतः सर्वथा विरतिहीनः।

-वही स्वो. टी. पृ. १३७

१. (क) चक्खूणं जं पयासइ, दीसइ तं चक्खुदंसणं विंति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु ति। -पंचसंग्रह १३९

(ख) केवलेन सम्पूर्णवस्तुतत्वग्राहक-बोध-विशेषरूपेण तत्केवलदर्शनम् ॥ यद्दर्शनं-सामान्यांशग्रहणं -चतुर्थ कर्मग्रन्थ पृ. १३७

(ग) भावाणं सामण्ण-विसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।
वण्णण-हीणग्गहणं जीवेण ते दंसणं होदि॥ -गो. जी. ४८३ गा.

का है। द्वितीय मतानुसार लेश्या द्रव्य, कर्म-निष्यंदरूप (कर्म-प्रवाहरूप) है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म के होने पर भी उसका निष्पन्दन होने से लेश्या के अभाव की उपपत्ति हो जाती है। उत्तराध्ययन पाई टीका में इस मत को व्यक्त किया है। तृतीय मतानुसार-लेश्या द्रव्य, योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतंत्र द्रव्य है। यह मत आचार्य हरिभद्रसूरि आदि का है। प्रज्ञापना पद १७ की टीका लोकप्रकाश में इसी मत का समर्थन है।

भावलेश्या, आत्मा का परिणाम विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक प्रकार होने से वस्तुतः भावलेश्या अनेक प्रकार की होती है, परन्तु शास्त्रकारों ने संक्षेप में ६ विभाग करके उसका स्वरूप बताया है। सर्वार्थसिद्धि और गोम्मटसार में कषायोदय-अनुरंजित योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहा गया है। यद्यपि इस लक्षणानुसार दसवें गुणस्थान तक ही लेश्या का होना पाया जाता है। एक अपेक्षा से यह कथन पूर्वमत से विरुद्ध नहीं है। पूर्वमत में केवल प्रकृति-प्रदेश बन्ध के निमित्तभूत परिणाम विवक्षित हैं, जबकि इस मत में स्थिति-अनुभाग आदि चारों बन्धों के निमित्तभूत परिणाम लेश्या शब्द से विवक्षित हैं।[१] कर्मग्रन्थ में लेश्या के ६ भेदों का स्वरूप समझाने के लिए जामुन के वृक्ष का तथा छह लुटेरों का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।[२] छह लेश्याओं का संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है-

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ 'क' परिशिष्ट, (पं. सुखलालजी), पृ. ३३
(ख) उत्तराध्ययन अ. ३४ टीका, पृ. ६५०,
(ग) उत्तरा. वादिवैताल शान्तिसूरि टीका में उद्धृत
(घ) प्रज्ञापना १७वाँ लेश्यापद टीका पृ. ३३०
(ङ) लोकप्रकाश सर्ग ३, श्लो. २८५
(च) भावलेश्या कषायोदयानुरंजिता योग-प्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।
-सर्वार्थसिद्धि अ. २, सू ६
(छ) जोगपउत्ती लेस्सा, कसाय-उदयाणुरंजिया होइ।
तत्तो दोण्णं कज्जे, बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥४८९॥
अयदोत्ति छलेस्साओ, सुहतिय-लेस्सा दु देस विरदतिये।
तत्तो सुक्का लेस्सा, अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥५३१॥ -गोम्मटसार जीवकाण्ड

२. (क) किसी समय छह पुरुष जम्बूफल (जामुन) खाने की इच्छा करते हुए चले जा रहे थे। इतने में जामुन के पेड़ को देख, उनमें से **एक** पुरुष बोला-"लो जामुन का पेड़ आ गया। अब फलों के लिये ऊपर चढ़ने की अपेक्षा अनेक फलों से

(शेष पृष्ठ २१८ पर)

१. कृष्ण लेश्या–कज्जल के सदृश कृष्णवर्ण के कलुषित लेश्याजातीय पुद्गलों के सम्पर्क से आत्मा में ऐसे क्रूर, अतिरौद्र परिणाम होते हैं, जिनसे हिंसादि पांच आस्रवों में प्रवृत्ति होती है, मन-वचन-काय पर कोई संयम (नियन्त्रण) नहीं रहता, स्वभाव मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष एवं क्लेश से परिपूर्ण क्षुद्र बन जाता है, गुण-दोष, या

(पृष्ठ २१७ का शेष)

लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखा वाले इस वृक्ष को ही काट गिराना अच्छा है।" यह सुन **दूसरा** बोला–"वृक्ष को काटने से क्या फायदा? केवल शाखाओं को काट दो।" **तीसरे** व्यक्ति ने कहा–"यह भी ठीक नहीं। छोटी-छोटी शाखाओं के काटने से भी काम चल सकता है।" **चौथे** ने कहा–"शाखाएँ भी क्यों काटें? फलों के गुच्छों को तोड़ लो।" **पांचवाँ** बोला– "गुच्छों से हमें क्या मतलब?" उनमें से कुछ फलों को ही ले लेना उचित है।" अन्त में **छठे** पुरुष ने कहा–'ये सब विचार निरर्थक हैं; क्योंकि हम लोग जिन्हें चाहते हैं, वे फल तो नीचे भी गिरे हुए हैं। क्या उन्हीं से अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता?"

(ख) कोई छह पुरुष धन लूटने के इरादे से जा रहे थे। रास्ते में किसी गाँव को पाकर उनमें से **एक** बोला–"इस गाँव को तहस-नहस कर दो–मनुष्य, पशु, पक्षी, जो कोई मिले, उन्हें मारो और धन लूट लो।" यह सुनकर **दूसरा** बोला–"पशु-पक्षी आदि को क्यों मारा जाए? केवल मनुष्यों को ही मारो।" **तीसरे** ने कहा–"बेचारी स्त्रियों की हत्या क्यों की जाए? पुरुषों को ही मारा जाए।" **चौथे** ने कहा–"सभी पुरुषों को नहीं, जो सशस्त्र हों, और विरोध करें, उन्हीं को मारो।" **पांचवें** ने कहा–"जो सशस्त्र पुरुष भी विरोध नहीं करते, उन्हें क्यों मारा जाए?" अन्त में **छठे** पुरुष ने कहा–"किसी को भी मारने से क्या लाभ? जिस प्रकार से धन-हरण किया जा सके, उस प्रकार से उसे बटोर लो और ले चलो, किसी को मारो मत। एक तो धन लूटना और दूसरे उसके मालिकों को मारना, यह ठीक नहीं।"

इन दो दृष्टान्तों से लेश्याओं का स्वरूप स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। प्रत्येक दृष्टान्त के छह-छह पुरुषों में पूर्व-पूर्व पुरुष के परिणामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम पाये जाते हैं,अर्थात्–उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता पाई जाती है। आशय यह है कि प्रथम पुरुष के परिणाम को कृष्णलेश्या, दूसरे के परिणाम को नील लेश्या, तीसरे पुरुष के परिणाम को कापोतलेश्या, चौथे पुरुष के परिणाम को तेजोलेश्या, पांचवें पुरुष के परिणाम को पद्मलेश्या और छठे पुरुष के परिणाम को शुक्ललेश्या समझना चाहिए। –आवश्यक हारि. वृत्ति पृ. ६४५

हिताहित का परीक्षण-अन्वीक्षण किये बिना ही सहसा कार्य करने की आदत हो जाती है, ऐसी दुर्वृत्तियुक्त परिणामों का नाम कृष्णलेश्या है।[१]

२. नील लेश्या—अशोकवृक्ष के समान नीले रंग के लेश्या जातीय पुद्गलों के संसर्ग से आत्मा में ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं, जिनसे ईर्ष्या, असहिष्णुता, अहंता-ममता, एवं माया (छल-कपट) होने लगते हैं, निर्लज्जता या धृष्टता आ जाती है, विषयों की लालसा प्रबल रूप से प्रदीप्त हो उठती है, रस-लोलुपता पद-पद पर परिदृष्ट होती है, तथा पौद्गलिक (भौतिक) सुखों की प्राप्ति की खोज में प्राणी रहता है, ऐसे परिणामों का नाम नील लेश्या है।

३. कापोत लेश्या—कबूतर के कण्ठ के समान रक्तमिश्रित कृष्णवर्ण के लेश्यावर्गीय पुद्गलों के सम्पर्क से आत्मा में ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं, जिनसे सोचने-विचारने, बोलने और कार्य करने में सर्वत्र वक्रता (विपरीतता या कुटिलता) ही वक्रता होती है, किसी विषय में सरलता, नम्रता या मृदुता नहीं होती, स्वभाव में नास्तिकता आ जाती है और दूसरों के लिये कष्टदायक (कर्कश, कठोर, छेदन-भेदनकारी) भाषण-संभाषण करने की प्रवृत्ति होती है; ऐसे परिणाम, कापोतलेश्या के लक्षण हैं।

४. तेजो लेश्या (पीत लेश्या)—तोते की चोंच के समान रक्तवर्ण के लेश्या-पुद्गलों के संसर्ग से आत्मा में एक ऐसा परिणाम होता है, जिससे स्वभाव में नम्रता, मृदुता, ऋजुता आ जाती है, शठता-कुटिलता-वक्रता दूर हो जाती है, चंचलता कम हो जाती है, धर्म तथा धर्मध्यान में रुचि एवं दृढ़ता होती है, और सब लोगों का हित करने की इच्छा होती है, ऐसे परिणाम तेजोलेश्या के लक्षण है।

५. पद्म लेश्या—हल्दी के समान रंग के लेश्यामय पुद्गलों से आत्मा में ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं, जिनसे क्रोध, मान आदि चारों कषाय अधिक अंशों में मन्द हो जाते हैं, चित्त प्रशान्त एवं समभाव में स्थिर होने लगता है, आत्म संयम बढ़ जाता है, मितभाषिता और जितेन्द्रियता आ जाती है। ऐसे परिणाम हों, वहाँ पद्म लेश्या होती है।

६. शुक्ल लेश्या—आत्मा के उस परिणाम को समझना चाहिए, जिससे आर्त-रौद्ररूप अशुभ ध्यान बंद होकर धर्म-शुक्लध्यान में आत्मा रमण करने लगता है, मन-वचन-काय को नियंत्रित एवं स्थिर (एकाग्र) बनाने में रुकावट नहीं आती,

---

१. कृष्णादि-द्रव्य-सान्निध्यात्, परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्यैव तत्राऽयं, लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते॥

कषाय की उपशान्ति तथा वीतराग भाव सम्पादन करने की अनुकूलता हो जाती है, शंख के समान ऐसा श्वेतवर्णीय लेश्या जातीय पुद्गलों के संसर्ग से होता है।[१]

(११) भव्यत्व-मार्गणा के भेदों का स्वरूप

भव्य–भव्य वे हैं, जो अनादि तादृश-पारिणामिक-भाव के कारण मोक्ष को पाते हैं या पाने की योग्यता रखते हैं।

अभव्य–जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष को पाने की योग्यता नहीं रखते, वे अभव्य हैं।

भव्य जीवों में से कुछ ऐसे होते हैं, जो अतिशीघ्र मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं। कुछ बहुत काल के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नहीं मिल पाती है, जिससे कि वे मोक्ष प्राप्त कर सकें। जैसे–किसी मिट्टी में सोने का अंश तो है, परन्तु अनुकूल साधन न मिलने से सोने का अंश प्रकट नहीं हो पाता है। भव्यों के उपर्युक्त तीनों प्रकारों को शास्त्र में क्रमशः आसन्नभव्य, दूरभव्य और जातिभव्य कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में जातिभव्य को 'अभव्य-सम-भव्य' कहा है।[२]

(१२) सम्यक्त्व-मार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

सम्यक्त्वमार्गणा के ६ भेद हैं–(१) औपशमिक, (२) क्षायोपशमिक, (३) क्षायिक, (४) सास्वादन (सासादन), (५) मिश्र और (६)मिथ्यात्व।

---

१. (क) लेश्याओं के विशद ज्ञान के लिए उत्तराध्ययन सूत्र का ३४वाँ लेश्या अध्ययन तथा प्रज्ञापना सूत्र का १७वाँ लेश्यापद देखिये। उनमें लेश्याओं के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का विस्तृत विवेचन है। –सं.
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में ६ लेश्याओं के वर्ण क्रमशः भ्रमर, नीलमणि, कबूतर, सुवर्ण, कमल एवं शंख के समान बताये गए हैं। –गा. ४९५
(ग) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १३ का विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ३३, ३४
(घ) किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा।
वेयग-खइगुवसम-मिच्छ-मीस-सासाण सन्नियरे॥ –कर्मग्रन्थ भा. ४, गा.१३।

२. (क) भव्यः मुक्तिगमनार्हः, अभव्यः कदाचनाऽपि मुक्तिगमनानार्हः।
–वही गा. १२ स्वो. टी. पृ. १३८
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. १३ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. १३२
(ग) प्रज्ञापना पद १८ टीका, तथा भगवती, श. १२ के द्वितीय जयन्ती नामक अधिकार में देखें।

प्रश्न होता है--सम्यक्त्व-परिणाम सहेतुक है या अहेतुक ? सहेतुक मानने पर प्रतिप्रश्न होता है कि उसके नियत हेतु-निमित्त कारण क्या हैं? उसके नियत हेतु के दो प्रकार हैं बाह्य हेतु और अन्तरंग हेतु। इनमें सम्यक्त्व-परिणाम का नियत हेतु (आन्तरिक कारण) जीव का भव्यत्व नामक अनादि पारिणामिक स्वभाव-विशेष है। जब इस अनादि पारिणामिक भाव-भव्यत्व का परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है तथा उस समय प्रवचन-श्रवण आदि बाह्य हेतु भी उसके निमित्त कारण बन जाते हैं; जो भव्यत्व भाव के परिपाक में सहायक हो जाते हैं। सम्यक्त्व प्राप्ति का आन्तरिक कारण भव्यत्व-भाव होने पर भी अभिव्यक्ति के आभ्यन्तर कारणों की विविधता से सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि भेद बनते हैं। जैसे-अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोह-त्रिक, इन सात प्रकृतियों का क्षयोपशम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का; उपशम औपशमिक सम्यक्त्व का; क्षय क्षायिक सम्यक्त्व का; तथा सम्यक्त्व से गिरा कर मिथ्यात्व की ओर झुकाने वाला अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय सास्वादन सम्यक्त्व का; मिश्र मोहनीय का उदय मिश्र सम्यक्त्व का और सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व का उदय मिथ्यात्व का कारण है। अभिव्यक्ति के कारणों की उक्त विविधता के कारण सम्यक्त्व मार्गणा के पूर्वोक्त छह भेद होते हैं, जिनके लक्षण[१] क्रमशः यों हैं-

(१) औपशमिक सम्यक्त्व-अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्टय और दर्शनमोह-त्रिक-इन सात प्रकृतियों के उपशम से प्राप्त होने वाले तत्त्व रुचि रूप आत्मपरिणाम को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके दो भेद हैं- (१) ग्रन्थि-भेदजन्य और (२) उपशमश्रेणिभावी। ग्रन्थिभेदजन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि-मिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है और उपशमश्रेणि-भावी औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें, इन चार गुणस्थानों में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है; किन्तु आठवें गुणस्थान में तो अवश्य ही उसकी प्राप्ति होती है।

(२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व-अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और मिथ्यात्व मोहनीय तथा सम्यग्-मिथ्यात्व-मोहनीय; इन छह प्रकृतियों के उदय-भावी क्षय और इन्हीं के सदवस्था रूप उपशम से तथा देशघाती-स्पर्द्धक वाली सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप आत्मपरिणाम होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। इसे वेदक-सम्यक्त्व भी कहते हैं।

क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के कार्यों में अन्तर

औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ क्षयोपशम शब्द के उपशम से भिन्न है। क्षयोपशम में क्षय और उपशम दो शब्द हैं। क्षय का अर्थ है-आत्मा से कर्म का

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १३ विवेचन (मरुधर केसरीजी), पृ. १३४

सम्बन्ध टूट जाना और उपशम यानी कर्म का अपने स्वरूप में आत्मा के साथ संलग्न (सत्ता में) रहकर भी उस पर असर न डालना। इसलिए क्षयोपशम में उपशम का अर्थ सिर्फ विपाकोदय सम्बन्धी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मन्दरस में परिणमन होना है, जबकि औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ-प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों का अभाव है। क्षयोपशम में कर्म का क्षय भी चालू रहता है, और वह प्रदेशोदयरूप होता है; किन्तु उपशम में यह बात नहीं है, क्योंकि जब कर्म का उपशम होता है, तभी से उसका क्षय रुक जाता है। अतएव इसके प्रदेशोदय होने की आवश्यकता नहीं रहती है। निष्कर्ष यह है कि क्षयोपशम के समय प्रदेशोदय या मंदविपाकोदय होता है; जबकि उपशम के समय वह भी नहीं होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के समय दर्शनमोहनीय के किसी भी प्रकार का उदय नहीं होता, किन्तु क्षयोपशम सम्यक्त्व के समय सम्यक्त्व-मोहनीय का विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीय का प्रदेशोदय होता है। यही कारण है कि औपशमिक सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को द्रव्य-सम्यक्त्व भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों में यह विशेषता भी है कि उपशम और क्षयोपशम होने योग्य सिर्फ घाति कर्म हैं, लेकिन औपशमिक सम्यक्त्व में तो घातिकर्मों में से सिर्फ मोहनीय कर्म का उपशम होता है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सभी घाति कर्मों का क्षयोपशम होता है।[१]

(३) क्षायिक सम्यक्त्व–अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक, इन सात प्रकृतियों के क्षय से आत्मा में जो तत्त्वरुचि रूप परिणाम प्रगट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १३ विवेचन, (पं. सुखलालजी), पृ. ६६
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १३ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. १३५-१३६
(ग) तत्रोदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण, अनुदीर्णस्य चोपशमेन निष्काम्भितोदय-स्वरूपेणयत्रिर्वृत्तं तत् क्षायोपशामिकम्।'-चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १३८
(घ) मिच्छत्तं जमुइन्नं तं खीणं, अणुदियं च उवसंतं।
मिसी भाव-परिणयं वेइज्जंतं खओवसमं॥ -विशेषावश्यक, ५३२
(ङ) अनन्तानुबन्धि-कषाय-चतुष्टयस्य मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्वयोरुदयक्षयात् सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघाति-स्पर्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। -सर्वार्थसिद्धि २/५/१५७
(च) दंसणमोहस्सुदए उवसंते सच्चभावसद्दहणं।
उवसम सम्मत्तमिणं पसण्णकलुसं जहा तोयं॥ -सं. -पंचसंग्रह १६५
(छ) ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व को प्रथम उपशम सम्यक्त्व भी कहते हैं।

तथा मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर कभी विस्मित या शंकित नहीं होता है। क्षायिक सम्यक्त्व यदि आयुबन्ध करने के बाद प्राप्त होता है तो वह जीव तीन या चार भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है, परन्तु यदि अगले भव की आयु बाँधने से पहले जिसको यह (क्षायिक) सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, तो वह वर्तमान (उसी) भव में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। क्षायिक सम्यक्त्व जिनकालिक मनुष्यों को प्राप्त होता है। यह तथ्य पंचसंग्रह तथा लब्धिसार में प्रतिपादित किया गया है।

(४) सासादन (सास्वादन) सम्यक्त्व–औपशमिक सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व के अभिमुख होने के समय जीव का जो परिणाम होता है, उसे सासादन सम्यक्त्व कहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट छह आवलिकाओं की होती है। इस सम्यक्त्व के दौरान जीव के परिणाम निर्मल नहीं रहते, क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय रहता है। इस कारण सम्यक्त्व की विराधना होती है। सासादन सम्यक्त्व में तत्त्वरुचि अव्यक्त होती है, जबकि सम्यक्त्व में व्यक्त, यही इन दोनों में अन्तर है। इसके अतिरिक्त औपशमिक सम्यक्त्व के समय आयुबन्ध, मरण, अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध तथा उदय, ये चार बातें नहीं होती हैं; जबकि उससे च्युत (पतित) होने के बाद सासादन सम्यक्त्व के समय में ये चारों बातें हो सकती हैं।

(५) मिश्र-सम्यक्त्व–सम्यग्-मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्व और अतत्त्व, इन दोनों की रुचिरूप जो मिश्र परिणाम होता है, वह मिश्रसम्यक्त्व कहलाता है। इस सम्यक्त्व में न तो मिथ्यात्वरूप आत्मपरिणाम होते हैं और न सम्यक्त्वरूप ही; अपितु दोनों के मिले-जुले (मिश्रित) परिणाम होते हैं।

(६) मिथ्यात्व–मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला आत्म-परिणाम मिथ्यात्व है। इस परिणाम वाला जीव तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धान नहीं कर पाता। वह जड़-चेतन के भेद को भी नहीं जानता, मूढ़दृष्टि होता है, उसकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी नहीं होती। हठाग्रह, कदाग्रह, पूर्वाग्रह आदि दोष इसी के फल हैं।[१]

(१३) संज्ञी-मार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

संज्ञित्व–विशिष्ट मनःशक्ति, अर्थात्–दीर्घकालिकी संज्ञा का होना संज्ञित्व है और संज्ञायुक्त जीव संज्ञी कहलाते हैं।

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. १३ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. १३४ से १३७
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १३ विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ. ६६-६७
(ग) दंसण-खवणस्सरिहो जिणकालीयो पुमट्ठवासुवरिं, इत्यादि।
–पंचसंग्रह १३६५

(घ) दंसणमोहक्खवणा-पट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो।
तित्थयर-पायमूले, केवलि-सुदकेवलि-मूले॥११०॥ –लब्धिसार

असंज्ञित्व—उक्त-लक्षण-विशिष्ट संज्ञा का न होना असंज्ञित्व है, संज्ञित्व-विहीन जीव असंज्ञी कहलाते हैं।[१]

(१४) आहारक-मार्गणा के भेद और उनका स्वरूप

आहारक मार्गणा के दो भेद हैं—आहारक और अनाहारक।

आहारक—ओज, लोम और कवल इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को करने वाले जीव को 'आहारक' कहते हैं।

अनाहारक—पूर्वोक्त तीन प्रकार के आहारों में से किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण न करने वाला जीव अनाहारक कहलाता है।[२]

चौदह मार्गणास्थानों के अवान्तर भेद : बासठ

इस प्रकार मार्गणास्थान के मूलभेद गति, इन्द्रिय आदि १४ तथा उनके चार, पांच आदि अवान्तर भेद, कुल मिलाकर बासठ हैं। बासठ भेदों की संख्या इस प्रकार है—

(१) गति चार, (२) इन्द्रिय पांच, (३) काय छह, (४) योग तीन, (५) वेद तीन, (६) कषाय चार, (७) ज्ञान आठ (पांच ज्ञान और तीन अज्ञान), (८) संयम सात (पांच संयम, देशविरति, अविरति), (९) दर्शन चार, (१०) लेश्या छह, (११) भव्य दो, (१२) सम्यक्त्व छह (सम्यक्त्वत्रय, सास्वादन, मिश्र, मिथ्यात्व), (१३) संज्ञी दो और (१४) आहारक दो (आहारक-अनाहारक); यों १४ मार्गणा के अवान्तर भेद कुल बासठ (६२) होते हैं।[३]

भावमार्गणास्थानों का ग्रहण करना अभीष्ट

ध्यान रहे कि मार्गणा-प्रकरण में सर्वत्र भावमार्गणास्थानों का ही ग्रहण करना अभीष्ट है। अतः 'धवला' के अनुसार सर्वत्र प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानों का ग्रहण करना चाहिए, द्रव्यमार्गणाओं का नहीं; क्योंकि द्रव्यमार्गणाएँ देश, काल और स्वभाव की अपेक्षा दूरवर्ती हैं। अतएव अल्पज्ञों को उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

---

१. विशिष्ट-स्मरणादिरूप-मनोविज्ञानभाक् संज्ञी, इतरोऽसंज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियादिः।
—चतुर्थ कर्म ग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १४२

२. ओजो-लोम-प्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारकः। इतरः अनाहारकः।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १४२

३. चउ-पण-छ-तिय-तिय-अट्ठ-चउ-सग चउ छच्च दु छग दो दुन्नि।
गइयाइ-मग्गणाणं इय उत्तरभेयं बासट्ठी॥
—पंचसंग्रह १/२६

जैसे-गतिमार्गणा में भावगति, इन्द्रियमार्गणा में भावेन्द्रिय, वेद-मार्गणा में भावभेद, संयम मार्गणा में भाव-संयम तथा लेश्यामार्गणा में भावलेश्या आदि इष्ट हैं।[१]

ज्ञानमार्गणा और संयममार्गणा में अज्ञान और असंयम क्यों?

एक प्रश्न और-१४ मार्गणाओं में ज्ञानमार्गणा और संयममार्गणा में ज्ञान और संयम का ही ग्रहण करना चाहिए, अज्ञान और असंयम या संयमासंयम का अन्तर्भाव या ग्रहण कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जैसे-पुत्रोचित कार्य नहीं करने वाले पुत्र को अपुत्र कहा जाता है, वैसे ही यहाँ मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान को ज्ञान का कार्य न करने के कारण अज्ञान कहा गया है। अथवा जैसे आम्रवन में रहने वाले नीम वृक्षों को भी आम्रवन संज्ञा प्राप्त हो जाती है, वैसे संयम के अन्तर्गत असंयम तथा संयमासंयम का भी अन्तर्भाव तथा संयम (मिथ्यासंयम) संज्ञा प्राप्त हो जाती है।[२]

मार्गणास्थानों से प्रेरणा : हेयोपादेयविवेक

उपर्युक्त बासठ मार्गणा-स्थानों द्वारा विविध अवस्थाओं और रूपों से युक्त जीवों का सम्यक् सर्वेक्षण-अन्वेषण अगले प्रकरण में किया जाएगा। इस प्रकार संसार के समस्त जीवों की विविध स्वाभाविक-वैभाविक अथवा कर्मोपाधिक अवस्थाओं के सर्वेक्षण से प्रत्येक मुमुक्षु तथा जिज्ञासु आत्मार्थीजन अपनी हेय, ज्ञेय और उपादेय अवस्था का विचार करके बन्धयुक्त पर्याय से संवर, निर्जरा और मोक्ष के सोपानों पर चढ़ते हुए क्रमशः आगे बढ़ सकेंगे।

■■

---

१. 'इमानि' इत्यनेन भाव-मार्गणा-स्थानानि प्रत्यक्षीभूतानि निर्दिश्यन्ते। नार्थ-मार्गणास्थानानि। तेषां देश-काल-स्वभाव-विप्रकृष्टानां प्रत्यक्षतानुपपत्तेः।
-धवला १/१, १, २/१३१

२. (क) ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भवः? इति चेन्न, मिथ्यात्व-समवेत-ज्ञानस्यैव ज्ञानकार्यकारणाद् अज्ञानव्यपदेशाच्च, पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणादपुत्रव्यपदेशवत्।
(ख) आम्रवनान्तस्थ-निम्बानामाम्रवन-व्यपदेशवन्मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वव्यपदेशो न्याय्यः।
(ग) जदि एवं तो एदिस्से मग्गणाए संजमाणुवाद-ववदेसो न जुज्जदे। ण, अंब निंबवणं पाधण्ण-पदमासेज्ज संजमाणुवाद-ववदेस-जुत्तीए॥
-धवला १/१, १, ११५/३५३, वही १/१,१, १४४/३९५, वही ४/१,४, १३८/२८७

११

मार्गणास्थान द्वारा संसारी जीवों का सर्वेक्षण–२

चौदह मार्गणाओं के बासठ उत्तरभेदों द्वारा जीवस्थान आदि ६ का सर्वेक्षण

गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणास्थानों के उत्तरभेद बासठ होते हैं। इन बासठ मार्गणास्थानों के माध्यम से कर्मविज्ञानवेत्ताओं ने संसारी जीवों की विविध अवस्थाओं और पर्यायों का विविध पहलुओं से सर्वेक्षण किया है। पूर्वोक्त मार्गणास्थानों के माध्यम से कर्मग्रन्थ में छह सर्वेक्षणीय विषयों पर विवेचना की गई है–(१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्पबहुत्व।

मार्गणास्थानों में जीवस्थान की प्ररूपणा

गतिमार्गणा की दृष्टि से देवगति और नरकगति, इन दोनों गतियों में संज्ञीद्विक् (पर्याप्त, अपर्याप्त संज्ञी) ये दो जीवस्थान माने जाते हैं; क्योंकि इन दोनों गतियों में वर्तमान कोई भी जीव असंज्ञी नहीं होते, चाहे पर्याप्त हों, या अपर्याप्त; सभी संज्ञी ही होते हैं।

इसी प्रकार विभंगज्ञान सम्पन्न में पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी ये दो ही जीवस्थान माने हैं, क्योंकि विभंगज्ञान को पाने की योग्यता किसी असंज्ञी में नहीं होती।[१] मतिज्ञान,

---

१. पंचसंग्रह द्वार १, गा. २७वीं में उल्लेख है कि विभंगज्ञान में संज्ञि-पर्याप्त एक ही जीवस्थान है, परन्तु यह अपेक्षा विशेष से कहा है। इसलिए कर्मग्रन्थ के मन्तव्य के साथ कोई विरोध नहीं है। आचार्य मलयगिरि ने उक्त २७वीं गाथा में स्पष्ट किया है

(शेष पृष्ठ २२७ पर)

श्रुतज्ञान, अवधिद्विक (अवधिज्ञान, अवधिदर्शन), औपशमिक आदि तीन सम्यक्त्व और पद्म-शुक्ल लेश्या, इन नौ मार्गणाओं में भी संज्ञीद्विक जीवस्थान माने गए हैं, क्योंकि किसी असंज्ञी में सम्यक्त्व सम्भव नहीं है और सम्यक्त्व के बिना मतिज्ञान-श्रुतज्ञान आदि का होना सम्भव नहीं। इसी प्रकार संज्ञी के सिवाय अन्य जीवों में पद्म-शुक्ल लेश्या-योग्य परिणाम हो नहीं सकते। अपर्याप्त अवस्था में मति-श्रुतज्ञान और अवधिद्विक इसलिए माने जाते हैं कि कतिपय जीव तीन ज्ञान-सहित जन्म-ग्रहण करते हैं। जो जीव आयु बांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह बंधी हुई आयु के अनुसार चार गतियों में से किसी भी गति में जाता है। इसी अपेक्षा से अपर्याप्त अवस्था में क्षायिक सम्यक्त्व माना जाता है। उस अवस्था में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मानने का कारण यह है कि भावी तीर्थंकर आदि, जब देव आदि गति से निकल कर मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं, तब वे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व-सहित होते हैं।[1] औपशमिक[2] सम्यक्त्वी भी आयुष्य पूर्ण हो जाने से जब ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर अनुत्तर विमान में जन्म लेता है, तब अपर्याप्त-

---

(पृष्ठ २२६ का शेष)

कि यद्यपि संज्ञिपंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य को अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान उत्पन्न नहीं होता और न उन असंज्ञी जीवों को अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान ज्ञान उत्पन्न होता है, जो मरकर रत्नप्रभा नरक में नारक जन्म लेते हैं। परन्तु सामान्य दृष्टि से विभंगज्ञान में दो जीवस्थान समझने चाहिए, क्योंकि जो संज्ञीजीव, मरकर देव या नारक रूप से पैदा होते हैं, उन्हें अपर्याप्त-अवस्था में भी विभंगज्ञान होता है। कर्मग्रन्थ भा. ४ टिप्पणी पृ० ६९

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. १४ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० ६८-६९

२. इस मन्तव्य से कतिपय आचार्यों का विरोध है। उनका कहना है कि अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता; क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था में आयुबन्ध और मरण नहीं होता, तब अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व कैसे हो सकता है? परन्तु पंचम कर्मग्रन्थानुसार जो उपशम सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी में मरता है, वह मरण के प्रथम समय में सम्यक्त्वमोहनीय पुंज को उदयावलिका में लाकर उसे वेदता है, इस कारण वह अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्वी न रहकर क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है। तीसरी बात-जीवविजय जी द्वारा उद्धृत निम्नोक्त गाथा-("उवसमसेढिं पत्ता, मरंता उवसमगुणेसु जे सत्ता। ते लवसत्तमदेवा सेवट्ठे खय-समत्त-जुआ।") के अनुसार जो जीव उपशमश्रेणी को पाकर ग्यारहवें गुणस्थान में मरते हैं वे सर्वार्थसिद्ध विमान में क्षायिक-सम्यक्त्वयुक्त ही पैदा होते हैं, वे 'लव-सप्तम' देव कहलाते हैं। सात लव प्रमाण आयु कम होने से वे लव सप्तम कहे जाते हैं। यदि सात लव प्रमाण आयु कम न होती तो वे देव न बनकर उसी जन्म में मोक्ष जाते।
-वही, टिप्पणी पृ० ७१

अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है। संज्ञि मार्गणा में दो संज्ञि-जीवस्थान के सिवाय अन्य कोई जीवस्थान सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य सब जीवस्थान असंज्ञी ही हैं।

देवगति आदि उपर्युक्त मार्गणाओं में अपर्याप्त संज्ञी का मतलब करण-अपर्याप्त से है, लब्धि-अपर्याप्त से नहीं। इसका कारण यह है कि देवगति और नरक गति में लब्धि-अपर्याप्त से कोई जीव पैदा नहीं होते, और न लब्धि-अपर्याप्त को, मति आदि ज्ञान, पद्म आदि लेश्या तथा सम्यक्त्व होता है।

निष्कर्ष यह है कि देवगति, नरकगति, विभंगज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, अवधिदर्शन, तीन सम्यक्त्व, दो लेश्याएँ (पद्म और शुक्ल), और संज्ञित्व, इन तेरह मार्गणाओं में अपर्याप्तसंज्ञी और पर्याप्तसंज्ञी, ये दो जीवस्थान होते हैं।

मनुष्य गति में पूर्वोक्त संज्ञिद्विक (अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञी) तथा अपर्याप्त असंज्ञी; ये तीन जीवस्थान हैं। मनुष्य दो प्रकार के हैं-गर्भज और सम्मूर्च्छिम। सभी गर्भज मनुष्य संज्ञी ही होते हैं, वे पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के पाये जाते हैं। पर सम्मूर्च्छिम मनुष्य, जो ढाई द्वीप-समुद्र में गर्भज मनुष्यों के मल-मूत्र, शुक्र-शोणित आदि में पैदा होते हैं, जिनकी आयु अन्तर्मुहूर्तप्रमाण ही होती है; वे स्व-योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं। इसी कारण उन्हें लब्धि-अपर्याप्त तथा असंज्ञी ही माना गया है। इसलिए मनुष्यगति में सामान्यरूप से उपर्युक्त तीन ही जीवस्थान माने जाते हैं।

तेजोलेश्या में बादर अपर्याप्त और संज्ञिद्विक, ये तीन जीवस्थान हैं, क्योंकि तेजोलेश्या पर्याप्त और अपर्याप्त, दोनों संज्ञियों में पाई जाती है। तथा वह बादर एकेन्द्रिय में भी अपर्याप्त अवस्था में पाई जाती है। इसी अपेक्षा से तेजोलेश्या में तीन जीव स्थान माने गये हैं। बादर एकेन्द्रिय को अपर्याप्त अवस्था में तेजोलेश्या मानी जाती है, वह इस अपेक्षा से कि भवनपति, व्यन्तर आदि देव, जिनमें तेजोलेश्या संभव है, वे जब तेजोलेश्या-सहित मरकर पृथ्वी, पानी या वनस्पति में पैदा होते हैं, तब उनको अपर्याप्त (करण-अपर्याप्त) अवस्था में कुछ काल तक तेजोलेश्या रहती है।

पहले चार जीवस्थान के सिवाय अन्य किसी जीवस्थान में एकेन्द्रिय तथा स्थावरकायिक जीव नहीं हैं। इसी से एकेन्द्रिय और पाँच स्थावरकाय, इन ६ मार्गणाओं में पहले चार जीवस्थान माने गए हैं।[१]

---

१. (क) .....सुर-नरय-विभंग-मइ-सुओहि दुगे। सम्मत्त-तिगे पम्हा-सुक्कासन्नीसु सन्निदुगं ॥१४॥ तयसंनि-अपज्जजुयं, नरे सबायर-अपज्जते ऊए। थावर-इगिंद, पढमा, चउ बार असन्नि दु दु विगले ।।१५॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. १४, १५

(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा.१४, १५ का विवेचन (पं० सुखलालजी) पृ० ६८ से ७३

चौदह जीवस्थानों में से दो ही जीव-स्थान संज्ञी हैं। इसी कारण असंज्ञि मार्गणा में बारह जीवस्थान समझने चाहिए।

प्रत्येक विकलेन्द्रिय में अपर्याप्त तथा पर्याप्त दो-दो जीवस्थान पाये जाते हैं। इसी से विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय)-मार्गणा में दो-दो जीवस्थान माने गए हैं।

त्रसकाय में अन्तिम दस जीवस्थान हैं। चौदह जीवस्थानों में से अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त और पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, इन चारों के सिवाय शेष दस जीवस्थान त्रसकाय में हैं, क्योंकि इन दस में ही त्रसनामकर्म का उदय होता है।

अविरति, आहारक, तिर्यञ्चगति, काययोग, चार कषाय, मतिश्रुत-अज्ञानद्वय, कृष्णादि तीन आदि की लेश्याएँ, भव्यत्व, अभव्यत्व, अचक्षुदर्शन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व, इन १८ मार्गणाओं में सभी (चौदह ही) जीवस्थान पाये जाते हैं; क्योंकि सब प्रकार के जीवों में ये मार्गणाएँ सम्भव हैं।

मिथ्यात्व में सभी जीवस्थान कहे हैं, यानी सभी जीवस्थानों में सामान्यतः मिथ्यात्व कहा है, किन्तु बारह जीवस्थानों में अनाभोग मिथ्यात्व समझना चाहिए; क्योंकि उनमें अनाभोग (अज्ञान-) जन्य अतत्त्व रुचि है। पंचसंग्रह के अनुसार उनका मिथ्यात्व[१] अनाभिग्रहिक भी कहा है।

केवलद्विक, सामायिक आदि पाँच संयम, मनःपर्यायज्ञान, देश-विरति, मनोयोग तथा मिश्र-सम्यक्त्व; इन ग्यारह मार्गणाओं में सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान है, क्योंकि पर्याप्त संज्ञी जीवों के सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में न सर्वविरति का सम्भव है, और न देशविरति का। अतएव संज्ञिभिन्न जीवों में केवलद्विक, पाँच संयम, देशविरति और मनःपर्यायज्ञान, जिनका सम्बन्ध विरति से है, वे हो ही नहीं सकते। इसी प्रकार पर्याप्त संज्ञी के सिवाय अन्य जीवों में तथाविध-द्रव्यमन का सम्बन्ध न होने के कारण मनोयोग नहीं होता और न ही मिश्र-सम्यक्त्व की योग्यता होती है।

वचनयोग में (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञिपंचेन्द्रिय और संज्ञि पंचेन्द्रिय) ये अन्तिम पाँच पर्याप्त जीवस्थान हैं। चक्षुदर्शन में पर्याप्त तीन (चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पंचेन्द्रिय, संज्ञि पंचेन्द्रिय) जीवस्थान हैं। एकेन्द्रिय में भाषापर्याप्ति नहीं होती। भाषापर्याप्ति के बिना वचन योग सम्भव नहीं होता। द्वीन्द्रिय आदि उक्त पाँच जीवस्थानों में भाषा-पर्याप्ति होने से वचनयोग सम्भव है। आँख वाले जीव

---

१. दस चरम-तसे अजयाहारगतिरि-तणु-कसाय-दुअनाणे।
पढम-तिलेसा-भवियर-अचक्खु-नपुमिच्छे सव्वे वि ॥१६॥

चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय-संज्ञी-असंज्ञी; इन तीनों जीवस्थानों में चक्षुदर्शन होता है, एकेन्द्रिय से लेकर त्रीन्द्रिय तक के जीवों में चक्षुरिन्द्रिय न होने से चक्षुदर्शन नहीं होता।[१]

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और पंचेन्द्रिय जाति में अन्तिम चार जीवस्थान (अपर्याप्त तथा पर्याप्त असंज्ञि पंचेन्द्रिय एवं अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रिय जीव) हैं। अनाहारक-मार्गणा में अपर्याप्त और पर्याप्त दो संज्ञी और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रिय ये छह अपर्याप्त; यों कुल २+६=८ जीवस्थान हैं। सासादन सम्यक्त्व में उक्त आठ में सूक्ष्म अपर्याप्त को छोड़कर शेष सात जीवस्थान हैं।

आशय यह है कि स्त्रीवेद आदि तीन मार्गणाओं में, जो अपर्याप्त असंज्ञि पंचेन्द्रिय आदि चार जीवस्थान कहे गए हैं, उनमें अपर्याप्त का मतलब करण-अपर्याप्त है, लब्धि-अपर्याप्त नहीं; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त को द्रव्यवेद नपुंसकवेद ही होता है। असंज्ञि-पंचेन्द्रिय को यहाँ स्त्रीवेद और पुरुषवेद, ये दो वेद माने हैं, जबकि सिद्धान्त में नपुंसकवेद माना है, फिर भी इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि यहाँ का कथन द्रव्यवेद की अपेक्षा से है, जबकि सिद्धान्त का कथन भाववेद की अपेक्षा से है। भाव-नपुंसकवेद वाले के स्त्री या पुरुष के भी चिह्न होते हैं।

अनाहारक मार्गणा में जो आठ जीवस्थान कहे हैं, उनमें से सात अपर्याप्त हैं और एक पर्याप्त। सब प्रकार के अपर्याप्त जीव अनाहारक उस समय होते हैं, जब वे विग्रह (वक्र) गति में एक, दो या तीन समय तक आहार ग्रहण नहीं करते। पर्याप्त संज्ञी को अनाहारक इसलिए कहा है कि केवलज्ञानी द्रव्यमन के सम्बन्ध से संज्ञी कहलाते हैं और वे केवली-समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मण काययोगी होने के कारण किसी प्रकार के आहार का ग्रहण नहीं करते।

सासादन सम्यक्त्व में ७ जीवस्थान माने गए, उनमें से ६ तो अपर्याप्त हैं, एक पर्याप्त है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय को छोड़कर अन्य ६ प्रकार के जीवों में सासादन सम्यक्त्व इसलिए माना गया है कि जब कोई औपशमिक सम्यक्त्वी जीव उस सम्यक्त्व को छोड़ता हुआ बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपंचेन्द्रिय या संज्ञिपंचेन्द्रिय में जन्म लेता है, तब उसकी अपर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है। परन्तु कोई भी जीव औपशमिक सम्यक्त्व का वमन करता हुआ सूक्ष्म एकेन्द्रिय में पैदा नहीं होता। इस दृष्टि से उसमें अपर्याप्त अवस्था में सासादन

---

१. (क) पज्जसन्नी-केवलदुग-संजय-मणनाण-देसमणमीसे।
पण चरम पज्ज वयणे, तिय-छव पज्जियर चक्खुमि ॥१७॥-कर्मग्रन्थ भा. ४
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १६-१७ का विवचन (पं० सुखलाल जी), पृ० ७४ व ७५

सम्यक्त्व सम्भव नहीं है। संज्ञिपंचेन्द्रिय के सिवाय कोई भी जीव पर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्वी नहीं होता; क्योंकि इस अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व पाने वाले संज्ञी ही होते हैं, अन्य नहीं।[१]

मार्गणास्थानों में गुणस्थानों की प्ररूपणा

तिर्यञ्चगति में आदि के पाँच गुणस्थान पाये जाते हैं; क्योंकि उनमें जाति स्वभाव से छठा (सर्वविरति) गुणस्थान संभव नहीं होता और सर्वविरति के सिवाय छठे आदि अगले गुणस्थानों की शक्यता नहीं है। देवगति और नरकगति में आदि के चार गुणस्थान माने जाते हैं, क्योंकि देव या नारक स्वभाव से ही विरति-रहित होते हैं और विरति के बिना पंचम आदि आगे के गुणस्थान उनमें सम्भव ही नहीं हैं। मनुष्यगति, संज्ञी, पंचेन्द्रिय जाति, भव्य और त्रसकाय, इन पाँच मार्गणास्थानों में प्रत्येक प्रकार के परिणामों की सम्भावना होने से सामान्य रूप से सभी गुणस्थान एक से लेकर (चौदह तक) पाये जाते हैं।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय , पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में आदि के दो गुणस्थान होते हैं। पहला गुणस्थान तो एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के लिए सामान्य है ही; क्योंकि ये सब अनाभोग (अज्ञान) के कारण तत्वश्रद्धाहीन होने से मिथ्यात्वी होते हैं। दूसरा गुणस्थान इनमें अपर्याप्त अवस्था में ही होता है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि की आयु का बन्ध हो जाने के पश्चात् जब किसी को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, तब वह उसे त्यागता हुआ सास्वादन-सम्यक्त्व सहित एकेन्द्रिय आदि में जन्म ग्रहण करता है। उस समय अपर्याप्त अवस्था में कुछ काल तक उनमें दूसरा गुणस्थान पाया जाता है। दूसरे गुणस्थान के समय वे करण-अपर्याप्त होते हैं, लब्धि-अपर्याप्त नहीं; क्योंकि सभी लब्धि-अपर्याप्त जीव प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यात्वी ही होते हैं।

तैजस्काय और वायुकाय, जो गतित्रस या लब्धित्रस कहे जाते हैं, उनको न तो औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न ही औपशमिक सम्यक्त्व को वमन करने

---

१. (क) तेणं भंते! असंत्रि-पंचेन्दिय तिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा, पुरिसवेयगा, नपुंसकवेयगा वा? गोयमा नो इत्थिवेयगा, नो पुरिसवेयगा, नपुंसकवेयगा।
-भगवती सूत्र

(ख) यद्यपि चासंज्ञि-पर्याप्ताऽपर्याप्तौ नपुंसको, तथापि स्त्री-पुंस-लिंगाकारमात्र-मंगीकृत्य स्त्रीपुंसावुक्ता विति। -पंचसंग्रह द्वार १ गा. २८ की टीका

(ग) थी-नर-पणिंदि चरमा, चउ अणहारे दु संनि छ अपज्जा।
ते सुहुम-अपज्ज विणा सासणि इत्तो गुणे वुच्छं॥ -कर्मग्रन्थ भा. ४ गा.१८

(घ) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १८ विवेचन, पृ० ७७ से ७९

वाला जीव ही उनमें जन्म ग्रहण करता है; इस कारण उनमें प्रथम गुणस्थान ही पाया जाता है।

अभव्यों में सिर्फ प्रथम गुणस्थान, इसलिए पाया जाता है कि वे स्वभाव से ही सम्यक्त्व लाभ नहीं कर सकते और सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना दूसरे आदि गुणस्थान प्राप्त होने असम्भव हैं।[१]

तीन वेद, तीन कषाय (संज्वलन के क्रोध, मान और माया) में आदि के नौ गुणस्थान पाये जाते हैं; ये नौ गुणस्थान उदय की अपेक्षा से समझने चाहिए; क्योंकि उनकी सत्ता तो ग्यारहवें गुणस्थान तक पाई जा सकती है। नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक में तीन वेद और तीन संज्वलन कषाय या तो क्षीण हो जाते हैं, या उपशान्त। इस कारण नौवें से आगे के गुणस्थानों में उनका उदय नहीं रहता। लोभ (संज्वलन लोभ) में दस गुणस्थान होते हैं, ये दस गुणस्थान इसमें उदय की अपेक्षा से समझने चाहिए, जबकि उनकी सत्ता तो ग्यारहवें गुणस्थान तक पाई जा सकती है।

अविरति में आदि के चार गुणस्थान इसलिए कहे गए हैं, क्योंकि पाँचवे से लेकर आगे के सब गुणस्थान विरतिरूप हैं।

अज्ञानत्रिक में दो गुणस्थान या तीन ? : एक चिन्तन

अज्ञानत्रिक में गुणस्थानों की संख्या के विषय में दो मत हैं, दोनों ही मत कार्मग्रन्थिक आचार्यों के हैं। पहला मत इनमें दो गुणस्थान मानता है, जबकि दूसरा मत तीन गुणस्थान। **दो गुणस्थान** मानने वाले आचार्य का मत है कि तीसरे गुणस्थान के समय भले ही शुद्ध सम्यक्त्व न होने से पूर्ण यथार्थ ज्ञान न हो, परन्तु उसमें मिश्रदृष्टि होने से यथार्थज्ञान की थोड़ी बहुत मात्रा रहती है। मिश्रदृष्टि के समय मिथ्यात्व का उदय अधिक प्रमाण में हो तब तो अज्ञानांश अधिक और ज्ञानांश कम होता है, किन्तु जब मिथ्यात्व का उदय मन्द हो, तथा सम्यक्त्व-पुद्गलों का उदय तीव्र रहता हो तो ज्ञान की मात्रा अधिक और अज्ञान की मात्रा अल्प होती है। चाहे मिश्रदृष्टि की कैसी भी अवस्था हो, उसमें सम्यक् ज्ञान की मात्रा न्यूनाधिक रहती है, अतः उस समय के सम्यक् ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना ही उचित है। इस अपेक्षा से अज्ञानत्रिक में दो ही गुणस्थान मानने चाहिए, तीसरा नहीं।

---

१. (क) पण तिरि चउ सुर-नरए, नर-संनि-पणिंदिभव्व-तसि सव्व।
इग-विराल-भू-दग-वणे, दु दु, एगं गइतस, अभव्वं॥ १९॥ -कर्मग्रन्थ भा. ४
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १९ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० ८०-८१

तीन गुणस्थान मानने वाले आचार्य का आशय यह है कि तीसरे गुणस्थान के समय अज्ञान को ज्ञानमिश्रित कहा है, किन्तु मिश्रज्ञान को ज्ञान मानना उचित नहीं, उसे अज्ञान ही कहना चाहिए; क्योंकि शुद्ध सम्यक्त्व हुए बिना चाहे कैसा भी ज्ञान हो, वह अज्ञान ही है। यदि सम्यक्त्व के अंश के कारण तीसरे गुणस्थान में ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मान लिया जाएगा, तो दूसरे गुणस्थान में भी सम्यक्त्व का अंश होने के कारण ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानना पड़ेगा, जो कि इष्ट नहीं है, क्योंकि अज्ञानत्रिक में दो गुणस्थान मानने वाले भी, दूसरे गुणस्थान में मति आदि को अज्ञान मानते हैं। सिद्धान्तवादी के सिवाय किसी भी कार्मग्रन्थिक विद्वान को दूसरे गुणस्थान में मति आदि को ज्ञान मानना इष्ट नहीं है। इस कारण सासादन गुणस्थान की तरह मिश्र गुणस्थान में भी मति आदि को अज्ञान मानकर अज्ञानत्रिक में तीन गुणस्थान मानना युक्तियुक्त है।

अचक्षुर्दर्शन तथा चक्षुर्दर्शन में बारह गुणस्थान इसलिए माने जाते हैं कि दोनों दर्शन क्षायोपशमिक हैं। इसलिए क्षायिकदर्शन के समय अर्थात् १३वें, १४वें, गुणस्थान में उनका अभाव हो जाता है, क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन का साहचर्य नहीं रहता। यथाख्यातचारित्र में अन्तिम चार गुणस्थान पाये जाते हैं, क्योंकि यथाख्यात चारित्रमोहनीय कर्म का उदय रुक जाने पर प्राप्त होता है। और मोहनीय कर्म के उदय का अभाव ग्यारहवें से चौदहवें तक चार गुणस्थानों में रहता है।[१]

मनःपर्यायज्ञान में प्रमत्तसंयत (छठे) आदि सात गुणस्थान पाये जाते हैं, क्योंकि इस ज्ञान की प्राप्ति के समय सातवाँ और प्राप्ति के बाद अन्य गुणस्थान होते हैं। सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय संयम प्रमत्तसंयत (छठे) आदि चार गुणस्थानों में माने जाते हैं, क्योंकि वीतरागभाव होने के कारण ऊपर के गुणस्थानों में इन सराग-संयमों की संभावना नहीं है।

---

१. (क) वेय-तिकसाय नव दस, लोभे चउ अजय दु ति अनाण-तिगे।
बारस अचक्खु-चक्खुसु ,पढमा अहक्खाइ चरम चउ॥२०॥ कर्मग्रन्थ भा. ४
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. २० विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० ८१ से ८४ तक
(ग) मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानबाहुल्यं सम्यक्त्वाधिकस्य पुनः सम्यग्ज्ञान-बाहुल्यमिति-गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ६८६ टीका
इन दोनों में से पहला मत गोम्मटसार में उल्लिखित तथा समर्थित है।
(घ) 'मिस्संमि वा मिस्सा' इत्यादि मतानुसार मिश्र गुणस्थान में अज्ञान, ज्ञान मिश्रित है।

परिहार विशुद्धि संयम में रहकर श्रेणी (उपशमश्रेणी या क्षयकश्रेणी) नहीं की जा सकती। इसलिए उसमें छठा और सातवाँ, ये दो गुणस्थान ही माने जाते हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों क्षायिक हैं। क्षायिक ज्ञान और क्षायिक-दर्शन ये दोनों तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में होते हैं। इसी कारण केवलद्विक में दो गुणस्थान माने जाते हैं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान में पाए जाते हैं; क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त होने से पहले अर्थात्-प्रथम तीन गुणस्थानों में मति आदि अज्ञानरूप ही हैं और अन्तिम दो गुणस्थानों में क्षायिक उपयोग होने इनका अभाव ही हो जाता है।

यहाँ अवधिज्ञान में ९ गुणस्थान प्ररूपित किये गए हैं वे कार्मग्रन्थिक मतानुसार समझने चाहिए, क्योंकि कार्मग्रन्थिक विद्वान् प्रथम तीन गुणस्थानों में अवधिदर्शन नहीं मानते। वे कहते हैं–विभंगज्ञान से अवधि-दर्शन को भिन्न नहीं समझना चाहिए। परन्तु सिद्धान्तमतानुसार उसमें और भी तीन गुणस्थान मानने चाहिए, क्योंकि वे विभंगज्ञान से अवधि दर्शन को पृथक् मानते हैं, इस कारण आदि के तीन गुणस्थानों में भी अवधिदर्शन मानते हैं।[१]

उपशम-सम्यक्त्व में आठ गुणस्थान माने हैं, इनमें से चौथा, पाँचवा, छठा, सातवाँ ये चार गुणस्थान होते हैं, जो ग्रन्थिभेदजन्य प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति के समय चतुर्थ गुणस्थान से शुरू होते हैं। तत्पश्चात् आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ ये चार गुणस्थान, उपशमश्रेणी करते समय होते हैं। इस प्रकार ये आठ गुणस्थान होते हैं।

वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवें तक चार ही गुणस्थान होते हैं, क्योंकि वेदक सम्यक्त्व तभी होता है, जब सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय हो। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय श्रेणि का आरम्भ न होने तक (सातवें गुण-स्थान तक) रहता है। इसी कारण वेदक सम्यक्त्व में चार ही गुणस्थान पाये जाते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व में चौथा आदि ग्यारह गुणस्थान होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व चौथे, पाँचवें गुणस्थान से प्राप्त होता है, और वह चौदहवें गुणस्थान तक सदैव स्थायी रहता है, इसीलिए क्षायिक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर चौदहवें तक ग्यारह गुणस्थान माने गए हैं।

---

१. (क) मण नाणि सग जयाई, समइय- छेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलदुगि दो चरमा, जयाई, नव मइ-सुओहि दुगे॥ २१॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. २१ विवेचन, (पं० सुखलाल जी), पृ० ८४, ८५

कहीं-कहीं कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं में पहले चार ही गुणस्थान कहे हैं, वे भी प्राप्तिकाल की अपेक्षा से। अर्थात्-उक्त तीन लेश्याओं के समय आदि के ४ गुणस्थानों के सिवाय अन्य कोई भी गुणस्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता। तेजोलेश्या और पद्मलेश्या में आदि के जो सात गुणस्थान माने गए हैं, वे प्रतिपद्यमान और पूर्व-प्रतिपन्न, दोनों की अपेक्षाओं से समझने चाहिए। अर्थात्-सात गुणस्थानों को पाने के समय और पाने का बाद भी उक्त दो लेश्याएँ रहती हैं।

अनाहारक मार्गणा में पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे गए हैं, इनमें से पहले तीन गुणस्थान विग्रहगतिकालीन अनाहारक-अवस्था की अपेक्षा से, तेरहवाँ गुणस्थान केवलि-समुद्घात के तीसरे, चौथे, पाँचवें समय में होने वाली अनाहारक अवस्था की अपेक्षा से और चौदहवाँ गुणस्थान योगनिरोधजन्य अनाहारक-अवस्था की अपेक्षा से समझना चाहिए।

यों तो तीसरे, बारहवें और तेरहवें, इन तीन गुणस्थानों में मरणाभाव के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों में तो मरण होता ही है, फिर आदि के तीन गुणस्थानों (पहले, दूसरे और चौथे) में ही विग्रहगतिकालीन मरणावस्था में ही अनाहारक क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि यहाँ निश्चयमरणकालीन विग्रहगति का कथन है, व्यावहारिक मरणकालीन का नहीं। निश्चयमरणकाल परभव की आयु का प्राथमिक उदय है, उस समय जीव विरति रहित होता है। विरति का सम्बन्ध वर्तमान भव के अन्तिम समय तक ही है । इसलिए निश्चयमरणकाल-अर्थात् विग्रहगति में पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान को छोड़कर विरति वाले पाँचवें आदि आठ गुणस्थानों का सम्भव ही नहीं हैं।[१]

मार्गणास्थानों में योगों का सर्वेक्षण

योग सामान्यतया तीन ही होते हैं-मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

काययोग में ही मन-वचनयोग का समावेश क्यों नहीं ?

एक शंका उपस्थित होती है कि मनोयोग और वचनयोग एक प्रकार से काययोग ही हैं; क्योंकि इन दोनों योगों के समय शरीर का व्यापार अवश्य रहता ही है और इन दोनों योगों के आलम्बनभूत मनोद्रव्य तथा भाषा द्रव्य का ग्रहण भी किसी न किसी प्रकार के शारीरिक योग से ही होता है, फिर इन दोनों योगों को पृथक् क्यों

---

१. (क) अस्सन्निसु पढमदुगं, पढम-ति-लेसासु छच्च दुसु सत्त।
पढमंतिम दुग, अजया, अणहारे मग्गणासु गुणा॥॥२३॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. २३ विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ० ८७ से ८९

बताया गया? इसका समाधान यह है कि यों तो मनोयोग तथा वचनयोग काययोग से पृथक् नहीं हैं, अपितु काययोग-विशेष ही हैं। जो काययोग मनन करने में सहायक होता है, वही उस समय मनोयोग और जो काययोग भाषा के बोलने में सहकारी होता है, वही उस समय वचनयोग माना जाता है। सारांश यह है कि व्यवहार के लिए ही काययोग के तीन भेद किये गये हैं।[१]

मिथ्यात्वत्रिक (अर्थात्-मिथ्यादृष्टि, सास्वादन और मिश्रगुणस्थान) में, देशविरति में, तथा सूक्ष्मसम्पराय चारित्र में अपना-अपना एक-एक गुणस्थान है। अर्थात्-पहला ही गुणस्थान मिथ्यात्वरूप, दूसरा ही गुणस्थान सास्वादन भाव रूप, तीसरा ही मिश्रदृष्टिरूप; पांचवाँ ही देशविरतिरूप और दसवाँ ही एकमात्र सूक्ष्मसम्पराय चारित्र रूप है। अर्थात्- इन पाँचों में अपना-अपना एक-एक गुणस्थान कहा है।

तीन प्रकार का योग, आहारक और शुक्ललेश्या, इन छह मार्गणास्थानों में तेरह गुणस्थान होते हैं, क्योंकि चौदहवाँ गुणस्थान अयोगीरूप होने से उसमें न तो किसी प्रकार का योग रहता है, न किसी तरह का आहार ग्रहण किया जाता है, और न लेश्या ही सम्भव है।

योग में तेरह गुणस्थानों का कथन सामान्य योगत्रय की अपेक्षा से किया गया है; सत्य-मनोयोग आदि विशिष्ट पन्द्रह[२] योगों की अपेक्षा से गुणस्थान इस प्रकार है- (१) सत्यमन, असत्यामृषा मन, सत्यवचन, असत्यामृषा वचन, और औदारिक, इन पाँच योगों में तेरह गुणस्थान हैं। (२) असत्यमन, मिश्रमन, असत्यवचन और मिश्रवचन, इन चारों योगों में आदि के १२ गुणस्थान हैं। (३) औदारिकमिश्र तथा कार्मण काययोग में पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ, ये चार गुणस्थान हैं। (४) वैक्रिय काययोग में पहले सात और वैक्रियमिश्र काययोग में पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा, ये पाँच गुणस्थान हैं। (५) आहारक काययोग में छठा और सातवाँ, ये दो और आहारकमिश्र काययोग में केवल छठा गुणस्थान है।[३]

असंज्ञियों में पहले दो गुणस्थान पाये जाते हैं। कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओं में पहले के ६ गुणस्थान और तेज और पद्म इन दो लेश्याओं में आदि के ७ गुणस्थान हैं। अनाहारक मार्गणास्थान में आदि के दो, अन्तिम दो और अविरत-

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, द्वितीयाधिकार परिशिष्ट 'ज' (पं० सुखलालजी), पृ० १३५

२. योगों के लक्षणों के लिए देखें, इससे पूर्व का निबन्ध। -सं०

३. (क) अड उवसम्मि चउ वेयगि, खइए इक्कार मिच्छ तिगि देसं।
सुहुमे य सत्तगं तेरस जोग आहार सुक्काए॥ २२॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. २२ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० ८५ से ८७

सम्यग्दृष्टि, ये पांच गुणस्थान हैं। इस प्रकार मार्गणास्थानों में गुणस्थान का सर्वेक्षण पूर्ण हुआ।

पहला गुणस्थान सब प्रकार के असंज्ञियों को होता है और दूसरा कुछ ही असंज्ञियों को, जो करण-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि ही हैं, लब्धि-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि में कोई जीव सासादन भाव-सहित आकर जन्म ग्रहण नहीं करता। इस अपेक्षा से असंज्ञियों में आदि के दो गुणस्थान पाये जाते हैं। कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओं में पाये जाने वाले ६ गुणस्थानों में से आदि के ४ गुणस्थान तो ऐसे हैं, जिनकी प्राप्ति के समय और प्राप्ति के बाद भी उक्त तीन लेश्याएँ होती हैं, किन्तु पाँचवाँ और छठा, ये दो गुणस्थान ऐसे नहीं हैं। ये दो सम्यक्त्वमूलक विरतिरूप हैं, इसलिए इनकी प्राप्ति तेज आदि शुभ लेश्याओं के समय होती है, कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओं के समय नहीं। फिर भी प्राप्ति हो जाने के बाद परिणामशुद्धि कुछ घट जाने पर दो गुणस्थानों में अशुभ लेश्याएँ भी आ जाती हैं।

योगों के पन्द्रह भेद

विशेषरूप से योगों के पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं-सत्य, असत्य, मिश्र (सत्यासत्य) और असत्यामृषा, ये ४ भेद मनोयोग के हैं। वचनयोग भी उक्त चार प्रकार का ही है। औदारिक, वैक्रिय और आहारक, ये तीन भेद शुद्ध काययोग के, तथा ये ही तीन भेद मिश्र काययोग के एवं कार्मण काययोग यों काययोग के ७ भेद हुए। सब मिलाकर पन्द्रह प्रकार योग के हैं।[१]

कार्मण काययोग की तरह तैजस् काययोग क्यों नहीं?

आगमों में पाँच प्रकार के शरीरों में तैजस् नामक एक और शरीर बताया गया है, जो शरीर में तेजस्विता, तेज-पुंज तथा ऊर्जाशक्ति एवं पाचनशक्ति को बढ़ाता है, तथा विशिष्ट लब्धिधारी तपस्वी, जिसकी सहायता से तेजोलेश्या का प्रयोग करते हैं। अतः कार्मण काययोग के समान तैजस् काययोग को क्यों नहीं माना गया?

इस शंका का समाधान यह है कि तैजस शरीर और कार्मण शरीर दोनों का सदा साहचर्य रहता है। आशय यह है कि औदारिक आदि अन्य शरीर तो कभी-कभी कार्मण शरीर को छोड़ भी देते हैं, परन्तु तैजस् शरीर उसे कभी नहीं छोड़ता। इसलिए वीर्यशक्ति का जो व्यापार कार्मण शरीर के द्वारा होता है, वही नियम से तैजस् शरीर

---

१. (क) सच्चेयर-मीस-असच्च-मोस-मण-वइ विउव्वियाहारा।
उरलं मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे॥२४॥ -कर्मग्रन्थ भा. ४

के द्वारा भी होता है। अतः कार्मण काययोग में ही तैजस् काययोग का समावेश हो जाता है। इसलिए इसको पृथक् नहीं गिनाया गया।[१]

निश्चय दृष्टि से सत्य -असत्य ये दो योग ही

पूर्वोक्त मनोयोग तथा वचनयोग के चार-चार भेद व्यवहार नय की अपेक्षा से हैं, क्योंकि निश्चय दृष्टि से सबका समावेश सत्य और असत्य दो भेदों में ही हो जाता है। अर्थात्-जिस मनोयोग या वचनयोग में छल-कपट की या वंचना की बुद्धि नहीं है, वह मिश्र हो, चाहे असत्यामृषा हो, उसे सत्य-मनोयोग या सत्यवचनयोग ही समझना चाहिए। इसके विपरीत जिस मनोयोग या वचनयोग में छल-कपट या वंचना की बुद्धि हो या अंश हो, वह असत्य मनोयोग या असत्य वचनयोग ही है।[२]

कार्मण काययोगः अनाहारक अवस्था में

पन्द्रह योगों में से कार्मण काययोग ही ऐसा है, जो अनाहारक-अवस्था में पाया जाता है; शेष चौदह योग आहारक-अवस्था में ही होते हैं। परन्तु यह नियम नहीं है कि अनाहारक अवस्था में कार्मण काययोग होता ही है; क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक अवस्था होने पर भी किसी तरह का योग नहीं होता। और यह भी नियम नहीं है कि कार्मण काययोग के समय अनाहारक अवस्था अवश्य होती है, क्योंकि उत्पत्तिक्षण में कार्मण काययोग होने पर भी जीव अनाहारक नहीं होता, बल्कि वह उसी योग के द्वारा आहार लेता है। परन्तु यह नियम तो अबाधित है कि जब भी अनाहारक-अवस्था होती है, तब कार्मण योग के सिवाय अन्य योग होता ही नहीं। इसी से अनाहारक मार्गणा में एकमात्र कार्मण काययोग माना गया है।[३]

मनुष्यगति, पंचेन्द्रियगति, त्रसकाय, काययोग, अचक्षुदर्शन, पुरुषवेद, नपुसंकवेद, चार कषाय, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, संज्ञी, छह लेश्याएँ, आहारक, भव्य, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक, इन छब्बीस मार्गणाओं में सब (पन्द्रहों) योग होते हैं।

उपर्युक्त छब्बीस मार्गणाओं में पन्द्रह योग इसलिए कहे गए हैं कि इस सब मार्गणाओं का सम्बन्ध मनुष्य पर्याय के साथ है और मनुष्य पर्याय में सभी योग सम्भव हैं।[४]

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १३ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० ९४
२. वही, गा. १३ विवेचन, पृ० ९१
३. चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १३ विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ०९४, ९५
४. (क) नर-गइ-पणिंदि-तस-तणु-अचक्खु-नर-नपु-कसाय-सम्म-दुगे।
सन्नि-छलेसाहारग-भव-मइ-सुओहिदुगे सव्वे ॥२५॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. २५ विवेचन, (पं. सुखलाल जी), पृ. ९५

तिर्यञ्चगति, स्त्रीवेद, अविरति, सासादन, तीन अज्ञान, उपशम सम्यक्त्व, अभव्य और मिथ्यात्व, इन दस मार्गणाओं में आहारक-द्विक के सिवाय तेरह योग होते हैं। देवगति और नरकगति में उक्त तेरह में से औदारिक द्विक के सिवाय शेष ग्यारह योग होते हैं।

तिर्यंचगति आदि उपर्युक्त दस मार्गणाओं में आहारक-द्विक के सिवाय शेष सब योग होते हैं। इनमें से स्त्रीवेद और उपशम-सम्यक्त्व को छोड़कर शेष आठ मार्गणाओं में आहारक योग न होने का कारण सर्वविरति का अभाव ही है। स्त्री वेद में सर्वविरति की सम्भावना होने पर भी आहारक योग न होने का कारण स्त्रीजाति को दृष्टिवाद (जिसमें चौदह पूर्व हैं) पढ़ने का निषेध है। उपशम-सम्यक्त्व में सर्वविरति सम्भव है, तथापि उसमें आहारक योग न मानने का कारण यह है कि उपशम-सम्यक्त्वी आहारक लब्धि का प्रयोग नहीं करते।

तिर्यञ्चगति में तेरह योग इस प्रकार हैं-उसमें चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिक काययोग, इस प्रकार से नौ योग पर्याप्त अवस्था में पाये जाते हैं। वैक्रिय काययोग और वैक्रिय मिश्र काययोग पर्याप्त अवस्था में होते तो हैं, किन्तु सब तिर्यंचों को नहीं, वैक्रिय लब्धि से वैक्रिय शरीर बनाने वाले कुछ तिर्यंचों को ही होते हैं। कार्मण काययोग और औदारिक मिश्र, ये दो योग तिर्यंचों को अपर्याप्त अवस्था में ही होते हैं।

स्त्रीवेद[१] में तेरह योग इस प्रकार हैं-मन के चार, वचन के चार, दो वैक्रिय, एक औदारिक, ये ११ योग मनुष्य-तिर्यंच स्त्री को पर्याप्त अवस्था में, वैक्रिय-मिश्र काययोग देवस्त्री को अपर्याप्त अवस्था में, औदारिक-मिश्र-काययोग मनुष्य-तिर्यञ्च-स्त्री को अपर्याप्त अवस्था में तथा कार्मण काययोग पर्याप्त मनुष्यस्त्री को केवलि-समुद्घात-अवस्था में होता है।[२]

अविरति सम्यग्दृष्टि, सास्वादन, तीन अज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्व, इन ७ मार्गणास्थानों में चार मन के, चार वचन के, औदारिक और वैक्रिय, ये १० योग पर्याप्त-अवस्था में होते हैं। कार्मण काययोग विग्रहगति में तथा उत्पत्ति के प्रथम क्षण में होता है। औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र. ये दो योग अपर्याप्त अवस्था में होते हैं।

---

१. स्त्रीवेद से यहाँ मतलब है-द्रव्य स्त्री वेद से, उसी में आहारक योग का अभाव घटित हो सकता है। -संपादक

२. (क) तिरि-इत्थि-अजय-सासण-अनाण-उवसम-अभव्व-मिच्छेसु।
तेराहार दुगूणा ते उरल-दुगूण-सुर-नरए॥२६॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा.२६ विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ० ९६, ९७

उपशम-सम्यक्त्व में चार मन के, चार वचन के, औदारिक और वैक्रिय शरीर, ये १० योग पर्याप्त अवस्था में पाये जाते हैं। कार्मण और वैक्रियमिश्र, ये दो योग अपर्याप्त-अवस्था में देवों की अपेक्षा से समझ लेने चाहिए। जिस समय उपशमश्रेणि से गिरने वाले जीव मरकर अनुत्तरविमान में उपशम-सम्यक्त्व युक्त जन्म लेते हैं, उनके मत से अपर्याप्त देवों में उपशम-सम्यक्त्व के समय उक्त दोनों योग पाये जाते हैं।

उपशम-सम्यक्त्व में औदारिक-मिश्रयोग गिना है, वह सैद्धान्तिक मतानुसार जानना चाहिए; कार्मग्रन्थिक मतानुसार नहीं। कर्मग्रन्थीय मतानुसार पर्याप्त अवस्था में केवली के सिवाय अन्य किसी को वह योग नहीं होता। अपर्याप्त-अवस्था में मनुष्य-तिर्यञ्च को होता तो है, पर उन्हें उस अवस्था में किसी तरह का उपशम-सम्यक्त्व नहीं होता। सैद्धान्तिक मतानुसार उपशम-सम्यक्त्व में औदारिकमिश्र योग घट सकता है, क्योंकि वे वैक्रिय शरीर की रचना के समय वैक्रियमिश्रयोग न मानकर औदारिकमिश्रयोग मानते हैं। देवगति और नरकगति में विरति न होने से दो आहारक योगों का होना सम्भव नहीं है। इसलिए इन ४ योगों के सिवाय शेष ११ योग उक्त दो गतियों में कहे गए हैं।[१]

स्थावरकाय में कार्मण और औदारिकद्विक, ये तीन योग कहे गए हैं, वे वायुकाय के सिवाय अन्य चार प्रकार के स्थावरों में समझने चाहिए, क्योंकि वायुकाय में उक्त तीन तथा वैक्रियद्विक, ये पाँच योग सम्भव हैं, तीन योगों में से कार्मण काययोग विग्रहगति में तथा उत्पत्ति-समय में, और औदारिक मिश्र उत्पत्ति समय को छोड़कर शेष अपर्याप्त काल में एवं औदारिक काययोग पर्याप्त अवस्था में समझना चाहिए। वायुकाय में भी तीन योग तो ये ही होते हैं। शेष दो योग (वैक्रियद्विक) के अधिकारी वे ही वायुकायिक जीव होते हैं, जो वैक्रिय लब्धि-सम्पन्न हों। वैक्रिय शरीर बनाते समय वैक्रियमिश्रकाययोग होता है, और बना चुकने के बाद उसे धारण करते समय होता है-वैक्रिय काययोग[२]। असंज्ञी में छह योग होते

---

१. (क) देखें चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. २६ का विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ० ९७-९८
(ख) विउवग्गाहारे उरलमिस्सं -वही, भा. ४, गा. ४९

२. (क) इस तथ्य का समर्थन प्रज्ञापनासूत्र की चूर्णि में है। -संपादक
(ख) तिण्हं ताव रासीणं वेउव्विअलद्धी चेव नत्थि।
बादरपज्जत्ताणं पि संखेज्जइ भागस्स त्ति ॥ -पंचसंग्रह द्वार १ की टीका में उद्धृत
अर्थ-अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एवं अपर्याप्त बादर, इन तीन प्रकार के वायुकायिकों में वैक्रियलब्धि है ही नहीं, केवल पर्याप्त बादर वायुकाय में है, वह भी सब में नहीं, सिर्फ उसके असंख्यातवे भाग में है।

हैं, इनमें से पाँच योग तो वायुकाय की अपेक्षा से समझने चाहिए, क्योंकि सभी एकेन्द्रिय असंज्ञी ही होते हैं। छठा-असत्यामृषा वचनयोग द्वीन्द्रिय आदि की अपेक्षा से; क्योंकि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय, ये सभी असंज्ञी ही होते हैं। द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी जीव भाषा-लब्धियुक्त होते हैं, इसलिए उनमें असत्यामृषा वचनयोग होता है।

विकलेन्द्रिय में चार योग होते हैं; क्योंकि वे वैक्रिय लब्धि सम्पन्न न होने के कारण वैक्रिय शरीर नहीं बना सकते। इसलिए उनमें असंज्ञी सम्बन्धी छह योगों में से वैक्रियद्विक (वैक्रिय काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग) नहीं होता।

मनोयोग, वचनयोग, सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, (संयम), चक्षुर्दर्शन और मनःपर्यायज्ञान, इन ६ मार्गणाओं में कार्मण और औदारिक मिश्र को छोड़कर तेरह योग होते हैं; क्योंकि ये ६ मार्गणाएँ पर्याप्त-अवस्था में ही पाई जाती हैं, इसलिए अपर्याप्त-अवस्थाभावी दो योग-कार्मण और औदारिकमिश्र, इनमें नहीं होते। केवली भगवान् को केवलि-समुद्घात के समय ये दो योग होते हैं, मनोयोग आदि उपर्युक्त छह मार्गणाओं में से कोई भी मार्गणा नहीं होती। इसी कारण उपर्युक्त ६ मार्गणाओं में दो योगों के सिवाय, शेष १३ योग कहे गए हैं।

केवलद्विक में औदारिकद्विक, कार्मण, प्रथम तथा अन्तिम मनोयोग (सत्यमनोयोग तथा असत्यामृषा मनोयोग) और प्रथम तथा अन्तिम वचनयोग (सत्यवचनयोग तथा असत्यामृषा वचनयोग); ये ७ योग होते हैं। जो सयोगी केवली होते हैं, उनको औदारिक काययोग तो सदा ही रहता है। औदारिकमिश्र काययोग होता है-केवलिसमुद्घात के दूसरे, छठे और सातवें समय में, तथा कार्मण काययोग होता है-तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में। एवं दो मनोयोग होते हैं-किसी के प्रश्न का मन से उत्तर देने के समय। मन से उत्तर देने का अभिप्राय यह है कि जब कोई अनुत्तरविमानवासी देव या मनःपर्यायज्ञानी अपने स्थान में रहते हुए मन से ही केवली भगवान् से कोई प्रश्न करते हैं, तब उनके प्रश्न को केवलज्ञान से जानकर केवली भगवान् उसका उत्तर मन से ही देते हैं। अर्थात्-मनोद्रव्य को ग्रहण कर उसकी ऐसी रचना करते हैं कि अवधिज्ञान या मनःपर्यायज्ञान द्वारा देख (जान) कर प्रश्नकर्त्ता केवली भगवान् के द्वारा दिए गए उत्तर को अनुमान द्वारा जान लेते हैं। यद्यपि मनोद्रव्य बहुत ही सूक्ष्म है, तथापि अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेने की शक्ति है। जैसे कोई मानसशास्त्रज्ञ किसी के चेहरे पर होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों को देखकर उसके मनोगत भावों को अनुमान द्वारा जान लेता है, कि

इस प्रकार की मनोरचना के द्वारा अमुक अर्थ का ही चिन्तन किया हुआ होना चाहिए।[१]

परिहार-विशुद्ध और सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र (संयम) में मन के चार, वचन के चार और एक औदारिक, ये नौ योग होते हैं। मिश्र (सम्यग् मिथ्या) दृष्टि में उक्त नौ और एक वैक्रिय, ये कुल १० योग होते हैं। देशविरति में ये नौ और तथा वैक्रियद्विक, यों कुल ११ योग होते हैं। यथाख्यातचारित्र में चार मन के, चार वचन के, कार्मण और औदारिकद्विक, ये ११ योग होते हैं।

कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग छद्मस्थ के लिए अपर्याप्त-अवस्थाभावी हैं, किन्तु चारित्र कोई अपर्याप्त-अवस्था में नहीं होता। वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये दो योग वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करने वाले मनुष्य को ही होते हैं। परन्तु परिहारविशुद्धि संयम तथा सूक्ष्म-सम्पराय-संयम वाला कभी वैक्रियलब्धि का प्रयोग नहीं करता। आहारक और आहारकमिश्र ये दोनों योग चतुर्दश-पूर्वधर प्रमत्त मुनि को ही होते हैं, किन्तु परिहारविशुद्ध चारित्र का अधिकारी कुछ कम दश पूर्व का पाठी होता है, और सूक्ष्म सम्पराय चारित्र वाला चतुर्दश पूर्वधर होने पर भी अप्रमत्त ही होता है। इस कारण परिहार-विशुद्ध और सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र में कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक और आहारकमिश्र, ये ६ योग नहीं होते, शेष नौ योग होते हैं।

मिश्र-सम्यक्त्व (मिश्रदृष्टि) के समय मृत्यु नहीं होती, इस कारण अपर्याप्त-अवस्था में वह सम्यक्त्व नहीं पाया जाता। इसी कारण उसमें कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये अपर्याप्त-अवस्थाभावी तीन योग उसमें नहीं होते। इसके अतिरिक्त मिश्र-सम्यक्त्व के समय १४ पूर्वों का ज्ञान संभव न होने के कारण दो आहारक योग नहीं होते। इस प्रकार कार्मण आदि उक्त पांच योगों को छोड़कर शेष दस योग मिश्र सम्यक्त्व में होते हैं। यह ध्यान रहे कि मनुष्य और तिर्यंच द्वारा वैक्रियलब्धि का प्रयोग करते समय, वे मिश्र सम्यक्त्व गुणस्थानवर्ती नहीं होते, इस कारण मिश्र सम्यक्त्वावस्था में वैक्रियमिश्र योग नहीं होता, अन्य अवस्था में ही होता है।

---

१. (क) कम्मुरलदुगं थावरि, ते सविउव्वि-दुग पंच इगि पवणे॥
छ असन्नि चरम वइजुय, ते विउवदुगूण चउ विगले ॥२६॥
(ख) कम्मुरल-मीसवणु मण वइ-समइय छेय-चक्खु-मणनाणे।
उरल-दुग-कम्म पढमं तिमयणवइ केवल दुगंमि ॥२८॥ —चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ग) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. २७-२८ विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ९९ से १०२ तक

व्रतधारी श्रावक में चतुर्दश पूर्वधर और अपर्याप्त नहीं होता, इसलिए उसमें दो आहारक योग और अपर्याप्त-अवस्थाभावी कार्मण और औदारिकमिश्र, इन चार के सिवाय शेष ग्यारह योग माने जाते हैं। ग्यारह में वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये दो योग भी गिनाये गए हैं, क्योंकि अम्बड़ आदि श्रावक द्वारा वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर बनाये जाने की बात शास्त्र में प्रसिद्ध है।

यथाख्यात चारित्र वाला अप्रमत्त ही होता है। इसलिए उसमें दो वैक्रिय और दो आहारक ये चार प्रमाद-सहचारी योग नहीं होते, शेष ग्यारह होते हैं। ग्यारह योगों में कार्मण और औदारिकमिश्र ये दो योग केवलि समुद्घात की अपेक्षा से गिने गए हैं।[१]

मार्गणास्थानों में उपयोगों का सर्वेक्षण

किसी वस्तु का लक्षण उसका असाधारण धर्म है, क्योंकि लक्षण का उद्देश्य लक्ष्य को अन्य वस्तुओं से भिन्न बतलाना होता है; जो असाधारण धर्म में ही घटित हो सकता है। उपयोग जीव के असाधारण (विशिष्ट) धर्म हैं और अजीव से उसकी भिन्नता प्रदर्शित करते हैं; इसी कारण वे जीव के लक्षण कहे जाते हैं।

उपयोग के बारह प्रकार हैं-पांच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन; ये जीव के लक्षण हैं।

देवगति, तिर्यंचगति, नरकगति और अविरति में इन बारह में से मनःपर्याय ज्ञान और केवलद्विक (केवलज्ञान-केवलदर्शन) इन तीन सर्वविरति सापेक्ष उपयोगों को छोड़कर शेष नौ उपयोग पाये जाते हैं। अविरति वालों में से शुद्ध सम्यक्त्वी के ३ ज्ञान, ३ दर्शन-ये ६ उपयोग तथा शेष सब में ३ अज्ञान, २ दर्शन-ये पांच उपयोग जानने चाहिए।

त्रसकाय, तीन योग, तीन वेद, शुक्ललेश्या, आहारक, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, संज्ञी और भव्य, इन तेरह मार्गणाओं में सभी (१२) उपयोग होते हैं। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, शुक्लध्यान के सिवाय, पांच लेश्याएँ और चार कषाय, इन ग्यारह मार्गणाओं में केवलद्विक को छोड़कर शेष १० उपयोग पाये जाते हैं।

त्रसकाय आदि १३ मार्गणाओं में योग, शुक्ललेश्या और आहारकत्व, ये तीन मार्गणाएँ तेरहवें गुणस्थान-पर्यन्त और शेष दस चौदहवें गुणस्थान-पर्यन्त पाई जाती

---

१. (क) मणवइ-उरला परिहारि सुहुमि नव तेउ मीसि सविउव्वा।
देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरल मीस अहक्खाए॥२९॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. २९ विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ० १०२ से १०४
(ग) देखें, औपपातिक सूत्र, पृ० ९६

हैं । इसलिए इन सब में बारह उपयोग माने जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त वेद पाये जाने का मतलब द्रव्य-वेद से है, क्योंकि भाववेद तो नौवें गुणस्थान तक ही रहता है।

चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन, ये दो बारहवें गुणस्थान पर्यन्त, कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ छठे गुणस्थान पर्यन्त, तेज, पद्म, ये दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान पर्यन्त और कषायोदय अधिक से अधिक दसवें गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है; इस कारण चक्षुर्दर्शन आदि उक्त ग्यारह मार्गणाओं में केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग होते हैं।[१]

चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पंचेन्द्रिय में मति और श्रुत, दो अज्ञान, तथा चक्षु और अचक्षु दो दर्शन, यों कुल चार उपयोग होते हैं। चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रिय में विभंगज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नहीं है, तथा उनमें सम्यक्त्व न होने के कारण सम्यक्त्व के सहचारी पांच ज्ञान और अवधि और केवल दो दर्शन, ये सात उपयोग नहीं होते। इस प्रकार कुल आठ उपयोग के सिवाय शेष चार उपयोग होते हैं।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और पाँच प्रकार के स्थावर में उक्त चार में से चक्षुर्दर्शन के सिवाय तीन उपयोग होते हैं; क्योंकि एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त आठ मार्गणाओं में चक्षुर्दर्शन (आँख न होने से) और सम्यक्त्व न होने से पाँच ज्ञान, दो दर्शन (अवधि और केवल) और तथाविध योग्यता न होने के कारण विभंगज्ञान, इस तरह कुल नौ उपयोग नहीं होते, शेष तीन उपयोग होते हैं।

तीन अज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्वद्विक (मिथ्यात्व और सासादन), इन छह मार्गणाओं में तीन अज्ञान, दो दर्शन, यों कुल पांच उपयोग होते हैं। क्योंकि अज्ञानत्रिक आदि उपर्युक्त ६ मार्गणाओं में सम्यक्त्व तथा विरति नहीं है; इसलिए उनमें ५ ज्ञान और अवधि-केवल दर्शन, इन सात के सिवाय शेष पांच उपयोग होते हैं।

सैद्धान्तिक मतानुसार-विभंगज्ञानी में अवधिदर्शन मानते हैं और सास्वादन गुणस्थान में अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानते हैं। इसलिए इस जगह अज्ञानत्रिक आदि ६ मार्गणाओं में अवधिदर्शन नहीं माना है। और सास्वादन-मार्गणा में ज्ञान नहीं माना है, वह कार्मग्रन्थिक मतानुसार समझना चाहिए।

---

१. (क) ति अनाण नाणपण चउ दंसण बार जियलक्खणुवओगा।
विणु मणनाण दु केवल, नव सुर-तिरि-निरंय-अजएसु॥३०॥
(ख) तस जोय-वेय-सुक्काहार-नर-पणिंदि सन्नि भवि सव्वे।
नयणेयर-पण-लेसा-कसाइ दस केवल दुगूणा॥३१॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ग) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ३०, ३१ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १०५, १०६

केवलद्विक में निजद्विक (केवलज्ञान और केवलदर्शन) दो ही उपयोग हैं। क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यातचारित्र में तीन अज्ञान को छोड़कर शेष नौ उपयोग होते हैं। देशविरति में तीन ज्ञान और तीन दर्शन, ये ६ उपयोग होते हैं। मिश्रदृष्टि में वे ही उपयोग अज्ञानमिश्रित होते हैं।

केवलद्विक में केवलज्ञान और केवलदर्शन दो ही उपयोग मानने का कारण यह है कि मतिज्ञान आदि शेष दश उपयोग छाद्मस्थिकों के होते हैं, केवलियों के नहीं। क्षायिक सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व का अभाव ही होता है। यथाख्यातचारित्र के समय ग्यारहवें गुणस्थान में मिथ्यात्व तो है, पर सत्तागत है, उदयमान नहीं है। इस कारण इन दो मार्गणाओं (क्षा० यथा०) में मिथ्यात्वोदय-सहभावी तीन अज्ञान नहीं होते। सो इस प्रकार-उक्त दो मार्गणाओं में छद्मस्थ-अवस्था में पहले चार ज्ञान तथा तीन दर्शन ये ७ उपयोग और केवलि-अवस्था में केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग होते हैं।

देशविरति में मिथ्यात्व का उदय न होने के कारण तीन अज्ञान नहीं होते और सर्वविरति की अपेक्षा रखने वाले मनःपर्यायज्ञान और केवलद्विक, ये तीन उपयोग भी नहीं होते। शेष ६ उपयोग होते हैं। छह उपयोगों में अवधिद्विक का परिगणन इसलिए किया गया है कि उपासकदशांग सूत्र आदि में श्रावकों के अवधिज्ञान-उपयोग का वर्णन मिलता है।[१]

मिश्रदृष्टि में छह उपयोग वे होते हैं, जो देशविरति में होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि मिश्रदृष्टि में तीन ज्ञान मिश्रित होते हैं, शुद्ध नहीं। मतिज्ञान मति-अज्ञान-मिश्रित, श्रुतज्ञान श्रुत-अज्ञान-मिश्रित और अवधिज्ञान विभंगज्ञान-मिश्रित होता है। यह मिश्रितज्ञानत्व इसलिए माना जाता है कि मिश्रदृष्टि-गुणस्थान के समय अर्ध-विशुद्ध दर्शन-मोहनीय-पुंज का उदय होने के कारण परिणाम कुछ शुद्ध कुछ अशुद्ध यानी मिश्र होते हैं। शुद्धि की अपेक्षा से मति आदि को ज्ञान और अशुद्धि की अपेक्षा से अज्ञान कहा जाता है।

अनाहारक मार्गणा में मनःपर्यायज्ञान और चक्षुर्दर्शन को छोड़कर, शेष १० उपयोग होते हैं। चार ज्ञान, चार संयम, उपशम-सम्यक्त्व, वेदक (क्षायोपशमिक)

---

१. (क) चउरिंदिअसंनि दु अनाण-दंसण-इगि-बि-ति-थावरि अचक्खु।
तिअनाण दंसणदुगं अनाण-तिग-अभवि मिच्छ-दुगे॥३२॥
(ख) केवलदुगं नियदुगं नव तिअनाण विणु खइय-अहक्खाए।
दंसण-नाण-तिगं देसि मीसि अन्नाण-मीसं तं॥ ३३॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ग) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ३२-३३ विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ० १०७ से १०९ तक

सम्यक्त्व और अवधिदर्शन इन ११ मार्गणाओं में चार ज्ञान, तीन दर्शन, ये कुल ७ उपयोग होते हैं।

विग्रहगति, केवलि-समुद्घात और मोक्ष में अनाहारकत्व होता है। विग्रहगति में ८ उपयोग होते हैं। जैसे-भावी तीर्थंकर आदि सम्यक्त्वी को तीन ज्ञान, मिथ्यात्वी को तीन अज्ञान, सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी-उभय को अचक्षु और अवधि ये दो दर्शन, तथा केवलि-समुद्घात और मोक्ष में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं। इस तरह सब मिलाकर अनाहारक मार्गणा में दस उपयोग हुए। मनःपर्यायज्ञान और चक्षुर्दर्शन ये दो उपयोग पर्याप्त-अवस्थाभावी होने के कारण अनाहारक मार्गणा में नहीं होते।

केवलज्ञान के सिवाय चार ज्ञान, यथाख्यात के सिवाय चार संयम (चारित्र), औपशमिक और क्षायोपशमिक दो सम्यक्त्व और अवधि दर्शन; ये ११ मार्गणाएँ चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक में ही पायी जाती हैं। इस कारण इनमें ३ अज्ञान और केवलद्विक इन ५ उपयोगों के सिवाय शेष ७ उपयोग माने गए हैं।

[1]अवधि दर्शन में तीन अज्ञान कार्मग्रन्थिक मतानुसार नहीं माने हैं।[2]

तीन योगों में उपयोगों की प्ररूपणा : विशेषापेक्षा से

अन्य आचार्य मनोयोग में जीवस्थान दो, गुणस्थान तेरह, योग तेरह, उपयोग बारह तथा वचनयोग में जीवस्थान ८, गुणस्थान दो, योग चार, उपयोग चार और काययोग में जीवस्थान चार, गुणस्थान दो, योग पांच और उपयोग तीन मानते हैं।

प्रस्तुत गाथा (३५) में मन-वचन-काययोग में विशेष विवक्षा करके जीवस्थान आदि का विचार किया गया है। अर्थात्-यहाँ प्रत्येक योग को अन्य योग से रहित लेकर उसमें जीवस्थान आदि की यथासम्भव प्ररूपणा की गई है। यथासम्भव का मतलब यह है कि मनोयोग तो वचन-काययोग-रहित मिलता ही नहीं, इस कारण वह वचन-काय-उभययोग सहचरित ही लिया जाता है। परन्तु वचन काययोग के विषय में यह बात नहीं। वचनयोग कहीं काययोग रहित न मिलने पर भी द्वीन्द्रियादि में मनोयोग-रहित मिल जाता है। इसलिए वह मनोयोगरहित लिया जाता है। काययोग एकेन्द्रिय में मन-वचन-योग रहित मिल जाता है। इस कारण वह वैसा ही लिया जाता है।

---

१. 'जयाइ मइ-सुओहिदुगे' इस २१ वीं गाथा के अनुसार समझें।

२. (क) मण-नाण-चक्खुवज्जा, अणहारि तिन्नि दंसण चउ नाणा।
चउनाण-संजमोवसम-वेयगे ओहिदंसे य॥ ३४॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. ३३, ३४ विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ० १०९, ११०

मनोयोग में अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञी,[१] ये दो जीवस्थान हैं, अन्य नहीं। क्योंकि अन्य जीवस्थानों में मनःपर्याप्ति द्रव्यमन आदि सामग्री न होने से मनोयोग नहीं होता। मनोयोग में गुणस्थान तेरह हैं, क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में कोई भी योग नहीं होता। मनोयोग पर्याप्त-अवस्थाभावी है। इस कारण उसमें अपर्याप्त-अवस्थाभावी कार्मण और औदारिकमिश्र, इन दो को छोड़कर तेरह योग होते हैं। यद्यपि केवलिसमुद्घात के समय पर्याप्त-अवस्था में भी उक्त दो योग होते हैं; तथापि उस समय प्रयोजन न होने के कारण केवलज्ञानी मनोद्रव्य को ग्रहण नहीं करते। इस कारण उस समय भी उक्त दो योग के साथ मनोयोग का साहचर्य घटित नहीं होता। मनोयोग-सम्पन्न प्राणियों में सब प्रकार के बोध की शक्ति पायी जाती है, इस कारण मनोयोग में बारह उपयोग माने गए हैं।

[२]वचनयोग में ८ जीवस्थान कहे गए हैं। वे ये हैं-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पंचेन्द्रिय, ये चार पर्याप्त तथा अपर्याप्त। यहाँ वचनयोग मनोयोग-रहित लिया गया है। इसलिए इन ८ जीवस्थानों में ही गिना गया है।

वचनयोग में पहला और दूसरा, दो गुणस्थान, औदारिक, औदारिकमिश्र, कार्मण और असत्यामृषा वचन, ये चार योग, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन, ये चार उपयोग हैं। कार्मण और औदारिकमिश्र ये दोनों अपर्याप्त-अवस्थाभावी होने के कारण पर्याप्त-अवस्थाभावी वचनयोग के असमकालीन हैं, तथापि उक्त दो योग वालों को भविष्य में वचनयोग होते हैं, इसलिए मान लिये गये।

काययोग में सूक्ष्म और बादर ये दो पर्याप्त तथा अपर्याप्त कुल ४ जीवस्थान, पहला और दूसरा दो गुणस्थान, औदारिक औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कार्मण ये ५ योग तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुर्दर्शन ये तीन उपयोग

---

१. १७ वीं गाथा में मनोयोग में सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना है, सो वर्तमान मनोयोग वालों को मनोयोगी मानकर इस गाथा में मनोयोग में पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञीपंचेन्द्रिय दो जीवस्थान माने हैं, सो वर्तमान-भावी-उभय मनोयोगियों को मनोयोगी मान कर कथन है।

२. कर्मग्रन्थ भा. ४ गा. २२, २८, ३१ में क्रमशः वचनयोग में १३ गुणस्थान, १३ योग और १२ उपयोग माने हैं, यहां २ गुणस्थान, ४ योग और ४ उपयोग माने गए, इस भिन्नता का कारण भी यहां वर्तमान की तरह भावी वचनयोग वाले भी वचनयोग-स्वामी माने गए हैं, तथा मनोयोगरहित वचनयोग विशिष्ट माना गया है।

यहाँ विशेषरूप से बताये गए हैं; क्योंकि मनोयोग-वचनयोग रहित काययोग केवल एकेन्द्रिय में पाया जाता है, उसी को[1] लेकर यह कथन है।[2]

मार्गणाओं में लेश्याओं की प्ररूपणा

छह लेश्या मार्गणाओं में अपना-अपना स्थान है। एकेन्द्रिय, असंज्ञि पंचेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय, इन पांच मार्गणाओं में आदि की चार लेश्याएँ हैं। नरकगति, विकलेन्द्रिय-त्रिक, अग्निकाय और वायुकाय, इन छह मार्गणाओं में आदि की तीन लेश्याएँ हैं। छह लेश्याओं में स्व-स्व-स्थान है, इसका तात्पर्य यह है कि एक समय में एक जीव में एक ही लेश्या होती है; दो नहीं; क्योंकि छहों लेश्याएँ समानकाल की अपेक्षा से परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध हैं। एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त पांच मार्गणाओं में कृष्णलेश्या से तेजोलेश्या तक चार लेश्याएँ बताई गई हैं। इनमें से पहली तीन तो भव-प्रत्यय होने के कारण सदैव पाई जा सकती हैं; परन्तु तेजोलेश्या के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं, वह सिर्फ अपर्याप्त-अवस्था में पाई जाती है। इसका कारण यह है कि जब कोई तेजोलेश्या वाला जीव मरकर पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय में जन्मता है, तब उसे कुछ काल तक पूर्वजन्म की मरणकालीन तेजोलेश्या रहती है।

नरकगति आदि उपर्युक्त छह मार्गणाओं के जीवों में ऐसे अशुभ परिणाम होते हैं, जिससे कि कृष्ण आदि तीन लेश्याओं के सिवाय अन्य लेश्याओं के अधिकारी नहीं बनते। यथाख्यातचारित्र, सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और केवलद्विक, इन चार मार्गणाओं में शुक्ललेश्या है, शेष मार्गणाओं में छहों लेश्याएँ होती हैं।

यथाख्यात आदि उपर्युक्त चार मार्गणाओं में परिणाम इतने शुद्ध होते हैं कि जिससे उनमें शुक्ललेश्या के सिवाय अन्य लेश्या का सम्भव नहीं है।

गाथा ३५ वीं, और ३६ वीं में कुल मिलाकर १७+४=२१ मार्गणाएँ हुईं। इन २१ मार्गणाओं को छोड़कर शेष निम्नोक्त ४१ मार्गणाओं में छहों लेश्याएँ पाई जाती हैं। इकतालीस मार्गणाएँ ये हैं-(१) देवगति, (२) मनुष्यगति, (३) तिर्यंचगति, (४) पंचेन्द्रिय जाति, (५) त्रसकाय, (६-८) तीन योग, (९-११) तीन वेद, (१२-१५)

---

१. काययोग में भी १६, २२, २५, ३१वीं गाथा में १४ जीवस्थान, १३ गुणस्थान, १५ योग, १२ उपयोग बताए गए हैं, वे सामान्य अपेक्षा से हैं, यहाँ विशेष (मन-वचनयोग रहित) काययोग की अपेक्षा से विधान है।

२. (क) दो तेर तेर बारस, मणे कमा अट्ठे दु चउ चउ वयणे।
चउ दु पण तिन्नि काये जियगुणजोगोवओगन्ने॥ ३५॥ - चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. ३५ विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ० ११० से ११३ तक

मति आदि चार ज्ञान, (१६-१८) तीन अज्ञान, (१९-२१) तीन चारित्र (सामा० छेदो० परिहार०), (२२) देशविरति, (२३) अविरति, (२४-२६) तीन दर्शन, (२७) भव्यत्व, (२८) अभव्यत्व, (२९-३१) तीन सम्यक्त्व (क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक), (३२) सासादन, (३३) सम्यग्मिथ्यात्व, (३४) मिथ्यात्व, (३५-३८) चार कषाय, (३९) संज्ञित्व, (४०) आहारकत्व और (४१) अनाहारकत्व।[१]

चौदह मार्गणाओं में अल्प-बहुत्व-प्ररूपणा

गतिमार्गणा का अल्प-बहुत्व[२]-'सबसे कम मनुष्य हैं, नारक उनसे असंख्यातगुणे हैं, नारकों से देवता असंख्यातगुणे हैं और देवों से तिर्यञ्च अनन्तगुणे हैं।

सबसे कम मनुष्य इसलिए हैं कि मनुष्य जघन्य उनतीस अंक-प्रमाण और उत्कृष्ट असंख्यात होते हैं। मनुष्यों के गर्भज और सम्मूर्च्छिम, ये दो भेद हैं। इनमें से सम्मूर्च्छिम मनुष्य किसी समय बिलकुल ही नहीं रहते, केवल गर्भज रहते हैं। कारण यह है कि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। जिस समय, सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति में एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय का अन्तर पड़ जाता है, उस समय पहले के उत्पन्न हुए सभी सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के मर चुकने पर गर्भज मनुष्य ही रह जाते हैं, जो कम से कम २९ अंकों के बराबर होते हैं। इसलिए मनुष्यों की कम से कम (जघन्य) यही संख्या हुई। **उत्कृष्ट** संख्या असंख्यात इसलिए है कि जब सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं, तब वे एक साथ अधिक से अधिक असंख्यात तक होते हैं, उसी समय मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या पायी जाती है। असंख्यात संख्या के भी असंख्यात भेद हैं, इनमें से जो असंख्यात संख्या मनुष्यों के लिए इष्ट है, उसका परिचय शास्त्र में काल और क्षेत्र, दो प्रकार से दिया गया है।[३]

---

१. (क) छसु लेसासु सगणं, एगिंदि असन्नि भूदग-वणेसु।
पढमा चउरो तिन्नि उ, नारय-विगलग्गि- पवणेसु ॥ ३६ ॥
अहक्खाय-सुहुम-केवलदुगि, सुक्का छावि सेसठाणेसु॥ ३७॥ - चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. ३६-३७ विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ० ११४, ११५

२. रज्जु, घनीकृत लोक, सूचि-श्रेणि और प्रतर आदि का स्वरूप पांचवें कर्मग्रन्थ की ९७ वीं गाथा से जानें।

३. कर्मग्रन्थ भा. ४ में गा. ३७ से ४४ तक चौदह मार्गणाओं में अल्प बहुत्व का जो विचार है, उसके विस्तृत विवेचन के लिए देखें-(१) प्रज्ञापना सूत्र पद ३, अल्प बहुत्व पद। (२) अनुयोगद्वार पृ० २०९, २०५, १०९, २००,२०८, (३) पंचसंग्रह द्वार २ गा. १४, १५, २१ (४) गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. १५७, १५२, १६०

काल से–असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जितने समय होते हैं, मनुष्य अधिक से अधिक उतने पाये जा सकते हैं। **क्षेत्र से**[१]–सात रज्जु-प्रमाण घनीकृत लोक की अंगुलमात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेशों के तीसरे वर्गमूल के साथ गुणना, गुणने पर जो संख्या प्राप्त हो, उसका सम्पूर्ण सूचि-श्रेणिगत प्रदेशों में भाग देना, भाग देने पर जो संख्या लब्ध होती है, एक-कम-वही संख्या, मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या है।[२]

उनसे नारक असंख्यातगुणे हैं। परन्तु नारकों की असंख्यात संख्या मनुष्यों की असंख्यात संख्या से असंख्यात-गुनी अधिक है। उनसे भवनपति देव असंख्यात हैं। उनसे व्यन्तरनिकाय के देव भी असंख्यात हैं। उनसे ज्योतिषी देवों की संख्या असंख्यात है, और उनसे वैमानिक देव असंख्यात हैं।

तात्पर्य यह है–भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, सब देव मिलकर नारकों से असंख्यातगुणे होते हैं। देवों से तिर्यञ्चों के अनन्तगुणे होने का कारण है–वनस्पतिकायिक जीव संख्या में अनन्त होते हैं, और वे तिर्यञ्च हैं।[३]

इन्द्रिय-मार्गणा का अल्प-बहुत्व–पंचेन्द्रिय जीव सबसे थोड़े हैं। पंचेन्द्रियों से चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रियों से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रियों से द्वीन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं। द्वीन्द्रियों से एकेन्द्रिय जीव अनन्त-गुणे हैं।

कायमार्गणा का अल्प-बहुत्व–त्रसकायिक जीव अन्य सब काय के जीवों से थोड़े हैं। इनसे अग्निकायिक जीव असंख्यातगुणे हैं। अग्निकायिकों से पृथ्वीकायिक, पृथ्वीकायिकों से जलकायिक और जलकायिकों से वायुकायिक विशेषाधिक हैं। वायुकायिकों से वनस्पतिकायिक अनन्तगुणे हैं।

योग-मार्गणा का अल्प-बहुत्व–मनोयोग वाले अन्य योग वालों से थोड़े हैं। वचनयोग वाले उनसे असंख्यातगुणे हैं, और काययोग वाले वचनयोग वालों से अनन्तगुणे हैं। मनोयोग संज्ञी जीवों में ही पाया जाता है, इसलिए संज्ञी जीव अन्य सब जीवों से अल्प ही हैं।

---

१. काल से क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है, क्योंकि अंगुल-प्रमाण सूचि-श्रेणि के प्रदेशों की संख्या असंख्यात अवसर्पिणी के समयों के बराबर मानी गई है।
–कर्मग्रन्थ गा. ३७ विवेचन, पृ० ११७

२. सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरे हवइ खित्तं ।
अंगुल सेढी मित्ते, ओसप्पिणी उ असंखेज्जा॥ ३७॥ –आवश्यकनिर्युक्ति पृ०३३/१

३. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ३७ का विवेचन, से सारांश उद्धृत (पं० सुखलाल जी) पृ० ११५ से १२१
(ख) नर-निरय-देव-तिरिया, थोवा दु असंखगंत-गुणा॥ ३७॥ –चतुर्थ कर्मग्रन्थ

वेदमार्गणा का अल्प-बहुत्व–पुरुष सबसे थोड़े हैं। स्त्रियाँ पुरुषों से संख्यातगुणी अधिक हैं और नपुंसक स्त्रियों से अनन्तगुणे हैं। तिर्यंच-स्त्रियाँ तिर्यञ्च पुरुषों से तीन गुनी अधिक हैं, मनुष्य स्त्रियाँ मनुष्य पुरुषों से सत्ताईस गुनी और सत्ताईस अधिक हैं। देवियाँ देवों से बत्तीस गुनी और बत्तीस अधिक हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सब जीव, असंज्ञि पंचेन्द्रिय और नारक, ये सब नपुंसक ही हैं। इसलिए नपुंसक स्त्रियों की अपेक्षा अनन्तगुणे माने गए हैं।

कषायमार्गणा का अल्प-बहुत्व–मान कषाय वाले सब कषायों से थोड़े हैं, क्रोधी मानियों से विशेषाधिक हैं, मायावी क्रोधियों से विशेषाधिक हैं और लोभी मायावियों से विशेषाधिक हैं।

ज्ञान-मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व–मनःपर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियों से थोड़े हैं। अवधिज्ञानी मनःपर्यायज्ञानियों से असंख्यगुणे हैं; मतिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी आपस में तुल्य हैं, परन्तु अवधिज्ञानियों से विशेषाधिक हैं तथा विभंगज्ञानी श्रुतज्ञान वालों से असंख्यातगुणे हैं। केवलज्ञानी विभंगज्ञानियों से अनन्तगुणे हैं। मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी परस्पर तुल्य हैं, किन्तु केवल-ज्ञानियों से अनन्तगुणे हैं।

संयम-मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व–सूक्ष्म सम्पराय चारित्र वाले अन्य चारित्र वालों से अल्प हैं। परिहार विशुद्धि चारित्र वाले सूक्ष्म सम्पराय चारित्रियों से संख्यातगुणे हैं। यथाख्यातचारित्र वाले परिहार विशुद्धि चारित्रियों से संख्यातगुणे हैं। छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले यथाख्यातचारित्रियों से संख्यातगुणे हैं। सामायिक चारित्री छेदोपस्थापनीय-चारित्रियों से संख्यातगुणे हैं। देशविरति वाले सामायिक चारित्रियों से असंख्यातगुणे हैं। अविरति वाले देशविरतों से अनन्तगुणे हैं।

सूक्ष्मसम्परायचारित्री उत्कृष्ट दो सौ से नौ सौ तक, परिहारविशुद्धिचारित्री उत्कृष्ट दो हजार से नौ हजार तक और यथाख्यातचारित्री उत्कृष्ट दो करोड़ से नौ करोड़ तक हैं। इसलिए इन तीनों चारित्रियों का उत्तरोत्तर संख्यातगुणा अल्प-बहुत्व माना गया है। परन्तु छेदोपस्थापनीय चारित्रवाले उत्कृष्ट दो सौ करोड़ से नौ सौ करोड़ तक हैं। सामायिक चारित्र वाले उत्कृष्ट दो हजार करोड़ से नौ हजार करोड़ तक हैं। अतः इनका भी उत्तरोत्तर संख्यातगुणा अल्प-बहुत्व माना गया है।

दर्शन मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व–अवधिदर्शनी सब दर्शन वालों से अल्प हैं। चक्षुर्दर्शनी अवधिदर्शन वालों से असंख्यातगुणे हैं। केवलदर्शनी चक्षुर्दर्शन वालों से अनन्तगुणे हैं। अचक्षुर्दर्शन केवलदर्शनियों से भी अनन्तगुणे हैं।[१]

---

१. (क) पण-चउ-ति-दु-एगिंदि, थोवा तिन्नि अहिया अणंतगुणा।
तस-थोव-असंखगुणी, भू-जलनिल-अहिय वण णंता॥ ३८॥

(शेष पृष्ठ २५२ पर)

लेश्यामार्गणाओं का अल्प-बहुत्व—शुक्ल लेश्या वाले अन्य सब लेश्याओं वालों से अल्प हैं। पद्म लेश्या वाले शुक्ल लेश्या वालों से संख्यातगुणे हैं। तेजोलेश्या वाले पद्म लेश्या वालों से संख्यातगुणे हैं। कापोत लेश्या वाले तेजोलेश्या वालों से अनन्तगुणे हैं। कापोत लेश्या वालों से नील लेश्या वाले विशेषाधिक हैं। कृष्ण लेश्या वाले नील लेश्या वालों से भी विशेषाधिक हैं।

भव्यत्व-अभव्यत्व मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व—अभव्यजीव भव्यजीवों से अल्प हैं। भव्यजीव अभव्यजीवों की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं।

सम्यक्त्व-मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व—सासादन सम्यग्दृष्टि अन्य सब दृष्टि वालों से कम हैं। औपशमिक सम्यग्दृष्टि वाले सासादन सम्यग्दृष्टि वालों से संख्यात गुणे हैं। मिश्रदृष्टि वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टि वालों से संख्यातगुणे हैं। वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व वाले जीव, मिश्रदृष्टि वालों से असंख्यातगुणे हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि वाले जीव वेदक सम्यग्दृष्टि वालों से अनन्तगुणे हैं। मिथ्यादृष्टि वाले जीव, क्षायिक सम्यग्दृष्टि वाले जीवों से अनन्तगुणे हैं।

संज्ञित्व-असंज्ञित्व मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व—देव, नारक, गर्भज तिर्यञ्च तथा गर्भज मनुष्य ही संज्ञी हैं, शेष सब संसारी जीव असंज्ञी हैं, जिनमें अनन्त वनस्पतिकायिक जीवों का समावेश है। अतः संज्ञी जीव असंज्ञी जीवों की अपेक्षा कम हैं और असंज्ञी जीव उनसे अनन्तगुणे हैं।

आहारक-अनाहारक मार्गणा का अल्प-बहुत्व—अनाहारक जीव आहारक जीवों की अपेक्षा कम हैं, उनसे आहारक जीव असंख्यातगुणे हैं।

(पृष्ठ २५१ का शेष)

(ख) मण-वयण-काय-जोगा, थोवा असंखगुण-अणंतगुणा।
पुरिसा थोवा इत्थी, संखगुणाणंतगुण कीवा॥ ३९॥

(ग) माणी कोही माई लोही अहिय, मणनाणिणो थोवा।
ओही असंखा मइ-सुय अहिय-सम-असंख विभंगा॥ ४०॥
केवलिणोऽणंतगुणा मइ-सुय-अन्नाणि णंत गुण-तुल्ला।
सुहुमा थोवा परिहार संख अहक्खाय-संख गुणा॥ ४१॥
छेय-समईय संखा, देस असंखगुण णंतगुण अजया।
थोव असंख दुणंता ओहि-नयण-केवल-अचक्खू ॥ ४२॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ

(घ) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ३८ से ४२ तक विवेचन, (पं० सुखलालजी) सारांश, पृ० १२२ से १२८

विग्रहगति में वर्तमान जीव, केवलि समुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में वर्तमान, चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान और सिद्ध, ये सब जीव अनाहारक हैं, शेष सब आहारक हैं।[१]

इस प्रकार चौदह मार्गणास्थानों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा है।

इस सर्वेक्षण से प्रेरणा और प्रगति का लाभ

इस प्रकार चौदह मार्गणाओं के बासठ उत्तरभेदों का जीवस्थान आदि ६ बातों का सर्वेक्षण किया गया है। इस सर्वेक्षण से इतनी स्पष्ट प्रतीति जीवों की विभिन्न पहलुओं से स्वाभाविक एवं वैभाविक अवस्थाएँ किस-किस प्रकार से, कौन-कौन-से माध्यम से, कैसे बदलती हैं? मुमुक्षु जीव यदि इन अवस्थाओं पर चिन्तन-मनन करे तो इनसे प्रेरणा लेकर कर्मबन्ध से कर्ममुक्ति की ओर सावधानी-पूर्वक गति-प्रगति कर सकता है।

■■

---

१. (क) पच्छाणुपुव्वि लेसा, थोवा दो संखणंत दो अहिया।
अभवियर थोवणंता, सासण थोवोवसम-संखा॥ ४३॥
(ख) मीसा संखा वेयग, असंखगुण खइय-मिच्छ दु अणंता।
संनियर थोव णंताणहार थोवेयर असंखा॥ ४४॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ग) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ४३, ४४ विवेचन (पं० सुखलालजी) से सारांश, पृ० १२८ से १३३
(घ) (अ) लेश्या के अल्पबहुत्व के लिए देखें-(१) प्रज्ञापना पद ३ पृ० १३५ (२) गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ५३६ से ५४१ तक
(ब) भव्य मार्गणा, संज्ञिमार्गणा, आहारक मार्गणा के अल्पबहुत्व के लिए देखें-प्रज्ञापना अल्पबहुत्व पद में क्रमशः पृष्ठ १३९, १३९, १३२/१ सम्यक्त्व मार्गणा का अल्पबहुत्व पृ० १३६ पर।
देखें-भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक मार्गणा का अल्पबहुत्व -गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ५५९, ६५६, ६५८, ६६२, ६७०

मार्गणाओं में जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग और लेश्या-दर्शक यंत्र

क्रम संख्या	मार्गणा भेद-संख्या	मार्गणानाम	जीवस्थान १४	गुणस्थान १४	योग १५	उपयोग १२	लेश्या ६
		१-गति-मार्गणा					
१	१	नरकगति.....	२	४	११	९	३
२	२	तिर्यंचगति.....	१४	५	१३	९	६
३	३	मनुष्यगति.....	३	१४	१५	१२	६
४	४	देवगति.....	२	४	११	९	६
		२-इन्द्रिय-मार्गणा					
५	१	एकेन्द्रिय.....	४	२	५	३	४
६	२	द्वीन्द्रिय.....	२	२	४	३	३
७	३	त्रीन्द्रिय.....	२	२	४	३	३
८	४	चतुरिन्द्रिय.....	२	२	४	४	३
९	५	पंचेन्द्रिय.....	४	१४	१५	१२	६
		३-काय-मार्गणा					
१०	१	पृथ्वीकाय.....	४	२	३	३	४
११	२	जलकाय.....	४	२	३	३	४

क्रम संख्या	मार्गणा भेद-संख्या	मार्गणानाम	जीवस्थान १४	गुणस्थान १४	योग १५	उपयोग १२	लेश्या ६
१२	३	वायुकाय	४	१	५	३	३
१३	४	अग्निकाय	४	१			
१४	५	वनस्पतिकाय	४	२	३	३	४
१५	६	त्रसकाय	१०	१४	१५	१२	६
		४-योग-मार्गणा					
१६	१	मनोयोग	१/२	१३	१५/१३	१२	६
१७	२	वचनयोग	५/८	१३/२	१३/४	१२/४	६
१८	३	काययोग	१४/४	१३/२	१५/५	६	६
		५-वेद-मार्गणा					
१९	१	पुरुषवेद.....	२	९	१५	१२	६
२०	२	स्त्रीवेद.....	२	९	१३	१२	६
२१	३	नपुंसकवेद.....	१४	९	१५	१२	६
		६-कषाय-मार्गणा					
२२	१	क्रोध.....	१४	९	१५	१०	६
२३	२	मान.....	१४	९	१५	१०	६
२४	३	माया.....	१४	९	१५	१०	६
२५	४	लोभ.....	१४	१०	१५	१०	६

क्रम संख्या	मार्गणा भेद-संख्या	मार्गणानाम	जीवस्थान १४	गुणस्थान १४	योग १५	उपयोग १२	लेश्या ६
		७-ज्ञान-मार्गणा					
२६	१	मतिज्ञान	२	९	१५	७	६
२७	२	श्रुतज्ञान	२	९	१५	७	६
२८	३	अवधिज्ञान	२	९	१५	७	६
२९	४	मन:पर्यायज्ञान	१	७	१३	७	६
३०	५	केवलज्ञान	१	२	७	२	६
३१	६	मति-अज्ञान	१४	२/३	१३	५	६
३२	७	श्रुत-अज्ञान	१४	२/३	१३	५	६
३३	८	विभंगज्ञान	२	२/३	१३	५	६
		८-संयम-मार्गणा					
३४	१	सामायिक	१	४	१३	७	६
३५	२	छेदोपस्थापनीय	१	४	१३	७	६
३६	३	परिहार-विशुद्धि	१	२	९	७	६
३७	४	सूक्ष्म-सम्पराय	१	१	९	७	१
३८	५	यथाख्यात	१	४	११	९	६
३९	६	देशविरति	१	१	११	६	६
४०	७	अविरति	१४	४	१३	९	१

क्रम संख्या	मार्गणा भेद-संख्या	मार्गणानाम	जीवस्थान १४	गुणस्थान १४	योग १५	उपयोग १२	लेश्या ६
		९-दर्शनमार्गणा					
४१	१	चक्षुदर्शन.....	३/६	१२	१३	१०	६
४२	२	अचक्षुदर्शन.....	१४	१२	१५	१०	६
४३	३	अवधिदर्शन.....	२	९	१५	७	६
४४	४	केवलदर्शन.....	१	२	७	२	१
		१०-लेश्यामार्गणा					
४५	१	कृष्णलेश्या.....	१४	६	१५	१०	१
४६	२	नीललेश्या.....	१४	६	१५	१०	१
४७	३	कापोतलेश्या.....	१४	६	१५	१०	१
४८	४	तेजोलेश्या.....	३	७	१५	१०	१
४९	५	पद्मलेश्या.....	३	७	१५	१०	१
५०	६	शुक्ललेश्या.....	२	१३	१५	१२	१
		११-भव्यत्व-मार्गणा					
५१	१	भव्यत्व.....	१४	१४	१५	१२	६
५२	२	अभव्यत्व.....	१४	१	१३	४	६

क्रम संख्या	मार्गणा भेद-संख्या	मार्गणानाम	जीवस्थान १४	गुणस्थान १४	योग १५	उपयोग १२	लेश्या ६
		१२-सम्यक्त्व-मार्गणा					
५३	१	औपशमिक.....	२	८	१३	७	६
५४	२	क्षायोपशमिक.....	२	४	१५	७	६
५५	३	क्षायिक.....	२	११	१५	९	६
५६	४	सास्वादन.....	७	१	१३	५	६
५७	५	मिश्र.....	१	१	१०	५/६	६
५८	६	मिथ्यात्व.....	१४	१	१३	५	६
		१३-संज्ञी-मार्गणा					
५९	१	संज्ञित्व.....	२	१४	१५	१२	६
६०	२	असंज्ञित्व.....	१२	२	६	४	४
		१४-आहारक-मार्गणा					
६१	१	आहारकत्व	१४	१३	१५	१२	६
६२	२	अनाहारकत्व	८	५	१	१०	६

१२

मार्गणाओं द्वारा गुणस्थानापेक्षया बन्धस्वामित्व-कथन

मार्गणा : संसारी जीवों की विविध अवस्थाओं का अन्वेषण

इस संसार में अनन्त-अनन्त जीव हैं। प्रत्येक जीव का बाह्य और आभ्यन्तर जीवन पृथक्-पृथक् होता है। शरीर तो इसका प्रथम मूलाधार है। उसके साथ-साथ उससे सम्बद्ध इन्द्रियाँ, मन-वचन-काया की प्रवृत्तियाँ, अंगोपांग, कामवासना, क्रोधादि कषाय, लेश्या, भव्यत्व-अभव्यत्व, दर्शन, ज्ञान, संयम, संज्ञित्व-असंज्ञित्व, आहारकत्व-अनाहारकत्व, आकार (संस्थान), रंग-रूप, विचारशक्ति, मनोबल, प्राणबल आदि विभिन्न बाह्य और अन्तरंग विषयों में एक जीव दूसरे जीव से भिन्न दृष्टिगोचर होता है। यह सारी भिन्नता कर्मजन्य है। कर्मों के बन्ध का सारा दारोमदार परिणामों पर आधारित है। अतः कर्मजन्य विभिन्नता पांच भावों को लेकर होती है, जिन्हें कर्मविज्ञान ने औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और सहज पारिणामिक भाव की संज्ञा प्रदान की है। कर्म वैज्ञानिक महापुरुषों ने औदयिकादि भावों के माध्यम से होने वाली इन कर्मजन्य अनन्त-अनन्त विभिन्नताओं को १४ विभागों में विभाजित किया है। ये चौदह विभाग चूँकि जीवों की विभिन्नताओं का सर्वेक्षण या अन्वेषण-गवेषण करने के लिए माध्यम हैं। इन्हीं चौदह विभागों के उत्तरभेद ६२ होते हैं, जिनसे प्रत्येक जीव वर्ग के सामान्यरूप से बाह्य-आभ्यन्तर जीवन का बारीकी से सर्वेक्षण हो जाता है। जीवों के इन बाह्य-आभ्यन्तर जीवन विभागों के अन्वेषण-सर्वेक्षण करने को कर्मवैज्ञानिकों ने **मार्गणा** कहा है। मार्गणा की परिभाषा की गई है-गति आदि जिन अवस्थाओं को लेकर अपने आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों से बद्ध जीव में गुणस्थान, जीवस्थान आदि की मार्गणा, अर्थात्-विचारणा, गवेषणा, अन्वेषणा, ऊहापोह, मीमांसा या विचार विमर्श किया जाता है,

उन अवस्थाओं को प्रस्तुत करना मार्गणा कहलाती है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो-"जिस प्रकार से, जिन अवस्थाओं या पर्यायों आदि में अवस्थित जीवों को जैसे-जैसे देखा गया है, उन-उन जीवों की उसी-उसी रूप में विचारणा या गवेषणा करना मार्गणा है।"[१]

गुणस्थान : जीवों के आध्यात्मिक विकास क्रम के सूचक

इसके साथ ही कर्मविज्ञान पुरस्कर्ता ज्ञानिजनों ने जीवों के आध्यात्मिक गुणों के विकास क्रम की भी मार्गणा की है और जीवों के आध्यात्मिक गुणों के विकास क्रम को ध्यान में रखते हुए उक्त विकास क्रम को भी १४ भागों में विभक्त किया है जिन्हें वे 'गुणस्थान' कहते हैं।

गुणस्थान की विशेषता

यद्यपि इस आध्यात्मिक विकास-मार्ग की क्रमिक असंख्यात अवस्थाओं से जीव गुजरता है। परन्तु इन क्रमिक असंख्यात अवस्थाओं को ज्ञानी महापुरुषों ने १४ गुणस्थानों में वर्गीकृत किया है। इन चौदह वर्गों या विभागों को आगमों और ग्रन्थों में गुणस्थान कहा गया है। जीव की मोह और अज्ञान की प्रगाढ़तम अवस्था कर्मों से गाढ़रूप से बद्ध, निकृष्ट एवं निम्नतम अवस्था है; जबकि सर्वथा मोहरहित पूर्णज्ञानावस्था की प्राप्ति जीव की उच्चतम सर्वकर्ममुक्त अवस्था है, जिसे मोक्षावस्था कहते हैं। निम्नतम गाढ़ मोहावस्था से शनैः-शनैः मोह के आवरणों को हटाता हुआ जीव क्रमशः उच्च-उच्चतर भूमिका पर आगे बढ़ता जाता है। आत्मा के शुद्ध स्वाभाविक गुणों-ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का या ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों का विकास करता हुआ जीव बीच की अनेक अवस्थाओं को क्रमशः पार करता है।

यहाँ मार्गणाओं के माध्यम से उनमें पाये जाने वाले गुणस्थानों का विचार किया गया है।

मार्गणाओं और गुणस्थानों के कार्य में अन्तर

मार्गणा द्वारा किया जाने वाला जीवों की अवस्थाओं का विचार कर्म की अवस्थाओं के तरतमभाग का विचार नहीं है; किन्तु उसके द्वारा किया जाता है शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विभिन्नताओं से ग्रस्त जीवों का विचार जबकि गुणस्थान कर्मपटलों-कर्मावरणों के तरतम भावों और त्रिविध योगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं।

---

१. (क) तृतीय कर्मग्रन्थ गाथा १, विवेचन (मरुधरकेसरी) से भावग्रहण पृ० २
(ख) जाहिं जासु व जीवा मग्गिज्जंते, जहा तहा दिट्ठा। -गो. कर्मकाण्ड

मार्गणाएँ जीवों के आध्यात्मिक उत्कर्ष-अपकर्ष या विकास-अविकास न बतलाकर उनके स्वाभाविक वैभाविक रूपों का भिन्न-भिन्न प्रकार से विश्लेषण (Analysis) करती हैं; जबकि गुणस्थान जीवों के विकासक्रम को-विकास की क्रमिक अवस्थाओं को बताता है। मार्गणाएँ सहभावी हैं, जबकि गुणस्थान क्रमभावी है। गुणस्थान एक जीव में एक ही हो सकता है।

जीव अपने आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियों को पार करता हुआ विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है। यानी पूर्व-पूर्व गुणस्थानों को छोड़ता हुआ उत्तरोत्तर आगे-आगे बढ़ता जाता है और कर्मरहित होकर सर्वोच्च स्थान को प्राप्त कर सकता है, किन्तु मार्गणाएँ पूर्व-पूर्व को छोड़कर उत्तरोत्तर प्राप्त नहीं की जा सकतीं, और न ही उनसे आध्यात्मिक विकास की सिद्धि के सोपान पर चढ़ा जा सकता है। तेरहवें गुणस्थान की भूमिका को प्राप्त घातिकर्मरहित सर्वज्ञ केवली भगवान् में कषाय मार्गणा के सिवाय शेष सभी मार्गणाएँ होती हैं; जबकि गुणस्थान तो सिर्फ तेरहवाँ ही होता है। अन्तिम सर्वकर्मरहित गुणस्थान अवस्थित जीव में भी तीन चार मार्गणाओं के सिवाय बाकी की प्रायः सभी मार्गणाएँ होती हैं, जबकि गुणस्थान सिर्फ चौदहवाँ ही होता है।[१]

अतः मार्गणाओं और गुणस्थानों में इतना अन्तर होते हुए भी कर्मविज्ञानविज्ञों ने मार्गणाओं में गुणस्थानों की प्ररूपणा करके उनमें मूलकर्म प्रकृति और उनकी उत्तर प्रकृतियों में से बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियों की चर्चा-विचारणा की है। यद्यपि द्वितीय कर्मग्रन्थ में केवल गुणस्थानों की अपेक्षा उत्तर-कर्म प्रकृतियों के बन्ध की चर्चा तथा चतुर्थ कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों में बन्धहेतु, लेश्या तथा बन्ध, उदय आदि की पर्याप्त चर्चा की गई है। प्रस्तुत में १४ मार्गणाओं की अपेक्षा विभिन्न गुणस्थानवर्ती जीवों में **बन्धस्वामित्व** (किन-किन उत्तरप्रकृतियों के बन्ध कर्तृत्व) की प्ररूपणा की है।

चौदह मार्गणाओं के नाम

यद्यपि चौदह मार्गणाएँ और उनका स्वरूप हम पूर्व अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं। फिर भी १४ मार्गणाओं का नाम बताना आवश्यक है-(१) गति मार्गणा, (२) इन्द्रिय-मार्गणा, (३) कायमार्गणा, (४) योग-मार्गणा, (५) वेद-मार्गणा, (६) कषाय मार्गणा, (७) ज्ञान मार्गणा, (८) संयम-मार्गणा, (९) दर्शन-मार्गणा, (१०) लेश्या-मार्गणा, (११) भव्य-मार्गणा, १२) सम्यक्त्व-मार्गणा, (१३) संज्ञि-मार्गणा और (१४) आहार मार्गणा।

---

१. तृतीय कर्मग्रन्थ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ३

ध्यान रहे कि प्रत्येक मार्गणा का नामकरण उसके मुख्य भेदों की अपेक्षा से किया गया है, साथ ही उसमें अन्तर्भूत प्रतिपक्षीभूत भेदों की भी प्ररूपणा की गई है। जैसे-ज्ञानमार्गणा में अज्ञान की, संयममार्गणा में असंमय की भी प्ररूपणा है।[१]

यहाँ मार्गणाओं में सामान्य रूप से तथा गुणस्थानों की अपेक्षा से बन्ध-स्वामित्व का कथन किया गया है।

चौदह मार्गणाओं में सामान्यतया गुणस्थान-प्ररूपणा

सर्वप्रथम क्रमशः चौदह मार्गणाओं में सामान्यतया गुणस्थानों की प्ररूपणा इस प्रकार की गई है-

(१) **गति**-तिर्यंच गति में आदि के पांच, देवगति और नरक गति में आदि के चार, तथा मनुष्य गति में पहले मिथ्यात्व से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त चौदह गुणस्थान होते हैं।

(२) **इन्द्रिय**-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान होते हैं। पंचेन्द्रियों में सभी गुणस्थान होते हैं।

(३) **काय**-पृथ्वी, जल, वनस्पतिकाय में पहला और दूसरा दो गुणस्थान होते हैं, गतित्रसरूप अग्निकाय और वायुकाय में पहला गुणस्थान और त्रसकाय में सभी गुणस्थान होते हैं।

(४) **योग**-पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक १५ योग होते हैं।

(५) **वेद**-वेदत्रिक में आदि के नौ गुणस्थान होते हैं, (उदयापेक्षा)।

(६) **कषाय**-क्रोध, मान, माया में आदि के नौ गुणस्थान तथा लोभ में आदि के १० गुणस्थान होते हैं।

(७) **ज्ञान**-मति, श्रुत, अवधिज्ञान में अविरत सम्यग्दृष्टि आदि नौ गुणस्थान पाये जाते हैं। मनःपर्यायज्ञान में प्रमत्तसंयत आदि सात गुणस्थान हैं। केवलज्ञान में सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये दो गुणस्थान पाये जाते हैं। मति-अज्ञान, श्रुत-

---

१. (क) गइ-इंदिए य काए जोए वेए कसाय-नाणेसु।
संजम-दंसण-लेसा, भव-सम्मे सन्नि आहारे॥ ९॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ

(ख) गइ-इंदिएसु काये जोगे वेदे कसाय-णाणे य।
संजम-दंसण-लेस्सा भविया, सम्मत्त-सण्णि-आहारे।। ४१॥
-गोम्मटसार जीवकाण्ड

(ग) चौदह मार्गणाओं के लक्षण, स्वरूप के लिए देखें इसी खण्ड में मार्गणास्थान द्वारा संसारी जीवों का सर्वेक्षण १-२ शीर्षक निबन्ध, तथा पंचसंग्रह, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, धवला आदि ग्रन्थ।

अज्ञान और विभंगज्ञान, इन तीन अज्ञानों (मिथ्याज्ञानों) में पहले दो तीन गुणस्थान पाये जाते हैं।

(८) **संयम**—सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयम में प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान, परिहार-विशुद्धि संयम में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान, सूक्ष्म-सम्पराय संयम में अपने नाम वाला दसवाँ गुणस्थान, यथाख्यात-चारित्र में अन्तिम चार (ग्यारहवाँ से चौदहवाँ) गुणस्थान, तथा देशविरत संयम में अपने नाम वाला पंचम देशविरत गुणस्थान है और अविरति में आदि के चार गुणस्थान पाये जाते हैं।

(९) **दर्शन**—चक्षु-अचक्षु-दर्शन में आदि के बारह गुणस्थान पाये जाते हैं। अवधिदर्शन में चौथे से लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थान तथा केवलदर्शन में अन्तिम दो गुणस्थान पाये जाते हैं।

(१०) **लेश्या**—कृष्ण, नील और कापोत इन तीन लेश्याओं में आदि के ६ गुणस्थान, तेजो और पद्म लेश्या में आदि के ७ गुणस्थान तथा शुक्ल लेश्या में पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान होते हैं।

(११) **भव्य**—भव्य जीवों में चौदह गुणस्थान होते हैं। अभव्य जीवों के सिर्फ प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

(१२) **सम्यक्त्व**—उपशम-सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवें तक ८ गुणस्थान होते हैं। वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थान, क्षायिक सम्यक्त्व में चौथा आदि ११ गुणस्थान होते हैं। मिथ्यात्व में पहला, सास्वादन में दूसरा और मिश्रदृष्टि में तीसरा गुणस्थान होता है।

(१३) **संज्ञी**—संज्ञी जीवों के एक से लेकर चौदह तक सभी गुणस्थान होते हैं, किन्तु असंज्ञी जीवों के आदि के दो गुणस्थान होते हैं।

(१४) **आहारक**—आहारक जीवों के पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान पर्यन्त १३ गुणस्थान होते हैं। अनाहारक जीवों के पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ, ये ५ गुणस्थान होते हैं।

इस प्रकार संक्षेप में मार्गणाओं के नाम, लक्षण, कार्य और उनके अवान्तर भेदों की संख्या तथा नाम आदि बताकर चौदह मार्गणाओं में से किसमें कितने गुणस्थान पाये जाते हैं? इसका निरूपण किया गया है।[१]

---

१. (क) तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. १ विवेचन, पृ० ९-१०
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. १० से १४

सामान्यतया बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ मानी गई हैं। उनमें से ५५ विशिष्ट प्रकृतियाँ कर्मविज्ञान में विशेष संकेत के लिए कर्मग्रन्थकार आदि ने बताई हैं–(१) जिननाम, (२-३) सुरद्विक (देवगति देवानुपूर्वी), (४-५) वैक्रियद्विक (वैक्रिय शरीर वैक्रिय अंगोपांग), (६-७) आहारक द्विक (आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग), (८) देवायु, (९-११) नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), (१२-१४) सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम), (१५-१७) विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति) (१८) एकेन्द्रिय जाति, (१९) स्थावर नाम, (२०) आतप नाम, (२१) नपुंसक वेद, (२२) मिथ्यात्व-मोहनीय, (२३) हुंडक संस्थान, (२४) सेवार्त संहनन, (२५ से २८) अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क, (२९ से ३२) मध्यम संस्थान-चतुष्क (न्यग्रोध परिमण्डल, सादि, वामन, और कुब्ज संस्थान), (३३ से ३६) मध्यम संहनन-चतुष्क (ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका संहनन), (३७) अशुभ विहायोगति, (३८) नीचगोत्र, (३९) स्त्रीवेद, (४० से ४२) दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेय नाम), (४३ से ४५) स्त्यानर्द्धि-त्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि), (४६) उद्योतनाम, (४७-४८) तिर्यंचद्विक (तिर्यञ्चगति, तिर्यंचानुपूर्वी), (४९) तिर्यंचायु, (५०) मनुष्यायु, (५१-५२) मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी), (५३-५४) औदारिक-द्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग) और (५५) वज्रऋषभनाराच संहनन।[१]

इस प्रकार संक्षेप में बन्धयोग्य प्रकृतियों का संकेत करके कुछ विशिष्ट प्रकृतियों का समुच्चय बतला दिया गया है। अब क्रमशः पूर्वोक्त १४ मार्गणाओं में से सर्वप्रथम गतिमार्गणा में उसके भेद-प्रभेदों के अनुसार बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा की जाएगी। गति के ४ भेद हैं–नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। अतः क्रमशः बन्धस्वामित्व का विधान किया जाएगा।

(१) गति मार्गणा के माध्यम से बन्ध-विधान

नरक गति का बन्धस्वामित्व–बन्ध योग्य १२० कर्मप्रकृतियों में से सुरद्विक आदि उन्नीस प्रकृतियों को छोड़कर सामान्य रूप से १०१ प्रकृतियाँ नरक गति के जीव बांधते हैं।

---

१. जिणसुर-विउवाहारदु देवाउ नरय-सुहुम-विगलतिगं।
एगिंदि थावराऽयव नपु मिच्छं हुंउ छेवट्ठ॥ २॥
अणमज्झागिइ संघयण कुखग निय इत्थि दुहग-थीण-तिगं।
उज्जोय तिरि दुगं तिरि नराउ नरउरलदुग रिसहं॥ ३॥
-तृतीय कर्मग्रन्थ, विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ० ११

नरक गति के अधिकारी नारकों के लक्षण

नरक गति के अधिकारी नारक का लक्षण एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कर्मशास्त्रियों ने इस प्रकार दिया है-नरक गति नामकर्म के उदय से जो नरक में उत्पन्न हो, अथवा नरान् - जीवों को, कायन्ति यानी क्लेश पहुँचाएँ, उन्हें नारक कहते हैं, या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो स्वयं तथा परस्पर एक दूसरे के साथ आराम, आमोद या प्रेम न पाते हों, उन्हें नारक कहते हैं। नरक गति में नारक वहाँ के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नित्य ही अशुभतर लेश्याओं, परिणामों, शारीरिक, मानसिक वेदनाओं तथा विक्रियाओं से सदैव दुःखी और पीड़ित रहते हैं।[1]

नरक गति में सामान्यतया कितनी प्रकृतियों का बन्ध ?

नरक गति में सामान्यतया जो १०१ प्रकृतियों का बन्ध बताया गया है, वह इस प्रकार है, बन्ध योग्य १२० प्रकृतियों में[2] सुरद्विक आदि १९ प्रकृतियों को कम करने से १०१ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। इन १९ प्रकृतियों का भवस्वभाव के कारण नरक गति में नारक जीवों के बन्ध ही नहीं होता है। उन्नीस प्रकृतियाँ ये हैं-(१) देव गति, (२) देवानुपूर्वी, (३) वैक्रिय शरीर, (४) वैक्रिय अंगोपांग, (५) आहारक शरीर, (६) आहारक अंगोपांग, (७) देवायु, (८) नरक गति, (९) नरकानुपूर्वी, (१०) नरकायु, (११) सूक्ष्मनाम, (१२) अपर्याप्त नाम, (१३) साधारण नाम, (१४) द्वीन्द्रिय जाति, (१५) त्रीन्द्रिय जाति, (१६) चतुरिन्द्रिय जाति, (१७) एकेन्द्रिय जाति, (१८) स्थावर नाम तथा (१९) आतप नामकर्म।

नरक गति में सामान्यतया ये १९ प्रकृतियाँ क्यों नहीं बंधतीं ?

ये १९ प्रकृतियाँ नरक गति में नहीं बंधती हैं; क्योंकि जिन स्थानों में उक्त उन्नीस प्रकृतियों का उदय होता है, नारक जीव नरक गति से निकल कर उन स्थानों में

---

१. (क) सुर-इगुणवीसवज्जं इगसउ ओहेण बंधहि निरया।
तित्थ-विणा-मिच्छि, सय सारुणि नपु चउ विणा छनुइ॥ ४ ॥
-तृतीय कर्मग्रन्थ विवेचन, पृ. १३

(ख) नरान् कायन्तीति नारकः।

(ग) ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काले भावे य।
अण्णोण्णेहिं जम्हा तम्हा ते णारया भणिया। -गोम्मटसार जीवकाण्ड 146

(घ) नित्याऽशुभतर लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रिया॥ -तत्त्वार्थ सूत्र ३/३

२. पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एयाओ बेधसपयीओ॥ -गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३५
सामान्य बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० इस प्रकार हैं-५, ९, २, २६, ४, ६७, २, ५= १२०।

उत्पन्न नहीं होते हैं। जैसे कि देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवायु, नरक गति, नरकानुपूर्वी और नरकायु, ये ८ प्रकृतियाँ देव और नारक-प्रायोग्य हैं, किन्तु नारकी जीव मरकर नरक गति और देव गति में उत्पन्न नहीं होते। इसलिए इन आठ कर्म प्रकृतियों का बन्ध भी नरक गति में नहीं होता। इसी प्रकार सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम और साधारण नाम, इन तीन प्रकृतियों का भी बन्ध नारक जीवों के नहीं होता, क्योंकि सूक्ष्म नाम कर्म का उदय सूक्ष्म एकेन्द्रिय के, अपर्याप्त नामकर्म का उदय अपर्याप्त तिर्यंचों के, तथा साधारण नामकर्म का उदय साधारण वनस्पतिकायिक जीवों के होता है, जबकि नारक पंचेन्द्रिय पर्याप्त होते हैं। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम, ये तीन प्रकृतियाँ एकेन्द्रिय-प्रायोग्य हैं, तथा विकलेन्द्रियत्रिक विकलेन्द्रिय-प्रायोग्य हैं। अतः इन ६ प्रकृतियों को भी नारक जीव नहीं बांधते। एवं आहारकद्विक का उदय चारित्रसम्पन्न लब्धिधारक मुनियों को ही होता है, अन्य को नहीं। इसलिए देवद्विक से लेकर आतप नामकर्म तक १९ प्रकृतियाँ नरकगति में अबन्ध होने से शेष रहीं सामान्यतया १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।[१]

प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती नारक में १०० प्रकृतियों का बन्ध

यद्यपि नरक गति में सामान्यतया १०१ कर्मप्रकृतियाँ बन्ध योग्य हैं, किन्तु नारकों में पहले मिथ्यात्व-गुणस्थान से लेकर चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं। अतः प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध न होने से १०० प्रकृतियों का बन्ध होता है। तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का अधिकारी सम्यक्त्वी है। मिथ्यात्वगुणस्थान में सम्यक्त्व न होने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होता। इसलिए मिथ्यात्वगुणस्थान में नारक जीवों के १०० प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी जाती हैं।

सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक छियानवे प्रकृतियाँ बाँधते हैं

दूसरे सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक जीव नपुंसकवेद, मिथ्यात्व-मोहनीय, हुंडक संस्थान और सेवार्त संहनन-इन चार प्रकृतियों को नहीं बांधते हैं, क्योंकि इन चार प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व के उदयकाल में होता है। लेकिन सास्वादन गुणस्थान के समय मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता है। और नरकत्रिक, जाति-चतुष्क, स्थावर-चतुष्क, हुंडक संस्थान, आतपनाम, सेवार्त-संहनन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व-मोहनीय-इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व-निमित्तक है। इनमें दो नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम-इन बारह

१. तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से।

प्रकृतियों को नारक जीव भवस्वभाव के कारण बाँधते ही नहीं हैं। ये तो पहले ही सामान्य नरकगति में बंधयोग्य में कम की जा चुकी हैं। शेष रही नपुंसकवेद, मिथ्यात्वमोहनीय, हुंडक संस्थान और सेवार्त संहनन-ये प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के निमित्त से बँधती हैं, और सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं है। अतः सास्वादन गुणस्थान में इन चार प्रकृतियों को मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीवों की बन्धयोग्य १०० प्रकृतियों में से कम करने पर दूसरे गुणस्थान में नारकजीवों के बन्धयोग्य ९६ प्रकृतियाँ कही हैं।[१]

मिश्र एवं अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती में ७० और ७२ प्रकृतियों का बन्ध

अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क आदि २६ प्रकृतियों को छोड़कर मिश्र गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का, तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। इसी प्रकार नरकगति की यह सामान्य बन्धविधि रत्नप्रभादि तीन नरकभूमियों के नारकों के चारों गुणस्थान में भी समझनी चाहिए। तथा पंकप्रभा आदि नरकों में तीर्थंकर नामकर्म के बिना सामान्य बन्धविधि पूर्ववत् समझनी चाहिए।

मिश्र गुणस्थानवर्ती नारकों के ७० कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से बंधने वाली अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मध्यम-संस्थानचतुष्क, मध्यम-संहनन-चतुष्क, अशुभविहायोगति, नीचगोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, स्त्यानर्द्धि, उद्योत और तिर्यञ्चत्रिक, इन २५ प्रकृतियों का मिश्रगुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से बंध नहीं होता है। दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना या क्षय हो जाता है, इसलिए अनन्तानुबन्धी के कारण बंधने वाली उक्त २५ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता तथा तीसरे मिश्र गुणस्थान में रहने वाला कोई भी जीव आयुकर्म का बन्ध नहीं करता है।[२] अतः मनुष्यायु का भी बन्ध नहीं हो सकता है। अतः दूसरे गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के बन्धयोग्य ९६ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी आदि पूर्वोक्त २५ प्रकृतियां एवं मनुष्यायु यों कुल २६ प्रकृतियाँ कम करने से मिश्रगुणस्थानवर्ती नरकगति के जीवों के ७० प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।[३]

---

१. तृतीय कर्मग्रन्थ गा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. १६

२. (क) सम्मामिच्छदिट्ठी आउयबंधं पि न करेइ त्ति।
(ख) सम्मेव तित्थबंधो। -गो. क. गा. ९२

३. (क) तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. ५ विवेचन (मरुधरकेसरी जी) पृ. १६,१७
(ख) विणु अणछवीस मीसे बिसयरि सम्मम्मि जिणनराउ जुया।
इय रयणाइसु भंगो पंकाइसु तित्थयरहीणो॥ ५॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ

अविरतसम्यग्दृष्टि नारकजीव के ७२ प्रकृतियों का बन्ध : क्यों और कैसे ?

चौथे अविरति-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती नारकजीव तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर सकते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व के सद्भाव में तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है, तथा मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव के आयुकर्म का बन्ध न होने के नियम से जिस मनुष्यायु का बन्ध नहीं होता था, उसका चौथे गुणस्थान में बन्ध होने से मिश्रगुणस्थान में बंध होने वाली ७० प्रकृतियों में उक्त दो प्रकृतियों (तीर्थंकरनाम और मनुष्यायु) को मिलाने से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती नारकजीव ७२ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

नारकजीव न तो पुनः नरकायु का बन्ध कर सकते हैं, न ही देवायु का। तथा तिर्यंचायु का बन्ध भी अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय होने पर होता है। अनन्तानुबन्धी कषायोदय प्रथम, द्वितीय गुणस्थान तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं। अतः चतुर्थ गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के तिर्यंचायु का बन्ध भी नहीं हो सकता। बन्ध हो सकता है सिर्फ मनुष्यायु का।[१]

सप्तनरकभूमिस्थित नारकों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा

नरकभूमिस्थित नारकों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व प्ररूपणा इस प्रकार है-रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा, इन ३ नरकों में सामान्यतया तथा चारों गुणस्थानों की अपेक्षा से प्ररूपित नारकजीवों के बन्धस्वामित्व के समान ही बान्धस्वामित्व समझना चाहिए। जैसे नरकगति में प्रथम गुणस्थान में १००, दूसरे में ९६, तीसरे में ७०, चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्ध माना गया है। ठीक उसी प्रकार रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा तथा बालुकाप्रभा, इन तीन नरकों में रहने वाले नारक जीवों के अपने-अपने योग्य गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए। किन्तु पंकप्रभा, धूमप्रभा और तमःप्रभा नरकों में सम्यक्त्व-प्राप्ति होने पर भी क्षेत्र के प्रभाव से और तथाप्रकार के अध्यवसाय का अभाव होने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं होता है; क्योंकि आगमों में कहा गया है-'पहले नरक से आया हुआ जीव चक्रवर्ती हो सकता है, दूसरे नरक से आया हुआ जीव वासुदेव हो सकता है और तीसरे नरक तक से आया हुआ जीव तीर्थंकर हो सकता है, चौथे नरक से आया जीव केवली और पंचम नरक से आया जीव महाव्रती साधु एवं छठे नरक से आया हुआ जीव देशविरत हो सकता है और सातवें नरक से आया हुआ जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है, मगर देशविरतित्व को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः पंकप्रभादि तीन नरकभूमियों के तीर्थंकर नामकर्म अबन्ध होने से १०० प्रकृतियों का बन्ध समझना

१. तृतीय कर्मग्रन्थ गा. ५, विवेचन (मरुधरकेसरी जी) पृ. १७, १८।

चाहिए। पंकप्रभादि तीन नरकों में प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थान में क्रमशः १००, ९६, ७० और ७१ प्रकृतियों का पूर्ववत् बन्ध हो जाता है।[१]

सातवें नरक में पहले से चतुर्थगुणस्थानवर्ती नारकों का बन्धस्वामित्व

सातवें नरक में सामान्यतया तीर्थंकर नामकर्म और मनुष्यायु का बन्ध नहीं होता है तथा मनुष्य-द्विक और उच्चगोत्र के बिना शेष प्रकृतियों का मिथ्यात्व-गुणस्थान में बन्ध होता है। तीर्थंकर नामकर्म के बन्धयोग्य तथाप्रकार के अध्यवसायों का सातवें नरक में अभाव होता है, तथा मनुष्यायु का बन्ध भी छठे नरक तक होता है। अतः सातवें नरक में इन दोनों प्रकृतियों को कम करने से १०१-२=९९ प्रकृतियों का बन्ध सप्तम नरक में माना गया है।

सप्तम नरक में ९९ प्रकृतियाँ जो बन्धयोग्य बताई हैं, उनमें से उसी नरक के **प्रथम-गुणस्थानवर्ती** नारक मनुष्यद्विक, तथा उच्चगोत्र इन तीन प्रकृतियों को तथाविध विशुद्धि के अभाव में नहीं बांधते। क्योंकि सप्तम नरकवर्ती नारक के लिए तीन प्रकृतियाँ उत्कृष्ट पुण्यशालिनी मानी गई हैं, जो कि उत्कृष्ट विशुद्ध अध्यवसाय से ही बंधती हैं। उत्कृष्ट विशुद्ध अध्यवसाय तीसरे और चौथे गुणस्थान में होते हैं। इसलिए मनुष्यगतिद्विक और उच्चगोत्र, इन तीन प्रकृतियों के अबन्ध्य होने से ९९ प्रकृतियों में से इन तीन प्रकृतियों को कम करने से ९६ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सप्तम-नरकवर्ती नारकों के **दूसरे सास्वादन गुणस्थान** में तिर्यंचायु और नपुंसकचतुष्क (नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, और सेवार्त संहनन इन ५ प्रकृतियों के अबन्ध्य होने से मिथ्यात्वगुणस्थान में जो ९६ प्रकृतियों का बन्ध बताया गया है, उनमें से इन ५ प्रकृतियों को कम करने से कुल ९१ प्रकृतियों का बन्ध होता है। चूंकि सास्वादन में योग्य अध्यवसाय न होने से तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होता, तथा नपुंसकचतुष्क मिथ्यात्व के उदय में होता है, मगर सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं होता, अतः नपुंसकचतुष्क का बन्ध भी इसमें नहीं होता। अतएव ९६ में से ५ कम होने से ९१ प्रकृतियों का बन्ध सास्वादन गुणस्थानवर्ती सप्तमनरकीय नारकों के होता है।

सातवें नरक में **तीसरे मिश्रगुणस्थानी** तथा चौथे **अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानी** जीवों के ७० कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। वह इस प्रकार- सप्तमनरकवासी सास्वादनगुणस्थानवर्ती नारक जीवों के बन्धयोग्य जो ९१ प्रकृतियाँ कही गई थीं, उनमें से अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क से लेकर तिर्यंचद्विक तक २४

---

१. तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. ५ विवेचन; पृ. १९।

प्रकृतियों को[1] कम करने से ६७ प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें मनुष्यद्विक तथा उच्चगोत्र इन तीन प्रकृतियों को मिलाने से तीसरे और चौथे गुणस्थान वाले सप्तमनरकवासी जीवों के ७० प्रकृतियों का बन्ध होता है।[2] पूर्व-पूर्व नरक से उत्तर-उत्तर नरक में अध्यवसायों की शुद्धि इतनी कम हो जाती है कि पुण्य-प्रकृतियों के बन्धक परिणाम पूर्व-पूर्व नरक से उत्तर-उत्तर नरक में अल्प से अल्पतर हो जाते हैं। यद्यपि आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक जीव प्रति समय किसी न किसी गति का बन्ध कर सकता है, किन्तु नरकगति के योग्य अध्यवसाय प्रथम गुणस्थान तक, तिर्यञ्चगति के योग्य अध्यवसाय आदि के दो गुणस्थान तक तथा देवगति के योग्य अध्यवसाय आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक एवं मनुष्यगति के योग्य अध्यवसाय चौथे गुणस्थान तक होते हैं। नारक जीव नरकगति और देवगति का बन्ध नहीं कर सकते। अतः तीसरे चौथे गुणस्थान में सातवें नरक के नारक मनुष्यगति-योग्य बन्ध कर सकते हैं। किन्तु वे जीव आयुष्य का बन्ध तो पहले गुणस्थान में ही कर लेते हैं। अन्य गुणस्थानों में नहीं। अन्य गुणस्थानों में तत्योग्य अध्यवसाय न होने से आयुष्य बन्ध नहीं करते। पहले और चौथे गुणस्थान में सातवें नरक के जीव के मनुष्यगति प्रायोग्य बन्द के लायक परिणाम न होने से मनुष्यप्रायोग्य बन्ध नहीं होता।

सातवें नरक के जीव मनुष्यायु को बांधते नहीं हैं, किन्तु उसके अभाव में तीसरे-चौथे गुणस्थान में मनुष्यायु बन्ध के बिना भी मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी का बन्ध हो सकता है, जो कि भवान्तर में उदय में आता है।[3]

---

१. २४ प्रकृतियाँ ये हैं-अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क, न्यगोधपरिमण्डल, सादि, वामन; कुब्जसंस्थान, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच कीलक संहनन, अशुभविहायोगति, नीचगोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, उद्योत, तिर्यंचगति और तिर्यञ्चानुपूर्वी, यों कुल २४ प्रकृतियों का बन्ध प्रथम-द्वितीय गुणस्थान तक होता है, क्योंकि ये २४ अनन्तानुबन्धी कषायोदय निमित्तक हैं, जिनका उदय पहले दूसरे गुणस्थान तक होता है। **-संपादक**

२. (क) अजिण मणुयाउ ओहे सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे।
इग नवई सासणे, तिरियाउ नपुंस चउवज्जं ॥ ६॥
अणचउवीस-विरहिया सत्तर दुगुच्चा य सयरिमीस दुगे।
सत्तरसउ ओहि मिच्छे पजतिरिया विणु जिणाहारं ॥ ७॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ गा. ६, ७ विवेचन पृ. २१ से २४ तक

३. (क) तृतीय कर्मग्रन्थ गा. ७ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. २४, २५
(ख) नर-द्विकस्य नरायुषा सह नाऽवश्यं प्रतिबन्धो, यदुत यत्रैवायुर्बध्यते तत्रैव गत्यानुपूर्वीद्वयमपि तस्याऽन्यदाऽपि बन्धात्।
-तृतीय कर्मग्रन्थ अवचूरिका पृ. १०१

तिर्यञ्चगति में बन्ध-स्वामित्व की प्ररूपणा

जिनके तिर्यंच गति नामकर्म का उदय हो, उन्हें तिर्यञ्च कहते हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव तिर्यञ्च कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय के चार भेद हैं-नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। अतः पञ्चेन्द्रियों में तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीव ही तिर्यञ्च कहलाते हैं। तिर्यञ्चों के दो भेद हैं-पर्याप्ततिर्यंञ्च और अपर्याप्त तिर्यञ्च।

पर्याप्ततिर्यञ्चों के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा

सर्वप्रथम पर्याप्ततिर्यंचों के बन्ध-स्वामित्व की प्ररूपणा करते हैं। समस्त जीवों की अपेक्षा से सामान्यतया बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक, इन तीन प्रकृतियों का बन्ध तिर्यंचगति में नहीं होता है; क्योंकि तिर्यञ्चों के सम्यक्त्वी होने पर भी जन्म-स्वभाव से ही तीर्थंकर नामकर्म के बन्धयोग्य अध्यवसायों का अभाव होता है और आहारकद्विक का बन्ध चारित्रधारक मुनियों के ही होता है। अतः इन तीन प्रकृतियों का बन्ध तिर्यञ्चगति वालों के न होने से ११७ प्रकृतियों का बन्ध ही होता है।

तिर्यञ्चगति में पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर पाँचवें देश-विरतगुणस्थान तक पाँच गुणस्थान होते हैं। ये पांचों गुणस्थान पर्याप्ततिर्यञ्च को होते हैं, अपर्याप्त-तिर्यञ्च को सिर्फ पहला मिथ्यात्व-गुणस्थान ही होता है।[१]

पर्याप्ततिर्यञ्चों के ११७ प्रकृतियों की बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा

सामान्यतया पर्याप्ततिर्यञ्चों के जैसे ११७ प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व बतलाया गया है, उसी प्रकार **प्रथम मिथ्यात्व-गुणस्थान** में भी उनके ११७ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए; क्योंकि मिथ्यात्व-गुणस्थान में न तो सम्यक्त्व है, और न सर्वविरतिचारित्र, इसलिए तीर्थंकरनामकर्म और आहारकद्विक तीनों प्रकृतियों का बन्ध उनके नहीं होता है।

सास्वादन गुणस्थान में पर्याप्ततिर्यञ्चों की बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा

इसी तरह पर्याप्ततिर्यञ्चों के सास्वादन गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है। तिर्यञ्चों के सामान्य से तथा प्रथम गुणस्थान में जो ११७ प्रकृतियों का बन्ध बताया गया था, उनमें से मिथ्यात्व के उदय से बँधने वाली १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से शेष १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है। मिथ्यात्वोदयवशात् बँधने वाली १६ प्रकृतियाँ ये हैं-नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), जातिचतुष्क

---

१. तृतीय कर्मग्रन्थ गा. ७ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. २६

(एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय जाति तक), स्थावरचतुष्क (स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम) हुंडकसंस्थान, सेवार्तसंहनन, आतपनाम, नपुंसकवेद और मिथ्यात्वमोहनीय।

तृतीय गुणस्थानवर्ती पर्याप्ततिर्यञ्चों की बन्धस्वामित्व प्ररूपणा

तीसरे मिश्रगुणस्थानवर्ती पर्याप्त तिर्यञ्चों के ६९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। द्वितीय गुणस्थानवर्ती पर्याप्ततिर्यञ्चों के जो १०१ प्रकृतियों का बन्ध बताया गया था, उनमें से आयुबन्ध निमित्तक देवायु, तथा अनन्तानुबन्धी कषायनिमित्तक २५ प्रकृतियों एवं मनुष्यगति-प्रायोग्य ६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से कुल ३२ प्रकृतियों को दूसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों मे से कम कर देने पर शेष ६९ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है।

तृतीय गुणस्थानवर्ती पर्याप्त तिर्यञ्चों की अबन्धयोग्य प्रकृतियाँ

ये अबन्धयोग्य ३२ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं-(१) देवायु, (२-४) तिर्यञ्चत्रिक, (५-७) स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि); (८-१०) दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय), (११-१४) अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क, (१५-१८) मध्यम संस्थानचतुष्क, (१९-२२) मध्यम-संहनन-चतुष्क, (२३) नीचगोत्र, (२४) उद्योतनाम, (२५) अशुभ विहायोगति, (२६) स्त्रीवेद, (२७-२९) मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु, (३०-३१) औदारिकद्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग) एवं (३२) वज्रऋषभनाराचसंहनन (ये मनुष्यगतियोग्य प्रकृतियाँ) यों कुल मिलाकर १+२५+६=३२ प्रकृतियाँ मिश्रगुणस्थानवर्ती पर्याप्ततिर्यंचों के नही बंधती हैं।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती पर्याप्ततिर्यंचों के बन्ध-स्वामित्व की प्ररूपणा

चतुर्थगुणस्थानवर्ती पर्याप्ततिर्यंचों के ७० प्रकृतियों का बन्ध होता है। तृतीय गुणस्थानवर्ती पर्याप्त तिर्यञ्चों के ६९ प्रकृतियों के साथ इस गुणस्थान में देवायु का बन्ध संभव होने से ६९+१=७० प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है। तीसरे गुणस्थान में आयु का बन्ध न होने से तथा चौथे में परभव की आयु का बन्ध सम्भव होने से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती पर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्य दोनों देवगति योग्य प्रकृतियों को बांधते हैं, मनुष्य गतियोग्य प्रकृतियों को नहीं। अत: चतुर्थ गुणस्थान में पर्याप्ततिर्यञ्चों के देवायु का बन्ध होता है।

पञ्चम गुणस्थानवर्ती पर्याप्ततिर्यंचों के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा

पंचम देशविरत-गुणस्थानवर्ती पर्याप्त तिर्यञ्चों के ५वें गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों का बन्ध होता है; क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क का बन्ध पांचवें और

आगे के गुणस्थानों में नहीं होता। पांचवें गुणस्थान में उक्त कषाय चतुष्क का उदय भी नहीं होता, इस कारण उनका बन्ध भी नहीं होता। अतः ये ४ प्रकृतियाँ कम हो जाने से ७०-४=६६ प्रकृतियाँ का बन्ध पंचम गुणस्थान में माना जाता है।

अपर्याप्ततिर्यञ्च में प्रकृतियों के बन्ध की प्ररूपणा

अपर्याप्त तिर्यञ्च तीर्थंकर नामकर्म आदि ११ (तीर्थंकरनाम, देवद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, देवायु और नरकत्रिक, यो कुल मिलाकर ग्यारह) प्रकृतियों को छोड़कर शेष १०९ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। सामान्यतः सर्वजीवों की बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से उक्त ११ प्रकृतियों को अपर्याप्त तिर्यञ्च और अपर्याप्त मनुष्य नहीं बांधते हैं।[१]

पर्याप्तमनुष्यों के बन्ध-स्वामित्व की प्ररूपणा

मनुष्यगति-नामकर्म और मनुष्यायुकर्म के उदय से जो मनुष्य कहलाते हैं, अथवा जो मनन के द्वारा जो नित्य हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, धर्म-अधर्म एवं हित-अहित का विचार करते हैं अथवा जो मन के द्वारा गुण-दोषादि का विचार, या स्मरण कर सकें, मन के विषय में जो उत्कृष्ट हैं, उन्हें मनुष्य कहते हैं।

तिर्यंचों के समान ही मनुष्यों के भी मुख्यतया पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दो भेद हैं। पर्याप्त मनुष्य सामान्य की अपेक्षा से, १२० प्रकृतियों का बन्ध करता है।

प्रथम गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य के ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। पूर्वोक्त सामान्यतया कथित १२० प्रकृतियों में से पर्याप्ततिर्यंचों के समान ही पर्याप्त-मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म एवं आहारक द्विक इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते; क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध सम्यक्त्वी को और आहारकद्विक का बन्ध अप्रमत्तसंयत मुनि के होता है, मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में सम्यक्त्व अप्रमत्तसंयम, दोनों ही सम्भव नहीं हैं।

द्वितीय गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य १०१ प्रकृतियों का बन्ध करता है। पूर्वोक्त ११७ प्रकृतियों में से दूसरे कर्मग्रन्थ में कथित १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता,

---

१. (क) विणु नरयसोल सासणि सुराउ अण एगतीस विणु मीसे।
ससुराउ सयरि सम्मे बीय-कसाए विणा देसे॥ ८॥ -कर्मग्रन्थ गा. ३
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. ८ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. २७, २८
(ग) नरयतिग जाइथावर-चउ हुंडायव छिवट्ठ नपुमिच्छं।
सोलतो इगहिय सयं सासणि ..... ॥ -कर्मग्रन्थ २/४
(घ) ..... तिरि-थीण-दुहगति।
अणमज्झागिइ-संघयण-चउ निउज्जोय कुखग-इत्थि त्ति ॥ -कर्मग्रन्थ २/४, ५

क्योंकि इन १६ प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद प्रथम गुणस्थान के अन्तिम समय में ही हो जाता है।

तृतीय गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य पर्याप्ततिर्यंच के लिये बताये गए बन्ध स्वामित्व के अनुसार दूसरे गुणस्थान की १०१ प्रकृतियों में से देवायु तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से बंधने वाली २५ प्रकृतियों तथा मनुष्यगति योग्य ६ प्रकृतियाँ-कुल मिलाकर १+२५+६=३२ प्रकृतियाँ कम करने से शेष रही ६९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। यद्यपि चौथे गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य तृतीय गुणस्थान की बन्धयोग्य ६९ प्रकृतियों के साथ देवायु का बन्ध करने के कारण ६९+१=७० प्रकृतियों का बन्ध करना चाहिए था, किन्तु पर्याप्त मनुष्य के उक्त ७० प्रकृतियों के साथ-साथ तीर्थंकर नामकर्म का भी बन्ध सम्भव होने से वे ६९+१+१=कुल ७१ प्रकृतियाँ बांधते हैं।[१]

द्वितीय कर्मग्रन्थ में कथित बन्धाधिकार की अपेक्षा पर्याप्त मनुष्य तथा तिर्यंच के **तीसरे मिश्र** और **चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि** गुणस्थान में क्रमशः ७४ और ७७ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है।

बन्धाधिकार में सामान्य रूप से तीसरे मिश्रगुणस्थान में पर्याप्त मनुष्यों और तिर्यंचों के जो ६९ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है उसमें पर्याप्तमनुष्य के लिए पहले कही हुई मनुष्यद्विक आदि ६ प्रकृतियों में से मनुष्यायु को छोड़कर शेष ५ प्रकृतियों को मिलाने से ७४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझा जा सकता है।

इसी प्रकार चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य ७१ प्रकृतियाँ बांधने की यहाँ बतायी गयी, उसमें चतुर्थ गुणस्थान की ७१ प्रकृतियों के साथ मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, वज्रऋषभनाराक्च संहनन, और मनुष्यायु, इन ६ प्रकृतियों को मिलाने से कर्मस्तव बन्धाधिकार में उक्त ७७ प्रकृतियों के बन्ध की संगति बैठ जाती है।

पांचवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक पर्याप्त मनुष्य का बन्धस्वामित्व प्रत्येक गुणस्थान में दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार में उक्त बन्धयोग्य प्रकृतियों के अनुसार

---

१. (क) इय चउगुणेसु वि नरा परमंजया सजिण ओहु देसाई।
जिण-इक्कारस-हीणं, नवसउ अपजत्त-तिरिय-नरा ॥ ९॥
-तृतीया कर्मग्रन्थ व्याख्या, पृ. ३० से ३२ तक।
(ख) तित्थयराऽहारग-दुगवज्जं, मिच्छंमि सत्तरसयं॥ -कर्मग्रन्थ भा. २, गा. ३
(ग) सुराउ अण एगतीस विण मीसे।
-तृतीय कर्मग्रन्थ गा. ८ में ३२ प्रकृतियों का वर्णन आ चुका है।

उतनी-उतनी प्रकृतियों का बन्ध समझ लेना चाहिए। जैसे कि पाँचवें गुणस्थान में ६७, छठे गुणस्थान में ६३, सातवें में ५९ या ५८।

पाँचवे गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य के ६७ और पर्याप्त तिर्यञ्च के ६६ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया गया है, जबकि दूसरे कर्मग्रन्थ में दोनों के लिए पंचम गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है। इस भिन्नता का कारण यह है कि पर्याप्त तिर्यंचों के चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने पर भी तीर्थंकर नाम-कर्म के बन्धयोग्य अध्यवसायों के न होने से ७० प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है, उनमें से अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय-चतुष्क को कम करने से पांचवें गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों का बन्ध कहा है, जबकि पर्याप्त मनुष्य चौथे गुणस्थान में तीर्थंकरनामकर्म का भी बन्ध कर सकते हैं। अतः सामान्यतया बन्धयोग्य ७१ प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क को कम करने से ६७ प्रकृतियों का बन्ध पर्याप्तमनुष्यों के कहा गया है।[1]

अपर्याप्त तिर्यञ्च और अपर्याप्त मनुष्य, इन दोनों के अपर्याप्त विशेषण का अर्थ यहाँ लब्धि-अपर्याप्त[2] समझना चाहिए, करण-अपर्याप्त नहीं। इस अर्थ को करने का कारण यह है कि अपर्याप्त मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म का बंध भी कर सकता है।

इन लब्धि-अपर्याप्त मनुष्यों और तिर्यञ्चों के सामान्य से बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से तीर्थंकर नामकर्म, देवद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, देवायु और नरकत्रिक, इन ग्यारह प्रकृतियों को कम करने से १०९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। तथा अपर्याप्त अवस्था में केवल मिथ्यात्वगुणस्थान होने से इस गुणस्थान में भी १०९ प्रकृतियों का बन्ध कर सकते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि होने से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक का बन्ध नहीं करते तथा मर कर देवगति में नहीं जाते इसलिए इससे सम्बन्धित देवद्विक, वैक्रियद्विक और देवायु का भी बन्ध नहीं करते, एवं अपर्याप्त जीव नरकगति में उत्पन्न नहीं होते, इस कारण नरकत्रिक का भी बन्ध नहीं करते। यों उक्त ११ प्रकृतियों को कम करने से सामान्यापेक्षा तथा मिथ्यात्वगुणस्थान में अपर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के १०९ प्रकृतियों का बन्ध स्वामित्व माना गया है।

देवगति में बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा

अब देवगति में सामान्य और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा करते हैं। देवों के भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, ये चार निकाय

---

१. तृतीय कर्मग्रन्थ गा. ९ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ३२ से ३५

२. ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम-विशेष को 'लब्धि' कहते हैं।

(वर्ग) हैं। देवगति में भी नरकगति के समान पहले से लेकर चौथे तक चार गुणस्थान ही होते हैं।

यद्यपि देवों के भी प्रकृतिबन्ध नारकों के समान हैं, क्योंकि जैसे नारक मर कर नरकगति और देवगति में उत्पन्न नहीं होते, वैसे ही देव भी मर कर इन दोनों गतियों में उत्पन्न नहीं होते। इसलिए नारकों के समान देव भी देवत्रिक, नरकत्रिक और वैक्रियद्विक इन ८ प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते और अविरतसंयमी न होने से आहारकद्विक का भी बन्ध नहीं करते तथा देव मर कर सूक्ष्म एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रियत्रिक, इन ६ प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं करते, इन प्रकार कुछ १०+६=१६ प्रकृतियाँ, बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम करने पर सामान्यतया १०४ प्रकृतियों का बन्ध होता है; जबकि नरकगति में १२० बन्धयोग्य प्रकृतियों में से सुरद्विक से लेकर आतप नामकर्म तक १९ प्रकृतियों का बन्ध न होने से १०१ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है। किन्तु देवों के प्रकृतिबन्ध में कुछ विशेषता है–नारकों में एकेन्द्रिय, स्थावर आतप, इन तीन प्रकृतियों को बन्धयोग्य नहीं गिना गया है, जबकि देव मर कर बादर एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो सकते हैं, इस अपेक्षा से देव एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप, इन तीन प्रकृतियों को अधिक बांधते हैं। इसी कारण देवों के १०१ के बजाय १०४ प्रकृतियाँ सामान्य से बन्धयोग्य मानी गई हैं।

देवगति में सामान्य से तथा कल्पद्विक में बन्धप्ररूपणा

सामान्य से देवगति में जो १०४ प्रकृतियों का बन्ध बताया गया है, उसी प्रकार कल्पोपपन्न (कल्पवासी) प्रथम सौधर्म और द्वितीय ईशान इन दो कल्पों (देवों) तक में भी समझना चाहिए।

किन्तु देवगति और पूर्वोक्त कल्पवासी देवद्विक के देवों के मिथ्यात्वगुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध न होने से १०३ प्रकृतियों का बन्ध होता है। तथा बाकी के दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में नरकगति के समान ही क्रमशः ९६, ७० और ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

भवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों में बन्ध-प्ररूपणा

ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तर निकाय के देवों के भी तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध न होने से सामान्य से और पहले मिथ्यात्वगुणस्थान की अपेक्षा से १०३ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए, क्योंकि इन तीन निकायों के देव वहाँ से निकल कर तीर्थंकर नहीं होते और न ही तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता वाले जीव भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क में उत्पन्न होते हैं तथा इन तीन निकायों के देव अवधिज्ञान सहित परभव में नहीं जाते, जबकि तीर्थंकर अवधिज्ञानसहित ही परभव में जाकर

उत्पन्न होते हैं। अतएव इन तीन निकायों के देवों के तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होता।

इसलिए ज्योतिष्क आदि तीन निकायों के देवों के सामान्य से तथा पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध न होने से ७२ के बजाय ७१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।[१]

सनत्कुमार कल्प से पांच अनुत्तरविमानवासी देवों के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा

सनत्कुमार नामक तृतीय देवलोक (कल्प) से नवग्रैवेयक तक के देवों का बन्धस्वामित्व-निरूपण दो विभागों में किया गया है। प्रथम विभाग में सनत्कुमार से लेकर सहस्रार नामक देवलोक तक के देवों का, तथा दूसरे विभाग में आनत देवलोक से लेकर नवग्रैवेयक तक के देवों का बन्धस्वामित्व कहा गया है। यद्यपि पांच अनुत्तरविमानवासी देवों का यहाँ कथन नहीं किया गया है, तथापि अनुत्तरविमानों में सदैव सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं और उनके सिर्फ चतुर्थ गुणस्थान ही होता है। इसलिए देवों के सामान्यतया चतुर्थ गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है, वैसे इनके भी उतनी ही प्रकृतियों का बन्ध समझ लेना चाहिए।

सनत्कुमार से सहस्रार देवलोक तक की बन्धस्वामित्व प्ररूपणा

पूर्वोक्त दो विभागों में से प्रथम विभाग के सनत्कुमार से लेकर सहस्रार स्वर्ग तक के देव जैसे रत्नप्रभा नरकभूमि के नारक सामान्य से और गुणस्थानों में जितनी प्रकृतियों का बन्ध करते हैं, उतनी ही प्रकृतियों का बन्ध इन देवों के समझना चाहिए। ये देव भी उन-उन देवलोकों से च्यवकर एकेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होते, इसलिए इनके भी एकेन्द्रिय-प्रायोग्य-एकेन्द्रियजाति, स्थावरनाम और आतपनाम, इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। फलतः सामान्य से ये १०१ प्रकृतियों को बांधते हैं। मिथ्यात्व-गुणस्थान में तीर्थंकर-नामकर्म को छोड़कर १००, सास्वादनगुणस्थान में नपुंसक-चतुष्क के सिवाय ९६ और मिश्र गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि २६ प्रकृतियों के सिवाय ७० और अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मनुष्यायु एवं तीर्थंकर नामकर्म का भी बन्ध होने से ७२ प्रकृतियों को बाँधते हैं।

---

१. (क) निरयव्व सुरा नवरं ओहे मिच्छे एगिंदि तियसहिया।
कप्पदुगे वि य एवं जिणहीणो जोइ-भवण-वणे॥ १०॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ गा. १० विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ३५ से ३७ तक

आनत से नव-ग्रैवेयक और पंच अनुत्तरवासी देवों की बन्धस्वामित्व प्ररूपणा

आनत से लेकर नव-ग्रैवेयक तक के देव उद्योतचतुष्क (उद्योतनाम, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी और तिर्यञ्चायु, इन चार प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं, क्योंकि इन देवलोकों से च्यव कर ये देव मनुष्यगति में ही उत्पन्न होते हैं, तिर्यञ्चों में नहीं। अत: १२० प्रकृतियों में से तिर्यञ्च-प्रायोग्य उक्त ४ प्रकृतियों को तथा सुरद्विक आदि १९ प्रकृतियों को कम करने से सामान्य से ९७ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। तथा गुणस्थानों की अपेक्षा पहले में ९६, दूसरे में ९२, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। पाँच अनुत्तरविमानों के देव एकान्त सम्यक्त्वी होने से उनके सामान्यत: तथा गुणस्थान की अपेक्षा से ७२ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।[१]

(२-३) इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा में बन्ध-स्वामित्व-प्ररूपणा

इन्द्रिय का स्वरूप और प्रकार

इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी स्वयं पदार्थ का ज्ञान करने तथा ज्ञात होने वाले पदार्थ को व्यक्त करने में असमर्थ ज्ञस्वभावरूप आत्मा को पदार्थ के ज्ञान कराने में माध्यम या निमित्तभूत कारण को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा आत्मा या आत्मा के द्वारा ज्ञातक विभिन्न पदार्थों को जाना जाए, उसे इन्द्रिय कहते हैं। अथवा अपने-अपने स्पर्शादिक विषयों के ज्ञान या प्रवृत्ति में दूसरे (रसनादि) की अपेक्षा न रखकर जो स्वतंत्र हों, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रियाँ पांच होती हैं–स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। जिस जीव को क्रम से जितनी-जितनी इन्द्रियां होती हैं, उसको उतनी इन्द्रिय वाला जीव कहते हैं। जैसे-जिसके पहली एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय होती है, उसे एकेन्द्रिय, जिसके स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियाँ हों, उसे द्वीन्द्रिय, जिसके स्पर्शन, रसना और घ्राण हों, उसे त्रीन्द्रिय, जिसके स्पर्शन, रसना, घ्राण और नेत्र, ये चार इन्द्रियाँ हों, उसे चतुरिन्द्रिय और जिसके स्पर्शन, रसना, घ्राण (नासिका), नेत्र और श्रोत्र (कर्ण), ये पांचों इन्द्रियाँ हों, उसे पंचेन्द्रिय कहते हैं।

---

१. (क) रयणव्व सणंकुमाराई आणयाई उजोय-चउ-रहिया।
अपज्जतिरियव्व नवसयमिगिंदि पुढवि-जल-तस-विगले॥ ११॥
-तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. ११, व्याख्या (मरुधरकेसरीजी) पृ. ३९, ४०

काय का स्वरूप और प्रकार

काय–जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं। काय के छह प्रकार हैं-पृथ्वीकाय, अप्काय (जलकाय), तेजस्काय (अग्निकाय), वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के जीव एकेन्द्रिय (केवल स्पर्शेन्द्रिय वाले) होते हैं, उन्हें स्थावर भी कहते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय; ये तीन विकलेन्द्रिय और त्रसकाय या त्रस कहलाते हैं। तथा पंचेन्द्रिय जीव भी त्रसकाय या त्रस कहलाते हैं। वे चार प्रकार के हैं–नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। एकेन्द्रिय और तीन विकलेन्द्रिय की गणना तिर्यञ्चों में की जाती है।

इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा द्वारा बन्धस्वामित्व-कथन

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक एवं तीन कायों में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा

एकेन्द्रिय, तीन विकलेन्द्रिय तथा पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में, गतिमार्गणा में कहे गए अपर्याप्त तिर्यञ्चों के बन्धस्वामित्व के समान ही सामान्य से तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ प्रकृतियों का बन्ध होता है; क्योंकि अपर्याप्त तिर्यञ्च या मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म से लेकर नरकत्रिक पर्यन्त ११ प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते। इन एकेन्द्रियादि चार और तीन काय वाले जीवों में सम्यक्त्व नहीं होता । तथा देवगति और नरकगति में उत्पन्न नहीं होते। इसलिए सामान्य बन्ध योग्य १२० प्रकृतियों में से तीर्थंकरनाम, देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक, ये ११ प्रकृतियाँ कम करने से १०९ प्रकृतियाँ ही सामान्य से तथा प्रथम गुणस्थान में बन्ध योग्य होती हैं।[१]

द्वितीय सास्वादन गुणस्थान में प्रथम गुणस्थान में उक्त १०९ प्रकृतियों में से सूक्ष्मत्रिक आदि (सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम, नपुंसकवेद, मिथ्यात्वमोहनीय, हुंडकसंस्थान और सेवार्त संहनन, इन) तेरह प्रकृतियों के सिवाय ९६ प्रकृतियाँ बंधती हैं। इन १३ प्रकृतियों को कम करने का कारण यह है कि दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय न होने से मिथ्यात्व-सम्बन्धित १३ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता । भवनपति एवं व्यन्तर जाति के देव मिथ्यात्व-निमित्तक एकेन्द्रिय-प्रायोग्य आयु का बन्ध करने के पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त करें और मरण के समय

---

१. (क) तृतीय कर्मग्रन्थ, विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से भावांश ग्रहण, पृ. ४, ५, ४०, ४१ एवं ४२

(ख) जिण इक्कारस-हीणं, नवसउ अपजत्त-तिरिय-नरा। -तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. ९

सम्यक्त्व का वमन करके एकेन्द्रिय रूप में उत्पन्न होते हैं, तब उनको शरीर-पर्याप्ति पूर्ण करने से पूर्व सास्वादन-सम्यक्त्व गुणस्थान प्राप्त हो तो ऐसी स्थिति में वे पूर्वोक्त १०९ प्रकृतियों में से १३ प्रकृतियों के बिना ९६ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

किन्हीं आचार्यों का मत है कि वे एकेन्द्रिय आदि जीव दूसरे गुणस्थान के दौरान तिर्यंचायु और मनुष्यायु का भी बन्ध नही करते, इसलिए इन दो प्रकृतियों के और कम हो जाने से ९४ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। तथा औदारिकमिश्र मार्गणा में ९४ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है। ९६ प्रकृति मानने वालों का मत है कि आयुबन्ध के काल तक सास्वादन भाव बना रहता है, इसलिए एकेन्द्रियादि जीव इस गुणस्थान में तिर्यंचायु-मनुष्यायु का बन्ध कर सकते हैं, जबकि ९४ प्रकतियाँ मानने वालों के मतानुसार सास्वादन सम्यक्त्व का काल ६ आवलिका पहले ही पूरा हो जाता है, अतः उक्त दोनों आयुकर्मों का बन्ध सम्भव न होने से ९४ प्रकृतियों का बन्ध मानना ही उचित है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी इसी मत का समर्थन मिलता है। अतः ९४ प्रकृतियों के बन्ध वाला मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है।[१]

पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में बन्धस्वामित्व प्ररूपणा

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक तथा तीन स्थावरकायिक जीवों के बन्ध-स्वामित्व की प्ररूपणा के पश्चात् अब पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा करते हैं। त्रसजीव दो प्रकार के बताए हैं-गतित्रस और लब्धित्रस। जिनके त्रस नामकर्म का उदय होता है और जो चलते-फिरते भी हैं, उन्हें लब्धित्रस कहते हैं, तथा जिनके उदय तो स्थावर नामकर्म का होता है, परन्तु गतिक्रिया पाई जाती है, उन्हें गतित्रस कहते हैं। गतित्रस के दो भेद हैं-तेजस्काय और वायुकाय, तथा लब्धित्रस के ४ भेद हैं-द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक ।

पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में, जैसे कर्मग्रन्थ के द्वितीय भाग में सामान्य से १२० और विशेषरूप से पहले गुणस्थान से लेकर १३वें गुणस्थान तक क्रमशः ११७,

---

१. (क) छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइं।
तिरिय-नराऊहिं विणा तणुपज्जत्तिं न ते जंति॥ १२॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ गाथा १२ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ४२ से ४४ तक
(ग) देखें- कर्मग्रन्थ भा. २, गा. १४ में सासणि चउनवइ विणानरतिरियाऊ सुहुमतेर॥
(घ) पुण्णिदरं विगि विगले तत्थुप्पण्णो हु ससाणो देहे।
पज्जत्तिं णवि पावदि, इदि णर-तिरियाउगं णत्थि॥
-गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गा. ११३

१०१, ७४, ७७ आदि प्रकृतियों का बन्ध कहा है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। तेजस्काय और वायुकाय इन दोनों गतित्रसों के सिर्फ एक मिथ्यात्व-गुणस्थान होता है, सास्वादन गुणस्थान नहीं होता; क्योंकि सम्यक्त्व का वमन करता हुआ कोई जीव इस गुणस्थान में उत्पन्न नहीं होता। इसलिए दोनों त्रसों के सामान्य से तथा प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से जिन-एकादश (तीर्थंकर नामकर्म से लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११ प्रकृतियों तथा मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र, इन कुल १५ प्रकृतियों का बन्धन होने से, १५ प्रकृतियाँ कम करने पर १०५ प्रकृतियों का बन्ध होता है। तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव तिर्यंचगति में उत्पन्न होने से, वहाँ भवनिमित्तक नीचगोत्र ही उदय में होता है, उच्चगोत्र का बन्ध और उदय नहीं होता।[१]

(४) योगमार्गणा द्वारा बन्ध-स्वामित्व-प्ररूपणा

योग: स्वरूप, प्रकार और प्रभेद

मन, वचन, काया के व्यापार (प्रवृत्ति, हलचल या स्पन्दन) को योग कहते हैं, अथवा पुद्गल-विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण या आकर्षण करने में कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते हैं। योग के मूल भेद तीन हैं-मन, वचन और काया। अर्थात्-मनोयोग, वचनयोग और काययोग। फिर इनमें से मनोयोग के ४, वचनयोग के ४ और काययोग के ७ भेद होते हैं। मनोयोग और मनोयोग-सहित वचनयोग में प्रथम से लेकर तेरहवें तक १३ गुणस्थान होते हैं। अत: इन दोनों में द्वितीय कर्मग्रन्थ में बताये गए बन्ध के अनुसार ही यहां बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

प्रस्तुत गा. १३ के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त 'मण-वयजोगे' का मतलब मनोयोग-सहित वचनयोग तथा 'उरले' का मतलब मनोयोग-वचनयोग-सहित औदारिक काययोग माना जाए तो उसमें उस अपेक्षा से पूर्वोक्तवत् बन्ध-स्वामित्व समझना चाहिए। परन्तु यदि 'वयजोग' से केवल 'वचनयोग' और 'उरल' से केवल 'औदारिक काययोग' अर्थ ग्रहण किया जाए तो मनोयोग रहित 'वचनयोग' में बन्ध-स्वामित्व पूर्वोक्त विकलेन्द्रिय के समान और काययोग में एकेन्द्रिय के समान समझना चाहिए। अर्थात्-जैसे-विकलेन्द्रियों और एकेन्द्रिय में क्रमश: सामान्य से १०९, मिथ्यात्व-गुणस्थान में भी १०९, तथा सास्वादन-गुणस्थान में ९६ या ९४ प्रकृतियों का बन्ध बताया है, उसी प्रकार इनमें भी बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

---

१. (क) ओहु पणिंदि तसे गइतसे जिणिक्कार नर-तिगुच्च विणा॥ १३॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ गा. १३ पूर्वार्द्ध विवेचन (मरुधर केसरी) पृ. ४६ से ४८ तक

निष्कर्ष यह है कि मनोयोग, वचनयोग-सहित औदारिक काययोग वालों के पर्याप्त मनुष्य में कहे गए बन्ध के समान ही बन्ध समझना; जबकि केवल वचनयोग या केवल काययोग का बन्धस्वामित्व एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में बताए गए बन्ध के समान समझना चाहिए।[१]

काययोग के शेष भेदों का बन्ध-स्वामित्व

औदारिकमिश्रकाययोग में बन्धस्वामित्व प्ररूपणा—औदारिकमिश्र काययोग में सामान्य से आहारकद्विक, देवायु और नरकत्रिक, इन ६ प्रकृतियों को सामान्य बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम करने से ११४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व मानना चाहिए; क्योंकि विशिष्ट चारित्र के अभाव में तथा इस प्रकृति का ७वें गुणस्थान में ही बन्ध होने से औदारिकमिश्र काययोग में आहारकद्विक का बन्ध नहीं हो सकता। तथा देवायु और नरकत्रिक, इन ४ प्रकृतियों का बन्ध सम्पूर्ण पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना नहीं हो सकता। फलतः इन ६ प्रकृतियों का बन्ध औदारिक-मिश्र-काययोग में नहीं माना गया है।

प्रथम मिथ्यात्व-गुणस्थान के दौरान औदारिकमिश्र काययोग में सामान्य बन्ध योग्य ११४ प्रकृतियों में से जिन-पंचक (तीर्थंकर नाम, देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर और वैक्रिय-अंगोपांग, इन ५ प्रकृतियों) को कम करने पर १०९ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

औदारिकमिश्र काययोग में मिथ्यात्व गुणस्थान के समय मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु का बन्धस्वामित्व कुछ आचार्य नहीं मानते, कर्मग्रन्थकार मानते हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी इस मत का समर्थन पाया जाता है। जैसा कि गोम्मटसार में कहा गया है-"औदारिकमिश्र काययोग में औदारिक काययोगवत् रचना जानना। विशेष बात यह है कि इसमें देवायु, नरकायु, आहारकद्विक, नरकद्विक, इन ६ प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता। अतः १२० में से ६ प्रकृतियाँ कम करने पर सामान्य से ११४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। उसमें भी मिथ्यात्व गुणस्थान में देवचतुष्क और तीर्थंकर नामकर्म, इन ५ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। अतः १०९ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

परन्तु कर्मग्रन्थकार का कहना है-औदारिकमिश्र काययोग के प्रथम गुणस्थान में १०९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। दूसरे सास्वादन गुणस्थान में इसके ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है, क्योंकि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही आयुबन्ध होना सम्भव

---

१. (क) मण-वय-जोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥ १३ ॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ विवेचन (मरुधर केसरी) से सारांश ग्रहण, पृ. ४८, ४९

है। और सासादन गुणस्थान में वर्तमान जीव शरीर -पर्याप्ति पूर्ण नहीं करता है। इस दृष्टि से इस द्वितीय गुणस्थान में मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु का बन्ध नहीं होता। तथा इसमें मिथ्यात्व का उदय न होने से मिथ्यात्व के उदय से बंधने वाली सूक्ष्मत्रिक से लेकर सेवार्त संहनन-पर्यन्त १३ प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता। अतः कुल २+१३=१५ प्रकृतियों को प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्धयोग्य १०९ प्रकृतियों में से कम करने पर ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

औदारिकमिश्र काययोग वाले जीव के पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ ये चार गुणस्थान होते हैं। चौथे गुणस्थान में इसके ७५ प्रकृतियों का बन्ध होता है। दूसरे गुणस्थान में उक्त ९४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि (से तिर्यंचद्विक पर्यन्त) २४ प्रकृतियाँ कम करने से कुल ७० प्रकृतियाँ शेष रहती हैं, साथ ही तीर्थंकर नाम-पंचक (तीर्थंकर नामकर्म, देवद्विक और वैक्रियद्विक) के मिलाने से ७०+५=७५ प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थान के दौरान होता है। और तेरहवें गुणस्थान में तो सिर्फ एक सातावेदनीय का बन्ध होता है।[१]

कार्मण काययोग में बन्धस्वामित्व प्ररूपणा

कार्मण काययोग में तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध औदारिकमिश्र काययोग के समान ही है। कार्मण काययोग भवान्तर के लिए जाते हुए अन्तराल (विग्रह) गति के समय तथा जन्म लेने के प्रथम समय में होता है। कार्मण काययोग वाले जीवों के पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ, ये चार गुणस्थान होते हैं। इनमें से तेरहवाँ गुणस्थान केवली-समुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में सयोगिकेवली भगवान् को होता है। और शेष तीन गुणस्थान अन्य जीवों के अन्तराल गति के तथा जन्मग्रहण के प्रथम समय में होते हैं। कार्मण काययोग में सामान्य से ११२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। औदारिकमिश्र काययोग में

---

१. (क) ओराले वा मिस्से ण सुर-णिरयाउहार-णिरयदुगं।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं ण हि अविरदे अत्थि॥ ११६॥-गोम्मटसार, कर्मकाण्ड

(ख) जोएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो।
तेण परं मीसेणं जाव सरीरनिप्फत्ती॥ -भद्रबाहुस्वामी

(ग) औदारिक काययोगस्तिर्यङ् मनुष्यो: शरीर पर्याप्तिरूर्ध्वम्। -आचारांग टीका १/२

(घ) कर्मग्रन्थ भा. ३ गा. १४ विवेचन, (मरुधर केसरीजी) से सारांश ग्रहण, पृ. ४९ से ५८ तक

(ङ) आहारछग-विणोहे चउदस-सउ, मिच्छि जिण-पणग-हीणं।
सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ सुहुमतेर॥ १४॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ

सामान्य से जो ११४ प्रकृतियों का बन्ध स्वामित्व बताया गया है, उनमें से कार्मण काययोग में मनुष्यायु और तिर्यंचायु को कम करने से सामान्य से ११२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में उक्त ११२ प्रकृतियों में से औदारिकमिश्र काययोग की तरह तीर्थंकर नामकर्म आदि ५ प्रकृतियों के कम करने से १०७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। दूसरे गुणस्थान में इन्हीं १०७ प्रकृतियों में से सूक्ष्मत्रिक आदि १३ प्रकृतियों को कम करने से ९४ एवं चौथे गुणस्थान में इन ९४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि २४ प्रकृतियों को कम करने एवं तीर्थंकर नामकर्म आदि ५ प्रकृतियों को जोड़ने से ७५ प्रकृतियों का बन्ध होता है। जबकि तेरहवें गुणस्थान में एकमात्र सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

आहारकद्विक में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा

आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग केवल छठे गुणस्थान में पाये जाते हैं। अतः छठे गुणस्थान के समान इन दोनों काययोगों में ६३ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

आहारक काययोग में प्रमत्त और अप्रमत्त संयत ये दोनों गुणस्थान एक अपेक्षा से होते हैं। जिस समय चौदह पूर्वधारी मुनि आहारक शरीर करता है, उस समय वह प्रमादयुक्त होता है, तब होता है छठा गुणस्थान। अर्थात्-आहारक शरीर प्रारम्भ करते समय वह औदारिक के साथ मिश्र होता है, यानी आहारकमिश्र और आहारक इन दो योगों में छठा गुणस्थान होता है, किन्तु बाद में विशुद्धि की शक्ति से सातवें गुणस्थान में आता है, तब एकमात्र आहारकयोग ही होता है। आशय यह है कि आहारकमिश्र काययोग में छठा और आहारक योग में छठा और सातवाँ दोनों गुणस्थान होते हैं। ऐसी स्थिति में छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बन्ध होता है।[१] सातवें गुणस्थान में उक्त ६३ में से शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्ति और असातावेदनीय इन ६ प्रकृतियों को कम करने पर ५७ प्रकृतियों का यदि देवायु का बन्ध न करे तो ५६ प्रकृतियों का बन्ध करता है।[२]

वैक्रिय काययोग में बन्धस्वामित्व प्ररूपणा

वैक्रिय काययोग के अधिकारी देव और नारक होते हैं; क्योंकि इन दोनों का उपपात-जन्म होता है. तथा इसमें गुणस्थान देवगति के समान ही माने गए हैं, एवं

---

१. छट्ठगुणं वाहारे तम्मिसे णत्थि देवाऊ। -गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ११८

२. (क) अण चउवीसाइ विणा, जिण पणजुयसम्मि जोगिणो सायं।
विणु तिरि-नराउ कम्मे वि एवमाहारदुगि ओहो॥ १५॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ गा. १५ विवेचन (मरुधर केसरीजी) से सारांश ग्रहण, पृ. ५४ से ६२ तक

इसका बन्धस्वामित्व भी देवगति के समान ही, अर्थात्-सामान्य से १०४, पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का है।

वैक्रियमिश्र काययोग में बन्धस्वामित्व प्ररूपणा

वैक्रियमिश्र काययोग के स्वामी भी वैक्रिय काययोग की तरह देव और नारक होते हैं। अत: इस योग में भी देवगति के समान बन्ध होना चाहिए था, किन्तु इसमें कुछ विशेषता है कि यह योग अपर्याप्त अवस्था में ही देवों और नारकों के होता है। इसमें पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान ही होते हैं। देव तथा नारक पर्याप्त-अवस्था में ही, यानी ६ महीने प्रमाण आयु शेष रहते ही परभव-सम्बन्धी आयु बांध लेते हैं। इसलिए वैक्रियमिश्र काययोग में मनुष्यायु और तिर्यंचायु के सिवाय अन्य समस्त प्रकृतियों का बन्ध वैक्रिय काययोग (देवगति) के समान समझना चाहिए ।

प्राचीन बन्धस्वामित्व में भी उल्लेख है कि "जीव मर कर परलोक में जाते हैं, तब वे पहले, दूसरे या चौथे गुणस्थान को ग्रहण किये हुए होते हैं। परन्तु इन तीनों के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों को ग्रहण कर परलोक के लिए कोई जीव गमन नहीं करता ।" अतएव वैक्रियमिश्र काययोग में सामान्य रूप से १०२, पहले गुणस्थान में १०१, दूसरे गुणस्थान में ९४ और चौथे गुणस्थान में ७१ प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व समझना चाहिए।[१]

---

१. (क) मिच्छे सासाणे वा अविरय सम्मंमि अहव गहियम्मि। जंति जीया परलोए सेसेक्कारसगुणं मोत्तुं॥ -प्राचीन बन्धस्वामित्व

(ख) वैक्रिय काययोग लब्धि से भी पैदा होता है, जैसा कि पंचम गुणस्थान में वर्तमान अम्बड़ परिव्राजक (देखें-औपपातिक सूत्र में अम्बड़-परिव्राजक का जीवन वृत्तान्त।-संपादक) आदि ने तथा छठे गुणस्थान में वर्तमान विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रिय लब्धि के बल से वैक्रिय शरीर किया था। इस अपेक्षा से वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग का पांचवें और छठे गुणस्थान में भी होना सम्भव है, तथापि यहाँ वैक्रिय काययोग में पहले से लेकर चौथे तक चार गुणस्थान तथा वैक्रियमिश्र काययोग में पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान माने गए हैं, इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यहाँ देवों और नारकों के स्वाभाविक भव प्रत्यय वैक्रिय काय की विवक्षा है, लब्धि प्रत्ययजनित वैक्रियकाय की विवक्षा नहीं है; इसीलिए आदि के चार गुणस्थान माने गए हैं। मनुष्यों और तिर्यंचों की अपेक्षा से अधिक गुणस्थानों की विवक्षा नहीं है। -तृतीय कर्मग्रन्थ पृ. ६४

यद्यपि वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग पांचवें छठे गुणस्थान में होता है, जो लब्धिप्रत्यय है, भवप्रत्यय नहीं, यहाँ भवप्रत्यय वैक्रियद्विक की अपेक्षा से बन्ध-स्वामित्व-प्ररूपणा की गई है।[१]

(५) वेदत्रय में बन्ध-स्वामित्व-प्ररूपणा

नोकषाय-मोहनीय के उदय से ऐन्द्रिय-रमण करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं। वेद तीन हैं-स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। वेद का उदय नौवें गुणस्थान तक होता है। सामान्य से तथा पहले से लेकर नौवें गुणस्थान तक बन्धाधिकार में कहे गए अनुसार ही बन्ध-प्ररूपणा समझना चाहिए।

(६) सोलह कषायों में बन्ध-स्वामित्व की प्ररूपणा

अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान में होता है। अतः बन्ध तो बन्धाधिकारों में बताये गए बन्ध के समान ही होना चाहिए, किन्तु सामान्य से १२० प्रकृतियों के बजाय ११७ का बन्ध होता है, क्योंकि इस कषाय वाले के सम्यक्त्व और चारित्र नहीं होने से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय चौथे गुणस्थान तक होता है, इस कषाय के समय सम्यक्त्व सम्भव होने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो सकता है। अतः सामान्य से ११८ प्रकृतियों का गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४ और ७७ प्रकृतियाँ समझना चाहिए। प्रत्याख्यानावरणीय कषाय चतुष्क का उदय पंचम गुणस्थान पर्यन्त होता है। अतः इसमें पहले से लेकर पांचवें गुणस्थान तक ५ गुणस्थान होते हैं। इस कषाय के रहने पर सम्यक्त्व हो सकता है, किन्तु सर्वविरति चारित्र न होने से आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता। अतः सामान्य-रूप से ११८ प्रकृतियों का बन्ध होता है। और गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ और ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

---

१. (क) नारकदेवानामुपपातः। वैक्रियमौपपातिकम् ॥ -तत्त्वार्थसूत्र २/३५, २/४७
उत्पत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय-पुद्गलों को पहले शरीररूप में परिणत करना उपपातजन्म है। -संपादक
(ख) सुरओहो विउव्वे तिरिनराउ रहिओ य तम्मिस्से ॥ १६ ॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ग) तृतीय कर्मग्रन्थ गा. १६ विवेचन (मरुधर केसरी) से सारांश ग्रहण, पृ. ६२ से ६८ तक

संज्वलन-कषायत्रिक (संज्वलन के क्रोध, मान और माया) में नौ और संज्वलन-लोभ में दस गुणस्थान होते हैं। अत: इन चारों कषायों का बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से तथा विशेषरूप से उन गुणस्थानों के समान है। अर्थात्-उनका बन्ध-स्वामित्व जैसा बन्धाधिकार में गुणस्थानों की अपेक्षा बतलाया गया है, उसी प्रकार समझना चाहिए। यानी सामान्य से १२० तथा गुणस्थान क्रमानुसार पहले से नौवें गुणस्थान तक क्रमश: ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९, ५८ और २२ प्रकृतियों का समझना चाहिए। संज्वलन लोभ में एक से लेकर १० गुणस्थान होते हैं। अत: इसमें नौवें गुणस्थान तक तो पूर्वोक्त संज्वलनत्रिक के अनुसार बन्ध-स्वामित्व है और दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।[१]

(७, ८) ज्ञानमार्गणा और दर्शनमार्गणा द्वारा बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा

तीन अज्ञानों में बन्धस्वामित्व-निरूपण

ज्ञानमार्गणा में ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) दोनों का ग्रहण किया गया है। ज्ञान के ५ भेद हैं-मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्याय और केवलज्ञान। इसी प्रकार अज्ञान के तीन भेद हैं-मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान (अवधि अज्ञान)। अज्ञानत्रिक में आदि के दो या तीन गुणस्थान होते हैं। इसमें तीसरा गुणस्थान मानने के पीछे अभिप्राय यह है कि तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीव की दृष्टि सर्वथा शुद्ध या अशुद्ध नहीं होती; किन्तु कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध तथा किसी अंश में अशुद्धमिश्र होती है। इस मिश्रदृष्टि के अनुरूप ज्ञान भी उन जीवों का मिश्ररूप-किसी अंश में ज्ञानरूप और किसी अंश में अज्ञानरूप माना जाता है। मगर इस प्रकार के मिश्रज्ञान से युक्त जीवों की गणना दृष्टि में अशुद्धि की अधिकता के कारण अज्ञान की मात्रा अधिक और ज्ञान की मात्रा कम होने से अज्ञानी जीवों में की जाती है। इस अपेक्षा से पहले और दूसरे दो गुणस्थानवर्ती जीव तो अज्ञानी हैं ही, तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव को भी अज्ञानी ही समझना चाहिए।

दो या तीन गुणस्थान मानने का एक और कारण है-जो जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आता है, तब उसे मिश्रदृष्टि में मिथ्यात्वांश अधिक होने से अशुद्धि विशेष होती है। और जब सम्यक्त्व छोड़कर तीसरे गुणस्थान में आता है, तब मिश्रदृष्टि में सम्यक्त्वांश अधिक होने से शुद्धि-विशेष रहती है। इसीलिए अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान माने जाते हैं।

---

१. (क) वेदतिगाइय तिय तिय कसाय नव दु चउ पंच गुणा॥ १६॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
संजलण तिगे नवदस लोभे चउ अजइ दुति अनाणतिगे।
बारस अचक्खु-चक्खुसु पढमा अहखाइ चरमचऊ॥ १७॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. १६, १७

अज्ञानत्रिक के सामान्य से तथा प्रथम गुणस्थान में ११७ का बन्ध होता है। सामान्य बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक, ये तीन प्रकृतियाँ अज्ञानत्रिक में मिथ्यात्व का सद्भाव होने से तथा मिथ्यात्व अज्ञान का कारण होने से कम कर देने पर ११७ प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य होती हैं। दूसरे गुणस्थान में १०१, तीसरे में ७४ प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व समझना चाहिए।

पाँच ज्ञान और चार दर्शनों में बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक (अवधिज्ञान, अवधिदर्शन), इन चार मार्गणाओं में पहले के तीन गुणस्थान तथा अन्तिम दो गुणस्थान नहीं होते हैं। अर्थात्-चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान तक नौ गुणस्थान होते हैं। आदि के तीन गुणस्थान न होने का कारण है, इन तीनों में शुद्ध सम्यक्त्व का न होना, क्योंकि ये चारों सम्यक्त्व के होने पर ही सम्यग्ज्ञान माने जाते हैं। तथा अन्तिम दो गुणस्थानों के न होने का कारण है- उनमें क्षायिक ज्ञान का होना, क्षायोपशमिक का न होना। अतः इन चारों मार्गणाओं में आहारकद्विक का बन्ध सम्भव होने से सामान्य से ७९ प्रकृतियों तथा गुणस्थानों की अपेक्षा चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व समझना चाहिए। अर्थात्-चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियों में आहारकद्विक की प्रकृतियों को और जोड़ने से सामान्य की अपेक्षा ७९ प्रकृतियों का, पाँचवें में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५९/५८, आठवें में ५८/५६/२६, नौवें में २२/२१/२०/१९/१८, दसवें में १७, ग्यारहवें में १ तथा बारहवें में १ प्रकृति का बन्ध समझना चाहिए।

मनःपर्यायज्ञान में छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान-पर्यन्त ७ गुणस्थान होते हैं। और इसमें आहारकद्विक का बन्ध सम्भव होने से सामान्य से ६५ प्रकृतियों का तथा अन्य गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धाधिकार के समान छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्ध समझना चाहिए। केवलज्ञान और केवलदर्शन में अन्तिम दो गुणस्थान होते हैं। उनमें से चौदहवें गुणस्थान में तो बन्ध के कारणों का अभाव होने से बन्ध नहीं होता। तथा तेरहवें गुणस्थान में सामान्य और विशेष दोनों रूप से एकमात्र सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन, इन दोनों में आदि के १२ गुणस्थान होते हैं और इनका बन्ध-स्वामित्व सामान्य से एवं गुणस्थानों की अपेक्षा से गुणस्थानों के समान समझना चाहिए।[१]

---

१. मणनाणि सगजयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलिदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुयोहि-दुगे॥ १८॥
-कर्मग्रन्थ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ७१ से ७४

(९) पंचविध संयम में बन्ध-स्वामित्व-प्ररूपणा

संयम का अर्थ है-सावद्य योग से निवृत्ति, अथवा पंचमहाव्रतरूप यमों का पालन या पंचेन्द्रिय जय। संयम के ५ भेद हैं-सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यातचारित्र। पंचविध संयम के साथ संयम के प्रतिपक्षी असंयम या अविरति का भी ग्रहण किया गया है।

अविरति का मतलब है-सम्यक्त्व तो हो, किन्तु चारित्र-पालन न हो सके। अतः इसमें आदि के चार गुणस्थान होते हैं। चौथे गुणस्थानों में सम्यक्त्व होने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध सम्भव है; जबकि आहारकद्विक का बन्ध संयम सापेक्ष होने से नहीं होता। इसलिए अविरति में सामान्य से आहारकद्विक के सिवाय ११८, प्रथम गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सामायिक और छेदोपस्थानीय इन दो संयमों में छठे से लेकर नौवें गुणस्थान पर्यन्त ४ गुणस्थान होते हैं तथा इनमें आहारक-द्विक का बन्ध भी सम्भव है। अतः इन दोनों में सामान्य से ६५ प्रकृतियों का, तथा छठे से लेकर नौवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्ध स्वामित्व बन्धाधिकार के समान है।

परिहार-विशुद्धि संयम वाले के छठा और सातवां, ये दो गुणस्थान होते हैं। यद्यपि इस संयम के समय आहारकद्विक का उदय नहीं होता है, किन्तु बन्ध सम्भव है। अतः इसका बन्ध-स्वामित्व सामान्यरूप से ६५ प्रकृतियों का और विशेषरूप से बन्धाधिकार के समान छठे गुणस्थान में ६३ और सातवें गुणस्थान में ५९ या ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है। **देशचारित्र** तथा **सूक्ष्मसम्पराय-संयम** में अपने-अपने नाम वाला, अर्थात् देशविरत में पाचवाँ एवं सूक्ष्म सम्पराय में दसवां गुणस्थान होता है।

यथाख्यातचारित्र अन्तिम चार गुणस्थानवर्ती जीवों के होता है। अतः इसमें ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें तक, ये चार अन्तिम गुणस्थान होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में तो 'योग' का अभाव होने से बन्ध होता ही नहीं। मगर ग्यारह आदि ३ गुणस्थानों में बन्ध के कारणभूत योग का सद्भाव होता है।[१] अतः योग के निमित्त से बंधने वाले सिर्फ एक सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

(१०) सम्यक्त्व-मार्गणा में बन्ध स्वामित्व प्ररूपणा

सम्यक्त्व के चार भेद हैं-औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक (वेदक) और अविरति सम्यक्त्व तथा सास्वादन सम्यक्त्व, मिश्र तथा मिथ्यात्व (सम्यक्त्व-प्रतिपक्षी) ये तीनों भी सम्यक्त्व से सम्बन्धित सम्यक्त्व-मार्गणा के अवान्तर भेद हैं।

---

१. तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. १८ विवेचन से सारांश ग्रहण, पृ. ७२ से ७६ तक

उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है–ग्रन्थिभेदजन्य और श्रेणिगत। ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है, और श्रेणिगत होता है, आठवें से ग्यारहवें तक। इस प्रकार उपशम-सम्यक्त्व ४+४=८ गुणस्थानों में होता है, चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक कुल आठ गुणस्थान होते हैं। इस सम्यक्त्व के दौरान आयु का बन्ध नहीं होता। चौथे गुणस्थान में देवायु और मनुष्यायु का, पांचवें आदि गुणस्थानों में देवायु का बन्ध नहीं होता।[१] अतएव इस सम्यक्त्व में सामान्यरूप से ७५ प्रकृतियों का तथा चौथे गुणस्थान में ७५, पाँचवें में ६६, छठे में ६२, सातवें में ५८, आठवें में ५८/५६/२६, नौवें में २२/२१/२०/१९/१८, दसवें में १७ और ग्यारहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्ध होता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी उदयप्राप्त मिथ्यात्व का क्षय और अनुदय-प्राप्त का उपशम करता है। यह सम्यक्त्व चौथे से सातवें तक ४ गुणस्थानों में होता है। इसमें आहारकद्विक का बन्ध भी सम्भव है। अतः इसका बन्ध-स्वामित्व सामान्य से ७९ प्रकृतियों का, तथा विशेषरूप से चौथे गुणस्थान में ७७, पांचवें में ६७, छठे में ६३ और सातवें में ५९ या ५८ प्रकृतियों का है। इसके पश्चात् श्रेणीद्वय आरम्भ हो जाता है। इस कारण उपशम श्रेणि में उपशम सम्यक्त्व और क्षपकश्रेणि में क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व निष्पन्न होता है–संसार के मूल कारणभूत त्रिविध दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से। इस सम्यक्त्व में चौथे से लेकर चौदहवें तक ग्यारह गुणस्थान होते हैं। इसमें आहारकद्विक का बन्ध हो सकता है। इसलिए सामान्यरूप से इसका बन्धस्वामित्व ७९ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा से प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है। यानी चौथे गुणस्थान में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५९ या ५८, आठवें में ५८/५६/२६, नौवें में २२/२१/२०/१९ और १८, दसवें में १७ तथा ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें में एक प्रकृति का बन्ध होता है और चौदहवाँ अयोगि-केवली गुणस्थान अबन्धक होता है।

मिथ्यात्वत्रिक यानी मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र, ये तीनों सम्यक्त्व-मार्गणा के अवान्तर भेद हैं। इनमें अपने-अपने नाम का एक-एक गुणस्थान होता है। अर्थात्

---

१. (क) उवसमे वट्टंता चउण्हमिक्कंपि आउयं नेय।
बंधंति तेण अजया सुर-नर-आउहिं अणं तु॥
ओघो देसजयाइसु सुराउहीणो उ जाव उवसंतो॥ -बन्धस्वामित्व गा. ५१, ५२

(ख) अणबंधोदयमाउगबंधं कालं च सासणो कुणई।
उवसम सम्मदिट्ठी चउण्हमिक्कंपि नो कुणई॥ -गोम्मटसार कर्मकाण्ड

मिथ्यात्व में पहला, सास्वादन में दूसरा और मिश्र में तीसरा गुणस्थान होता है। अतः इन तीनों का सामान्य और विशेष रूप से बन्धस्वामित्व इस-इस गुणस्थान के बन्धस्वामित्ववत् समझना चाहिए। अर्थात्-सामान्य और विशेष रूप से मिथ्यात्व में ११७, सास्वादन में १०१ और मिश्र गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व होता है।[१]

(११) आहारक-मार्गणा में बन्ध-स्वामित्व-प्ररूपणा

आहारक उसे कहते हैं, जो समय-समय में आहार करे। जितने भी संसारी जीव हैं, वे जब तक अपनी-अपनी आयु के कारण संसार में रहते हैं, अपने-अपने योग्य कर्मों का आहरण करते रहते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के सभी जीव आहारक (आहारी) हैं, और इन सब जीवों का ग्रहण आहारक मार्गणा में किया जाता है; क्योंकि मोक्ष न होने से पूर्व तक सभी संसारी जीव इसमें आ जाते हैं। अतः इस मार्गणा में पहले से लेकर १३वें गुणस्थान तक १३ गुणस्थान हैं। इस मार्गणा में सामान्य से तथा प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्ध-स्वामित्व समझना चाहिए।

अनाहारक मार्गणा पहले, दूसरे, चौथे, तेरहवें और चौदहवें, इन ५ गुणस्थानों में पाई जाती हैं। अतः इस मार्गणा में बन्धस्वामित्व कार्मण काययोग-मार्गणा के समान जानना चाहिए।[२]

इनमें से पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान उस समय होते हैं, जब जीव दूसरे स्थान में पैदा होने के लिए विग्रहगति से जाते हैं। उस समय एक, दो या तीन समय पर्यन्त जीव को औदारिक आदि स्थूल शरीर नहीं होने से अनाहारक अवस्था रहती है। तथा तेरहवें गुणस्थान में केवलि-समुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में अनाहारकत्व रहता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का निरोध (अभाव) हो जाने से किसी तरह का आहार सम्भव नहीं है। इसलिए उक्त ५ गुणस्थानों में अनाहारक मार्गणा मानी जाती है। फलतः अनाहारक मार्गणा में ४ गुणस्थान बंध की अपेक्षा से बताये गए हैं, एक गुणस्थान अबन्धक है। अतः

---

१. उवसम्मि वट्टंता आयु न बंधंति तेण अजयगुणे।
देव-मणुयाउ-हीणो देसाइसु पुण सुराउ विणा॥ २०॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ

२. (क) सव्व-गुण-भव्व-सन्निसु ओहु अभव्व असन्नि मिच्छसमा।
सासणि असन्नि सन्नि व्व कम्मभंगो अणाहारे॥ २३॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ गा. २३ विवेचन (मरुधर केसरी) से सारांश ग्रहण, पृ. ९५ से ९९ तक

अनाहारक मार्गणा में कार्मण काययोग के समान सामान्य ये ११२ प्रकृतियों का, और पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ९४, चौथे में ७५ और तेरहवें में १ प्रकृति का बन्ध स्वामित्व समझना चाहिए।

बन्ध योग्य १२० प्रकृतियों में से आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु इन ८ प्रकृतियों को कम करने पर सामान्य से अनाहारक में ११२ प्रकृतियाँ बंधती हैं। पहले गुणस्थान में इन ११२ में से जिननाम, वैक्रियद्विक तथा देवद्विक, इन ५ प्रकृतियों को कम करने पर १०७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है। दूसरे सास्वादन गुणस्थान में १०७ प्रकृतियों में से सूक्ष्मत्रिक, विकलेन्द्रियत्रिक, एकेन्द्रिय जाति, स्थावरनाम, आतपनाम, नपुंसकवेद, मिथ्यात्वमोहनीय, हुंडक संस्थान और सेवार्त संहनन, इन १३ प्रकृतियों को कम करने पर ९४ प्रकृतियों का तथा चौथे गुणस्थान में इन ९४ में से अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि २४ प्रकृतियों को कम करने तथा जिनपंचक की ५ प्रकृतियों को मिलाने से ७५ प्रकृतियाँ बँधती हैं। सयोगि केवली गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

(१२-१३) भव्यत्व मार्गणा तथा संज्ञित्वमार्गणा में बन्ध-स्वामित्व-प्ररूपणा

भव्य और संज्ञी इन दो मार्गणाओं में १४ ही गुणस्थान होते हैं। अतः इनका सामान्य से और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्ध-स्वामित्व बन्धाधिकार में बताये अनुसार जानना चाहिए। अभव्य प्रथम गुणस्थान में ही अवस्थित होते हैं। अतः इनका बन्ध-स्वामित्व सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा प्रथम गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का है।

असंज्ञी जीवों में पहला और दूसरा दो ही गुणस्थान होते हैं। तथा इनमें तीर्थंकर नामकर्म एवं आहारकद्विक, इन ३ प्रकृतियों का बन्ध सम्भव नहीं है। अतः सामान्य से और प्रथम गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का एवं द्वितीय गुणस्थान में बन्धाधिकारोक्तवत् १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(१४) लेश्याओं में बन्ध-स्वामित्व की प्ररूपणा

योगान्तर्गत कृष्णादि द्रव्यों के सम्बन्ध (सम्पर्क) से आत्मा के जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उन्हें लेश्या कहते हैं। कषाय उनके सहकारी हैं। कषाय की जैसी-जैसी तीव्रता होती है, वैसी-वैसी लेश्याएँ अशुभ से अशुभतर होती जाती हैं, तथैव कषाय की जैसी-जैसी मन्दता होती है, वैसी-वैसी लेश्याएँ विशुद्ध से विशुद्धतर होती जाती हैं। जैसे अनन्तानुबन्धी कषाय के तीव्रतम उदय होने पर कृष्ण लेश्या

होती है, और अन्य कषाय के मन्दतम उदय होने पर शुक्ल लेश्या होती है। लेश्या ६ हैं-(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजो, (५) पद्म एवं (६) शुक्ल।

कृष्णादि तीन लेश्याओं में बन्ध-स्वामित्व की प्ररूपणा

आदि की कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन लेश्याओं में मिथ्यात्व आदि ४ गुणस्थान पाये जाते हैं। चतुर्थ कर्मग्रन्थ में कृष्णादि तीन लेश्याओं में छह गुणस्थान - प्राप्ति की प्ररूपणा की है, इसका रहस्य यह है कि पूर्व प्राप्त कृष्णादि तीन लेश्याएँ पांचवें, छठे गुणस्थान वाली हो सकती हैं, किन्तु तीन लेश्या वाले पाँचवाँ, छठा गुणस्थान प्राप्त नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है चतुर्थ कर्मग्रन्थानुसार कृष्णादि तीन लेश्याओं वाले अधिक से अधिक छह गुणस्थान तक पाये जाते हैं।[१]

कृष्णादि तीन लेश्या वाले १२० बन्धयोग्य प्रकृतियों में से आहारकद्विक को छोड़कर सामान्य से शेष ११८ कर्म प्रकृतियों को बांधते हैं; क्योंकि आहारकद्विक का बन्ध सातवें गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थानों में नहीं पाया जाता और गुणस्थानों की अपेक्षा पहले गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

देवों और नारकों में द्रव्य लेश्याएँ अवस्थित, किन्तु भाव लेश्याओं में परिवर्तन

देवों और नारकों में वर्ण रूप द्रव्य लेश्याएँ होती हैं, क्योंकि उनकी लेश्याएँ अवस्थित होती हैं। भाव की अपेक्षा से वे लेश्याएँ उस-उस समय के भावानुसार होती हैं। इसलिए भाव लेश्या उससे भिन्न भी हो सकती है। सातवें नरक में सम्यक्त्व प्राप्ति मानी है, वहाँ द्रव्य की अपेक्षा कृष्ण लेश्या, किन्तु भाव की अपेक्षा सम्यक्त्व प्राप्ति के समय शुद्ध भाव लेश्या मानी है, क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति शुभ लेश्याओं में ही होती है। भगवती सूत्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि कृष्ण लेश्या वाले क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं मनुष्य चारों प्रकार के आयुष्यकर्म का बन्ध नहीं करते, जबकि मिथ्यादृष्टि चार प्रकार के आयुष्य का बन्ध करते हैं। यही बात नील और कापोत लेश्या के लिये भी समझनी चाहिए।[२] सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक सर्व

---

१. पढम तिलेसासु छच्च। -चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. २३

२. ....किरियावादी (सम्यक्त्वी) पंचेन्दिय तिरिक्खजोणिया (मणुस्सा वि) णो तिरिक्ख जोणियाउयं पकरेंति, णो मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति। अकिरियावादी अणाणियवादी वेणइयवादी चउव्विहं पि पकरेंति। जहा कण्हलेस्सा एवं णीललेस्सावि, काउलेस्सावि।.....एवं मणुस्साण वि भाणियव्वा।- -भगवतीसूत्र शतक ३० उ. १

लेश्याओं में होता है, किन्तु चारित्रसामायिक तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या में होता है। ऐसा कहा गया है।

इस सैद्धान्तिक मतानुसार चतुर्थ गुणस्थान में देवायु का बन्ध न मानकर ७७ के बजाय ७६ प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है।[१]

तेजोलेश्या से शुक्ल लेश्या तक की बन्ध स्वामित्व-प्ररूपणा

तेजोलेश्या पहले मिथ्यात्व-गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक पाई जाती है। तथा सामान्य बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से नरकनवक (नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक तथा विकलेन्द्रियत्रिक इन नौ) प्रकृतियों का बन्ध अशुभ लेश्याओं में होने से, नौ प्रकृतियाँ कम होने से सामान्य से १११ प्रकृतियों का बन्ध होता है और जहाँ नरकनवक प्रकृतियों का उदय होता है, उन स्थानों में तेजोलेश्या वाले पैदा नहीं होते। प्रथम गुणस्थान में जिननाम और आहारकद्विक, इन तीन प्रकृतियों को कम करने पर १०८ प्रकृतियों का तथा दूसरे से सातवें तक बन्धाधिकारवत् बन्धस्वामित्व है। अर्थात् -दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पांचवें में ६८, छठे में ६३ और सातवें गुणस्थान में ५९ या ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

पद्म लेश्या में भी तेजोलेश्या के समान पहले से लेकर ७ गुणस्थान होते हैं, किन्तु तेजोलेश्या की अपेक्षा पद्म लेश्या में यह विशेषता होती है कि इस लेश्या वाले पूर्वोक्त नरकनवक प्रकृतियों के अतिरिक्त, एकेन्द्रिय, आतप और स्थावर, इन तीन प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं करते; क्योंकि तेजोलेश्या वाले एकेन्द्रियरूप से पैदा हो सकते हैं, किन्तु पद्मलेश्या वाले नरकादि नौ एवं एकेन्द्रिय आदि तीन स्थानों में भी पैदा नहीं होते। इसलिए पद्मलेश्या का बन्ध-स्वामित्व सामान्य से १०८ प्रकृतियों का, प्रथम गुणस्थान में आहारकद्विक एवं जिन नामकर्म का बन्ध न होने से १०५ प्रकृतियों का है। दूसरे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के समान ही उपर्युक्तवत् समझना चाहिए।

शुक्ललेश्या में पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान होते हैं। पद्मलेश्या की अपेक्षा शुक्ललेश्या की यह विशेषता है कि पद्मलेश्या में अबन्ध योग्य पूर्वोक्त नरकादि १२ प्रकृतियों के अलावा उद्योत-चतुष्क (उद्योतनाम,

---

१. (क) ओहे अट्ठासयं आहारदुगूण आइ-लेसतिगे।
तं तित्थोणं मिच्छे साणाइसु सव्वहिं ओहो॥ २१॥
तेऊ नरय-नवूणा उजोयचउ नरयवार विणु सुक्का।
विणु नरय वार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे॥ २२॥ -तृतीय कर्मग्रन्थ
(ख) तृतीय कर्मग्रन्थ, गा. २२ विवेचन (मरुधर केसरी) से पृ. ८४ से ९९

तिर्यंचगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी एवं तिर्यञ्चायु) का भी बन्ध नहीं होता, क्योंकि ये चार प्रकृतियाँ तिर्यंचप्रायोग्य हैं। फिर पद्मलेश्या वाला तो उन तिर्यंचों में उत्पन्न हो सकता है, जहाँ उद्योत चतुष्क का उदय होता है, किन्तु शुक्ललेश्या वाला इन प्रकृतियों के उदय वाले स्थानों में उत्पन्न नहीं होता। इसी कारण पूर्वोक्त १६ प्रकृतियाँ शुक्ललेश्या में बन्धयोग्य नहीं हैं। फलतः शुक्ललेश्या में सामान्य से १०४ प्रकृतियों का, तथा प्रथम गुणस्थान में जिन नामकर्म एवं आहारकद्विक, इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव होने से मिथ्यात्व के सद्भाव में होने वाली नपुंसकवेद चतुष्क (नपुंसकवेद, हुंडक संस्थान, मिथ्यात्व एवं सेवार्त संहनन, इन ४ प्रकृतियों) के कम होने से ९७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। तीसरे से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार में उक्त कर्मप्रकृतियों के बन्ध के समान शुक्ललेश्या वाले जीवों के लिए भी बन्धस्वामित्व समझ लेना चाहिए। तत्त्वार्थ भाष्य में तथा संग्रहणी में बताया गया है कि प्रथम दो देवलोकों में तेजोलेश्या, तीन देवलोकों में पद्मलेश्या और लान्तककल्प से लेकर सर्वार्थसिद्धपर्यन्त शुक्ललेश्या होता है।[१]

इस प्रकार लेश्या मार्गणा में बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा समझ लेनी चाहिए। यद्यपि १४ मार्गणाओं के क्रम में लेश्या मार्गणा का क्रम संयम और दर्शनमार्गणा के बाद आता है, किन्तु 'सूचीकटाहन्यायेन' पहले भव्यत्व, संज्ञी और आहारक मार्गणा में बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अन्त में लेश्या मार्गणा का कथन किया गया है।

इस प्रकार इन १४ मार्गणाओं द्वारा जीवों की प्रकृतिबन्ध-सम्बन्धी योग्यता के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा करके जैन कर्मविज्ञान ने समस्त जीवों के बन्ध की विविध अवस्थाओं का दिग्दर्शन करा दिया है।[२]

■■

---

१. (क) तृतीय कर्मग्रन्थ गा. २१, २२, विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से सारांशग्रहण, पृ. ९० से ९५ तक

(ख) पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु। -तत्त्वार्थसूत्र ४/२३ सूत्र का भाष्य-शेषेषु लान्तकादिष्वा सर्वार्थसिद्धाच्छुक्ललेश्याः।

(ग) कप्पतिय पम्हलेसा, लंताइसु सुक्कलेस हुंति सुरा। -संग्रहणी गा. १७५

२. इस प्रकरण में मार्गणाओं के माध्यम से जीवों के बन्धस्वामित्व का कथन सामान्यरूप से तथा गुणस्थानों को लेकर विशेषरूप से किया गया है। इस प्रकरण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए द्वितीय कर्मग्रन्थ का अध्ययन कर लेना चाहिए। **-संपादक**

१३

मोह से मोक्ष तक की यात्रा की १४ मंजिलें

नगर के कोलाहल-संकुल अशान्त वातावरण से दूर, तथा कृत्रिम वायु और प्रकाश से रहित, प्राकृतिक हवा और प्रकाश से व्याप्त एवं नैसर्गिक सौन्दर्य से युक्त वन में प्रकृति की गोद में निर्मित एक चौदह मंजिली बिल्डिंग है। उसमें सबसे नीचे की मंजिल में अंडरग्राउंड तलघर है। वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता, इस कारण अंधेरा रहता है। सांस लेने लायक हवा तो मिल जाती है। इसके विपरीत चौदहवीं सबसे ऊपर की मंजिल में सूर्य का प्रकाश भी पर्याप्त है, तथा हवा भी प्रचुर मात्रा में है। उसमें तन-मन को स्वस्थ एवं सशक्त रखने वाली सभी प्रकार की प्राणवायु, आरोग्यप्रद प्राकृतिक सुख-शान्ति है। बीच की मंजिलों में उत्तरोत्तर शुद्ध वायु और प्रकाश बढ़ता जाता है।

ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक विकास के लिए चौदह मंजिला गुणस्थान रूपी महाप्रासाद है। उसमें सबसे नीची मंजिल प्रगाढ़तम मोह-अन्धकार से व्याप्त निकृष्टतम अवस्था की है। सबसे ऊपर की चौदहवीं आध्यात्मिक मंजिल में चारित्रशक्ति का पूर्ण विकास है, निर्मोहता और आत्मस्वरूप में स्थिरता की पराकाष्ठा है। जीव की यह उच्चतम आत्म-प्रकृतिक अवस्था है। निकृष्टतम अवस्था से निकल कर उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिए जीव आवरण के पर्दे को हटाता जाता है और आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास करता जाता है। विकास की ऊपर-ऊपर की मंजिल तक पहुँचने के लिए जीव को अनेक अवस्थाओं से गुजरना होता है। जिस प्रकार थर्मामीटर की नली पर अंकित अंक उष्णता की मात्रा (डिग्री) को बताते हैं, वैसे ही पूर्वोक्त चौदह अवस्थाएँ जीव के आध्यात्मिक विकास की मात्रा को बताती हैं। दूसरे शब्दों में, इन अवस्थाओं को जीव के उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की परिमापक रेखाएँ कहना चाहिए।

वस्तुतः गुणस्थान मोह के तापमान की डिग्रियों को बताने वाला थर्मामीटर है

विकास मार्ग की इन क्रमिक अवस्थाओं को–गाढ़बन्ध से लेकर क्रमशः उसका ह्रास एवं क्षय होते-होते चरम आध्यात्मिक विकास की दशाओं को जैन-कर्मविज्ञान की भाषा में गुणस्थान कहते हैं। वैसे तो एक ही जीव की एक-एक भव में संख्यातीत अवस्थाएँ होती हैं, तब अनन्त-अनन्त सांसारिक जीवों की अवस्थाओं की गणना करना या उनकी नाप-जोख करना प्रायः कठिन है। अतएव कर्मविज्ञान पुरस्कर्ता सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने इन सब अवस्थाओं को १४ भागों में वर्गीकृत किया है। इन्हीं चौदह विभागों को चौदह गुणस्थान कहा गया है। इनका स्वरूप, लक्षण, कार्य तथा अधिकारी आदि का विशिष्ट ज्ञान प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु को होना आवश्यक है।[१]

चौदह गुणस्थानों का स्वरूप, स्वभाव, कार्य और गुण-प्राप्ति

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की जीव-अजीव आदि पदार्थों या तत्वों के प्रति दृष्टि (श्रद्धा या प्रतिपत्ति) विपरीत या मिथ्या हो जाती है, वह जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। व्यक्त मिथ्यात्व में रहने वाली आत्मा की अवस्था-विशेष को मिथ्यात्व (मिथ्यादृष्टि) गुणस्थान कहते हैं। प्राणी में जब आत्मकल्याण के साधनमार्ग की यथार्थ दृष्टि न हो, उलटी ही समझ हो, अज्ञान (मिथ्याज्ञान) हो, या भ्रान्ति हो, तब वह इस गुणस्थान में परिगणित होता है। जिस प्रकार पीलिया के रोगी को सफेद वस्तुएँ भी पीली दिखाई देती हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के प्रभाव से मिथ्यात्वी जीव कुदेव को सुदेव मानता है, कुगुरु पर गुरुबुद्धि रखता है, और जो सत्य-अहिंसादि धर्मों के लक्षणों से रहित है, उसे सद्धर्म मानता है। दूसरे शब्दों में कहें तो, जो सत्पुरुषों को असत्पुरुष और असत्पुरुषों को सत्पुरुष मानता है, तथा कल्याण को अकल्याण और अकल्याण को कल्याण एवं उन्मार्ग को सन्मार्ग एवं सन्मार्ग को उन्मार्ग समझता है। इसी प्रकार अनात्म (निर्जीव) तत्वों में आत्मबुद्धि हो और आत्मा और आत्म-गुणों में परबुद्धि यानी आत्मदृष्टि या आत्म-भावना न हो, वहाँ मिथ्यात्व गुणस्थान समझना चाहिए। इसी प्रकार देव-गुरु-धर्म-लोक-सम्बन्धी समस्त मूढ़ताओं में बहना, मिथ्या रीतिरिवाज, हिंसक कुप्रथाएँ एवं अन्धविश्वास आदि को मानना भी मिथ्यात्व है।

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ३ (पं० सुखलालजी) प्रस्तावना, पृ० ८

मिथ्यात्व-गुणस्थान के अधिकारी कौन-कौन ?

छोटे-से छोटे कीड़े से लेकर बड़े से बड़े पण्डित, तपस्वी और राजा-महाराजा तक भी मिथ्यात्व-गुणस्थान की श्रेणी में हो सकते हैं। इस गुणस्थान में परिगणित आत्मा गाढ़ रागद्वेष-परिणाम वाली होती है, भौतिक उन्नति में ही लिप्त रहती है। तात्पर्य यह है कि उसकी सब प्रवृत्तियों का लक्ष्य सांसारिक सुखों का उपभोग और उसी के लिए आवश्यक साधनों का संग्रह करना होता है। ऐसी आत्माओं की आध्यात्मिक स्थिति मोहकर्म की उक्त दोनों शक्तियों के प्रबल होने से बिलकुल गिरी हुई होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा अविकसित, अधःपतित आत्मा की अवस्था ही प्रथम गुणस्थान में मानी जाती है। इस प्रथम गुणस्थान की भूमिका वाला आत्मा आधिभौतिक उत्कर्ष चाहे जितना क्यों न कर ले, पर उसकी प्रवृत्ति-वृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होती है। जैसे-दिग्भ्रान्त मनुष्य पश्चिम को पूर्व दिशा मान कर गति करता जाता है, परन्तु अपने इष्ट स्थान को प्राप्त नहीं करता, वैसे ही प्रथम गुणस्थान की भूमिका वाला मानव आत्मा से पर रूप (परभाव या विभाव) को स्वरूप (स्वभाव-स्वगुण) समझ कर उसी को पाने के लिए प्रतिक्षण लालायित रहता है और विपरीत दृष्टि या मिथ्यादर्शन के कारण रागद्वेष के प्रबल थपेड़ों से आहत होकर आत्मिक सुख से वंचित रहता है। इसी भूमिका को जैन-आगम और दर्शन में मिथ्यादर्शन या बहिरात्म भाव कहा गया है। ऐसी आत्माएँ आध्यात्मिक विकास से पराङ्मुख होती है। मोक्ष की बात उन्हें नहीं सुहाती और न मोक्ष के साधनों को अपनाने की इच्छा होती है, बल्कि उनके प्रति उपेक्षा भाव होता है।[१]

मिथ्यात्व गुणस्थान को गुणस्थान क्यों कहा गया ?

प्रश्न होता है, मिथ्यात्व गुणस्थान के उक्त स्वरूपविशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं; क्योंकि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीवों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप गुण तो हैं ही नहीं, साथ ही तत्वादि के प्रति श्रद्धा और दृष्टि भी विपरीत है, फिर इसे गुणस्थान कैसे कहा जा सकता है ?

इसका समाधान यह है कि यद्यपि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव में श्रद्धा और दृष्टि का विपरीत भाव अवश्य होता है, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप सम्यक्गुण भी

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ प्रस्तावना (पं० सुखलालजी) से भावांश ग्रहण, पृ० ५
(ख) चौद गुणस्थान (पं० चन्द्रशेखरविजय जी) से भावांश ग्रहण पृ० १२१
(ग) जैनदर्शन (न्या० न्या० मुनि श्री न्यायविजयजी) से पृ० १०६
(घ) कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी) पृ० १२
(ङ) आत्मतत्त्व विचार से भावांश ग्रहण, पृ० ४४७-४४८

नहीं हैं, फिर भी ऐसी आत्माओं में मिथ्या ही सही, ज्ञानादि गुणों का आंशिक विकास तो अवश्य होता है। यद्यपि ऊपर के गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान में अशुद्धि अधिक होती है, और शुद्धि कम होती है, फिर भी इसमें अल्पमात्रा में गुण व्यक्त होते हैं। जैसे कि यह मनुष्य है, यह तिर्यञ्च है, इत्यादि ज्ञान तथा निगोद के जीव को भी सर्दी गर्मी का स्पर्शेन्द्रिय ज्ञान भी अविपरीत रूप में होना शक्य है ही। अतः उक्त ज्ञान की अपेक्षा से उन जीवों का प्रथम गुणस्थान कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रबल मिथ्यात्व के उदय को लेकर आत्मा आदि के विषय में सम्यग्ज्ञानादि से रहित होने पर भी उन जीवों को अतात्विक विषय की व्यावहारिक अविपरीत प्रतीति होती है। अतः इस आंशिक गुण की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि होने पर भी उसमें प्रथम गुणस्थान की सम्भावना रहती है।

प्रश्न-यदि किसी न किसी अंश में मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथार्थ होती है, तो उसे सम्यग्दृष्टि या मिश्रदृष्टि कहनें में क्या आपत्ति है?

उत्तर-एक अंशमात्र की यथार्थ प्रतीति होने से जीव सम्यग्दृष्टि नहीं कहला सकता। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है-जिनोक्त एक पद पर भी अश्रद्धा होने पर मिथ्यात्व कहा गया है, तब फिर जीवादि तत्वों की समग्र विपरीत दृष्टि या श्रद्धा में मिथ्यात्व क्यों नहीं कहा जाएगा? मिश्रदृष्टि भी इसलिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मिश्रदृष्टि वाले जीव को जीवादि तत्वों के प्रति एकान्त श्रद्धा या रुचि भी नहीं होती, तथैव अश्रद्धा या अरुचि भी नहीं होती, इसलिए जिनोक्त एक पद के प्रति भी एकान्त अश्रद्धा होने से उसे मिश्रदृष्टि नहीं, किन्तु मिथ्यादृष्टि ही कहा जा सकता है।[१]

मिथ्यात्व के आभिग्रहिक अनाभिग्रहिक तथा जीव को अजीव माने आदि कुल २५ भेदों का कथन हम पहले कर आए हैं-बन्ध के कारणों के प्रसंग में।[२] जब तक इन २५ प्रकार के मिथ्यात्वों में से किसी भी प्रकार का मिथ्यात्व है तथा जब तक अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय एवं सम्यक्त्वमोहनीय, इन मोहकर्म की सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम नहीं हो जाता, तब तक जीव प्रथम गुणस्थान नहीं छोड़ पाता। इन प्रकृतियों के उदयभाव में प्रथम गुणस्थान है, अर्थात्-मिथ्यात्वमोहनीय का जब तक उदय है, तब तक जीव मिथ्यात्वी बना रहता है।[३]

---

१. (क) चौद गुणस्थान से भावांश ग्रहण, पृ. १२१
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. २ प्रस्तावना (पं० सुखलालजी) पृ. ५-६
२. मिथ्यात्व के पच्चीस भेदों के लिए देखें-पंचम खण्ड में वर्णित बन्ध के प्रकरण में।
३. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १४७

मिथ्यात्वगुणस्थान को गुणस्थान क्यों कहा गया?

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा, इन आठ दृष्टियों का निरूपण किया है। इनमें से प्रथम मैत्रीलक्षणा 'मित्रा' नामक दृष्टि उपलब्ध होने पर ही प्रथम गुणस्थान की प्राप्ति होती है। मित्रादृष्टि प्राप्त होने पर जीव में चित्त की मृदुता, अद्वेषवृत्ति, अनुकम्पा और कल्याण-साधन की स्पृहा जैसे प्राथमिक गुण प्रकट होते हैं। इस प्रकार प्रथम गुणस्थान में कल्याणकारक सद्गुणों के प्रकटीकरण की प्राथमिक भूमिका रूप होने पर भी इसे 'मिथ्यात्व' के नाम से जो निर्दिष्ट किया गया है, इसका कारण यह है कि इस भूमिका में यथार्थ सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं होता है; किन्तु इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की भूमिका पर पहुँचने के मार्ग रूप सद्गुण प्रकट होते हैं, जिससे इस अवस्था में किसी-किसी जीव में मिथ्यात्व तीव्र नहीं भी होता। फिर भी मन्द रूप से मिथ्यात्व विद्यमान होने से इस प्रथम गुणस्थान को 'मिथ्यात्व' कहा गया है; साथ ही, यह सम्यग्दर्शन की ओर ले जाने वाले गुणों के प्रकटीकरण की प्रथम भूमिकारूप होने से इसे 'गुणस्थान' भी कहा गया है।[१]

निश्चयनय की अपेक्षा से गुणों-आत्मगुणों की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं। सामान्यतया चतुर्गतिक संसार में विद्यमान सभी जीवों में गुण समान हैं, गुणों में न्यूनाधिकता नहीं है। किन्तु संसारी आत्माओं के गुण आवरक-मोहनीय आदि कर्मों के द्वारा आच्छादित हैं। अतएव गुणों के अस्तित्व की दृष्टि से मिथ्यात्व गुणस्थान को गुणस्थान कहा गया है। मगर वे गुण मिथ्यादृष्टियुक्त होने से मिथ्या कहलाते हैं सम्यक् नहीं।[२]

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र वृत्ति में कहा है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को जो गुणस्थान कहा गया है, वह जीव के भद्रता आदि गुणों की अपेक्षा से कहा गया है।[३]

दूसरी बात यह है कि पूर्वोक्त 'मित्रा' दृष्टि तक भी जो जीव नहीं पहुँचे हैं, उन सब छोटे-बड़े अधःस्थित जीवों की गणना भी शास्त्रों में मिथ्यात्वगुणस्थान में की है, उसके दो कारण हम पूर्वपृष्ठों में बता आए हैं-(१) मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्यादि जीवों को तथारूप से जानता-मानता है, तथा अन्य अतात्विक वस्तुओं के बारे में

---

१. (क) योगदृष्टि समुच्चय
(ख) जैनदर्शन (न्या० न्या० श्री न्यायविजय जी म०), पृ० १०७

२. पंचसंग्रह भा. १ (सं० देव कुमार जैन), पृ० १३०

३. गुणस्थानत्वमेतस्य भद्रकत्वानपेक्षया । -योगशास्त्र वृत्ति पृ० १, श्लोक १६

उसकी बुद्धि यथार्थ होती है, (२) अतिसूक्ष्म जीवों में भी जीवस्वभावरूप चेतना (ज्ञान) गुण अत्यल्प मात्रा में अवश्य होता है।

अधःस्थिति से ऊपर उठने की शक्यता होने से गुणस्थान कहा गया

इसे 'गुणस्थान' कहने में एक कारण यह भी बताया जा सकता है। वह है-इस अधःस्थिति से ऊपर उठने का। इन जीवों में उस अधःस्थिति से ऊपर उठने की शक्यता या सम्भावना है। इस दृष्टि से यह कार्य अपने-आप में भले ही गुणस्थान न हो, किन्तु गुण के लिए होने वाला उत्थान वहीं से होने से इसे 'गुणस्थान' नाम से निर्दिष्ट किया गया है।[१]

प्रथम गुणस्थानवर्ती जीवों की आध्यात्मिक स्थिति एक-सी नहीं होती

इस (प्रथम गुणस्थान की) भूमिका में जितने आत्मा (जीव) वर्तमान होते हैं, उन सबकी आध्यात्मिक स्थिति भी एक-सी नहीं होती। अर्थात्-उन सब पर मोहकर्म की सामान्यतया दोनों शक्तियों का आधिपत्य होने पर भी, उनमें थोड़ा-बहुत तरतमभाव अवश्य होता है। किसी जीव पर मोहकर्म का प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढ़तर और किसी पर उससे भी कम गाढ़ होता है। विकास करना प्रायः प्रत्येक आत्मा का मौलिक स्वभाव है। इसलिए जानते-अजानते जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है, तब वह यत्किंचित् विकास की ओर अग्रसर होता है और तीव्रतम राग-द्वेष को कुछ अंशों में मन्द करता हुआ मोह की प्रथम (प्रबल) शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रगट कर लेता है। इस स्थिति को शास्त्र में '**ग्रन्थि भेद**'[२] कहा गया है।[३]

प्रथम गुणस्थान के काल की दृष्टि से तीन रूप

प्रथम गुणस्थान के काल की अपेक्षा से तीन रूप बनते हैं-(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त और (३) सादि सान्त। **प्रथम रूप** के अधिकारी अभव्यजीव हैं, अथवा जातिभव्य (भव्य होने पर भी जो जीव कभी मुक्त नहीं होते, वे) जीव हैं। **द्वितीय रूप** के अधिकारी वे जीव हैं, जो अनादि-कालीन मिथ्यादर्शन की गांठ (ग्रन्थि) खोल (भेद) कर सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं, और **तृतीय रूप** के अधिकारी वे हैं, जिन जीवों ने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, परन्तु पुनः मिथ्यात्वी हो गए हैं। प्रथम गुणस्थान की आदि तभी होती है, जब कोई जीव सम्यक्त्व से गिरकर पुनः

---

१. 'जैनदर्शन' पृ० १०८
२. 'ग्रन्थिभेद' के सम्बन्ध में व्याख्या पिछले निबन्ध में पढ़िये।
३. कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना (पं० सुखलालजी), पृ० १२, १३

प्रथम गुणस्थान में आ जाए। यह निश्चित है कि जिस जीव को एक बार भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई है, वह अर्धपुद्गल परावर्तनकाल में अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान की आदि जिस जीव के हो जाती है, उसका अन्त भी अवश्यम्भावी होता है।[१]

(२) सास्वादन गुणस्थान : लक्षण, महत्व और अधिकारी

यह आत्मा के विकास की दूसरी अवस्था का नाम है। अतः द्वितीय गुणस्थान सास्वादन या सासादन गुणस्थान है। प्राकृत के '**सासादण**' शब्द के दो रूप होते हैं। जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है, किन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन से गिरने की अवस्था है। अर्थात्-जो जीव औपशमिक सम्यक्त्वी होते हुए भी अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, किन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है, तब तक, यानी जघन्यतः (कम से कम) एक समय और उत्कृष्टतः छह आवलिका-पर्यन्त उस जीव का ऐसी अवस्था में टिकना सास्वादन-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान कहलाता है।

जिस प्रकार पर्वत से गिरने पर और भूमि पर पहुँचने के पहले मध्य का जो काल है, वह न तो पर्वत पर ठहरने का काल है, और न भूमि पर पहुँचने का, अपितु अनुभव का काल है। इसी प्रकार इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय होने से अज्ञान-मोह या मिथ्यात्व में गिरने के सम्यक्त्व परिणामों से छूटने तथा मिथ्यात्व-परिणामों के प्राप्त न होने पर बीच के अनुभव-काल में जीव के जो परिणाम होते हैं, उन्हें सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषायोदयवश जीव जब सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर चल पड़ता है, तब उसमें सम्यक्त्व का कुछ स्वाद रह जाता है। जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले को खीर के कुछ विलक्षण-से स्वाद का अनुभव होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हुए जीव को गुण का स्वाद महसूस होता है। इसी कारण इस गुणस्थान को सास्वादन (आस्वादन के सहित) गुणस्थान कहा जाता है। सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता, इसलिए आगम में इसे सम्यग्दृष्टि गुणस्थान भी माना गया है। इसमें मिथ्यात्व का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम नहीं है; इसलिए इसे पारिणामिक भाव कहा है।

---

१. (क) अभव्याश्रित-मिथ्यात्वे अनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत्।
या भव्याश्रिता मिथ्यात्वे अनादिसान्ता पुनर्मता॥ -गुणस्थान क्रमारोह ९
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप पृ. १४७

चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि से लगाकर ग्यारहवें उपशान्तमोहनीय गुणस्थान तक के जीव मोहकर्म के उदय से उपशम-सम्यक्त्व से गिरते हैं, उनकी गणना इस गुणस्थान में की जाती है। इस गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवलिका के बाद सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को अवश्य पाते हैं। गिरने में कितनी देर लगती है? इस अपेक्षा से यह गुणस्थान क्षणमात्र का है। यह गुणस्थान ऊँचे-चढ़ते हुए जीवों का नहीं, नीचे गिरते हुए जीवों का होता है। इसलिए इसे अवनति-स्थान मानना चाहिए। फिर भी इस गुणस्थान में आने वाले जीव अवश्य ही मोक्षगामी होते हैं।

इसे सासादन गुणस्थान इसलिए कहते हैं कि इसमें अतितीव्र क्रोधादि कषाय जीव की सम्यग्दृष्टि को शिथिल या विराधित कर डालते हैं। सासादन शब्द स+आ+सादन, ये तीनों से मिलकर बनता है। इसका भावार्थ होता है, जो गुणस्थान सम्यक्त्व को विशेष प्रकार से शिथिल करने वाले, गलाने वाले या गिराने वाले क्रोधादि कषाय से सहित (मुक्त) हो, वह सासादन गुणस्थान है। सासादन-गुणस्थान की भूमिका तीव्रतर कषायोदयरूप होने से सम्यक्त्व का पतन कराने या सम्यक्त्व की विराधना कराने वाली है। यह गुणस्थान प्रथम गुणस्थान से बढ़कर है, इसलिए इसकी गणना द्वितीय गुणस्थान में की गई है। यह गुणस्थान सादि-सान्त है, तथा यह अभव्य जीवों को नहीं होता। इस गुणस्थान से गिरता हुआ जीव नियमतः प्रथम गुणस्थान में जाता है।[१]

(३) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान

सम्यग्-मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान आत्मा के विकास की तीसरी भूमिका-अवस्था है। इसे संक्षेप में समझने के लिए मिश्र-गुणस्थान भी कहते हैं। दर्शनमोहनीय के अन्तर्गत मिश्र-मोहनीय के उदय से जीव को एक साथ समान परिमाण में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्र भाव होता है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिश्रणरूप विचित्र अध्यवसाय का नाम मिश्र-गुणस्थान है। मिथ्यात्व-मोहनीय के तीन पुंज होते हैं-

---

१. (क) कर्मग्रन्थ दूसरा भाग, विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. १५
(ख) जैनदर्शन (न्या. व्या. न्यायविजय जी), पृ. १०९
(ग) 'स+आ+स्वादन=किञ्चिद् स्वाद-सहित'-आत्मतत्त्व विचार पृ० ४५०, ४५१, ४५२
(घ) 'आसादन'=सम्यक्त्व-विराधनं, सह आसादनेनेति सासादनम्।' -धवला १/१/३ पृ० १६३
(ङ) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. १९-२०
(च) षट्खण्डागम १/१/१/ सू० १० ; धवला टीका १/१/१/१० पृ० १६६
(छ) सासण सम्मदिट्ठी त्ति को भावो? पारिणामिओ भावो। -षट्खण्डागम ५/१/७

अशुद्ध, अर्धशुद्ध और शुद्ध। इन तीनों पुंजों में से जब अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं होता, तब सम्यक्त्वरूप शुद्ध और मिथ्यात्वरूप अशुद्ध इन दोनों मिश्रणरूप अर्धशुद्ध पुंज का उदय हो जाता है। इसके कारण जीव की दृष्टि भी कुछ सम्यक् (शुद्ध) तथा कुछ मिथ्या (अशुद्ध) अर्थात्-मिश्र हो जाती है। इस गुणस्थान के समय बुद्धि में दुर्बलता-सी आ जाती है। जिस कारण जीव की सर्वज्ञकथित तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि होती है और न ही एकान्त अरुचि। जैसे-नारिकेल द्वीप में उत्पन्न मनुष्यों ने वहाँ नारियल ही प्रधान खाद्य पैदा होते देखा होता है। वहाँ के निवासियों ने कभी चावल आदि अन्न न तो देखा है, न सुना है। इस कारण अदृष्ट और अश्रुत अन्न को देखकर वे न तो उसके प्रति रुचि करते हैं, और न घृणा ही; अपितु मध्यस्थ रहते हैं। 'लाटी संहिता' में बताया गया है कि "मिश्र-गुणस्थानवर्ती जीव एक ही समय में (युगपत्) सर्वज्ञोपदिष्ट और असर्वज्ञोपदिष्ट सिद्धन्तों पर मिश्ररूप श्रद्धा करता है।" जिस प्रकार दही और गुड़ को भलीभांति मिला देने पर उन दोनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता है और उसका स्वाद न तो केवल खट्टा होता है, और न केवल मीठा, किन्तु दोनों का मिश्रित स्वाद हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-गुणों की घातक कर्मप्रकृतियों में से सम्यग्-मिथ्यात्व-प्रकृति का कार्य ऐसे विलक्षण प्रकार का होता है कि उससे न केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम होते हैं, और न केवल मिथ्यात्वरूप परिणाम; किन्तु दोनों के मिले-जुले परिणाम होते हैं।

मिश्रगुणस्थान की विशेषताएँ

इस गुणस्थान की एक विलक्षणता यह है कि इस गुणस्थान में न तो आयुष्य का बन्ध होता है और न मरण ही। इस अपेक्षा से इस गुणस्थान को अमर गुणस्थान भी कहा गया है। गोम्मटसार के अनुसार-यदि इस गुणस्थान वाला जीव मरता है तो नियम से या तो सम्यक्त्वरूप या फिर मिथ्यास्वरूप परिणामों को प्राप्त करके ही मरता है, मगर इस गुणस्थान में रहते हुए नहीं मरता। आशय यह है कि तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव ने इस गुणस्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप जिस जाति के परिणामों में आयुष्यकर्म का बन्ध किया हो, उन्हीं परिणामों के होने पर उसकी मृत्यु होती है। किन्तु मिश्रगुणस्थान में न तो मरण होता है, और न मारणान्तिक समुद्घात ही। मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव सकल-संयम या देशसंयम को भी ग्रहण नहीं कर पाता।[१]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (पं० सुखलाल जी) पृ. १२,
(ख) वही, विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ० २०, २१

(शेष पृष्ठ ३०५ पर)

मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव के मति, श्रुत और अवधिज्ञान भी मिश्र प्रकार के होते हैं। इस गुणस्थान से जीव प्रथम या चौथे गुणस्थान में जाता है, अन्य गुणस्थान में नहीं। यह गुणस्थान सादि सान्त है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। इस गुणस्थान में सिर्फ क्षायोपशमिक भाव ही होता है।

दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा तीसरे (मिश्र) गुणस्थान की यह विशेषता है कि दूसरे गुणस्थान में केवल अपक्रान्ति ही होती है, जबकि तीसरे गुणस्थान में अपक्रान्ति और उत्क्रान्ति दोनों ही होती हैं। जो आत्मा मिथ्यात्व का त्याग करके सीधा इस अवस्था को प्राप्त होता है, वह पूर्वगुणस्थान की अपेक्षा उत्क्रान्ति स्थान को प्राप्त होता है और जो आत्मा अधःपतनोन्मुख होता है, वह चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर इस अवस्था को प्राप्त होता है, वह ऊपर के गुणस्थान की अपेक्षा अपक्रान्ति-स्थान में आता है।[1]

(पृष्ठ ३०४ का शेष)

(ग) आत्मतत्त्व विचार, पृ. ४५२
(घ) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १५४-१५५
(ङ) मिश्रकर्मोदयाज्जीवे, सम्यग्-मिथ्यात्व मिश्रितः।
यो भावोऽन्तर्मुहूर्तं स्यात्तन्मिश्रस्थानमुच्यते॥ १३॥
जात्यन्तर-समुद्भूतिर्बध्वा -खरयोर्यथा। गुड़म्भोः समायोगे रस भेदान्तरं तथा॥ १४॥
आयुर्बध्नाति नो जीवो, मिश्रस्थो म्रियते न वा।
सद्दृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा भूत्वा मरणमश्नुते॥ १६॥
सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये ह्यायुर्येनार्जितं पुरः।
म्रियते तेन भावेन, गतिं याति तदाश्रिताम्॥ १७॥ -गुणस्थान क्रमारोह
(च) मिस्सुदए तच्चामियरेण सद्दहदि एक्क समये। -लाटी संहिता गा. १०७
(छ) सम्यङ् मिथ्यात्व-संज्ञिकायाः प्रकृतेरुदयात् आत्मा क्षीणाक्षीण-मदशक्ति-कोद्रव्योः परिणामवत् तत्त्वार्थ-श्रद्धानाश्रद्धानरूपः।'
-तत्त्वार्थवार्तिक ९/१/१४, पृ० ५८९
(ज) सो संजयं ण गिण्हदि, देसजयं वा ण बंधदे आउं।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण॥
सम्मत्त-मिच्छ-परिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं।
तहिं मरणं, मरणंत-समुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि॥-गोम्मटसार २३, २४, २१, २२

१. (क) षट्खण्डागम धवला टीका १/१/१ सू. ११
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. ११५
(ग) अतएवस्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि। -तत्त्वार्थवार्तिक ९/१/१४
(घ) षट्खण्डागम ४/१०५ सू० ९

जब किसी जीव को सर्वप्रथम सत्य का दर्शन होता है, तब वह आश्चर्य-चकित हो जाता है। उसके पुराने संस्कार उसे पीछे की ओर घसीटते हैं, जबकि सत्य का दर्शन उसे आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करता है। ऐसी डांवाडोल स्थिति होती तो थोड़े समय (सिर्फ अन्तर्मुहूर्त) के लिए ही है। बाद में या तो वह मिथ्यात्व में जा गिरता है, या फिर वह सम्यक्त्व (सत्य) को प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय न होने से पूर्वोक्त दोनों गुणस्थानों की अपेक्षा यह गुणस्थान उच्च है। परन्तु इस गुणस्थान में विवेक की पूर्ण प्राप्ति नहीं होती, अर्थात्-सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों का मिश्रण होता है। अर्थात्-सन्मार्ग या सत्तत्व के बारे में श्रद्धा भी नहीं, अश्रद्धा भी नहीं, दोनों के बारे में मिश्रित-जैसी श्रद्धा होती है, जो सत् और असत् दोनों ओर झुकी हुई होती है।[1]

(४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान : स्वरूप, कार्य, अधिकारी

हिंसादि सावद्य-व्यापारों को छोड़ देना, अर्थात्-पापजनक प्रयत्नों से हट जाना विरति है। चारित्र, संयम, व्रत विरति के पर्यायवाची शब्द हैं। जो सम्यग्दृष्टि तो हो, किन्तु किसी भी प्रकार के व्रत को ग्रहण-स्वीकार नहीं कर सकता, वह जीव अविरत-सम्यग्दृष्टि है और उसका स्वरूप-विशेष अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है। अर्थात्-जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है, किन्तु जिसमें व्रत-ग्रहण की योग्यता नहीं होती, उसे अविरतसम्यग्दृष्टि कहा गया है। गोम्मटसार में इसे असंयत-सम्यग्दृष्टि भी कहा गया है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव का दृष्टिकोण समीचीन होता है, किन्तु चारित्रमोह के अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय के कारण इन्द्रियादि विषयों से तथा हिंसादि पापों से विरत नहीं हो पाता,[2] किन्तु जिनोपदिष्ट तत्वों का श्रद्धान रहता है।

इसे अविरत क्यों कहा गया ?

आशय यह है कि इस गुणस्थानवर्ती जीव के अनन्तानुबन्धी कषायें उदय में नहीं होतीं, किन्तु अप्रत्याख्यानी आदि कषायें उदय में होती हैं, इसलिए चारित्र

---

१. जैनदर्शन (न्या. न्या. न्यायविजय जी) पृ. १०९-११०

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ (पं० सुखलाल जी)
(ख) असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च असंयत-सम्यग्दृष्टिः॥ -धवला १/१/१ सू० १८
(ग) णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिकृत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥
-गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गाथा २९

अर्थात् विरति नहीं होती। इसी कारण इस गुणस्थान के पूर्व 'अविरत' शब्द लगाया गया है।[१]

सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो जाने से उत्क्रान्ति की ओर मुख

इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने से आत्मा में विवेक की ज्योति जागृत हो जाती है। वह आत्मा-अनात्मा के अन्तर को समझने लगता है। अभी तक पररूप में जो स्वरूप की भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर तथा अमार्ग से मार्ग की ओर हो जाती है। उसका मुख उत्क्रान्ति की ओर ऊर्ध्वमुखी और आत्मलक्ष्यी हो जाता है।[२]

चतुर्थ गुणस्थान की कुछ विशेषताएँ

इस गुणस्थान की अन्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

(१) सम्यग्दृष्टि होने से प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि पांच लाक्षणिक गुणों से युक्त होता है। वह जिनवचन में शंका से, तथा शास्त्रोक्त शुद्ध अनुष्ठान के फल में संशय से युक्त नहीं होता।

(२) उपर्युक्त गुणों के कारण वह तीव्रतम कषायी और विषयों के प्रति अत्यासक्त नहीं होता। हृदय में पापभीरु होता है, निर्दयता के भावों से कोई भी प्रवृत्ति नहीं करता।

(३) निरीह और निरपराध जीवों की हिंसा नहीं करता। आत्मा को कर्म का कर्त्ता और फलभोक्ता मानता है, उसकी दृढ़ मान्यता होती है कि स्व-पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

(४) अपने दोषों की निन्दा और गर्हा दोनों करता है।

(५) पुत्र, स्त्री आदि सजीव तथा धन, मकान आदि निर्जीव पदार्थों पर मद (गर्व) तथा अत्यासक्ति नहीं होती।

(६) उत्तम गुणों को यथाशक्ति ग्रहण करने में तत्पर रहता है।

(७) देव, गुरु, धर्म, तत्त्व एवं पदार्थ आदि जो जिनोपदिष्ट हैं, उनका स्वरूप भलीभांति न जानता हुआ भी उनके प्रति श्रद्धा रखता है। सत्य के प्रति दृढ़ता और असत्य के प्रति अरुचि होती है।

(८) आर्त्तजीवों की पीड़ा देखकर उसका उदय करुणा से द्रवीभूत हो उठता है।

---

१. आत्म तत्व विचार, पृ. ४५४

२. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १५७

यों वह सदेव, सद्गुरु और सद्धर्म की, जिनशासन की, धर्म-संघ की सेवा, सद्भक्ति और उन्नति के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहता है। अतः वह शासनप्रभावक, श्रद्धालु श्रावक भी कहलाता है।

वह कुछ नित्य-नियम, जप, त्याग भी करता है, नैतिक नियमों का पालन भी करता है। व्यावहारिक जीवन में मार्गानुसारी के ३५ गुणों का तथा ग्रामधर्मादि लौकिक धर्मों को भी अपनाता है।[१]

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि में अन्तर

मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि में कई बातों का अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि में आध्यात्मिक विकास की भावना और जागृति नहीं होती, वह समस्त प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भावना से शून्य होता है। दूसरे के साथ उसका जो रागमय प्रेमयुक्त व्यवहार होता है, वह भी तुच्छ भौतिक स्वार्थ को लेकर, अथवा बदले में कुछ पाने या प्रसिद्धि आदि की तीव्र लालसा से प्रेरित होता है। जबकि सम्यग्दृष्टि आध्यात्मिक विकास की भावना और यत्किंचित् जागृति से युक्त होता है। उसके मन में समस्त प्राणियों के प्रति प्रायः आत्मौपम्य-श्रद्धा एवं भावना होती है। वह आत्मकल्याण की दिशा में यथाशक्ति प्रवृत्त होता है। कदाचित् आसक्तिवश वह स्वार्थसाधन के लिए दूसरे के हित में रोड़ा अटकाने का कार्य कर भी लेता है, तब भी उस दुष्कृत्य को अन्तर् में बुरा समझता है। उसके हृदय में वह पापकृत्य कांटे की तरह चुभता रहता है, उसे उसका पश्चात्ताप भी होता है। उसकी मनोभावना यह रहती है कि काम क्रोधादि वैभाविक विकार, दोष और पापकर्म कम हों, तदनुसार वह यथाशक्ति अपना व्यवहार एवं स्वभाव भी वैसा बनाने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि धार्मिक दृष्टि से जो पाप है, उसे पाप ही नहीं समझता। भौतिक सुखों की प्राप्ति के पीछे वह हाथ धोकर पड़ा रहता है। उसके लिए उचित-अनुचित कोई भी मार्ग ग्रहण करने में उसे किसी प्रकार का संकोच नहीं होता और न ही पाप-पुण्य के अन्तर को वह समझता है, न ही स्वीकारता है। वह पापमार्ग को पापमार्ग न समझकर, बेधड़क उसे अपनाता है। मिथ्यादृष्टि यदि किसी का भला भी करता है तो अपने तुच्छ स्वार्थ, पक्षपात, लोभवृत्ति या कृतज्ञता प्रगट कर सज्जन बनने की वृत्ति

---

१. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) टीका, गा. २९ तथा २७, २८ गाथा
(ख) दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः शमो गुणः।
तत्राभिव्यंजकं बाह्यान्निन्दनं चाऽपि गर्हणम्॥ -पंचाध्यायी (उ०) ४७२
(ग) जो अविरओ वि संघे भत्तिं, तित्थुण्णइं सया कुणइ।
अविरय-सम्मद्दिट्ठी, पभावगो सावओ सो वि॥ -गुणस्थान क्रमारोह गा. २३ वृत्ति।

से प्रेरित होकर करता है; जबकि सम्यग्दृष्टि व्यापक स्वार्थ, स्वपर-हित की सात्त्विक भावना से सम्पन्न होता है। उसमें अनुकम्पा एवं बन्धुभाव की व्यापक वृत्ति होती है।[१]

अविरत सम्यग्दर्शन की उपलब्धि और उसका हेतु

अविरत सम्यग्दृष्टि की उपलब्धि दर्शनमोह के परमाणुओं से विलय होने से ही होती है। इस गुणस्थान की प्राप्ति का हेतु ही दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय है।

सम्यग्दर्शन के विविध अपेक्षाओं से अनेक भेद

यह सम्यग्दर्शन एक, दो, तीन, चार, पांच और दस, यों अनेक प्रकार का है। तत्त्वों पर श्रद्धा या रुचि होना एक प्रकार का सम्यक्त्व है। नैसर्गिक और औपदेशिक, ऐसे दो प्रकार का है। नैसर्गिक सम्यक्त्व बाह्य किसी भी कारण के बिना, अन्तरंग में दर्शनमोहनीय के उपशमादि से होता है, जबकि औपदेशिक या आधिगमिक सम्यक्त्व अन्तरंग में दर्शनमोहादि के उपशमादि होने पर बाह्यरूप से अध्ययन, पठन, श्रवण तथा उपदेश से सत्य के प्रति आकर्षण पैदा होने से होता है। दोनों में दर्शनमोह का विलय मुख्यरूप से है; किन्तु अन्तर केवल बाह्य प्रक्रिया का है। सम्यक्त्व प्राप्त होने के तीन प्रकारों की अपेक्षा से वह तीन प्रकार का है-(१) औपशमिक, (२) क्षायोपशमिक और (३) क्षायिक।[२] इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है-दर्शनमोह के परमाणुओं का पूर्ण रूप से उपशमन होना, दर्शनमोह के परमाणुओं का अपूर्ण विलय होना, और दर्शनमोह के परमाणुओं का पूर्णतः विलय होना।[३] जिस जीव के अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्वमोहनीय सत्ता में हो, किन्तु प्रदेशोदय एवं रसोदय न हो, उसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व कर्मों के उपशम से प्राप्त हुआ होने से औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। किसी आदमी के सिर पर बड़ा ऋण हो और लेनदार उसके लिए कड़ा तकाजा करते हों, तब उस व्यक्ति की

---

१. जैन दर्शन (न्या० न्या० न्यायविजय जी) से भावांश ग्रहण, पृ० १११

२. इन तीनों के साथ सास्वादन जोड़ दें तो ४ प्रकार होते हैं, उसमें वेदक जोड़ दें तो ५ प्रकार होते हैं। इन पांचों के नैसर्गिक और औपदेशिक ऐसे दो-दो प्रकार होने से सम्यक्त्व के १० प्रकार हो जाते हैं। -संपादक

३. (क) जैन आचार : स्वरूप और सिद्धान्त, पृ. १५७, १५८
(ख) आत्मतत्व विचार से भावांश ग्रहण पृ. ४५४
(ग) एगविह-दुविह-तिविहं चउहा पंचविहं दसविहं सम्मं।
एगविहं तत्तरुई, निसग्गुवएसओ भवे दुविहं॥ १॥
खइयं खओवसमियं उवसमियं इह तिहा नेयं।
खइयाइसासणजुअं, चउहा, वेअग-जुअं च पंचविहं॥ २॥

अशान्ति बढ़ जाती है, परन्तु वे लेनदार किसी प्रकार आने और तकाजा करने बंद हो जाएँ तो आदमी को कितनी राहत एवं शान्ति मिलती है? लगभग ऐसी ही स्थिति औपशमिक सम्यक्त्व में होती है। औपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। एक व्यक्ति बीमारी के कीटाणुओं को निर्मूल दूर करता है, वह सदा के लिए पूर्ण स्वस्थ बन जाता है, दूसरा व्यक्ति कीटाणुओं का शोधन करता है, वह भी सहसा बीमारी से ग्रस्त नहीं होता; किन्तु तीसरा व्यक्ति रोग के कीटाणुओं को दबा देता है, उसका रोग निमित्त मिलते ही पुनः उभर आता है। इस तीसरे व्यक्ति के समान औपशमिक सम्यक्दर्शन की स्थिति होती है। अन्तर्मुहूर्त के लिए निरुद्धोदय किये हुए दर्शनमोह के परमाणु काल-मर्यादा समाप्त होते ही पुनः सक्रिय हो जाते हैं। किंचित् समय के लिए बना सम्यग्दर्शनी पुनः मिथ्यादर्शनी हो जाता है। परन्तु यह निश्चित है कि जिसे एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श हुआ, उसका संसारभ्रमण अर्धपुद्गलपरावर्तन काल से अधिक नहीं होता।

जिस जीव के मिथ्यात्व-मोहनीय सत्ता में हो, और सम्यक्त्व कर्म के दलिक उदय में हो, परन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और सम्यक्त्व-मोहनीय के प्रदेश का रस से उदय न हो, उसके क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है, और उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम से अधिक की है। यही कारण है कि औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था में साधक कदाचित् सम्यग्दर्शन-मार्ग से पराङ्मुख भी हो सकता है। किन्तु क्षायिक सम्यक्त्वी एक बार सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद कभी प्रतिपतित नहीं होता, क्योंकि उसने अनन्तानुबन्धी-कषाय-चतुष्क तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र तीनों प्रकार के दर्शनमोहनीय कर्म का पूर्णतया क्षय कर दिया है। जैसे-श्रेणिक नृप को अनाथीमुनि के निमित्त से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हुआ था।

जीव को जब पहली बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो, तब प्रायः औपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व को पाने के पश्चात् मिथ्यात्व में गये हुए जीव को पुनः सम्यक्त्व प्राप्त हो तो पूर्वोक्त तीनों में से कोई एक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह ध्यान रहे कि इन तीन सम्यक्त्वों में से एक समय में किसी एक सम्यक्त्व की उपलब्धि मनुष्यगतिस्थ जीवों को होती है, नरक, तिर्यञ्च और देवगति के जीवों को एक समय में औपशमिक और क्षायोपशमिक इन दोनों में से एक उपलब्ध हो सकता है, क्षायिक सम्यक्त्व नहीं। क्षायिक सम्यक्त्व का अधिकारी एकमात्र संज्ञिपंचेन्द्रिय मनुष्य ही है। क्षायिक सम्यक्त्व सादि-अनन्त है, शेष दोनों सम्यक्त्व सादि सान्त हैं।[१]

१. (क) आत्मतत्वविचार से भावांश ग्रहण, पृ. ४५५, ४५६
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १५८

(५) देशविरत गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और विकास

प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव हिंसादि पापजनक क्रियाओं से सर्वथा विरत तो नहीं, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने (क्षयोपशम) के कारण देश (आंशिक रूप) से विरत होते हैं, वे देशविरत कहलाते हैं। इनकी आत्मिक अवस्था विशेष (आध्यात्मिक विकासावस्था) देशविरत-गुणस्थान है। इसे संयतासंयत, विरताविरत, व्रताव्रत या देशचारित्री के रूप में भी पहचाना जाता है, क्योंकि इसमें कुछ विरति है, कुछ अविरति, अथवा कुछ संयम है, कुछ असंयम। अर्थात्-देशविरत-सम्यग्दृष्टि नामक पंचम गुणस्थान में व्यक्ति की आत्मिक शक्ति पूर्वगुणस्थानों से अधिक विकसित हो जाती है। इस कारण पूर्णरूप से तो सम्यक्चारित्र की आराधना नहीं कर पाता, किन्तु आंशिक रूप से उसका पालन अवश्य करता है। आशय यह है कि चतुर्थ गुणस्थान में जीव को सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) रूप विवेक तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु चारित्रमोहनीय के प्रबल प्रभाव के कारण वह उस विवेक (ज्ञान) को सम्यक्चारित्र (सम्यक्क्रिया) रूप में परिणत नहीं कर पाता; जबकि इस पंचम गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म का बल एक निश्चित परिमाण में घट जाता है, इसलिए अपने आत्मविकास में सहायक श्रुत-चारित्ररूप या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म को आंशिक (स्थूल) रूप से क्रियान्वित करने का प्रयत्न करता है। इस गुणस्थानवर्ती जीवों को आचारशास्त्र में श्रमणोपासक या व्रती श्रावक कहा गया है।[१] गुणस्थानक्रमारोह के अनुसार पंचम गुणस्थान में आर्तध्यान मन्द तथा धर्मस्थान मध्यम होता है।

इस गुणस्थान में जीव पापमय प्रवृत्तियों को पूर्णरूप से नहीं छोड़ सकता, परन्तु मनोरथ और चेष्टा अवश्य करता है। बहुत-सी महारम्भादि कर्मादानकारी तथा महापरिग्रहादिजनक पापप्रवृत्तियों को तो सर्वथा छोड़ देता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव सर्वज्ञ वीतराग देव, जिनागम और निर्ग्रन्थ गुरुओं के प्रति श्रद्धा रखता है, तथा त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा से सर्वथा विरत होता है, साथ ही बिना प्रयोजन के स्थावर जीवों की हिंसा भी नहीं करता; इस कारण इसे विरताविरत कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती कई श्रावक सम्यक्त्वपूर्वक एक व्रत लेते हैं, कई दो, कई तीन, चार यावत् बारह व्रत (पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत) का निरतिचार पालन

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ (मरुधरकेसरीजी), पृ. २४
(ख) जैन आचार: सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १५९
(ग) आत्मतत्वविचार, पृ. ४६९
(घ) गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक २५

करने का पुरुषार्थ करते हैं। संयमभाव की उत्पत्ति का कारण त्रस हिंसा से विरत होना, तथा असंयमभाव की उत्पत्ति का कारण स्थावर हिंसा से युक्त होना है। इस गुणस्थान में केवल क्षायोपशमिक भाव ही होता है; अन्य नहीं। इस गुणस्थानवर्ती श्रावक ग्यारह प्रतिमाओं को भी धारण करते हैं। कई श्रावक ऐसे भी होते हैं, जो पापकर्मों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनुमति के सिवाय और किसी प्रकार से भाग नहीं लेते। देशविरतगुणस्थान मनुष्यों और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों को ही होता है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि वर्ष की है।[१]

इस गुणस्थान की भूमिका अविरति और सर्वविरति के बीच की है, इसलिए 'मध्यमार्ग' और अतिव्यावहारिक मार्ग भी कहा जा सकता है। इसका अनुसरण करने से आत्मा क्रमशः उन्नति करके अन्ततः आध्यात्मिक विकास के अन्तिम शिखर पर भी पहुँच सकती है।[२]

(६) प्रमत्त-संयत-गुणस्थान : स्वरूप, कारण, अधिकारी

पांचवें गुणस्थान से साधक कुछ और आगे बढ़कर छठे गुणस्थान में आता है। वह इस गुणस्थान में देशविरत से सर्वविरत हो जाता है। वह पूर्णरूप से चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर देता है। अतः इस गुणस्थान में उसका व्रत 'अणुव्रत' न होकर 'महाव्रत' होता है। पूर्वोक्त संवासानुमति[३] से भी मुक्त सर्व-सावद्ययोग-प्रवृत्तियों के त्यागी साधु-साध्वी, संत-सती या श्रमण-श्रमणी इस गुणस्थान के अधिकारी हैं।

---

१. (क) आत्मतत्वविचार, पृ. ४६९,
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ३०, ३१
(ग) तत्त्वार्थ वार्तिक २/५/८ पृ. १०८,
(घ) पंचसंग्रह (प्राकृत) गा. १३५
(ङ) स्थूल-प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादान-मैथुन-विरमणव्रत, परिग्रह-परिमाणव्रत, दिग्परिमाण, भोगोपभोगपरिमाणव्रत, अनर्थदण्डविरमणव्रत तथा सामायिक, देशावकाशिक, पौषध, अतिथि-संविभागव्रत; यों श्रावक के बारह व्रत हैं।
- संपादक
महाव्रतों की अपेक्षा अणु (छोटे) होने से आदि के ५ व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।
-संपादक

२. आत्म-तत्व-विचार, पृ. ४७२, ४७०; जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप पृ. १६१

३. अनुमति तीन प्रकार की होती है-(१) प्रतिसेवनानुमति, (२) प्रतिश्रवणानुमति और (३) संवासानुमति। (१) **प्रतिसेवनानुमति**-अपने या दूसरे के किये हुए भोजनादि का उपभोग करना, (२) **प्रतिश्रवणानुमति**-पुत्रादि किसी सम्बन्धी द्वारा किये हुए

(शेष पृष्ठ ३१३ पर)

उन्हीं का दूसरा नाम 'संयत' है। अर्थात्-जो महान् आत्मा तीन करण और तीन योग से (करना, कराना और अनुमोदन, मन-वचन-काया से) नवकोटि से सर्व-सावद्य-व्यापारों का सर्वथा त्याग करके यावज्जीव सामायिकादि चारित्र अंगीकार करे, पंचमहाव्रत धारण करें, वह संयत मुनि, अनगार या निर्ग्रन्थ हैं। ऐसा त्यागी संयत सकल संयम के रोकने वाले प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम (अभाव) होने से इस गुणस्थान में पूर्ण संयम (सर्वविरति) तो हो चुकता है, किन्तु संज्वलन आदि कषायों के तीव्र उदय से संयम में मल उत्पन्न करने वाले दुःस्वप्नादि व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद के रहने से सराग अवस्थावर्ती इस गुणस्थान को प्रमत्तसंयत कहते हैं। अर्थात्-संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तब तक वे प्रमत्तसंयत कहलाते हैं। उनकी इस अवस्था-विशेष को प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। इस छठे गुणस्थान में संयम में मल उत्पन्न करने वाला ही प्रमाद लिया गया है, संयम का विनाशक प्रमाद नहीं। क्षणस्थायी अत्यन्त मन्द प्रमाद संयम विनाशक नहीं होता, क्योंकि सकल संयम को रोकने वाले प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से, (प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय क्षय से, तथा आगामीकाल में उदय में आने योग्य उन्हीं सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावरूप उपशम से-क्षयोपशम से) संयम का विनाश नहीं पाया जाता। आशय यह है कि कषाय यदि मन्द हों, अथवा यतनापूर्वक चर्या या प्रवृत्ति हो तो उचित निद्रा तथा उचित भोजनादि प्रवृत्ति की गणना प्रमाद में नहीं होती। कषाय जब तीव्ररूप धारण करते हैं,[१] तभी उन्हें यहाँ

(पृष्ठ ३१२ का शेष)

पापकर्मों को केवल सुनना और सुनकर भी उन कामों के करने से पुत्रादि को नहीं रोकना। जैसे-रेवती द्वारा किये गए पापकृत्यों को महाशतक श्रावक नहीं रोक सके (उपासकदशांग) (३) **संवासानुमति**-अपने पुत्रादि सम्बन्धियों द्वारा पापकार्यों में प्रवृत्त होने पर न तो पापकर्मों को सुनना और न उनकी प्रशंसा करना, सिर्फ साथ में रहना। जैसे राजा प्रदेशी अपने पुत्र और सूर्यकान्ता रानी के साथ रहते थे।

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २, (मरुधरकेसरीजी, पं. सुखलाल जी), पृ. २६, १५ क्रमशः।
(ख) जैनसिद्धान्त (पं. कैलाश चन्द्र जी), पृ. ७९
(ग) वत्तावत्त-पमाद ... वसइ, पमत्त-संजदो होदि।
सयल-गुण-सील-कलिओ, महव्वइ चित्तलायरणो॥
-गोम्मटसार (जीवकांड) गा. ३३
(घ) जैन दर्शन (न्या. न्या. न्यायविजय जी) से, पृ. ११२
(ङ) सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात, इन पांचों में से दो ही चारित्र इस गुणस्थान में होते हैं। परिहारविशुद्धि कदाचित् होता है, पर उसकी विवक्षा नहीं होती। -संपादक

प्रमाद माना जाता है। वैसे तो सातवें से दसवें गुणस्थान तक संज्वलन कषाय का उदय है, इसलिए सराग-अवस्था होती है; परन्तु सातवें आदि गुणस्थानों में वह कषाय उत्तरोत्तर मन्द ही होता जाता है, इसलिए वह प्रमाद में नहीं गिना जाता। हाँ, सर्वविरति होने पर भी कभी-कभी कर्त्तव्य-कार्य उपस्थित होने पर आलस्य, उपेक्षा, चारित्र-पालन में खिन्नता, क्लिष्ट परिणाम तथा पौद्गलिक सुखों के पूर्व संस्कारों के तीव्र आक्रमण आदि के कारण जो आत्मजागृति के प्रति अनुत्साह या अनादरबुद्धि उत्पन्न होती है, वह प्रमाद है। वैसे छठे गुणस्थान से आगे प्रत्याख्यानावरण कषाय रहता ही नहीं, मात्र संज्वलन कषाय रहता है। इस कारण गुणस्थान क्रमारोह के अनुसार इस गुणस्थान में आर्तध्यान प्रमुख रूप से रहता है।[१]

'गोम्मटसार' में प्रमाद के १५ भेद बताए गए हैं-चार विकथाएँ (स्त्रीकथा, भक्त-कथा, राजकथा और देशकथा), चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) पंचेन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष या आसक्ति, निद्रा और प्रणय=स्नेह।[२]

छठे गुणस्थान से आगे उत्तरोत्तर विशुद्धि

इस छठे गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव के अलावा औदयिक आदि भाव नहीं होते। छठे गुणस्थान से आगे की सभी भूमिकाएँ मुनिजीवन की होती हैं। यहाँ देश-विरति आत्मा की अपेक्षा अनन्तगुनी विशुद्धि होने से विशुद्धि का प्रकर्ष और अविशुद्धि का अपकर्ष है, जबकि अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की अपेक्षा से तो अनन्तगुनी कम विशुद्धि होती है, इसलिए विशुद्धि का अपकर्ष और अविशुद्धि का प्रकर्ष होता है। इस गुणस्थान में असंख्य संयम स्थानक होते हैं, जिसके स्थूल दृष्टि से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट यों तीन भेद होते हैं।

छठे गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एवं स्वामित्व

इस गुणस्थान की स्थिति कर्मस्तव, योगशास्त्र, गुणस्थानक्रमारोह, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों के अनुसार जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् प्रमत्तसंयती एक बार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पहुँचता है। वहाँ भी अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त रहकर पुनः प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आ जाता है। यह चढ़ाव-

---

१. (क) जैनदर्शन (न्या. न्या. न्यायविजय जी), पृ. ११२
   (ख) आत्मतत्वविचार पृ. ४७४
   (ग) गुणस्थान-क्रमारोह, गा. २८

२. विकहा तहा कसाया, इंदिय-निद्दा तहेव पणयो य।
   चदु चदु पणमेगेगं, होंति पमादा पण्णरस॥ -गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ३४

उतार देशोन-कोटि पूर्व तक होता रह सकता है। इसलिए छठे और सातवें दोनों गुणस्थानों की स्थिति मिलकर देशोन करोड़ पूर्व की है।[१]

प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती

भगवतीसूत्र के अनुसार-एक जीव की अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व तथा सभी जीवों की अपेक्षा से सर्वकाल है। इस गुणस्थान में ही चतुर्दश पूर्वधारी मुनि आहारकलब्धि का प्रयोग करते हैं। यह तथा इससे आगे के गुणस्थान मनुष्यगति के जीवों के ही होते हैं।[२]

(७) अप्रमत्त-संयत-गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी

जो संयत (मुनि) विकथा, कषाय आदि पूर्वोक्त पन्द्रह प्रकार के प्रमादों का सेवन नहीं करते, वे अप्रमत्त-संयत हैं। उनकी आत्मविकासयुक्त उक्त अवस्था विशेष (स्वरूपविशेष), जो ज्ञानादि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतम भाव से मुक्त होता है, वह अप्रमत्त-संयत-गुणस्थान कहलाता है। आशय यह है कि जिनके संज्वलन कषायों और नोकषायों का मन्द उदय होता है, तथा जिनके व्यक्त-अव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, ऐसे ध्यान, संयम और तप में लीन सकल संयम युक्त मुनि को अप्रमत्तसंयत कहते हैं। यद्यपि संज्वलन कषाय का उदय छठे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक रहता है। इस गुणस्थान में भी उसका उदय है। परन्तु यहाँ छठे गुणस्थान जितनी उसमें तीव्रता नहीं होती, अपितु मन्दता होती है। इसीलिए इस गुणस्थान में विकथा, निद्रा आदि प्रमाद से रहित अवस्था होती है। इस गुणस्थान में अवस्थित साधक वर्ग प्रमाद से रहित होकर आत्म-साधना में लीन रहता है। इसी

---

१. (क) चौद गुणस्थान पृ. १२८-१२९,
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. २ (मरुधरकेसरीजी), पृ. २६, २७

२. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १६१, १६२
   (ख) प्रमत्त संयतः प्राप्त-संयतः प्राप्तसंयमो यः प्रमाद्यति।
   सोऽप्रमत्त संयतो यः संयमी न प्रमाद्यति॥
   उभावपि परावृत्या स्यात्तमान्तर्मुहूर्तिकौ॥ -योगशास्त्र प्रकाश १, श्लो. ३४-३५
   (ग) गुणस्थान क्रमारोह, स्वोपज्ञवृत्ति, गा. २७ वृत्ति, पृ. २०
   (घ) पमत्तसंजयस्स णं पमत्तसंजये वट्टमाणस्स सव्वावि य णं पमत्तद्धाकालओ केवच्चिरं होइ? मंडियपुत्ता! एगजीवं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी, णाणाजीवे पडुच्च सव्वद्धा। -भगवती सूत्र श. ३, उ. ४, सू. १५३

कारण इसे अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान कहा गया है। इस भूमिका से लेकर अगली तमाम भूमिकाओं में साधुवर्ग अपने स्वरूप के प्रति अप्रमत्त रहते हैं।[1]

छठे से सातवें और सातवें से छठे गुणस्थान में उतार-चढ़ाव : क्यों और कैसे?

यद्यपि सप्तम गुणस्थान में व्रतों में अतिचारादि न होने से जरा-सा भी प्रमाद नहीं होना चाहिए; परन्तु इस गुणस्थान में अवस्थित आत्मा किंचित् मात्र भी प्रमाद करता है तो छठे गुणस्थान में आ जाता है; क्योंकि छठा गुणस्थान प्रमादयुक्त होने से उसमें व्रतों में अतिचारादि सम्भव हैं। इस प्रकार कभी सातवें से छठे में और कभी छठे से सातवें गुणस्थान में उतार-चढ़ाव होता रहता है। इस प्रकार ये दोनों गुणस्थान गति-सूचक यंत्र की सुई की भाँति अस्थिर हैं। छठे और सातवें गुणस्थान का परिवर्तन पुनः-पुनः होता रहता है। जब प्रमाद का उदय आता है, तब सप्तम गुणस्थानवर्ती साधक छठे गुणस्थान में चला जाता है, और जब साधक में स्वरूपरमणता की जागृति या आत्मतल्लीनता होती है, तब वह छठे से सातवें गुणस्थान में चढ़ता है। संयमी साधुवर्ग भी बहुत बार प्रमत्त एवं अप्रमत्त अवस्था में झूलता रहता है। सामान्यतया यह परिवर्तन दीर्घकाल तक चलता रहता है। जब कर्त्तव्य में उत्साह, सावधानी और स्वरूप-जागृति कायम बनी रहती है, तब अप्रमत्त अवस्था होती है, परन्तु इस अवस्था में विचलितता या शिथिलता आती है तो थोड़े समय में पुनः प्रमत्त अवस्था आ जाती है।

पूर्वगुणस्थानापेक्षया सप्तम गुणस्थान में अधिकाधिक विशुद्धि

यद्यपि प्रमाद-सेवन से सप्तम गुणस्थानवर्ती आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है; तथापि प्रमत्त-संयत नामक छठे गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान में अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। इस गुणस्थान में भी असंख्य लोकाकाश प्रदेशों की संख्या के जितने विशुद्धि-स्थानक होते हैं। इस गुणस्थान में जघन्य से जघन्य स्थान में रहा हुआ मुनि भी अप्रमत्तसंयत कहलाता है। तथा विशिष्ट तप, संयम, धर्मध्यान आदि के योग से ज्यों-ज्यों कर्मों की निर्जरा होती जाती है, त्यों-त्यों आत्मा उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के विशुद्धि स्थान पर चढ़ता जाता है।[2] छठे और सातवें गुणस्थान के संयतवर्ग

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरीजी, पं. सुखलाल जी) से भावांश ग्रहण।
(ख) चौद गुणस्थान, पृ. १२९

२. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १६३

(शेष पृष्ठ ३१७ पर)

धर्मध्यान का विशेष आश्रय लेते हैं तो विशेष आत्मशुद्धि कर सकते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान आदि लब्धियाँ इसी गुणस्थान में प्राप्त होती हैं। इस गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव मुख्यतया होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षायिक और औपशमिक भाव भी होता है।

सप्तम गुणस्थान के दो प्रकार

सप्तम गुणस्थान के दो प्रकार हैं- (१) स्वस्थान-अप्रमत्त और (२) सातिशय अप्रमत्त। सातवें से छठे गुणस्थान में और छठे से सातवें गुणस्थान में आना-जाना स्व-स्थान-अप्रमत्त संयत में होता है, जबकि जो श्रमणवर्ग मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षपण करने को उद्यत होते हैं, वे सातिशय-अप्रमत्त हैं। सातिशय अप्रमत्त अवस्था में इस गुणस्थान से ऊपर दो श्रेणी प्रारम्भ होती हैं-उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। प्रत्येक में चार-चार गुणस्थान होते हैं। जिसमें आत्मा मोहनीय कर्म का उपशम करते हुए आरोहण करता है, वह उपशम श्रेणी है और जिसमें उसका क्षय करते हुए चढ़ता है, वह क्षपक श्रेणी है। मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के क्षय और उपशम में निमित्त तीन प्रकार के परिणामों में से जो पहले अधःप्रवृत्तकरण रूप विशिष्ट परिणामों को करता है, उसे सातिशय अप्रमत्त कहते हैं। इन परिणामों के प्रकट होने से वह संयत मोहकर्म के उपशमन या क्षपण के लिए उत्साहित होता है।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से आरोह और अवरोह की स्थिति में

अप्रमत्तसंयत के संक्लेश की वृद्धि होने पर प्रमत्तसंयत गुणस्थान ही होता है। अर्थात्-जो अप्रमत्त है, वही प्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त होता है, अन्य नहीं। विशुद्धि की वृद्धि होने पर आरोहण की अपेक्षा से अपूर्वकरण गुणस्थान ही होता है। यदि मरण होता है तो चतुर्थ गुणस्थान होता है, उसका अन्य गुणस्थानों में गमन नहीं होता। मिथ्यादृष्टि एकदम सीधे सम्यक्त्वयुक्त होकर सातवें गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। साथ ही मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत एवं प्रमत्तसंयत, ये सब सीधे अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। अवरोहण की अपेक्षा से अपूर्वकरण

(पृष्ठ ३१६ का शेष)

(ख) चौद गुणस्थान, पृ. १९९
(ग) जैन दर्शन (न्या. न्या. न्यायविजय जी), पृ. ११२
(घ) गोम्मटसार गा. ४५ (जीवकाण्ड),
(ङ) धवला १/१/१ सू. १५, पृ. १७८
(च) आत्मतत्व विचार, पृ. ४७९

गुणस्थानवर्ती साधक ही अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त करता है, अन्य नहीं। अप्रमत्त संयत गुणस्थान की समय स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके पश्चात् वे मुनि या तो आठवें गुणस्थान में पहुँच कर उपशम क्षपक श्रेणी ले लेते हैं, या फिर छठे गुणस्थान में आ जाते हैं। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानों का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और सभी का सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त है। कुछ आचार्यों के मतानुसार-प्रमत्त गुणस्थान भी अन्तर्मुहूर्त का है, और अप्रमत्त गुणस्थान भी अन्तर्मुहूर्त का है। परन्तु प्रमत्त गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त बड़ा है, जबकि अप्रमत्त गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त छोटा है। इस कारण प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उक्त दोनों ही गुणस्थानों में आवागमन देशोन-कोटिपूर्व तक चलता रहता है। परन्तु अप्रमत्त गुण-स्थान के सभी अन्तर्मुहूर्त कालों का योग (जोड़) एक बड़ा अन्तर्मुहूर्त होता है और एक अन्तर्मुहूर्त-न्यून बाकी का सारा काल प्रमत्त गुणस्थान की स्पर्शना में जाता है।

वर्तमानकाल में सातवें से ऊपर में गुणस्थानों की पात्रता नहीं

चूंकि सातवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ने के लिए जो उत्तम संहनन तथा पात्रता चाहिए, उसका वर्तमानकाल में अभाव होने से कोई भी साधु-साध्वीगण सातवें से ऊपर के गुणस्थानों में नहीं चढ़ सकता। तथा सातवें से बारहवें गुणस्थान का काल परम समाधि का है। वह परम समाधि की दशा छद्मस्थ जीव को अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकती। इसलिए भी सातवें से ऊपर के गुणस्थानों को प्राप्त नहीं कर सकता।[१]

(८) अपूर्वकरण : निवृत्ति बादर गुणस्थान : एक चिन्तन

इस गुणस्थान मे जो 'निवृत्ति' शब्द है, उसका अर्थ है-भेद। निवृत्ति के साथ 'बादर' शब्द का एक अर्थ यह भी है कि जिस गुणस्थान में अप्रमत्त आत्मा के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीय इन तीन कषायचुतष्टय रूपी बादर-कषायों की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को भी निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। निवृत्ति बादर और अनिवृत्ति बादर, इन दोनों गुणस्थानों में दसवें

---

१. (क) आत्म तत्व विचार, पृ. ४७९
(ख) गोम्मटसार गा. ४५
(ग) स्वस्थानाप्रमत्तः सातिशया प्रमत्तश्चेति द्वौ भेदौ।
-गोम्मटसार (जीवकाण्ड) टीका गा. ४५
(घ) जैन सिद्धान्त (प. कैलाशचन्द्र जी जैन) पृ. ८०, ८१
(ङ) चौद गुणस्थान पृ. १२९
(च) जैन आचार : स्वरूप और सिद्धान्त पृ. १६३

गुणस्थान की अपेक्षा बादर-स्थूल कषाय उदय में आता है, दसवें गुणस्थान से पहले वह सूक्ष्म नहीं होता। इसलिए इन दोनों गुणस्थानों के साथ 'बादर' शब्द लगाया गया है।[१]

निवृत्ति-बादर : अध्यवसायों के असंख्यात भेद होने से

निवृत्ति शब्द यहाँ 'भेद' अर्थ में विवक्षित है। जो इस अष्टम गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं तथा जो प्राप्त कर रहे हैं, एवं जो आगे प्राप्त करेंगे, उन सब जीवों के अध्यवसाय-स्थानों अर्थात्-परिणामभेदों को 'निवृत्ति' कहते हैं। वे भेद संख्यात, असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के तुल्य हैं; चूंकि आठवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात समय होते हैं। जिनमें से प्रथम-समयवर्ती त्रैकालिक (तीनों काल के) जीवों के अध्यवसाय भी असंख्यात लोकाकाश-प्रदेशों के तुल्य हैं। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे आदि प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में असंख्यात लोकाकाश-प्रदेशों के बराबर हैं। असंख्यात संख्या के भी असंख्यात प्रकार हैं। इसलिए एक-एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या और सब समयों में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या सामान्यतया एक-सी (असंख्यात) होते हुए भी वे दोनों असंख्यात संख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि अष्टम गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीव अनन्त ही होते हैं, तथापि इन दोनों के अध्यवसाय असंख्यात ही होते हैं; क्योंकि भिन्न-समयवर्ती जीवों की परिणाम विशुद्धि तो एक सरीखी नहीं होती, इतना ही नहीं, एक समयवर्ती अनेक जीवों के अध्यवसायों में भी परस्पर पृथक्-पृथक् होने से उनमें न्यूनाधिक (असंख्यात-गुणी कम-अधिक) विशुद्धि होती है। गोम्मटसार के अनुसार समसमयवर्ती अनेक जीवों के अध्यवसाय समान शुद्धि वाले होने से सदृश भी माने जाते हैं, विसदृश भी। इसीलिए समवायांग वृत्ति में निवृत्ति बादर का अर्थ किया गया है-"जिस गुणस्थान में सम-समय-प्रतिपन्न जीवों के अध्यवसायों में भेद (निवृत्ति) हो, तथा निवृत्ति (भेद) प्रधान बादर=स्थूल सम्पराय यानी कषाय हो, उसे निवृत्ति बादर कहते हैं।" एतदर्थ यह विसदृश परिणाम-विशुद्धि का गुणस्थान है।[२] प्रत्येक समय के असंख्यात अध्यवसायों में से

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरी जी म.) पृ. २८
(ख) ता. १०/९/१९९२ के 'श्रमणोपासक' में प्रकाशित 'गुणस्थान की अवधारणा' लेख से, पृ. ३७
(ग) निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः।-षट्खण्डागम भा. १ धवला, पृ. १८३

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (पं. सुखलाल जी), पृ. १६

(शेष पृष्ठ ३२० पर)

जो अध्यवसाय कम शुद्धि वाले होते हैं, वे जघन्य और जो अध्यवसाय अन्य सब अध्यवसायों की अपेक्षा अधिक शुद्धि वाले होते हैं, वे उत्कृष्ट कहलाते हैं।

इस प्रकार एक वर्ग जघन्य अध्यवसायों का और दूसरा वर्ग उत्कृष्ट अध्यवसायों का होता है। इन दोनों वर्गों के बीच में असंख्यात वर्ग हैं, जिनके सब अध्यवसाय मध्यम कहलाते हैं। प्रत्येक वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि अनन्तगुणी अधिक होती है, तथैव बीच के सब वर्गों में पूर्व-पूर्व वर्गों के अध्यवसायों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर वर्ग के अध्यवसाय विशेष शुद्ध माने जाते हैं। सामान्यतया सम-समयवर्ती अध्यवसायों की एक दूसरे से भिन्नता निम्नोक्त ६ भागों में विभक्त की गई है-(१) अनन्तभाग अधिक शुद्ध, (२) असंख्यात भाग अधिक शुद्ध, (३) संख्यात भाग अधिक शुद्ध, (४) संख्यात गुण अधिक शुद्ध, (५) असंख्यात गुण अधिक शुद्ध और (६) अनन्त गुण अधिक शुद्ध।

इस प्रकार अधिक शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्त भाग अधिक शुद्धि आदि छह प्रकारों को 'षट्स्थान' कहते हैं। यों अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों से पर-पर समय के अध्यवसाय भिन्न-भिन्न तथा प्रत्येक समय के जघन्य अध्यवसाय से उस समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध समझने चाहिए। तथैव पूर्व-पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा पर-पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्तगुण विशुद्ध समझने चाहिए।[१]

निवृत्तिबादर का दूसरा नाम अपूर्वकरण भी है। करण का अर्थ है-अध्यवसाय, भाव, परिणाम, आत्म-परिणाम या क्रिया। इस गुणस्थान में अपूर्व विशुद्धि या पूर्व गुणस्थानों में जो विशुद्ध परिणाम, पहले नहीं उपलब्ध या उत्पन्न हुए, उनका उत्पन्न होना, अर्थात्-पूर्व गुणस्थानों में जो परिणाम अभी तक प्राप्त नहीं हुए, उनका प्राप्त होना अपूर्वकरण है। अथवा चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम या क्षय से अपूर्व (इससे

(पृष्ठ ३१९ का शेष)

(ख) निवृत्तिः यद्-गुणस्थानकं समकालप्रतिपन्नानां जीवानामध्यवसायभेदः, तत्प्रधानो बादरो-बादर सम्परायो निवृत्ति-बादरम्। -समवायांग वृत्ति, पत्र २६

(ग) भिन्न-समयट्ठिएहिं हु जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्क-समयट्ठिएहिं सरिसो विसरिसो वा॥ -गोम्मटसार गा. ५२

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (पं. सुखलाल जी तथा मरुधरकेसरी जी म.), पृ. १६-१७ एवं ३१-३२

(ख) उत्कृष्ट की अपेक्षा हीन षट्स्थान के नाम ये हैं-(१) अनन्तभाग-हीन, (२) असंख्यातभाग-हीन, (३) संख्यातभाग-हीन, (४) संख्यात-गुण-हीन। (५) असंख्यात-गुण-हीन और (६) अनन्तगुण-हीन।

पहले अनुलब्ध) अध्यवसाय (आत्मिक उत्थान काल का विशिष्ट भावोत्कर्ष) का प्राप्त होना अपूर्वकरण है। अर्थात्-चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम या क्षय की तैयारी इसी प्रबल भूमिका (सम्यग्दृष्टि अवस्था) यहीं (इसी गुणस्थान) से प्रारम्भ होती है। अथवा अपूर्व अर्थात्-पहले नहीं हुए ऐसे करण-परिणाम, अथवा करण यानी क्रियाएँ-स्थितिघात आदि क्रियाएँ, जिस गुणस्थान में होती हैं, उसे अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं।

आठवें गुणस्थानकाल में जीव इन पांच अपूर्व वस्तुओं का विधान करता है-(१) अपूर्व स्थितिघात, (२) अपूर्व रसघात, (३) अपूर्व गुणश्रेणि, (४) अपूर्व गुण-संक्रमण, और (५) अपूर्व स्थितिबन्ध।[१] ये पांचों अपूर्व पदार्थ उत्पन्न करने वाले परिणाम भी अपूर्व ही होते हैं, इसलिए अपूर्व परिणाम को अपूर्वकरण रूप कहा जा सकता है।

स्थितिघात आदि पांचों अपूर्वों का स्वरूप

(१) स्थितिघात-ज्ञानावरणादि कर्मों की दीर्घकालिक स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटाकर अल्प, अल्पतर, अल्पतम कर देना; अर्थात्- जो कर्मदलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण द्वारा उनके उदय के नियत स्थानों से हटा देना स्थितिघात कहलाता है।

(२) रसघात-बंधे हुए तथा सत्ता में पड़े हुए ज्ञानावरणीयादि अशुभ कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति (तीव्र रस) को अपवर्तनाकरण के द्वारा घटा कर मन्द, मन्दतर, मन्दतम कर देना रसघात कहलाता है।

---

१. (क) करणाः परिणामाः, न पूर्वाः अपूर्वाः। तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां ते अपूर्वकरण-प्रविष्ट शुद्धयः। -धवला १/१/१ सू. १६, पृ. १८०

(ख) एदम्मि गुणट्ठाणे विसरिस-समयट्ठिएहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जम्हा होंति य पुव्वा हु परिणामा।
-गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ५०, ५१ तथा गा. ५२

(ग) जैन दर्शन (न्या. न्या. न्यायविजय जी), पृ. ११३

(घ) चौद गुणस्थान पृ. १२९, १३०

(ङ) प्रथम गुणस्थान में प्रवर्त्तमान यथाप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण सम्यक्त्व के साथ सम्बन्ध रखते हैं। जीव सम्यक्त्व प्राप्त करते रागद्वेष की निविड़ ग्रन्थी का भेदन करता है, वह अपूर्वकरण सम्यक्त्व मोह से सम्बन्धित है। यहाँ यथाप्रवृत्तिकरण, (सप्तम गुणस्थान), अपूर्वकरण (अष्टम गुणस्थान) और अनिवृत्तिकरण (नौवाँ गुणस्थान) उत्कृष्ट चारित्र से सम्बद्ध है। चारित्रमोहनीय के क्षयोपशमरूप-गुणस्थानरूप है। -संपादक

(३) **गुणश्रेणी**-जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया गया है, अर्थात्-जो कर्मदलिक अपने-अपने उदय के नियत स्थानों से हटाये गए हैं, उन्हें अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसाय द्वारा अपवर्तनाकरण से ऊपर की स्थिति में से उतारे हुए कर्म दलिकों को समय-क्रम से अन्तर्मुहूर्त के समय-प्रमाण स्थानकों में से पूर्व-पूर्व स्थानक से उत्तरोत्तर स्थानकों में असंख्य-असंख्य गुणाकार रूप में दलिकों की स्थापना करना गुणश्रेणि है। सरल शब्दों में कहें तो गुणश्रेणि का कार्य है-कम समय में अधिक कर्म-प्रदेश भोगे जाएँ, ऐसी स्थिति उत्पन्न करना। यह गुणश्रेणि दो प्रकार की है-उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। उपशमश्रेणि पर आरोहण करने वाली आत्मा-मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशमन करती है जबकि क्षपकश्रेणि पर आरोहण करने वाली आत्मा उन्हीं प्रकृतियों का क्षय करती है। पहला उपशमक और दूसरा क्षपक कहलाता है।

(४) **गुण-संक्रमण**-पहले बंधी हुई अशुभ कर्म प्रकृतियों को वर्तमान में बंध रही शुभ-प्रकृतियों में परिणत-रूपान्तरित कर देना गुणसंक्रमण कहलाता है। अर्थात्-बंधी हुई शुभ प्रकृति में अशुभ प्रकृति का दलिया विशुद्धतापूर्वक बहुत-बड़ी संख्या में डालना गुणसंक्रमण है। परन्तु यह संक्रमण सजातीय उत्तरप्रकृतियों का ही होता है, विजातीय प्रकृतियों का नहीं। आशय यह है कि सत्ता में रहे हुए अबध्यमान अशुभ-प्रकृति के दलिकों को बध्यमान शुभ प्रकृति में पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में असंख्यगुणवृद्धि के रूप में संक्रमित कर देना गुण-संक्रमण है।

(५) **अपूर्व-स्थितिबन्ध**-पहले के अशुद्ध परिणामों के कारण कर्मों की दीर्घस्थिति बँधती थी, उसकी अपेक्षा इस गुणस्थान में तीव्र-विशुद्धि होने से अल्प-अल्प स्थिति के कर्मों का बांधना अपूर्व स्थितिबन्ध है। अर्थात्-बाद के गुणस्थानों में केवल जघन्यस्थिति के कर्मों का बन्ध करने की स्थिति-योग्यता प्राप्त करना अपूर्व स्थितिबन्ध है।[१]

स्थितिघातादि पांचों का विधान अपूर्व होने से अपूर्वकरण नाम

यद्यपि स्थितिघात आदि पांचों बातें पहले के गुणस्थानों में भी होती हैं, तथापि आठवें गुणस्थान में ये अपूर्व ही होती हैं; क्योंकि पूर्व गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान में उनकी शुद्धि अधिक होती है। पहले के गुणस्थानों में स्थिति और रस का बहुत अल्प घात होता है, जबकि इस गुणस्थान में स्थिति और रस का अधिक घात होता है। पहले के गुणस्थानों में

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरी जी), पृ. ३०
(ख) चौद गुणस्थान, पृ. १३०

गुणश्रेणि की कालमर्यादा अधिक होती है, जबकि इस गुणस्थान में गुणश्रेणि योग्य दलिक अत्यधिक होते हुए भी उनकी कालमर्यादा बहुत कम होती है। पहले के गुणस्थानों की अपेक्षा गुणसंक्रमण भी इस गुणस्थान में बहुत कर्मों का होता है। इस गुणस्थान में कर्म भी पूर्व गुणस्थानों की अपेक्षा अत्यल्प स्थिति के बांधे जाते हैं। अतएव इस गुणस्थान में स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इसे अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं।[१]

इस गुणस्थान में उपशमन या क्षपण की तैयारी

यद्यपि आठवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म का क्षपण या उपशमन का कार्य प्रारम्भ नहीं हो जाता, क्योंकि वह कार्यारम्भ तो नौवें गुणस्थान से होता है, तथापि आठवें गुणस्थान से आत्मा की विशिष्ट योगीरूप अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। वह औपशमिक या क्षायिक भावरूप विशिष्ट फल उत्पन्न करने के लिए चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय या उपशम करने की योग्यता आ जाती है। इसीलिए यह अपूर्वकरण गुणस्थान उपशमक एवं क्षपक रूप से दो प्रकार का है। चारित्रमोह का उपशम या क्षय करने के लिए तीन गुणस्थानों में क्रमशः तीन करण करने पड़ते हैं जिसके लिए साधक इस गुणस्थान में उद्यत हो जाता है। ७वें में यथाप्रवृत्तिकरण, ८वें में अपूर्वकरण और ९वें में अनिवृत्तिकरण। आठवें गुणस्थान का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। गुणस्थान क्रमारोह के अनुसार इस गुणस्थान में पृथक्त्व-वितर्क नामक शुक्लध्यान होता है।[२]

(९) अनिवृत्ति बादर-सम्पराय-गुणस्थान (अनिवृत्तिकरण गुणस्थान)

आठवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाला संयतात्मा प्रगति करके नौवें गुणस्थान में आता है। इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिबादर या अनिवृत्ति बादर-सम्पराय गुणस्थान है। इसे अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान भी कहा जाता है। अनिवृत्ति का अर्थ 'अभेद' और निवृत्ति का अर्थ 'भेद' है। अर्थात्-यहाँ अध्यवसाय (परिणामों) की भिन्नता नहीं होती। इस गुणस्थान में समान-समयवर्ती जीवों के विशुद्ध परिणामों की भेद-रहित वृत्ति 'निवृत्ति' होती है। अर्थात्-सम-काल में समागत जीवों की परिणाम-विशुद्धि सदृश होती है; यानी उन सब समकालवर्ती जीवों का अध्यवसाय

---

१. कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरी जी), पृ. ३०
   (क) वही, भा. २, पृ. ३०
   (ख) चौद गुणस्थान, पृ. १३०
२. (ग) गोम्मटसार गाथा ५२, ५३, ५४
   (घ) गुणस्थान क्रमारोह गा. ५१

परस्पर समान होता है। दूसरे समय भी सर्व जीवों का अध्यवसाय परस्पर समान होता है। इस तरह हर समय में क्रमशः अनन्त-गुण विशुद्ध अध्यवसाय समान ही होते हैं। इसलिए यह सदृश परिणाम-विशुद्धि का गुणस्थान है। यद्यपि अन्तर्मुहूर्त-मात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से किसी एक समय में रहने वाले अनेक जीवों में शरीर के आकार, वर्ण आदि का तथा ज्ञानोपयोग आदि की अपेक्षा भेद होता है, परन्तु जिन विशुद्ध परिणामों के द्वारा उनमें भेद नहीं होता, वे अनिवृत्तिकरण (परिणाम) कहलाते हैं। दसवें गुणस्थान की अपेक्षा इस नौवें गुणस्थान में कषाय (सम्पराय) बादर होते हैं, इसलिए इस गुणस्थान का परिष्कृत नाम 'अनिवृत्ति बादर-सम्पराय' भी है। अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में अपूर्व प्रकार का यह भावोत्कर्ष (आत्मिक भावों की निर्मलता) आगे के आत्मोत्कर्ष के लिए साधकतम होता है। इस गुणस्थानवर्ती साधकों में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि से बढ़ते हुए एक-से (समान-विशुद्धि को लिए हुए) ही परिणाम पाए जाते हैं। तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूपी अग्नि की शिखाओं से कर्मवन को भस्म करते जाते हैं। 'धवला' में निवृत्ति का एक अर्थ व्यावृत्ति भी किया है। इस अपेक्षा से अनिवृत्ति का अर्थ होता है-जिन (उत्तरोत्तर विशुद्ध) परिणामों की निवृत्ति अर्थात्-व्यावृति नहीं होतीं, (अर्थात्-एक बार विशुद्ध हुए परिणाम पुनः कदापि छूटते नहीं)। अनिवृत्तिकरण में प्रतिसमय (प्रत्येक समय) में एक-एक ही परिणाम होता है, क्योंकि इस गुणस्थान में एक समय के परिणामों में जघन्य और उत्कृष्ट भेद नहीं होते; जबकि अपूर्वकरण गुणस्थान में प्रति समय जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद होते हैं। इसी प्रकार अपूर्वकरण में अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की भांति सम-समयवर्ती परिणामों में निवृत्ति रहित होने का कोई नियम[१] नहीं है।

---

१. (क) आत्म तत्व विचार से भावांश ग्रहण, पृ. ४८७
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १६५, १६६
(ग) जैन सिद्धान्त (पं. कैलाशचन्द्र जी जैन), पृ. ८२
(घ) न विद्यते निवृत्तिः-विशुद्धि-परिणाम भेदो येषां ते अनिवृत्तयः।
-गोम्मटसार (जीवकाण्ड) टीका, गा. ५६, ५७
(ङ) वही, गा. ९, ११, १२
(च) अथवा निवृत्ति र्व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः।
-धवला १/१/१, सूत्र १७
(छ) वही, १/१/१ सू. १७, पृ. १८३
(ज) वही ६/१ भा. ९/८ सू. ४, पृ. २२१
(झ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा. २, पृ. १४
(ञ) जैन दर्शन में आत्मविचार, (डॉ. लालचन्द्र जैन), पृ. २६०-२६१

आठवें और नौवें गुणस्थान में अन्तर

यद्यपि आठवें और नौवें दोनों गुणस्थानों में अध्यवसायों (परिणामों) में विशुद्धि होती रहती है, फिर भी उन दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। जैसे-आठवें गुणस्थान में समान-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय-शुद्धि के तारतम्य के कारण वे असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं, जबकि नौवें गुणस्थान में तुल्य समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की एक-सी शुद्धि के कारण एक ही वर्ग होता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं तथा कषायों की मन्दता के अनुसार जीव के परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाती है। इसी कारण नौवें गुणस्थान क्रोध, मान, माया और वेद का समूल क्षय हो जाता है। फलतः आठवें गुणस्थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नताएँ आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

आशय यह है कि नौवें गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हो सकते हैं, जितने इस गुणस्थान के समय हैं। फिर यह भी है कि एक-एक वर्ग में चाहे त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त व्यक्तियाँ सम्मिलित हो, फिर भी उन-उन प्रत्येक वर्ग के समस्त अध्यवसाय शुद्धि में समान होने से उन-उन प्रत्येक वर्ग का अध्यवसाय-स्थान एक ही होता है। किन्तु प्रथम समय के अध्यवसाय-स्थान से-प्रथमवर्गीय अध्यवसायों से-द्वितीय समय के अध्यवसाय-स्थान-द्वितीयवर्ग के अध्यवसाय-अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि से लेकर नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसाय-स्थान से उत्तर-उत्तर समय के अध्यवसाय-स्थान अनन्तगुणे विशुद्ध समझने चाहिए। नौवें गुणस्थान में सिर्फ ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि से विचारणा सम्भव है, जबकि आठवें गुणस्थान में ऊर्ध्वमुखी और तिर्यग्मुखी, यों दोनों प्रकार की विशुद्धि से विचारणा है। किन्तु नौवें गुणस्थान में भी आठवें गुणस्थान की तरह अपूर्व स्थितिघात आदि पांचों करण अर्थात् क्रियाएँ होती हैं, अथवा पांचों करण यानी परिणाम होते हैं। इसीलिए इस गुणस्थान का एक नाम अनिवृत्तिकरण भी है।[१]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरी जी), पृ. ३४
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (पं. सुखलाल जी), पृ. २०, २१

(शेष पृष्ठ ३२६ पर)

नवम गुणस्थान के अधिकारी

नौवें गुणस्थान के अधिकारी जीव दो प्रकार के होते हैं-(१) उपशमक और (२) क्षपक। वे मोहनीय कर्म की उपशमना अथवा क्षपणा करते-करते अन्य अनेकों कर्मों का भी उपशमन या क्षपण कर लेते हैं। अतएव इस गुणस्थान में उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि का क्रम आगे बढ़ता है, और मोहनीय कर्म की बीस प्रकृतियों का उपशम या क्षय हो जाता है, तथा पहले दूसरी सात प्रकृतियों का क्षय या उपशम तो हो चुका होता है। इस कारण इस गुणस्थान में केवल एक संज्वलन-लोभ ही शेष रहता है।

द्रव्य संग्रह की टीका में बताया है- देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगों की इच्छा आदि रूप समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित अपने निश्चल परमात्म स्वरूप के एकाग्रध्यानरूप परिणाम से जिन जीवों के एक समय में अन्तर नहीं होता, वे नवम गुणस्थानवर्ती उपशमक या क्षपक होते हैं।[१]

(१०) सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी

जिस गुणस्थान में आत्मा स्थूल (बादर) कषायों से सर्वथा निवृत्त हो जाता है, परन्तु सूक्ष्म सम्पराय अर्थात् सूक्ष्म कषाय-संज्वलन कषाय से युक्त हो, वह सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान है। इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय रहता है, अथवा जिस गुणस्थान में कषाय को सूक्ष्म कर दिया जाता है, केवल सूक्ष्म लोभ कषाय का वेदन रहता है; उसे सूक्ष्म सम्पराय कहते हैं। इस गुणस्थान में अन्य कषायों का उपशम या क्षय कर दिया जाता है। कितनी ही प्रकृतियों का उपशम करता है, करेगा और पहले भी उपशम कर चुका है, वहाँ औपशमिक भाव है, तथा कितनी ही प्रकृतियों का क्षय करता है, करेगा, और पहले भी क्षय कर चुका है, वहाँ क्षायिक

(पृष्ठ ३२५ का शेष)

(ग) ण णिवट्टंति तहा वि य परिणामेहिं मिहो जेहिं॥ ५६॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमये जेस्सिमेक्क-परिणामा।
विमलयर-झाण-हुयवहसिहाहिं णिछिड्ढ-कम्मवणा॥ ५७॥
-गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ५६-५७

(घ) चौद गुणस्थान, पृ. १३५

(ङ) आत्मतत्वविचार से भावांशग्रहण, पृ. ४८७

१. (क) वही, पृ. ४८७
(ख) द्रव्य संग्रह टीका

भाव है। उपशमक इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का सर्वथा उपशम कर देता है, जबकि क्षपक सूक्ष्म लोभ का सर्वथा क्षय कर देता है। गोम्मटसार में इसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है–जैसे कुसुंभी रंग के वस्त्र को धोने के पश्चात् भी उसमें बारीक लालिमा रह जाती है इसी प्रकार इस गुणस्थान में भी अत्यन्त सूक्ष्म राग–सूक्ष्म संज्वलन कषाय रह जाता है, इसीलिए इस गुणस्थान को सूक्ष्म-सम्पराय कहा जाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव भी उपशमक या क्षपक होता है। इस गुणस्थान में संज्वलन लोभ के सिवाय चारित्रमोहनीय कर्म की दूसरी कोई भी ऐसी प्रकृति नहीं रहती, जिसका उपशमन या क्षपण न हुआ हो। अतः जो उपशमक होते हैं, वे लोभकषाय मात्र का उपशम तथा जो क्षपक होते हैं, वे लोभ कषाय मात्र का क्षपण कर देते हैं। इस गुणस्थानवर्ती साधक सूक्ष्म कषाय का सर्वथा उपशमन करके उपशम श्रेणी का और क्षय करके क्षपक श्रेणी का आरोहण करता है। उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाला दशम गुणस्थानवर्ती साधक दसवें गुणस्थान से समस्त कषायों का उपशम करके ग्यारहवें में जाता है, और क्षपकश्रेणी का आरोहण करने वाला साधक कषायों का क्षय करके दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है।[१] सूक्ष्म लोभ को वेदन करने वाला साधक चाहे उपशम श्रेणी पर आरोहण करने वाला हो, या क्षपक श्रेणी पर, वह यथाख्यात चारित्र से कुछ ही न्यून रहता है। अर्थात्-सूक्ष्म लोभ का उदय होने से यथाख्यातचारित्र में कुछ कमी रहती है। वैसे उपशमक यहाँ शेष रहे हुए संज्वलन लोभ को सर्वथा उपशान्त करता है, जबकि क्षपक सर्वथा क्षय करता है। इस गुणस्थान की कालस्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।[२]

---

१. गुणस्थान, क्रमारोह, श्लोक ७३

२. (क) द्वितीय कर्मग्रन्थ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. १५
   (ख) आत्मतत्वविचार, पृ. ४९४
   (ग) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप. पृ. १६७
   (घ) सम्परायः कषायः। –तत्त्वार्थ वार्तिक ९/१/२१
   (ङ) सूक्ष्म सम्परायः सूक्ष्म संज्वलन लोभ। –गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) जी. प्र. टीका
   (च) धुव-कोसुंभ-वत्थं होदि जहा सुहम-राय-संजुत्तं।
   एवं सुहुम-कसाओ सुहुम सरागोत्ति णादव्वो॥
   –गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ५८
   (छ) जैन दर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन), पृ. २६१-२६२
   (ज) .....सो सुहुम-सम्पराओ जहक्खाएणूणओ किंचि॥
   –गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६०

(११) उपशान्तमोह गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी

यह गुणस्थान आत्मविकास की वह अवस्था है, जहाँ समस्त मोहनीय कर्म का उपशमन हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती साधक के समस्त कषायों और नोकषायों का उपशमन इस प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार निर्मली (कतक) या फिटकरी से युक्त जल का मल भाग, अथवा शरद् ऋतु में तालाब के जल में कीचड़ नीचे शान्त होकर बैठ जाती है और स्वच्छ जल ऊपर रह जाता है; वैसे ही उपशम श्रेणी में शुक्ल ध्यान से समस्त मोहनीय (दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय) कर्म जघन्य एक समय और उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त हो जाने से आत्मा विशुद्ध हो जाता है। उस जीव के परिणामों में अमुक काल तक एकदम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है। अर्थात् -इस गुणस्थानवर्ती जीव के सत्ता में रहे हुए मोहनीय कर्म का उक्त काल तक सर्वथा उपशमन हो जाता है। इस कारण इस गुणस्थान में संक्रमण, उद्वर्तन आदि करण तथा विपाकोदय या प्रदेशोदय कुछ भी प्रवृत्त नहीं होता। अतः इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सत्ता तो है, परन्तु उसका उदय नहीं होता। मोहनीय कर्म के उपशमन से इस गुणस्थान में आत्मा के परिणाम अमुक काल तक निर्मल हो जाते हैं।[१]

उपशान्त कषाय, वीतराग और छद्मस्थ गुणस्थान कैसे सार्थक?

इस गुणस्थान का परिष्कृत नाम **उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ** गुणस्थान है। जिनके कषाय उपशान्त हो गए हैं, जिनमें राग का भी सर्वथा उदय नहीं है, तथा जिनको छद्म (आवरणभूत घातिकर्म) लगे हुए हैं, वे जीव उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ हैं। उनके स्वरूप-(अवस्था) विशेष को उपशान्त-कषाय-छद्मस्थ-वीतराग गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न होता है-'उपशान्त कषाय' इतना कह देने से ही इस गुणस्थान का बोध हो जाता है, फिर अन्य दो विशेषण क्यों लगाए गए हैं?

समाधान यह है कि ये तीनों विशेषण सार्थक हैं। यद्यपि 'उपशान्त-कषाय वीतराग-गुणस्थान' इतना कहने से ग्यारहवें गुणस्थान का तो बोध हो जाता है, किन्तु

---

१. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६१

(ख) उपशान्ताः साकल्येन उदयायोग्याः कृताः कषायाः नोकषायाः येनाऽसौ उपशान्त-कषायः, इति निरुक्तितया अत्यन्त-प्रसन्नचित्तता सूचिता।

-गोम्मटसार (जीवकाण्ड) मन्द प्रबोधिनी टीका, पृ. १८८

(ग) आत्मतत्वविचार, पृ. ४९४

इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। अतः छद्मस्थ स्वरूप बोधक विशेषण है, जो विशेष्य के वास्तविक स्वरूप का बोध कराता है। 'उपशान्त कषाय' और 'वीतराग' इन दोनों व्यावर्तक विशेषणों के न रहने पर इष्ट अर्थ का बोध न होकर अन्य अर्थ का भी बोध हो जाता है। जैसे-उपशान्त कषाय विशेषण न रहे तो 'वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान' इतने भर नाम से इष्ट अर्थ (ग्यारहवें गुणस्थान) के सिवाय बारहवें गुणस्थान का भी बोध होने लगेगा, क्योंकि बारहवें गुणस्थान में भी जीव को छद्म (ज्ञानावरणीयादि घाति कर्म) तथा वीतरागत्व (रागोदय का अभाव) होता है। परन्तु 'उपशान्त कषाय' विशेषण से बारहवें गुणस्थान का बोध नहीं हो पाता; क्योंकि बारहवें गुणस्थान में कषाय क्षय हो जाते हैं। इसी तरह 'वीतराग' विशेषण न रहने पर 'उपशान्त कषाय छद्मस्थ' नाम रहने से चतुर्थ पंचम आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगेगा, क्योंकि उन गुणस्थानों में वर्तमान जीव के भी अनन्तानुबन्धी आदि कषाय उपशान्त हो जाते हैं। परन्तु 'वीतराग' विशेषण रहने से चतुर्थ, पंचम आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि इन गुणस्थानों में राग (माया और लोभ) का उदय होने से वीतरागत्व असम्भव है।[१]

ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने में असमर्थ होता है, वह उपशम श्रेणी द्वारा दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म (संज्वलन) लोभ का उपशमन होते ही ग्यारहवें गुणस्थान में आता है, किन्तु दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में नहीं जाता है। दसवें से सीधा बारहवें आदि आगे के गुणस्थानों में वही जीव पहुँच सकता है, जिसने क्षपकश्रेणी की हो। इसके विपरीत क्षपकश्रेणी पर चढ़ता हुआ जीव इस (ग्यारहवें) गुणस्थान में न आकर सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। जैसे ट्रेन धीमी हो तो प्रत्येक स्टेशन पर खड़ी होती है, तेज (Fast) हो तो कुछ स्टेशनों को छोड़ती हुई चलती है। वैसे ही उपशम श्रेणी को धीमी ट्रेन और क्षपक श्रेणी को तेज ट्रेन के समान समझना चाहिए। मोह इस गुणस्थान में उपशान्त हो जाता है। इस कारण वीतरागता तो आ जाती है, किन्तु ज्ञानावरणादि तीन घाती कर्म विद्यमान रहते हैं। अतः वीतरागी बन जाने पर भी वह जीव छद्मस्थ या अल्पज्ञ रहता है, सर्वज्ञ नहीं होता।[२]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २, विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ३६, ३७
२. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १६७
   (ख) आत्मतत्व-विचार, पृ. ४९४
   (ग) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६२

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति

इस गुणस्थान में मोहकर्म का उपशमन जघन्य एक समय और उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए होता है, उस काल के समाप्त होने पर अथवा उस काल के दौरान मृत्यु हो जाने पर कषाय और नोकषाय का उदय हो जाने से राख से दबी हुई अग्नि की तरह वह पुनः अपना प्रभाव दिखाता है। फलतः उक्त आत्मा का पतन होता है, वह पुनः मोहपाश में बंधता है और वह जिस क्रम से ऊपर चढ़ता है, उसी क्रम से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है। अगर इस गुणस्थान की कालावधि में मृत्यु हो जाती है तो वह मुनि अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है। परन्तु इस गुणस्थानवर्ती जीव यहाँ से गिरने पर सातवें, छठे, पांचवें, चौथे या कभी-कभी प्रथम गुणस्थान तक पहुँच जाता है। मगर इस प्रकार का आत्मा पुनः प्रयास करके प्रगति पथ पर बढ़ सकता है।[१]

(१२) क्षीणमोहगुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी

जिसने कषाय-नोकषाय रूप चारित्र-मोहनीय (मोह) का क्षय कर दिया है, उसके सम्पूर्ण मोह के क्षीण हो जाने का नाम क्षीणमोह गुणस्थान है। कषायों को नष्ट करके आगे बढ़ने वाला साधक दसवें गुणस्थान के अन्त में लोभ के अन्तिम अवशेष को भी सर्वथा नष्ट कर मोह से सर्वथा मुक्ति पा लेता है। अर्थात्-इस गुणस्थान (भूमिका) में दोनों प्रकार के मोहनीय कर्म का नाश हो जाता है। इसके साथ ही कषाय-नोकषाय भी पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने के पश्चात् ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले साधक के समस्त मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने से आत्मा में उत्पन्न होने वाली विशुद्धि की इस भूमिका को क्षीण कषाय गुणस्थान भी कहा जाता है। 'गोम्मटसार' में कहा गया है-मोहकर्म के निःशेष क्षीण हो जाने से इस गुणस्थानवर्ती जीव स्फटिकमणि के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है, इस प्रकार के निर्ग्रन्थ साधु को वीतरागी पुरुषों ने 'क्षीणकषाय' कहा है। षट्खण्डागम में इस गुणस्थान का परिष्कृत नाम '**क्षीण कषाय वीतराग-छद्मस्थ**' कहा है। जिन्होंने मोहनीय कर्म का तो सर्वथा क्षय कर दिया है, किन्तु शेष छद्म (ज्ञानावरण-

---

१. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १६७-१६८
(ख) गोम्मटसार (जी.) गा. ६१
(ग) द्रव्यसंग्रह टीका, गा. १३
(घ) जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया दु-खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं॥'-समयसार, गा. ३३

दर्शनावरण, तथा अन्तरायरूप घातिकर्मों का आवरण) अभी विद्यमान है, इस कारण क्षीण-कषाय वीतराग 'छद्मस्थ' कहा गया है। और उनकी इस अवस्था विशेष को 'क्षीण कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान' कहते हैं।[१]

उपशान्तमोह एवं क्षीणमोह गुणस्थान में अन्तर

इस गुणस्थान से पहले का ग्यारहवाँ और यह बारहवाँ गुणस्थान, दोनों पूर्ण समभाव के गुणस्थान हैं। फिर भी दोनों में अन्तर यह है कि उपशान्तमोह के आत्मभाव की अपेक्षा क्षीणमोह का आत्मभाव अतीव उत्कृष्ट होता है। इसीलिए इस गुणस्थान में कषाय शब्द से पूर्व क्षीण विशेषण जोड़ा गया है। क्षीण विशेषण के अभाव में केवल 'वीतराग-छद्मस्थ' इतना भर कहने से बारहवें गुणस्थान के सिवाय ग्यारहवें गुणस्थान का भी बोध होता है। अतः क्षीणकषाय शब्द जोड़ा गया है; क्योंकि बारहवें गुणस्थान में ही कषाय क्षीण होता है, ग्यारहवें में नहीं। उसमें कषाय उपशान्तमात्र होते हैं। फिर उपशान्तमोह का समभाव स्थायी नहीं रह पाता, जबकि क्षीणमोह का समभाव पूर्णतः स्थायी होता है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले साधक का पतन नहीं होता। उपशान्तमोह का साधक एकदम केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता; जबकि क्षीणमोह का साधक एकदम केवलज्ञान ही प्राप्त कर लेता है; क्योंकि मोह का क्षय होने के बाद उसका पुनः प्रादुर्भाव नहीं होता। यहाँ केवल क्षामिक भाव ही है। वह क्षपक श्रेणी वाले साधक को ही प्राप्त होता है।[२]

विशेषणों की सार्थकता

भगवान् ने कहा-कर्म का मूल मोह है। सेनापति के रणभूमि से भाग जाने पर उसकी सेना स्वतः भाग जाती है। इसी प्रकार मोहकर्म के क्षय हो जाने पर एकत्वविचार शुक्लध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञान और दर्शन के आवरण और अन्तराय-ये तीनों कर्मबन्धन सर्वथा टूट जाते हैं, और साधक अनन्तज्ञान (केवलज्ञान), अनन्तदर्शन (केवलदर्शन), अनन्त-सुख और अनन्तवीर्य (आत्मशक्ति) से युक्त हो जाता है। 'वीतराग' विशेषण न होने से 'क्षीणकषाय-छद्मस्थ' गुणस्थान इतने भर नाम से बारहवें गुणस्थान के सिवाय चतुर्थ आदि गुणस्थानों का भी बोध होता है, क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का क्षय हो जाता है, तथा उनमें छद्मस्थता तो है ही। लेकिन 'वीतराग' विशेषण होने से बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है, क्योंकि चतुर्थ आदि

---

१. कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ४०
२. (क) जैनदर्शन (न्या. न्याय. न्यायविजय जी), से पृ. ११४
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन, (मरुधरकेसरी), पृ. ३८, ३९

गुणस्थानों में किसी न किसी अंश में राग का उदय होने से पूर्ण वीतरागत्व असम्भव है। तथा 'छद्मस्थ' विशेषण न रहने से भी 'क्षीणकषाय वीतराग' इतना नाम रहने पर बारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भी बोध हो सकता है। परन्तु 'छद्मस्थ' विशेषण रहने से बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है। यद्यपि बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में शेष तीन घातिकर्मों का आवरण दूर हो जाता है, तथापि उससे पहले आवरण रहने से उसे 'छद्मस्थ' कहा जाता है, किन्तु तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधक के छद्म (घातिकर्मों का आवरण) बिल्कुल नहीं रहता। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। इस प्रकार क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहने से बारहवें गुणस्थान की यथार्थ स्थिति का बोध होता है, तथा सम्बन्धित अन्य आशंकाओं का निराकरण हो जाता है।[१]

(१३) सयोगीकेवली गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी

शुक्लध्यान की दूसरी मंजिल पूरी होते ही जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है। मोहकर्म का क्षय तो बारहवें गुणस्थान में ही हो गया था। शेष तीन कर्मों का क्षय तत्पश्चात् हो जाने से सयोगीकेवली गुणस्थान प्राप्त होने के साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। अतः जो चार घातिकर्मों का पूर्णतः क्षय करके अनन्त-चतुष्टय यानी केवलज्ञान-केवलदर्शन आदि चारों प्राप्त कर चुके हैं, तथा पदार्थों के जानने देखने में इन्द्रिय, प्रकाश और मन आदि की अपेक्षा नहीं रखते, एवं जिनके योगों (मन-वचन-काया) की प्रवृत्ति शेष रहती है, अर्थात्-जो योग-सहित हैं, उन्हें सयोग या सयोगीकेवली कहते हैं। उनकी उस अवस्था-विशेष को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। षट्खण्डागम में इसे सयोगकेवली कहा गया है। केवल पद से यहाँ केवलज्ञान का ग्रहण किया गया है। जिसमें इन्द्रिय, प्रकाश और मन की अपेक्षा नहीं होती, उसे केवलज्ञान कहते हैं। ऐसा निरपेक्ष ज्ञान जिसके होता है, उसे केवली कहते हैं। योग कहते हैं-आत्मवीर्य, शक्ति, उत्साह,पराक्रम या प्रवृत्ति को जो योग के सहित हैं, वे सयोग हैं। केवल (विशुद्ध) ज्ञान होने के पश्चात् भी वे शरीरधारी रहते हैं, इस कारण वे यौगिक प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं होते। अर्थात् उनके मन-वचन-काय इन तीन साधनों से योग की प्रवृत्ति होती है। चारों घाती कर्मों के नष्ट होने पर वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख से सम्पन्न हो जाने से विश्वतत्वज्ञ तथा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाते हैं। इसीलिए सयोग-केवली भगवान को जिन, अर्हत्, अरिहंत, तीर्थंकर, सदेहयुक्त, भाषकसिद्ध एवं भावमोक्ष व सामान्य

१. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप पृ. १६८
(ख) आत्मतत्वविचार, पृ. ४९४

केवली परमात्मा भी कहते हैं।[१] इस गुणस्थानी की तुलना हम वैदिकदर्शनोक्त 'जीवन्मुक्त' से भी कर सकते हैं। केवली भगवान् मनोयोग का उपयोग किसी को मन से उत्तर देने में करते हैं। भगवती सूत्र में बताया गया है कि जब कोई मन:पर्यायज्ञानी या अनुत्तरविमानवासी देव सयोगकेवली भगवान् से शब्द द्वारा न पूछ कर मन द्वारा प्रश्न आदि पूछता है, तब वे मन से ही उसके प्रश्न का उत्तर देते हैं। प्रश्नकर्त्ता सयोग-केवली भगवान् द्वारा संगठित किये मनोद्रव्यों को अपने मन:पर्यायज्ञान अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष कर लेता है, और उनकी रचना के अनुसार अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। इस गुणस्थानवर्ती केवली चाहे विशेष (तीर्थंकरादि) हो चाहे सामान्य, गाँव-गाँव में विचरण, आहार-विहार, निहार, भिक्षाचरी आदि समस्त क्रियाएँ काययोग से करते हैं तथा प्रवचन व उपदेश देने, बोलने, प्रश्न का उत्तर देने आदि के लिए वचनयोग का उपयोग करते हैं। सयोग-केवली यदि तीर्थंकर हों तो वे तीर्थ की स्थापना करते हैं, देशना देकर तीर्थ का प्रवर्तन करके वे भव्यजीवों को संसार-सागर तैरने (पार करने) का एक महान् साधक बना जाते हैं।[२]

इस गुणस्थानवर्ती जीव को घातिकर्मों के सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अवेदित्व, अनन्तसुख, अतीन्द्रियत्व, दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यरूप पंचलब्धियाँ (ये १२ गुण) उत्पन्न होती हैं। सयोगी केवली के क्षायिक भाव एवं सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान होता है। इस गुणस्थानवर्ती साधक सलेश्य और सयोगी कहलाते हैं।[३]

---

१. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६३ टीका
   (ख) तत्र भावमोक्ष: केवलज्ञानोत्पत्ति: जीवन्मुक्तोऽर्हत्पदप्तियेकार्थ:
   -पंचास्तिकाय गा. १५० वृ. टीका

२. (क) आत्म तत्व-विचार, पृ. ४९५, ४९६,
   (ख) धवला १/१/१ सू. २२, पृ. १९२
   (ग) असहाय-णाण-दंसणसहियो, इति केवली हु जोगेण।
   जुत्तोत्ति सजोगि-जिणो अणाइ-णिहणारिसे उत्तो।
   -गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६४
   (घ) जैन दर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) पृ. २६३
   (ङ) कर्मग्रन्थ भा. २, विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ४२
   (च) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १६८

३. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६३
   (ख) प्रवचनसार १/४५,
   (ग) धवला १/१/२९

सयोगीकेवली के वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इस चार अघातिकर्मों का क्षय करना बाकी रहता है। इस गुणस्थान में आत्मा पूर्ण वीतरागता प्राप्त कर लेता है। इसलिए वह अघातीकर्मों के फल को सहज और समभाव से भोगता है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की, और उत्कृष्टतः देशोन (कुछ कम-आठ वर्ष कम) करोड़ पूर्व की होती है।[१]

इस गुणस्थानवर्ती जीव को इस गुणस्थान के काल में एक अन्तर्मुहूर्त समय अवशिष्ट रहने पर सर्व अघातिकर्मों का क्षय करने के लिए योग-निरोध करना होता है। परन्तु उससे पूर्व यदि आयुकर्म की स्थिति कम और शेष तीन अघातिकर्मों की स्थिति अधिक रहती है तो उनकी स्थिति में समीकरण के लिए यानी अघातिकर्मों में तरतमता हो तो उसे दूर करने के लिए केवली-समुद्घात[२] नामक क्रिया होती है। जिस प्रकार गीले वस्त्र को फैलाने से उसकी आर्द्रता कम हो जाती है, उसी प्रकार मूल शरीर को छोड़े बिना ही अपने आत्मप्रदेशों को बाहर निकालने-फैलाने से उनमें संसक्त कर्म-प्रदेशों की स्थिति तथा अनुभागांश क्षीण होकर आयु-प्रमाण हो जाते हैं। अर्थात् वेदनीय, नाम और गोत्ररूप तीन अघातिकर्मों की स्थिति आयुष्य की स्थिति के समान कर देने की क्रिया या प्रयत्न को (केवली) समुद्घात कहते हैं। इसमें ८ समय लगते हैं। चार समय में केवली शरीर को विस्तृत करते हैं, शेष चार समय में उसे पुनः समेटते हैं। पहले समय में आत्मा मोटाई द्वारा शरीर प्रमाण और लम्बाई में १४ रज्जू प्रमाण लम्बा दण्डाकार आत्मप्रदेश फैलाते हैं, दूसरे समय में उन्हीं फैले हुए आत्म-प्रदेशों को पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण दिशा में फैलाकर आत्मप्रदेश कपाट रूप बनते हैं। तीसरे समय में बाकी रही हुई दो दिशाओं में लोकपर्यन्त आत्मप्रदेश फैला कर मथानी रूप बनते हैं। चौथे समय में विदिशाओं में आत्मप्रदेशों को पूर्ण करके समग्र लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। फिर शेष चार समयों में इनसे उलटी क्रिया (व्युत्क्रम से) होती है। जिससे आत्म प्रदेश पुनः क्रमशः संकुचित होते हुए पहले के आकारों को धारण करते हुए मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार केवलि-समुद्घात करते हैं। जिन केवलियों के ४ अघातिकर्मों की स्थिति समान होती है, वे समुद्घात नहीं करते, किन्तु अन्तर्मुहूर्त भर आयु शेष रहते वे सब

---

१. (क) आत्मतत्व विचार, पृ. ४९६
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १६८

२. समुद्घात का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ-सम-चारों अघाति कर्मों की स्थिति को सम-समान करने के लिए अथवा पुनः घात न करना पड़े, इस रीति से उत्-प्रबलता से या अधिकता से, घात-वेदनीयादि कर्मों का घात नाश करना समुद्घात है। **-संपादक**

योगनिरोध करते ही हैं। योगनिरोध से लेश्या का तथा सातावेदनीय रूप बन्ध का नाश होता है।[१]

(१४) अयोगीकेवली गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी

सयोगीकेवली भगवान् जब मन, वचन और काया के योगों का सर्वथा निरोध कर लेते हैं, यानी योगरहित हो जाते हैं, तब वे अयोगी-केवली कहलाते हैं। उनके स्वरूप-विशेष या अवस्था-विशेष को अयोगिकेवली गुणस्थान कहते हैं। जिसके सूक्ष्म या बादर (स्थूल) किसी भी प्रकार का मन-वचन-काया का योग (व्यापार या प्रवृत्ति) नहीं होता है, उसे 'धवला' में अयोग-केवली कहा गया है। यह गुणस्थान आत्मा के स्वभाव या स्वरूप में पूर्णरूप से अवस्थिति का, आत्मा के पूर्ण विकास का या चारित्र विकास की चरम अवस्था का द्योतक है। गोम्मटसार टीका में कहा गया है-घातिकर्मों का अभाव तो तेरहवें गुणस्थान में हो जाता है, परन्तु इस गुणस्थान में शेष रहे चार अघातिकर्मों का भी क्षय हो जाता है। आत्मा का स्वाभाविक रूप इस गुणस्थान में प्रकाशित होने लगता है। इसी ग्रन्थ में कहा गया है-जिसे अष्टादश सहस्र शील (शीलांग-रथ) का स्वामित्व-आधिपत्य या ऐश्वर्यत्व सम्प्राप्त हो चुका है, (मानसिक, वाचिक और कायिक समस्त व्यापारों का सर्वथा निरोध करने के कारण) जिसके कर्मों के आगमन का आस्रव रूपी द्वार पूर्णरूप से बन्द (अवरुद्ध) हो गया है, अर्थात्-जो पूर्ण संवर से सम्पन्न हैं; तप आदि के द्वारा अथवा शुक्लध्यान के चतुर्थ पाद के द्वारा समस्त कर्मों की निर्जरा (क्षय) हो चुकती है, ऐसा योगरहित केवली अयोग-केवली कहलाता है।[२]

अयोगीकेवली द्वारा योगनिरोध का क्रम इस प्रकार है-त्रिविध योग बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं। उनमें से प्रथम वे बादर काययोग द्वारा बादर मनो-योग

---

१. (क) चौद गुणस्थान, पृ. १४८, १४९
   (ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १६९
२. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ४३
   (ख) न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः, केवलमस्यास्तीति केवली। अयोगश्चासौ केवली च अयोग-केवली। -धवला १/१/१ सू. २२
   (ग) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) मन्दप्रबोधिनी टीका, गा. ६५
   (घ) वही, जीव प्रबोधिनी टी. गा. १०
   (ङ) सीलेसिं संपत्तो निरुद्ध-णिस्सेस-आसओ जीवो।
   कम्मरय-विप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥
   -गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६५

का निरोध करते हैं। तत्पश्चात् बादर वचनयोग का निरोध करते हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के बादर योगों में से दो प्रकार के बादरयोगों का निरोध हो जाने पर सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग का, सूक्ष्म मनोयोग का, सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करके। अब केवल सूक्ष्म काय योग बाकी रह जाता है। सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्लध्यान के द्वारा सूक्ष्म काययोग का भी निरोध कर लेते हैं। इस प्रकार त्रिविध योग निरोध हो जाने पर जीव के समस्त आत्मप्रदेश मेरुशैलवत् निष्कम्प हो जाते हैं। इसे शैलेशी अवस्था या शैलेशीकरण कहते हैं। इस प्रकार कर्म, जन्म, देह आदि से सर्वथा रहित होकर 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच लघु (ह्रस्व) अक्षरों को बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय में वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है; अपने शुद्ध स्वरूप, परमात्मपद, स्वरूप-सिद्धि, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, शिव, अरूप, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति आदि को प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान में एकमात्र क्षायिक भाव और समुच्छिन्न-क्रियाऽनिवृत्ति (व्युपरतक्रियानिवृत्ति) नामक चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। ज्ञानावरणीय आदि आठों ही कर्मों का सर्वथा क्षय करके अयोग-केवली सदा के लिए सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। आठ कर्मों के क्षय करने से सिद्ध भगवान् को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख, अनन्तवीर्य (आत्मशक्ति), क्षायिक सम्यक्त्व, अटल अवगाहना, अमुर्तत्व और अगुरुलघुत्व, ये आठ आत्मगुण शाश्वतरूप से प्राप्त हो जाते हैं। चतुर्थ शुक्लध्यान के अन्त में जीव अवशिष्ट समस्त अघातिकर्मों का क्षय करके अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला के सिद्धस्थान में पहुँच कर वहाँ स्थिर हो जाता है। उस समय सिद्ध परमात्मा की अवगाहना अन्तिम शरीर की अवगाहना से २/३ होती है; यानी उनके आत्मप्रदेश इतने संकुचित-घने हो जाते हैं कि वे शरीर के दो-तिहाई हिस्से में समा जाते हैं।[१]

शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्वगति के तत्त्वार्थ सूत्र में चार कारण बताये गए हैं-(१) **पूर्व प्रयोग से**-जैसे-कुम्हार के चाक में, बाण में, हिंडोले में पूर्व प्रयोग से गति होती है, (२) **असंगत्व से**-मिट्टी के लेप का संग हट जाने से तुम्बे की ऊर्ध्वगति होती है, (३) **बन्ध-छेद से**-जैसे-एरण्ड के बीज का ऊपरी बन्धन हट जाने से उसके बीज की ऊर्ध्वगति होती है, वैसे ही कर्मबन्ध के छिन्न हो जाने से जीव की ऊर्ध्वगति होती है। तथा (४) **गति परिणाम से**-आग की लपट की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है, वैसे ही शुद्ध आत्मा की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है। अतः द्रव्य-भाव कर्मों से

---

१. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १७०
(ख) आत्मतत्त्वविचार, पृ. ४७९

रहित होते ही वे एक समय मात्र की ऋजुगति से ऊपर की ओर सिद्धि क्षेत्र में चले जाते हैं। आत्मा के इस विकासक्रम से स्पष्ट है कि जैनधर्म में कोई अनादि सिद्ध परमात्मा नहीं माना गया है, किन्तु यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है।[१]

गुणस्थान क्रम : गाढ़ कर्मबन्ध से पूर्ण मोक्ष तक

कर्मबन्ध के हेतुओं का अभाव एवं निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है, यही कर्मों से पूर्ण मुक्ति है। गुणस्थान कर्मों से आंशिक मुक्ति से लेकर पूर्ण मुक्ति तक के क्रमिक सोपान हैं। इनके स्वरूप का सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि भले ही चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने पर पूर्ण मुक्ति हो, लेकिन चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व प्राप्ति से दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क से मुक्ति हो जाती है, तदनन्तर पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणीय कषायचतुष्क से मुक्ति हो जाती है, फिर छठे गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणीय-कषाय-चतुष्क से तथा अविरति से मुक्ति हो जाती है। सातवें-आठवें गुणस्थान में संज्वलन-कषाय चतुष्क रहते हुए भी प्रमाद नामक कर्मबन्ध हेतु से साधक मुक्त हो जाता है। नौवें गुणस्थान में प्रमादमुक्ति के साथ संज्वलन के तीन कषायों से भी मुक्ति हो जाती है, केवल संज्वलन लोभ-कषाय रहता है। दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ से भी मुक्त होकर प्रमाद और कषाय दोनों से सर्वथा मुक्ति हो जाती है। ग्यारहवें गुणस्थान में मोह उपशान्त होने से परिणामों में विशेष विशुद्धि हो जाती है। बारहवें गुणस्थान में मोह क्षीण हो जाने पर अन्त में चार घातिकर्मों से मुक्ति प्रारम्भ हो जाती है। तेरहवें गुणस्थान में घातिकर्मचतुष्क से सर्वथा मुक्ति-जीवन्मुक्ति हो जाती है। और फिर चौदहवें गुणस्थान में तो शेष रहे चार अघातिकर्मों से भी, तथा कर्मबन्ध के हेतुरूप योगों से भी सर्वथा मुक्ति-पूर्ण मुक्ति हो जाती है।[२]

आत्मा के विकासक्रम की सात क्रमिक अवस्थाएँ

आत्मा की मोहमूढ़दशा से लेकर सर्वथा मोहमुक्तदशा तक का आध्यात्मिक विकास क्रम गुणस्थानों का स्वरूप जानने से ही जाना जा सकता है। इस दृष्टि से आत्मा के विकास क्रम को निम्नोक्त क्रम से भी समझा जा सकता है-(१)

---

१. (क) आत्मतत्व विचार, पृ. ४९७
   (ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १७०
२. श्रीमद् राजचन्द्र भा. १ (संशोधित द्वितीय आवृत्ति), भावांशग्रहण

बहिरात्मा, (२) भद्रात्मा, (३) अन्तरात्मा, (४) सदात्मा, (५) महात्मा, (६) योगात्मा और (७) परमात्मा।[१]

गाढ़ कर्मबन्ध से घातिकर्ममुक्ति तक संवर और निर्जरा से विकास

निष्कर्ष यह है कि कर्मबन्ध के हेतुओं के अभाव से तथा निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है और कर्मबन्ध का सर्वथा क्षय होना ही मोक्ष है। यद्यपि संसारी जीवों के नवीन कर्मों का बन्ध तथा पूर्वबद्ध कर्मों की कुछ अंशों में निर्जरा होती रहने से पूर्णतया मोक्ष नहीं हो पाता। किन्तु गुणस्थानों के उत्तरोत्तर आरोहण में कर्मों की निर्जरा के साथ-साथ, कर्मबन्ध एवं उसके मुख्य हेतुओं का क्रमशः अभाव होते जाने से जीव कर्ममुक्ति तथा आत्मस्वरूप की उपलब्धि की ओर बढ़ता हुआ क्रमशः अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप आत्मस्वरूप को पूर्णतः प्राप्त कर लेता है।

चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक उत्तरोत्तर असंख्य गुणी निर्जरा

वस्तुतः कर्मों की निर्जरा सम्यक्त्व (चतुर्थ गुणस्थान) से प्रारम्भ होकर वीतरागता और सर्वकर्ममुक्तिरूप चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है। बीच के गुणस्थानों में क्रमशः पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर परिणामों में विशुद्धि बढ़ती जाती है। परिणामों में जितनी-जितनी विशुद्धि बढ़ती है, उतनी-उतनी कर्मनिर्जरा भी विशेष होती है। आशय यह है कि पूर्व-पूर्व के गुणस्थानों में जितनी कर्मनिर्जरा होती है, आगे-आगे के गुणस्थानों में परिणामों की विशुद्धि अधिकाधिक होने से असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा बढ़ती जाती है। और इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते अन्तिम दो गुणस्थानों में निर्जरा का प्रमाण सर्वाधिक हो जाता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार के शब्दों में- 'सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी-वियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीण-मोह और जिन,' इन दस अवस्थाओं में क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्येयगुणी निर्जरा होती है।[२]

उत्तरोत्तर निर्जरा करने में कम समय लगता है

एक बात और, इन दस गुणस्थानों में पूर्व-पूर्व गुणस्थानों की अपेक्षा आगे-आगे के गुणस्थानों में कर्म-निर्जरा में संख्यातगुणा कम समय लगता है। जैसे-सम्यग्दृष्टि

---

१. (क) जैनदर्शन न्या (न्या न्या., न्यायविजयजी), पृ. १३२
(ख) भद्रात्मा-मार्गानुसारी शुक्लपक्षी,
(ग) अन्तरात्मा-सम्यग्दृष्टि प्राप्त होते ही,
(घ) सदात्मा-सदाचरणसम्पन्न,
(ङ) महात्मा-महाव्रतधारी

को कर्मनिर्जरा में जितना समय लगता है, उसकी अपेक्षा विरताविरत श्रावक को संख्यातगुणा कम समय लगता है। इसी प्रकार विरत आदि आगे-आगे की अवस्थाओं के विषय में समझ लेना चाहिए।[१]

चौदह गुणस्थानों में शाश्वत-अशाश्वत कौन?

पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानों में से पहला, चौथा, छठा और तेरहवाँ, ये ५ गुणस्थान लोक में शाश्वत हैं, शेष नौ गुणस्थान अशाश्वत हैं। परभव में जाते समय १, २ और ४ गुणस्थान रहते हैं। तीन गुणस्थानों में जीव का मरण नहीं होता-३, १२ और १३ ये अमर हैं। १, २, ३, ५ और ११ इन पांच गुणस्थानों को तीर्थंकर नहीं स्पर्शते; इनके अतिरिक्त १, ४, ७, ८, ९, १०, १२, १३, १४ इन नौ गुणस्थानों को मोक्ष जाने से पहले जीव अवश्य स्पर्श करता है। ४, ५, ६, ७ और ८ वाँ, इन ५ गुणस्थानों में ही तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्ध होता है। १२, १३ और १४ ये तीन गुणस्थान अप्रतिपाती हैं।[२]

कर्मविज्ञान में इस प्रकार चतुर्दश गुणस्थानों के स्वरूप का विभिन्न पहलुओं से प्रतिपादन किया गया है। मुमुक्षु साधक कर्मबन्ध को उत्तरोत्तर न्यून करता हुआ सर्वकर्ममुक्त अवस्था तक पहुँचे, यही जैन कर्मविज्ञान का उद्देश्य है।

■■

---

१. (क) बन्ध हेत्वभाव-निर्जराभ्याम्।
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ (मरुधरकेसरी), पृ. ४७-४८
(ग) सम्यग्दृष्टि श्रावक-विरतानन्तवियोजक दर्शनमोह- क्षपकोपशमकोपशान्त मोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। -तत्त्वार्थ सूत्र ९/४७
(घ) सम्मात्तुप्पत्तीये सावय-विरदे अणंतकम्मंसे ।
दंसण-मोहक्खवगे कसाय-उवसामगे व उवसंते ॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंख-गुणिद-कमा ।
तव्विवरीया काला संखेज्ज गुणक्कमा होंति ॥
-गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६६, ६७

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरी जी), पृ. ४८, ४९
(ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार २२४ गा. १३०२, तथा वही, द्वार ८९-९० गा. ६९४, ७०८
(ग) चौदह गुणस्थान का थोकड़ा (अगरचंद भैरोंदान सेठिया, बीकानेर)

१४

गाढ़ बन्धन से पूर्ण मुक्ति तक के चौदह सोपान

बन्ध से मुक्ति तक पहुँचने के लिए पर्वतारोहणवत् गुणस्थानारोहण आवश्यक

पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के लिए मनुष्य को कितने साहस, विवेक, प्रशिक्षण और योग्यता-सक्षमता की आवश्यकता है, इसे प्रत्येक समझदार व्यक्ति जानता-मानता है। यदि कोई व्यक्ति पर्वत की तलहटी में ही बैठा रहे, ऊपर चढ़ने का जरा भी साहस और पुरुषार्थ न करे, बल्कि यह कहे कि "पर्वत के शिखर पर आरोहण करना तो दूर रहा, एक-दो सोपान चढ़ना भी असम्भव है," वह व्यक्ति पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर कैसे पहुँच सकता है? किन्तु हिमालय की सबसे ऊँची एवरेस्ट चोटी, जो २९००२ फीट ऊँची है, उस पर भी शेरपा तेनसिंग ने सन् १९५३ में चढ़कर यह सिद्ध कर दिया कि पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर भी पहुँचा जा सकता है। सन् १९६० में एक भारतीय पर्वतारोही दल ने भी एवरेस्ट शिखर पर आरोहण किया था। सन् १९६१ में मैक्स एसलिन स्विस पर्वतारोहियों का दल २६७६५ फीट ऊँचाई पर स्थित धवलगिरि शिखर पर चढ़ने में सफल हुआ। एक जापानी पर्वतारोही-दल भी २३४४० फीट ऊँचाई पर स्थित गौरीशंकर शिखर पर चढ़ने के प्रयास में सफल हुआ। इन सब पर्वतारोहियों की सफलता को देखकर यही कहा जा सकता है कि कठिन से कठिन और ऊँची से ऊँची पर्वत की चोटी पर साहस, उत्साह, श्रद्धा और विवेक के बल पर सफलतापूर्वक आरोहण किया जा सकता है। सामान्य श्रद्धालु मनुष्य तो उनकी साहसिकता और श्रद्धा-शक्ति की तथा आत्मबल की प्रशंसा ही कर सकते हैं, परन्तु जो साहसहीन, उत्साह-श्रद्धा-हीन तथा मनोबलविहीन हैं, वे स्वयं चढ़ना तो दूर रहा, दूसरे चढ़ने वालों को भी हतोत्साहित, निराश एवं अश्रद्धालु कर देते हैं।

गुणस्थान क्रमारोहण कठिन है, पर असंभव नहीं

भौतिक दृष्टि से जैसे पर्वतारोहण अत्यन्त कठिन कार्य प्रतीत होता है, वैसे ही आध्यात्मिक दृष्टि से गुणस्थानारोहण इससे भी कई गुणा कठिन है।[१] पर्वतारोहण जैसे अति कठिन कार्य में भी कई साहसी व्यक्ति सफल हो जाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व-युक्त गाढ़बन्ध जैसे प्रथम गुणस्थान से लेकर सर्वकर्मों से मुक्ति दिलाने वाले अन्तिम १४ वें गुणस्थान के शिखर पर भी धैर्यवान् और साहसी वीतराग-यथाख्यातचारित्रात्मा व्यक्ति आरोहण करने में सफल हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, बंध को क्रमशः शिथिल और अल्पावधिक करते हुए वे महान् आत्मा एक दिन मुक्ति के सर्वोच्च शिखर-आत्मा के अन्तिम साध्य को प्राप्त कर सकते हैं।

गुणस्थान क्या है, क्या नहीं?

गुणस्थान पर्वत की तरह कोई स्थान-विशेष नहीं है, न ही वह कोई भौगोलिक स्थान है, न वह धर्मस्थान है, और न कोई राजस्थान जैसा कोई प्रान्त है, अपितु आत्मा के गुणों-ज्ञान, दर्शन-चारित्रादि आत्मगुणों के स्थान अर्थात्-उनकी क्रमिक अवस्थाएँ हैं। अतः गुणस्थान का अर्थ हुआ-आत्मगुणों के विकास की विविध अवस्थाएँ। शुद्ध निरंजन निराकार आत्मा को शैलेशी अवस्था तक क्रमशः पहुँचने के क्रमशः विकास के कारण। आत्मा के गाढ़बन्ध से क्रमशः आगे बढते-बढ़ते सर्वोच्च शिखर (सिद्धि गति नामक स्थान-सिद्धालय) पर पहुँचने का यह सोपानक्रम है।

कर्म से सम्बद्ध होने से गुणस्थान क्रम को जानना आवश्यक

जैसे व्यापार का अर्थशास्त्र से, राज्यशासन का राजनीति से, औषध का वैद्यकशास्त्र से तथा ध्यान का योग साधना के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध है, वैसे ही गुणस्थान का कर्म के साथ गाढ़ सम्बन्ध है। आगे चलकर यह बताया जाएगा कि किस गुणस्थान में कितनी और कौन-कौन-सी कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है?, कितनी प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं?, कितनी और कौन-सी प्रकृतियाँ उदय में आती हैं और कितनी कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा हो सकती है? इसके अतिरिक्त गुणस्थान से आत्मा के आध्यात्मिक विकास की तरतमता का नापजोख हो सकता है, और उस पर से यह भी मालूम हो जाता है, कि इस गुणस्थान में रहा हुआ जीव कितने कर्मों का बन्ध करता है और उक्त कर्मों से वह कैसे और किन कारणों से बंधा है और कैसे और किन उपायों से छूट कर उच्च-उँच्चतर-उच्चतम गुणस्थान की श्रेणी पर चढ़ सकता है? गुणस्थान का यह सोपानक्रम जान लेने पर आप जान सकते हैं कि

---

१. आत्मतत्त्व विचार से भावांश ग्रहण, पृ. ४४४

आत्मा की किस अवस्था में किन कर्मों का बन्ध, सत्ता (सत्त्व), उदय, उदीरणा और संक्रमण आदि होता है।[१]

गुणस्थान से अनन्त संसारी जीवों की बन्धादि योग्यता नापी जा सकती है

संसारी जीव अनन्त हैं। अतः किसी एक जीव के आधार से उन सब जीवों की बन्धादि से सम्बन्धित योग्यता, क्षमता और अवस्था, या आत्मा के निजी स्वाभाविक गुणों की स्थिति का दिग्दर्शन कराया जाना असम्भव है। इसके अतिरिक्त एक जीव की भी कर्मबन्धादि से सम्बन्धित योग्यता, क्षमता या अवस्था सदैव एक-सरीखी नहीं रहती, क्योंकि जीव के परिणाम, अध्यवसाय या भावों (विचारों) के प्रतिक्षण बदलते रहने के कारण उसकी बन्धादि-सम्बन्धी योग्यता, क्षमता या अवस्था प्रतिसमय बदलती रहती है। इसीलिए कर्मसिद्धान्त में कहा है कि प्रत्येक संसारी जीव के प्रतिसमय ७ या ८ कर्म बंधते हैं। यही कारण है कि कर्मविज्ञानप्ररूपक अध्यात्म ज्ञानियों ने संसारी जीवों की अन्तरंग-शुद्धिजन्य उत्क्रान्ति तथा अशुद्धिजन्य अपक्रान्ति के आधार पर उनको १४ भागों में वर्गीकृत किया। इसी क्रमपूर्वक वर्गीकरण को जैन कर्मविज्ञान की भाषा में 'गुणस्थान क्रम' नाम दिया गया।[२]

गुणस्थान-क्रम से जीव की आन्तरिक शुद्धि-अशुद्धि की नाप जोख

गुणस्थान का यह क्रम इस प्रकार से वैज्ञानिक ढंग पर आयोजित है कि गुणस्थान के उन १४ वर्गीकृत विभागों में एकेन्द्रिय से लेकर समस्त पंचेन्द्रिय जीवों यहाँ तक कि मोक्ष जाने की योग्यता वाले जीवन्मुक्त पुरुषों तक का समावेश हो जाता है। साथ ही उनकी बन्धादि से सम्बन्धित योग्यता को नापने का यह थर्मामीटर है। गुणस्थानों पर से प्रत्येक जीव की बन्धादि-सम्बद्ध योग्यता, क्षमता एवं अवस्था को बताना बहुत ही आसान हो जाता है। एक जीव की योग्यता एवं अवस्था भी प्रतिसमय बदला करती है, उसका भी निरूपण किसी न किसी गुणस्थान विभाग द्वारा किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि इन गुणस्थानों का क्रम संसारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतम भाव के मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण द्वारा सिद्ध करके निर्धारित किया गया है। इस पर से यह बताना और समझना आसान हो जाता है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक शुद्धि या अशुद्धि से युक्त जीव इतनी कर्म-प्रकृतियों के

---

१. आत्मतत्त्व विचार, पृ० ४४५

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन प्रस्तावना (मरुधरकेसरी), पृ. २४
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी), पृ. १०

बन्ध, सत्ता, उदय और उदीरणा का अधिकारी है। निष्कर्ष यह है कि गुणस्थानक्रम से आत्मा के विकास की स्थिति और मोह की तरतमता का दिग्दर्शन हो जाता है।[१]

गुणस्थान का तात्पर्यार्थ एवं शास्त्रीय अर्थ

अतः गुणों अर्थात्-आत्मा के गुणों-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आत्मसुख और अनन्तवीर्य (आत्मशक्ति) अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप आत्मगुणों अर्थात्-आत्मशक्तियों को, यानी आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैन कर्मविज्ञान में गुणस्थान एक पारिभाषिक शब्द है। उसका फलितार्थ है-आत्मशक्तियों के आविर्भाव को-उनके शुद्ध कार्य रूप में परिणत होते रहने की तरतम भावापन्न अवस्थाएँ।[२] स्पष्ट शब्दों में कहें तो-जीव द्वारा अपने विकास के लिए किये जाने वाले पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की अपेक्षा से उपलब्ध स्वरूप-विशेष गुणस्थान है। अर्थात्-ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण जीव के स्वभाव हैं और स्थान-उनकी तरतमता से उपलब्ध स्वरूप हैं। ये स्वरूप विशेष ज्ञानादि रत्नत्रय की शुद्धि-अशुद्धि के तरतम भाव से होते हैं। गुणों की शुद्धि और अशुद्धि में तरतम भाव होने का मुख्य कारण मोहनीय कर्म का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदि है।

गुणस्थानों का यह क्रम क्यों?

जैसा कि ऊपर कहा गया है; आत्मा का शुद्ध स्वरूप अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय-युक्त है। यह पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण आनन्दमय और पूर्ण आत्मशक्तिमय है। परन्तु संसारी जीवों की आत्माओं के स्वरूप को कर्मों ने विकृत या आवृत कर दिया है। और जब तक उक्त शुद्ध आत्मा पर कर्मों के आवरणों की घनघोर घटाएँ तीव्र एवं गाढ़ रूप से छाई हुई होती हैं, तब तक उसका वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं देता, आत्म-ज्योति मन्दतर-मन्दतम हो जाती है। परन्तु ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण छंटता है, क्रमशः शिथिल या नष्ट होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप प्रगट होता जाता है, यानी आत्मा की शक्ति प्रादुर्भूत होती जाती है। जब आवरणों की तीव्रता अन्तिम सीमा (पराकाष्ठा) तक की हो, तब आत्मा प्राथमिक अवस्था-अत्यन्त

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ प्रस्तावना (मरुधरकेसरी जी) से भावांश ग्रहण, पृ. २४
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य देवेन्द्र मुनि), भावांश ग्रहण पृ. १४३

२. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य देवेन्द्र मुनि), पृ. १४३
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ (पं० सुखलाल जी) प्रस्तावना,
(ग) कर्मग्रन्थ भा. २ (मरुधरकेसरी) पृ. २४, २५

अविकसित अवस्था में पड़ा रहता है, और जब आवरण बिलकुल ही नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा चरम-अवस्था, अर्थात्-शुद्ध स्वरूप की पूर्णता तक पहुँच जाता है। जैसे-जैसे कर्मावरणों की तीव्रता उत्तरोत्तर कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा की प्राथमिक अवस्था को छोड़कर धीरे-धीरे शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता हुआ जीव चरम-अवस्था=कर्मों से मुक्ति की ओर प्रस्थान करता है। इस उच्चभूमिका की गमनकालीन स्थिति में पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं के बीच में उसे अनेक प्रकार की उच्च-नीच परिणामजन्य अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ता है। जिससे उत्थान की ओर अग्रसर होते हुए भी पुनः निम्न भूमिका पर भी आ पहुँचती है, और पुनः उस निम्न भूमिका[1] से अपने परिणाम-विशेषों से उत्थान की ओर अग्रसर होती है। प्रथम अवस्था को अविकास की अथवा अधःपतन की पराकाष्ठा और चरम अवस्था को विकास की अथवा उत्क्रान्ति की पराकाष्ठा समझना चाहिए। इस आत्म-विकास क्रम की मध्यवर्तिनी तमाम अवस्थाओं को अपेक्षा से उच्च भी कह सकते हैं और निम्न भी। तात्पर्य यह है कि मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपने से ऊपर वाली अवस्था की अपेक्षा से निम्न (नीची) और नीचे वाली अवस्था की अपेक्षा उच्च भी कही जा सकती है। यह विकास क्रम चलता रहता है और अन्त में जीव अपनी आत्मशक्ति की प्रबलता से उन सब अवस्थाओं को पार करके (अकर्मजन्य) चरम लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेती है। इस प्रकार विकास की ओर अग्रसर आत्मा वास्तव में उक्त प्रकार की संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का अनुभव करती है। परन्तु जैन शास्त्रों और कर्मशास्त्रों में प्रारम्भिक, अन्तिम तथा मध्य की संक्रान्तिकालीन इन सब अवस्थाओं का संक्षेप में वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग या क्रम किये हैं, जिन्हें शास्त्रीय या कर्मविज्ञानीय भाषा में चौदह गुणस्थान कहते हैं।[2]

गुणस्थानों की सीमा एक-दूसरे से सम्बद्ध : १४ भागों में विभक्त

तात्पर्य यह है कि 'गुणस्थान' शब्द में प्रयुक्त 'गुण' शब्द का फलितार्थ आत्म-विकास का अंश होता है। ज्यों-ज्यों आत्मविकास के अंश बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों गुणस्थानों का उत्कर्ष माना जाता है। यों तो गुणस्थान असंख्यात हैं, क्योंकि आत्मा के जितने परिणाम (अध्यवसाय) होते हैं, उतने ही उसके गुणस्थान हो सकते हैं। जैसे-नदी के प्रवाह को मील, कोस, किलोमीटर आदि कल्पित नामों से विभक्त कर

---

१. (क) कर्मग्रन्थ, भा. ४ (पं० सुखलाल जी) प्रस्तावना,
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १४३

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी), पृ. १०-११
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ प्रस्तावना (मरुधरकेसरी जी), पृ. २५

देने पर भी उससे प्रवाह में न तो विभागीकरण की अमिट रेखा ही बनती है और न उस प्रवाह में किसी प्रकार का विच्छेद ही पड़ता है; ताकि एक भाग दूसरे भाग से अलग किया जा सके; यही बात गुणस्थानों के विषय में समझिये। एक गुणस्थान के साथ दूसरे गुणस्थान की सीमा इस प्रकार संयुक्त है कि वह एक प्रवाह जैसा ही बन गया है। ऐसा होने पर भी आध्यात्मिक विकास के आरोहण क्रम को समझने के लिए, अथवा गुणस्थानक्रम-निरूपण की सुविधा के लिए गुणस्थान को चौदह भागों में विभक्त किया गया है।[१]

चौदह गुणस्थान चौदह श्रेणियों में विभाजित

इसे यों भी समझा जा सकता है-आत्मा के ज्ञानादि गुणों का विकास यथायोग्य, क्रमशः चौदह श्रेणियों में होता है। इसलिए इन चौदह गुणस्थानों की क्रमशः चौदह श्रेणियाँ बतलाई हैं।

समस्त संसारी जीवों के ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि स्वाभाविक गुण कर्मों के आवरण से न्यूनाधिक रूप से आच्छादित हैं। गुण जितने अंशों में अनावृत होते जाते हैं, उतने-उतने अंश में उन ज्ञानादि स्वाभाविक गुणों के स्थान-अवस्थिति को अथवा तथारूप भेद को गुणस्थानक्रम या गुणस्थान श्रेणी कहते हैं। स्पष्ट शब्दों में-जब प्रतिरोधक कर्म कम हो जाता है, आत्मा के ज्ञानादि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट हो जाती है, लेकिन जब प्रतिरोधक कर्म की अधिकता-प्रबलता होती है, तब ज्ञानादि गुणों की शुद्धि कम हो जाती है। आत्मिक गुणों के इस न्यूनाधिक क्रमिक विकास की अवस्था को गुणस्थान क्रम कहते हैं। यद्यपि शुद्धि और अशुद्धि से जन्य जीव के स्वरूपविशेष असंख्य प्रकार के हो सकते हैं, तथापि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप में १४ गुणस्थानों के रूप में अन्तर्भाव हो जाता है।

गुणस्थान की प्रथम श्रेणी में उन जीवों की गणना होती है, जिनकी आत्मा के ज्ञानादि गुणों को कर्मों ने विपुल मात्रा में ढक दिया है। ऐसी सर्वाधिक निकृष्टतम अवस्था प्रथम गुणस्थानवर्ती जीवों की होती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोद के जीवों को इसी गुणस्थान में गिनाया गया है। उनमें भी ज्ञानादि गुण अत्यन्त अल्पमात्रा में अनावृत रहते हैं। यदि उनमें इतना भी ज्ञानादि का प्रकाश न हो तो वे जीव न रहकर जड़ बन जाते। चेतन और जड़ की भेद रेखा ज्ञानादि गुणों के सद्भाव-अभाव पर से ही आंकी जाती है।

प्रथम श्रेणी के जीवों की अपेक्षा दूसरी-तीसरी श्रेणी के जीव आत्मगुणों के विकास में आगे बढ़े हुए होते हैं। उनकी अपेक्षा चौथी श्रेणी के जीव अधिक उन्नत

---

१. जैन दर्शन (न्या० न्या० मुनि श्री न्यायविजयजी) पृ. १०५

अवस्था में होते हैं। इस प्रकार एकाध अपवाद के सिवाय उत्तरोत्तर श्रेणी के जीव पूर्व-पूर्व श्रेणी के जीवों की अपेक्षा अधिक उन्नति पर पहुँचे हुए होते हैं। यों तो समस्त जीव प्राथमिक अवस्था में तो प्रथम श्रेणी में ही होते हैं। परन्तु उस अवस्था में से जीव अपनी आत्मशक्तियों तथा स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों के विकास की बदौलत आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं, तब वे उत्तरोत्तर श्रेणियों में से योग्य क्रम विकासानुसार उत्क्रान्ति करने के पश्चात् बारहवीं श्रेणी में चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय करके-अथवा मोह का सर्वथा नाश करके तेरहवें गुणस्थान में वीतराग जीवन्मुक्त परमात्मा बन जाते हैं। इसके पश्चात् चार भवोपग्राही अघाती कर्मों का क्षय, देह के सर्वथा अन्त होने पर मन-वचन-काया के तीनों योगों का निरोध करके चौदहवीं श्रेणी में आकर वे विदेह परमात्मा शीघ्र ही सिद्धगति नामक अक्षय अनन्तचतुष्टयरूप अव्याबाध स्थान में पहुँच जाते हैं।

सारांश यह है कि पहली निकृष्टतम श्रेणी से निकल कर विकास की अन्तिम श्रेणी (भूमिका) को प्राप्त करने तक जीव को एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी ऐसी अनेक श्रेणियों (अवस्थाओं) में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणियों को विकास क्रम या उत्क्रान्ति मार्ग कहते हैं, जैन कर्मविज्ञान की भाषा में इसे ही गुणस्थानक्रम कहते हैं।[१]

मन्द-तीव्र पुरुषार्थी जीवों द्वारा गुणस्थानों का अवरोह-आरोह

यद्यपि जो मन्द पुरुषार्थ वाले जीव होते हैं, उन्हें पहली से बारहवीं श्रेणी की बीच की श्रेणियों में अधिक रुकना पड़ता है, अनेक बार चढ़ना-उतरना (आरोह-अवरोह करना) होता है, इस कारण उन्हें बारहवीं श्रेणी पर या उस श्रेणी की ओर जाने वाले मार्ग पर पहुँचने में अधिक समय लगता है। कोई-कोई प्रबल पुरुषार्थी महान् साधक तीव्र वेग से आत्मविकास में आगे बढ़ता हुआ, बीच की श्रेणियों में अधिक न रुककर शीघ्र ही बारहवीं श्रेणी पर पहुँच जाता है और तत्काल ही तेरहवीं श्रेणी में प्रविष्ट होकर केवलज्ञानी वीतरागी जीवन्मुक्त हो जाता है।[२]

---

१. (क) जैन दर्शन (न्या० न्या० मुनि श्री न्यायविजयजी), पृ. १०३
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी) से भावांश ग्रहण, पृ. ७
   (ग) चौद गुणस्थान (गुजराती) (पं० श्री चन्द्रशेखरविजय जी म०) से भावांश ग्रहण, पृ० १२०

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ (पं० सुखलाल जी), पृ. १०-११
   (ख) जैन दर्शन (न्या० न्या० न्यायविजय जी), पृ. १०३

मोक्ष-प्रासाद पर पहुँचने के चौदह सोपान : चौदह गुणस्थान

इसे एक अन्य दृष्टिकोण से समझिए। गुणस्थान आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के चौदह सोपान हैं। दूसरे शब्दों में-मोक्षरूपी प्रासाद पर पहुँचने के लिए ये चौदह सोपान (सीढ़ियाँ) हैं। पहली सीढ़ी से जीव चढ़ने लगते हैं, कोई धीरे-धीरे और कोई जल्दी-जल्दी यथाशक्ति आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। कोई-कोई व्यक्ति सोपानों पर चढ़ते-चढ़ते ध्यान न रखने से नीचे गिर जाते हैं, और गिरते-गिरते पहले सोपान पर भी आ जाते हैं। सिद्धान्तानुसार ग्यारहवें सोपान पर पहुँचे हुए जीव भी मोह का प्रबल धक्का लगने से नीचे गिर जाते हैं। इसलिए ऊर्ध्वारोहण करने (ऊपर चढ़ने) वाले जीव तनिक भी प्रमाद न करें, ऐसी चेतावनी उत्तराध्ययन आदि शास्त्रों में बार-बार दी गई है। बारहवें सोपान पर पहुँचने के बाद तो गिरने का किसी प्रकार का खतरा या भय नहीं रहता। इतना ही नहीं, आठ-नौ सोपान पर मोह का क्षय प्रारम्भ हुआ अथवा वहीं से क्षपकश्रेणी का दौर चला तो फिर गिरने का भय सर्वथा मिट जाता है। निष्कर्ष यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँचे हुए जीव के नीचे गिरने का कारण यह है कि उसने मोह का उपशम किया है, क्षय नहीं। मगर आठवें-नौवें गुणस्थान में मोह के उपशम के बदले यदि क्षय की प्रक्रिया प्रारम्भ की जाय तो निःसन्देह नीचे गिरना असम्भव हो जाता है।[१]

गुणस्थानों की क्रमिक अवस्थाएँ मोहकर्म की प्रबलता-निर्बलता पर आधारित

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, ये चार घातिकर्म आत्मा के गुणों का घात, ह्रास, विकृत एवं कुण्ठित करने वाले हैं। यानी ये चारों आत्मा की ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति (वीर्य) की शक्तियों को आच्छादित करने वाले आवरण हैं। परन्तु इन चारों प्रकार के आवरणों में मोहनीय कर्म का आवरण प्रबल और मुख्य है। जब तक मोहकर्म का आवरण प्रबल और तीव्र रहता है, तब तक अन्य सभी आवरण बलवान् और तीव्र बने रहते हैं। इसके विपरीत मोहकर्म के निर्बल होते ही अन्य कर्मों के आवरण भी निर्बल और नष्ट हो जाते हैं। अर्थात्-मोहकर्म के आवरण की तीव्रता और मन्दता पर अन्य कर्मों के आवरण की तीव्रता और मन्दता अवलम्बित है। इसलिए गुणस्थानों की क्रमिक अवस्थाएँ मोहकर्म की आवरणशक्ति की उत्कटता, मध्यम अवस्था, मन्दता एवं अभाव पर ही आधारित हैं। अर्थात्-

---

१. जैन दर्शन (न्या. न्या. न्यायविजय जी), पृ. १०४-१०५

आत्मगुणों के विकास में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता है।[१]

गुणस्थानों का आधार

मोहकर्म की प्रधान शक्तियाँ दो हैं-दर्शनमोह और चारित्रमोह। इनमें से प्रथम शक्ति आत्मा को दर्शन, अर्थात्-स्वरूप-पररूप का निर्णय, अथवा जड़ (अजीव) और चेतन का भेद-विज्ञान (पृथक्करण का विवेक) नहीं होने देती, और दूसरी शक्ति आत्मा को पूर्वोक्त विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति (आचरण) नहीं करने देती; अध्यात्म दृष्टि से कहें तो परभावों-विभावों से छूट कर स्वभाव (स्वरूप) में रमणता या स्थिरता नहीं होने देती। व्यावहारिक जगत् में भी पद-पद पर यही देखा जाता है कि वस्तु का यथार्थ दर्शन-बोध कर लेने पर ही उस वस्तु को पाने या त्यागने की चेष्टा की जाती है और वही प्रयत्न सफल होता है। आध्यात्मिक विकास-गामी आत्मा के लिये भी ये ही दो मुख्य कार्य हैं-(१) स्वरूप-दर्शन या भेदज्ञान करना और (२) तदनुसार आचरण अर्थात्-स्वरूप में स्थित होना। इन दोनों शक्तियों में स्वरूप-बोध को न होने देने वाली शक्ति को दर्शन-मोह और स्वरूप में स्थित न होने देने वाली शक्ति को चारित्र-मोह कहते हैं। तात्पर्य यह है-दर्शनमोहनीय के उदय से आत्मा तत्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं कर पाता। उसका चिन्तन, विचार, विवेक और दर्शन (दृष्टि) दर्शनमोह के कारण सम्यक् और स्पष्ट नहीं हो पाता और चारित्रमोहनीय के उदय से पूर्वोक्त विवेकयुक्त श्रद्धान के अनुसार विवेकयुक्त आचरण में प्रवृत्ति नहीं हो पाती। सिद्धान्तानुसार दूसरी (चारित्रमोह की) शक्ति प्रथम (दर्शनमोह की) शक्ति की अनुगामिनी होती है। अर्थात् प्रथम शक्ति प्रबल हो तो दूसरी शक्ति कदापि निर्बल नहीं होती। इसके विपरीत पहली शक्ति के निर्बल होते ही-अर्थात्-क्रमशः मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी होने लगती है। यों भी कह सकते हैं कि एक बार आत्मा स्वरूप दर्शन कर पाए तो फिर उसके लिए स्वरूप में उत्तरोत्तर स्थिर-स्थिरतर और स्थिरतम होने का मार्ग खुल जाता है। निष्कर्ष यह है कि दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के कारण न ही सम्यग्दर्शन होता है, और न सम्यक्चारित्र ही। अर्थात्-सम्यग्दर्शन के होने पर ज्ञान सम्यक् होता है और चारित्र भी। उसके न होने पर ज्ञान और चारित्र दोनों सम्यक् नहीं होते, वे मिथ्या ही रहते हैं, दर्शन तो मिथ्या रहता ही है। गोम्मटसार (क.) के अनुसार आदि के चार गुणस्थान मुख्यतया दर्शनमोहनीय के उदय आदि से

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी), पृ. ११
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १४३

होते हैं; और आगे के आठ गुणस्थान चारित्रमोह के क्षयोपशम आदि से निष्पन्न होते हैं।[१]

चौदह गुणस्थानों में उत्तरोत्तर दर्शन-चारित्रशक्ति की विशुद्धि

तात्पर्य यह है कि चौदह गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा द्वितीय, द्वितीय की अपेक्षा तृतीय, इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक रहती है। आत्मिक विकास की न्यूनाधिकता का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है। स्थिरता कहें, समाधि कहें, अन्तर्दृष्टि कहें, स्वभाव-रमणता कहें या आत्मोन्मुखता कहें, बात एक ही है। वस्तुतः आत्म-स्थिरता का तारतम्य दर्शनशक्ति और चारित्रशक्ति की शुद्धि के तारतम्य पर आधारित है। दर्शनशक्ति का जितना अधिक विकास, विशुद्धि और स्पष्टता, उतना ही अधिक आविर्भाव सत्श्रद्धा, सद्रुचि, सद्भक्ति, सन्निष्ठा या सत्य के प्रति सत्कार-पूर्वक सदाग्रह का होता है। दर्शनशक्ति का विकास होने पर ही चारित्र-शक्ति का विकास अनायास ही होने लगता है। साथ-साथ जैसे-जैसे उत्तरोत्तर चारित्र-विशुद्धि होने लगती है; वैसे-वैसे आत्म-स्थिरता की मात्रा भी अधिकाधिक होने लगती है। फलतः क्षमा, मार्दव, आर्जव, शील, सत्य, सन्तोष, गाम्भीर्य, इन्द्रियजय आदि चारित्रगुण भी प्रादुर्भूत होते रहते हैं। दर्शनशक्ति या चारित्रशक्ति की विशुद्धि की वृद्धि-ह्रास उन-उन शक्तियों के प्रतिबन्धक (निरोधक) संस्कारों की न्यूनाधिकता या मन्दता-तीव्रता पर निर्भर है। प्रथम तीन गुणस्थानों में दर्शनशक्ति और चारित्रशक्ति का विकास इस कारण नहीं होता कि उनमें उन शक्तियों के प्रतिबन्धक संस्कारों की तीव्रता या अधिकता है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में वे ही प्रतिबन्धक संस्कार कम (मन्द) होते जाते हैं। इससे उन गुणस्थानों से पूर्वोक्त उभयशक्तियों का क्रमशः विकास प्रारम्भ हो जाता है।[२] यही कारण है कि समवायांग में जीवस्थानों (गुणस्थानों) की योजना (रचना) कर्म-विशुद्धि की मार्गणा-गवेषणा के आधार पर की गई है।

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भाग ४ प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी), पृ. ११-१२
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. २ प्रस्तावना (मरुधरकेसरी), पृ. २५-२६
   (ग) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप से भावांश ग्रहण, पृ. १४३-१४४
   (घ) एदे भावा णियमा, दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
   चारित्तं नत्थि जदो अविरद-अंतेसु ठाणेसु॥
   देसविरदे पमत्ते इदरे य खओवसमिय-मानो दु।
   सो खलु चारित्तमोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं॥ गोमट्टसार गा.-१२-१३

२. कर्मग्रन्थ भाग ४ प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी), पृ. ७-८

इन प्रतिबन्धक काषायिक संस्कारों के स्थूल दृष्टि से ४ विभाग किये गए हैं। ये विभाग उन कषायचतुष्टयी संस्कारों की विपाक शक्ति (उदयादि) के तरतमभाव पर निर्भर हैं। उनमें से पहला विभाग अनन्तानुबन्धी कषाय तथा दर्शनमोह का है, जो दर्शन शक्ति का प्रतिबन्धक है। शेष तीन विभाग चारित्र शक्ति के क्रमशः प्रतिबन्धक हैं। उन्हें क्रमशः अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय कहते हैं।[१]

दुःख से पूर्णमुक्ति के हेतु रत्नत्रयोपलब्धि के लिए १४ सोपान

संसार में जन्म-जरा-रोग-मरणादि के चक्र में फँसा हुआ प्राणी विविध दुःखों से पीड़ित होकर बार-बार संसाराटवी में संसरण (परिभ्रमण) करता है। इस दुःख से मुक्ति कैसे हो? वास्तव में दुःखों से पूर्ण मुक्ति के लिए अर्हन्तों ने रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का निरूपण किया है। उक्त रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की क्रमशः विशुद्धि के लिए महापुरुषों ने १४ सोपानों पर आरोहण करने का विधान किया। जिन १४ सोपानों पर क्रमशः आरोहण करना पड़ता है, उसे गुणस्थान संज्ञा दी है।[२]

गुणस्थान के ओघ, संक्षेप, गुण, जीवस्थान और जीवसमास नाम भी

यही कारण है कि आगम में कषाय और योग के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव को 'गुणस्थान' कहा गया है। दिगम्बर परम्परा के 'गोम्मटसार' आदि में 'गुणस्थान' के अर्थ में 'ओघ', 'संक्षेप' और 'गुण' शब्दों का प्रयोग किया गया है। और उसकी उत्पत्ति मोह और योग से होती है, यह बताया गया है।

जीवों को गोम्मटसार में 'गुण' कहा गया है। उसके अनुसार औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये पांच गुण हैं। इन गुणों के साहचर्य से 'जीव' को भी 'गुण' कहा गया है।

उत्तरवर्ती जैन साहित्य 'समवायांग' में कर्मग्रन्थोक्त 'गुणस्थान' के स्थान पर जीवस्थान का प्रयोग किया गया है। 'गोम्मटसार' में इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'जीव गुण है'। तदनुसार चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि भावाभाव-जनित अवस्थाओं से निष्पन्न होते हैं। परिणाम (गुण) और परिणामी (जीव) का अभेदोपचार करने से 'जीवस्थान' को 'गुणस्थान' की संज्ञा दी गई है।

---

१. कम्म-विसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवठाणा पण्णत्ता। -समवायांग १४/१
कर्म-विशोधि-मार्गणां प्रतीत्यं-ज्ञानावरणादि-कर्म-विशुद्धि-गवेषणामाश्रित्य।
-समवायांग वृत्ति पत्र २६

२. जैनदर्शन में आत्मविचार से भावांश ग्रहण, पृ० २५२

'गोम्मटसार' और 'षट्खण्डागम' धवलावृत्ति में गुणस्थानों को 'जीवसमास' भी कहा गया है। धवला में इसका समाधान करते हुए कहा गया है–जीव समास का व्युत्पत्तिलस्य अर्थ है–'जीव इनमें सम्यक् रूप से रहते हैं। किनमें? गुणों में। गुण कौन-कौन से हैं? गुण पाँच हैं–(१) औदयिक–कर्म के उदय से उत्पन्न गुण, (२) औपशमिक–कर्म के उपशम से उत्पन्न गुण, (३) क्षायिक–कर्म के क्षय से उत्पन्न गुण, (४) क्षायोपशमिक–कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न गुण, और (५) पारिणामिक–कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना जो गुण स्वभावतः पाया जाता है। इन गुणों के साहचर्य से 'जीवसमास' को गुणस्थान का पर्यायवाची कहा गया है।[१]

चौदह गुणस्थानों के नाम

वे जीवस्थान या गुणस्थान क्रमशः कर्म-विशुद्धि मार्गणा को लेकर १४ हैं–(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सासादन-सम्यग्दृष्टि, (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र), (४) अविरति सम्यग्दृष्टि, (५) देशविरति, (6) प्रयत्त-संयत, (७) अप्रमत्तसंयत, (८) निवृत्तिबादर (अपूर्वकरण), (९) अनिवृत्तिबादर (अनिवृत्तिकरण), (१०) सूक्ष्म-सम्पराय, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगिकेवली और (१४) अयोगिकेवली।[२]

---

१. (क) संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोह-जोग-भवा। –गोम्मटसार गा.–३
(ख) गुणट्ठाणा य जीवस्स। –समयसार
(ग) जेहिं तु लक्खिज्जंते, उदयादिसु, संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुण सण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं॥ –गोम्मटसार गा० ८
(घ) चउद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा यं णादव्वा। –गोम्मटसार गा० १०
(ङ) जीवसमास इति किम् ? जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीव-समासः। क्वासते? गुणेसु। के गुणाः? औदयिकौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिका इति गुणाः। अस्य गमविपाकमर्णामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः, तेषामुपशमादौपशमिकः, क्षयात् क्षायिकः, तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः। कर्मोदयोपशम-क्षय-क्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः। गुण-सहचरित्तत्वादात्मापि गुण-संज्ञा प्रतिलभते।
–षट्खण्डागम, धवला वृत्ति, प्रथम खण्ड २/१६/६१

२. (क) मिच्छे-सासण-मीसे अविरयदेसे पमत्त-अपमत्ते।
नियट्टि-अनियट्टि-सुहमुवसम-खीण-सजोगि-अजोगि गुणा।
–कर्मग्रन्थ भा० २ गा० २

(शेष पृष्ठ ३५२ पर)

प्रथम गुणस्थान : स्वरूप, कार्य, प्रभाव

दर्शनमोहनीय की प्रबलता के आधार पर ही प्रथम गुणस्थान का नाम रखा गया है– मिथ्यादृष्टि गुणस्थान। यह आत्मा की सर्वथा अधःपतित अवस्था है। इसमें दर्शनमोह की प्रबलता के कारण चारित्रमोह की भी प्रबलता होती है। मोह की उक्त दोनों शक्तियों की प्रबलता के कारण इस भूमिका वाला आत्मा (जीव) की आध्यात्मिक शक्ति सर्वथा गिरी हुई होती है। विपरीत दृष्टि (श्रद्धा) के कारण वह राग-द्वेष-मोह के सर्वथा वशीभूत होकर अनन्त आध्यात्मिक सुख (आनन्द) से वंचित रहता है। इस कारण इस भूमिका वाला जीव चाहे जितना आधिभौतिक उत्कर्ष कर ले, किन्तु तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होने के कारण उसकी सारी प्रवृत्तियाँ संसाराभिमुखी होती हैं, मोक्षाभिमुखी नहीं। जैसे दिशा-भ्रान्ति वाला मनुष्य पूर्व को पश्चिम मान कर चलता है, किन्तु बहुत गति कर चुकने के बावजूद भी वह अपने लक्ष्य को-इष्ट स्थान को नहीं प्राप्त कर पाता, उसका इतना चलने का सारा श्रम एक तरह से व्यर्थ जाता है, वैसे ही प्रथम गुणस्थान वाला जीव पररूप को स्वरूप, परभाव को स्वभाव या विभाव को आत्मभाव समझ कर मूढ़तावश उसी को पाने के लिये लालायित रहता है। जैसे मद्यपान किये हुए व्यक्ति को हित-अहित का भान नहीं रहता; मोहरूपी मद्य से मत्त-प्रमत्त एवं उन्मत्त बने हुए मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव को आत्मा के विशुद्ध हित-अहित का भान नहीं होता। आत्मा की इस भूमिका को जैन कर्मविज्ञान में मिथ्यात्व, मिथ्यादर्शन या मिथ्यादृष्टि कहा गया है। जैन आगमों में इसे बहिरात्म-भाव कहा गया है। इस भूमिका के जीव गाढ़ अज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले होते हैं।[1]

(पृष्ठ ३५१ का शेष)

(ख) ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी, सासण समाइट्ठी, सम्मा-मिच्छाइट्ठी, असंजद-सम्माइट्ठी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अपमत्तसंजदा, अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, सुहूम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था, सजोग केवली, अजोग-केवली।

–षट्खंडागम १/११/सू० ९-२२/१६१-१९२

१. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.), पृ. १४४

(ख) मद्य-मोहाद् यथा जीवो न जानाति हिताहितम्।
धर्माधर्मौ न जानाति, तथा मिथ्यात्व-मोहितम् ॥ –गुणस्थान क्रमारोह गा. ८

प्रथम गुणस्थान के अधिकारी कौन-कौन ?

इस भूमिका में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो होते ही हैं, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय, नारक, देव और मनुष्य भी होते हैं। इसलिए इस भूमिका के सब जीवों की आध्यात्मिक स्थिति एक-सी नहीं होती। यद्यपि सबके ऊपर सामान्यतः मोह की दोनों शक्तियों का आधिपत्य होता है, फिर भी उनमें थोड़ा-बहुत तरतमभाव (न्यूनाधिक प्रभाव) अवश्य होता है। किसी पर मोह का प्रभाव गाढ़तम होता है, किसी पर गाढ़तर और किसी पर उससे भी कम गाढ़ होता है।

मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीव : तीन कोटि के

मोटे तौर पर मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीव तीन कोटि के होते हैं- एक **अनादि-अनन्त मिथ्यात्वी** होता है, वह अनादिकाल से मिथ्यात्वदशा में रहकर अनन्तकाल तक विभिन्न योनियों और गतियों में (संसार) परिभ्रमण करता रहता है। इन जीवों को अभव्य कहते हैं; अथवा जातिभव्य (जो जीव भव्य होने पर भी कभी मुक्त नहीं होते) भी इस कोटि में आते हैं। दूसरी कोटि के **अनादिसान्त मिथ्यादृष्टि** वे जीव हैं, जो अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि होते हुए भी मिथ्यात्व की गांठ खोलकर सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं। तीसरी कोटि के **सादिसान्त मिथ्यात्वी** हैं, जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर चुके, किन्तु फिर से मिथ्यात्वी हो गए हैं। सम्यक्त्व से गिर कर पुनः मिथ्यात्व में आ जाना, प्रथम गुणस्थान की आदि है। जिस जीव को एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी, यदि वह पुनः मिथ्यात्व में आ जाए, उसका अन्त अवश्यम्भावी है। ऐसा जीव निश्चय ही मोक्षगामी होता है।[१]

मिथ्यात्वगुणस्थान में ही अभव्य, अपरिपक्व तथाभव्य और परिपक्व तथाभव्य

संक्षेप में हम मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीवों के दो भेदों में विभक्त कर सकते हैं- (१) अभव्य और (२) भव्य। जो अभव्य होते हैं वे जन्म-जरा-मरण-व्याधिरूप जलतरंगों से व्याप्त भीषण भवरूप (संसार-रूपी) समुद्र में मिथ्यात्व-मोहनीय आदि गाढ़ कर्म-प्रकृतियों के कारण अनन्त पुद्गल-परावर्तकाल[२] तक परिभ्रमण करते

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ (पं. सुखलालजी) प्रस्तावना, पृ. १२
   (ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १४७

२. (क) उस्सप्पिणी अणंता पुग्गल-परिअट्टओ मुणेअव्वो ।
   तेऽणंता-तीअद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ॥
   (ख) एवं अणोरपारे संसारे सायरम्मि मोयमि ।
   पत्तो अणंतखुत्तो जीवेहिं, अपत्तधम्मेहिं ॥ -जीवविचार प्रकरण
   (ग) कर्म की गति न्यारी भा. १ (पंन्यास श्री अरुणविजयगणि), पृ. ६५, ६६.

रहते हैं। भव्यों के दो प्रकार किये जा सकते हैं– अपरिपक्व तथा भव्य और परिपक्व तथा भव्य। जिसका भव्यत्व परिपक्व नहीं हुआ है, वह भव्य होने पर भी सूक्ष्म निगोदरूप अव्यवहार राशि में ही अनन्तकाल बिताता है; वह अपरिपक्व तथा भव्य है। किन्तु जो तथाभव्य सूक्ष्म अव्यवहार राशि निगोद में अनन्त जन्म बिताने के पश्चात् अकामनिर्जरा आदि उपयोगी एवं सहयोगी कारणों से तथाभव्यत्व परिपक्व होने पर सूक्ष्म अव्यवहार राशि में से निकलकर बादर-पर्याय में आता है। और क्रमशः ८४ लक्ष जीवयोनियों से युक्त चतुर्गतिक भव-परम्परा में आगे बढ़ता हुआ तथा सुखदुःख के थपेड़े खाता हुआ अनन्तपुद्गलपरावर्तकाल व्यतीत करके **चरमावर्त** में प्रवेश करता है, वह परिपक्व तथा भव्य है।

परिपक्व तथाभव्यत्व की प्रक्रिया और उसका स्वरूप

चरमावर्त का अर्थ है– कालचक्र का अन्तिम आवर्त यानी वलय। जिस प्रकार तेली का बैल दिन-रात घूमता हुआ अन्तिम बार के चक्कर में आ कर खड़ा रहता है, उसी प्रकार भव्यजीव भी संसार में चक्कर लगाता-लगाता अथवा तथाभव्यत्व परिपक्व होने के कारण अन्तिम बार के पुद्गलपरावर्तकाल के चक्र (गोले) में यानी चरमावर्त में प्रवेश करता है। जिस प्रकार चूल्हा, अग्नि का तीव्र ताप, वायु, पानी, चावल, दाल, तपेली आदि सहयोगी कारणों से चूल्हे पर चढ़ाई हुई खिचड़ी के परिपक्व होने पर उसे अन्तिम बार देखकर नीचे उतार ली जाती है, उसी प्रकार अनन्तसंसार के दुःखों से दुःखित होता हुआ, चारों गतियों तथा ८४ लाख जीवयोनियों में अनन्त पुद्गल परावर्तकाल बिताता हुआ तथाभव्यत्व परिपक्व होने पर भवभ्रमण के अन्तिम पुद्गल परावर्त चक्र के चरणकाल में पहुंचता है। जैसे प्रकाश, पानी, हवा आदि सहयोगी कारण मिलने पर बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, और वह वृक्ष बनने की दिशा में आगे से आगे बढ़कर अपनी जड़ें पक्की जमा लेता है, वैसे ही काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म और पुरुषार्थ आदि पांच कारण समवाय के योग से, तीव्र अकामनिर्जरा के बल पर जीव अपना तथाभव्यत्व परिपक्व करता है। सभी जीवों में भव्यत्व समान होते हुए भी उस अवस्था में तथाभव्यत्व एक विशेष प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ– एक ही प्रकार के भिन्न-भिन्न पात्रों में पड़े हुए दूध में से किसी एक पात्र के दूध में केसर, बादाम, पिश्ता, इलायची आदि विशिष्ट पदार्थों के मिलाने से उस दूध में विशेषता पैदा हो जाती है; वैसे ही सब जीवों में भव्यत्व समान होते हुए भी काल, स्वभाव आदि पांच कारण-समवायों का विशेष निमित्त रूप सहयोग मिलने से किसी विशेष भव्य जीव का तथाभव्यत्व परिपक्व हो जाता है। ऐसा परिपक्व तथाभव्यत्व सामान्य भव्य के भव्यत्व से भिन्न

श्रेणी का होता है। ऐसे तथाभव्यत्व वाला भव्यजीव संसारक्षय एवं मोक्षप्राप्ति के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के योग्य हो जाता है।

परिपक्व तथाभव्य ओघदृष्टि से योगदृष्टि की ओर

ऐसा परिपक्व तथाभव्य जीव चरमावर्त में प्रविष्ट होकर शुभ अध्यवसायों की ओर अग्रसर होता है। ऐसी स्थिति में उसकी अनादिकालिक 'ओघ' दृष्टि छूट जाती है, और वह 'योग' दृष्टि प्राप्त कर लेता है। मित्रा एवं तारा दृष्टि के आश्रय से वह स्वल्पमात्र बोध प्राप्त करता है।[१]

मिथ्यादृष्टि होते हुए भी स्वल्पमात्र बोधप्राप्ति

प्रथम गुणस्थानवर्ती ऐसे अनेक विकासगामी जीव (आत्मा) होते हैं, जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा-सा दबाये हुए होते हैं, परन्तु मोह की प्रधान शक्ति-दर्शनमोह को शिथिल किये हुए नहीं होते। इसलिए यद्यपि वे आध्यात्मिक लक्ष्य के सर्वथा अनुकूलगामी नहीं होते, तो भी उनका बोध तथा नैतिक चारित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसे जीवों (आत्माओं) की आध्यात्मिक दृष्टि सर्वथा आत्मोन्मुख न होने से वास्तव में कहलाती मिथ्यादृष्टि, विपरीतदृष्टि या असत्दृष्टि ही है।

स्वल्पमात्र बोध के कारण श्रवण सम्मुख और धर्मसम्मुख होता है

स्वल्पमात्र बोध के कारण उस जीव की धर्म-श्रवण करने की जिज्ञासा जागृत होती है। मन में उद्भूत इस धर्मश्रवण एवं दुःखनिवृत्ति की शुभभावमयी जिज्ञासा काल को 'धर्मश्रवण सम्मुखीकाल' कहा गया है। यह धर्मसम्मुखीकरण काल का प्रथम सोपान है। प्रथम श्रवणसम्मुख होने के बाद ही जीव धीरे-धीरे व्यावहारिक धर्मसम्मुख होता जाता है। इस तरह जीव में आत्मा की सर्वोत्कृष्ट शक्ति के प्रगट करने के लिए परिणामों में विशुद्धि आती है और वह चरमावर्तकाल में ही मार्गानुसारी बनकर कुछ धर्मलक्षी नैतिकता के गुणों को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है। यद्यपि विशुद्ध धर्मी वह नहीं बन पाता, तथापि धर्ममार्ग (नैतिकता गुणयुक्त व्यवहार धर्म पथ) का अनुसरण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। इस काल को **धर्मसम्मुखीकरणकाल,** या धर्मप्रवेशोन्मुख काल कहा जा सकता है। कतिपय आचार्य इससे पूर्व के अनन्तपुद्गल परावर्तकाल को **'संसारबाल काल'** और इस

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. सुखलालजी), पृ. १६

चरम पुद्गलपरावर्त काल को **धर्म-यौवनकाल** भी[१] कहते हैं।[२] इस धर्म यौवनकाल में जीव तथाभव्यत्व दशा परिपक्व होने के कारण दुःखरूप संसार से मुक्त होने के शुभ परिणाम से नैतिकता युक्त व्यवहार धर्म के सम्मुख होकर ग्रन्थिभेद करने हेतु प्रवृत्त होता है।

दर्शनमोह की तीव्र एवं गाढ़ गांठ : कितनी दुर्भेद्य, कैसे सुभेद्य ?

जिस प्रकार गन्ने या बांस के संधि-स्थल पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर जो गांठ होती है, वह अत्यन्त कठोर एवं दुर्भेद्य होती है। बांस के मूल में दीर्घकाल से रही हुई गांठ तो और भी कठोर एवं निबिड़ होती है। ठीक इसी तरह मोहनीय आदि कर्मों की तीव्रता के कारण आत्मा पर रागद्वेष की सुदृढ़ गांठ (ग्रन्थि) बंध जाती है, जिसे तोड़ना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसी तथ्य को विशेषावश्यक भाष्य में उजागर करते हुए कहा है- राग-द्वेष (या कषायादि) के तीव्र परिणामस्वरूप आत्मा पर जो तीव्र कर्मबन्ध जनित गांठ बंध जाती है, वह बांस की संधि में पड़ी हुई गांठ के सदृश अत्यन्त कठोर निविड़ एवं दुर्भेद्य होती है। वस्तुतः वह गांठ और कुछ नहीं, अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क तथा दर्शनमोहनीय त्रिक की ही है, जो दीर्घकाल से मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती आत्मा में पड़ी हुई है।

जिस प्रकार बैलगाड़ी के पहिये का काला कीट यदि वस्त्र पर लग जाए और उस पर धूल चिपक जाए तो वह दब जाता है, सहसा मालूम ही नहीं होता। वह काला दाग इतना गाढ़ होता है कि वस्त्र फट जाए, तो भी नहीं निकलता। ठीक इसी तरह आत्मप्रदेशरूपी पट पर तीव्र एवं निबिड़ गांठ रागद्वेषादि की अत्यन्त मलिन कर्मपरिणति रूप कीट के दाग की सुदृढ़ गांठ बंध जाती है। फिर उस पर कर्मबन्ध की उत्कृष्ट स्थिति रूप धूल जम जाने से चिरकाल तक जीव को पता ही नहीं चलता। ऐसी तीव्र कर्मग्रन्थि के कारण जीव अनन्तानुबन्धी कषायादि राग-द्वेष-मोह की वृत्ति-प्रवृत्ति में दीर्घकाल तक पड़ा रहता है। मिथ्यात्व के उदय वाले तीव्र राग द्वेष का काल का फलितार्थ ही ग्रन्थि(गांठ) बंधना है।[३]

---

१. अचरमो परिअट्टेसु कालो भवबालकाल सो भणिओ ।
चरमो अ धम्म-जुव्वणकालो, तह चित्त भेओत्ति ॥
ता बीअ पुव्वकालो णेओ भवबालकाल एवेह ।
इयरो उ धम्मजुव्वणकालो विहिलिंग वामुत्ति ।

२. कर्म की गति न्यारी भा. १, पृ. ६५, ६६.

३. (क) कर्म की गति न्यारी भा. १ (पंन्यास अरुणविजयजी गणि) से भावांश ग्रहण, पृ. ६२, ७३
(ख) गंठि त्ति सुदुब्भेओ कक्खड-घण-रूढ-गूढ-गंठिव्व।
जीवस्स कम्मजणिओ घण-राग-दोस-परिणामो ॥ १९५॥

ग्रन्थिभेद का कार्य कठिनतम : परन्तु असम्भव नहीं

यद्यपि ग्रन्थिभेद का कार्य अत्यन्त कठिन है। मोहनीय कर्म की दोनों शक्तियों की प्रबलता के कारण राग-द्वेष की तीव्रतम गांठ (ग्रन्थि) को शिथिल करना भी अतीव कठिन है, उसे तोड़ना तो और भी कठिन है, क्योंकि ऐसी भयंकर निविड़तम ग्रन्थि का भेदन करने में आत्मा को पूर्ण शक्ति लगानी पड़ती है; तथापि परिपक्व तथाभव्य जीव धर्मसम्मुख होने के पश्चात् स्वल्पबोध के कारण मोह की प्रबलतम प्रधान शक्ति दर्शनमोह को छिन्नभिन्न करने की नहीं, तो उसे शिथिल या मन्द करने की योग्यता तो प्राप्त कर ही लेता है। रागद्वेष की तीव्रतम विषग्रन्थि यदि एक बार शिथिल या छिन्न-भिन्न हो जाए तो फिर मोहकर्म की प्रधान शक्ति दर्शनमोह को शिथिल होने में देर नहीं लगती।

ग्रन्थिभेद की इस प्रक्रिया में विकासोन्मुख आत्मा और रागद्वेष में द्वन्द्वयुद्ध चलता है। एक ओर रागद्वेष अपनी पूर्णशक्ति का प्रयोग करते हैं, जबकि दूसरी ओर विकासोन्मुख आत्मा उनके प्रभाव को मन्द एवं शिथिल करने के लिए अपने वीर्यबल का प्रयोग करता है। इस आध्यात्मिक युद्ध में, अर्थात्-मनोविकार और आत्मा की प्रतिद्वन्द्वितारूप संग्राम में कभी एक, तो कभी दूसरा विजय प्राप्त करता है।[१]

मानसिक विकारों के साथ द्वन्द्वयुद्ध के लिये उद्यत तीन प्रकार के विकासगामी जीव

अनेक विकासगामी आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो करीब-करीब ग्रन्थिभेद करने योग्य साहस और बल प्रकट करके भी अन्त में रागद्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर तथा उससे हार खाकर वापस अपनी मूल स्थिति में आ जाते हैं। वे बार-बार बहुत पुरुषार्थ करते हैं, फिर भी रागद्वेष की निविड़ ग्रन्थि को शिथिल करने सक्षम नहीं हो पाते। रागद्वेष पर विजय प्राप्त करना उनके लिये दुष्कर हो जाता है। दूसरे प्रकार के कतिपय विकासोन्मुख आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो न तो हार खाकर वापस गिरते या पीछे हटते हैं, और न ही विजय प्राप्त कर पाते हैं। वे चिरकाल तक उक्त आध्यात्मिक संग्राम के मैदान में ही पड़े रहते हैं। किन्तु कुछ आत्मा ऐसे भी होते हैं,

---

१. (क) भिन्नम्मि तम्मि लाभो, सम्मत्ताईण मोक्खस्स हेऊणं ॥
सोय दुल्लभो परिस्सम चित्त विधायाई विग्घेहिं ॥ १२६ ॥
सो तत्थ परिस्सम्मई घोर-महासमर-निग्गयाइव्व ।
विन्नाय सिद्धिकाले जहवा विग्घा तहा सो वि ॥ १२७ ॥ –विशेषावश्यक भाष्य
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. सुखलालजी), पृ. १३

जो अपनी शक्ति का यथोचित सावधानीपूर्वक प्रयोग करके उक्त आध्यात्मिक युद्ध में रागद्वेष की निविड़ ग्रन्थि को छिन्न-भिन्न करने में सफल होते हैं और दर्शनमोह की शक्ति पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। किसी भी राग-द्वेष, काम-क्रोधादि मानसिक विकारों (आत्मा के वैभाविक भावों) के साथ द्वन्द्वयुद्ध में इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को प्रायः हुआ करता है। अर्थात्-कभी पराजित होकर पीछे हटने या नीचे गिरने का, कभी प्रतिद्वन्द्विता में डटे रहने का और कभी उन मानसिक विकारों को जीतने का अनुभव प्रायः प्रतिदिन होता रहता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में त्रिविध वृत्तियों का अनुभव

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में- चाहे वह आर्थिक क्षेत्र हो, धार्मिक या नैतिक क्षेत्र हो, चाहे सामाजिक या राष्ट्रीय क्षेत्र हो, चाहे वह विद्या, धन, कीर्ति या अन्य किसी अभीष्ट लौकिक वस्तु की प्राप्ति का प्रश्न हो, ऐसे अनेक विघ्न या संकट उपस्थित होते हैं, और उनसे संघर्ष करने या उनका सामना करने में पूर्वोक्त तीनों प्रकार की अवस्थाओं का-या त्रिविध मनोवृत्तियों का अनुभव प्रायः सबको होता रहता है। ऐसे कठिन प्रसंगों में कुछ लोग तो अनेक कठिनाइयों को देखकर उस प्रयत्न को छोड़ छाड़ कर पीछे हट जाते हैं। कई मैदान में डटे रहते हैं, वे न तो पीछे हटते हैं और न ही कठिनाइयों पर विजय कर पाते हैं। किन्तु कुछ ऐसे मनस्वी होते हैं, जो कठिनाइयाँ देखकर पीछे नहीं हटते, बल्कि उत्साहित होकर प्रबल वेग से उनसे भिड़ जाते हैं और अन्ततोगत्वा उन पर विजय प्राप्त करके ही दम लेते हैं।[१]

त्रिविध विकासगामियों के मनोभावों का रूपक द्वारा स्पष्टीकरण

एक बार तीन मित्र व्यापार करने के लिए विदेश जा रहे थे। चलते-चलते वे एक घने जंगल में पहुँच गए। थोड़ा-सा आगे बढ़ते ही उनमें से एक-एक मित्र को मार्ग में दो-दो चोर मिले। पहला मित्र दोनों चोरों को देखते ही भाग खड़ा हुआ। दूसरा मित्र भागा तो नहीं, किन्तु डरकर वहीं बैठ गया और चोरों से डर कर उनकी शरण स्वीकार ली। किन्तु तीसरा मित्र जो साहसी था, उसने चोरों से संघर्ष किया। चोरों से लड़कर उसने उन पर विजय प्राप्त की और आगे बढ़ गया, एवं अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच गया।

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. सुखलालजी)
(ख) जह वा तिन्नि मणुस्सा जंतइ विपहे सहावगमणेणं ।
वेला इक्कमभीया तुरंति पत्ता य दो चोरा ॥ १२१ ॥
दट्ठुं मग्ग तउत्थे ते एगो मग्गओ पडिनियत्तो ।
बितिओ गहियो, तइओ समइक्कंतो पुढे पत्तो ॥ १२२ ॥

तीन व्यापारी मित्रों के समान तीन करणों का स्वरूप

इस रूपक को इस प्रकार घटित किया गया है– घने जंगल के समान यह संसार है। दो चोर हैं– राग और द्वेष। चोरों की जंगल में छिपने जैसी जगह है– कर्मग्रन्थि (गांठ) प्रदेश। तथा तीन मित्रों के समान तीन प्रकार के जीव होते हैं। पहले मित्र की तरह कतिपय जीव ऐसे होते हैं, जो रागद्वेष की दुर्भेद्य सघन ग्रन्थि को देखते ही वापस लौट जाते हैं या भाग खड़े होते हैं। दूसरे प्रकार के मित्र के समान कई जीव ऐसे होते हैं, जो घबरा कर रागद्वेष ग्रन्थि की शरण स्वीकार कर लेते हैं, और हिम्मत हार कर ग्रन्थि-प्रदेश के पास बैठे रहते हैं। जबकि कुछ भव्य जीव साहसी, निर्भय और आत्मबली होते हैं, वे तीसरे मित्र के समान दुर्भेद्य राग-द्वेष-ग्रन्थि को अनिवृत्तिकरण के बल से भेदकर इन दोनों राग-द्वेषचोरों को परास्त करके आगे बढ़ जाते हैं, और सम्यक्त्व अभीष्ट पुर को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु होते हैं, ऐसे पराक्रमी जीव विरले ही। लोकप्रकाश में भी इसी रूपक द्वारा तीन करणों का स्वरूप समझाया गया है।

तीन मित्रों के स्वाभाविक पराक्रम जैसा ही पराक्रम इन तीनों विकासगामियों का क्रमशः यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के बल से होता है। पहले यात्री के समान रागद्वेष को परास्त करने हेतु आगे बढ़कर भयंकरता तथा कठिनाई देखकर पीछे हटने वाला यथाप्रवृत्तिकरण है। इस प्रकार पराक्रम करते-करते ग्रन्थि-प्रदेश के समीप लाने वाला अपूर्वकरण है। उत्साह और साहस के साथ प्रबल संघर्ष करके रागद्वेषरूपी चोरों के अपूर्वकरण के बल से शीघ्र परास्त करके आगे बढ़कर अभीष्ट स्थान-सम्यक्त्वनगर तक पहुँचाने वाला अनिवृत्तिकरण है।[१]

---

१. (क) कर्म तेरी गति न्यारी से भावांशग्रहण, पृ. ६७, ६८

(ख) यथा जनास्त्रयः केऽपि, महापुरं पिपासवः।
प्राप्ताः क्वचन कान्तारे, स्थानं चौरैः भयंकरम् ॥ ६१९॥
तत्र द्रुतं द्रुतं यान्तो, ददृशुस्तस्करयम्॥
तद्दृष्ट्वा त्वरितं पश्चादेको भीतः पलायितः ॥ ६२०॥
गृहीतश्चापरस्ताभ्यामन्यस्त्ववगणम्येतौ ।
भयस्थानमतिक्रम्य पुरं प्राप पराक्रमी ॥ ६२१॥
दृष्टान्तोपनयश्चात्र, जना जीवा भवोऽटवी ।
पन्थाः कर्मस्थितिर्ग्रन्थि, देशस्त्विह भयास्पदम् ॥ ६२२॥
रागद्वेषौ तस्करौ द्वौ, तद्भीतो वलितस्तु सः॥
ग्रन्थिं प्राप्याऽपि दुर्भावाद्यो ज्येष्ठस्थितिबन्धकः ॥ ६२३॥

(शेष पृष्ठ ३६० पर)

दर्शनमोहमुक्तिपूर्वक सम्यक्त्वप्राप्ति के लिए त्रिकरण करना अनिवार्य

यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करणों के बिना ग्रन्थिभेद का और सम्यक्त्व को पाने का कार्य सफलतापूर्वक नहीं हो सकता। इसलिए ग्रन्थि भेद के इस प्रबल पुरुषार्थ के लिए विकासगामी आत्मा तीन करण करते हैं-(१)यथाप्रवृत्तिकरण, (२) अपूर्वकरण और (३)अनिवृत्तिकरण। क्योंकि विकासोन्मुखी आत्मा का साध्य- मोक्ष है; कर्ममुक्ति है। मोहकर्म सब कर्मों में प्रबल है। उसका शमन, क्षपण किये बिना अन्य कर्मों से मुक्त होना असम्भव है। सम्यक्त्व मोक्षप्रासाद का द्वार है। उसे पाने के लिए सर्वप्रथम तीन करण करना अनिवार्य है। करण का अर्थ यहाँ परिणाम विशेष, आत्मा का अध्यवसाय विशेष या आत्मबल का प्रकटीकरण है। आत्मा के अध्यवसाय, भाव या विचार परिणाम हैं। आत्मा अनादिकालीन मिथ्यात्व को क्रमशः मन्द, मन्दतर करने तथापरिपक्व तथाभव्यता के कारण कर्ममुक्ति की दिशा में अग्रसर होने हेतु प्रथमावस्था में मोक्ष के मुख्य द्वार- सम्यक्त्व तक पहुँचने के लिए क्रमशः यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करना अनिवार्य है। अनादिकालिक कर्मों के क्षय के लिए उद्यत आत्मा अध्यवसाय-विशेषवश पहले यथाप्रवृत्तिकरण करता है। जिसके जरिये आत्मा को कर्मग्रन्थि तोड़ने के लिए ग्रन्थि के समीप लाने का काम होता है। तत्पश्चात् जिस शक्ति का पहले प्रयोग नहीं किया गया, उस अपूर्व आत्मशक्ति का प्रयोग करके स्थितिघात रसघात आदि करने का अध्यवसाय करता है-अपूर्वकरण। और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न होने तक परिणाम पुनः गिर न जाएँ, अर्थात्-निवृत्त न हो जाए, आत्मा का ऐसा परिणामविशेष अनिवृत्तिकरण द्वारा होता है। तीनों करणों में से अभव्य जीव के तो सिर्फ पहला करण ही होता है। वह इससे आगे कदापि नहीं बढ़ पाता। जबकि भव्य जीवों के लिए तीनों ही करण आगे बढ़ने में अनिवार्य होते हैं।[१]

(पृष्ठ ३५९ का शेष)

चौररुद्धस्तु स ज्ञेयस्तादृग् रागादिबाधितः।
ग्रन्थिं भिनत्ति यो नैव, न चाऽपि वलते ततः ॥ ६२४॥
स त्वभीष्टपुरं प्राप्तो योऽपूर्वकरणाद् द्रुतम् ।
रागद्वेषावपाकृत्य, सम्यग्दर्शनमाप्तवान् ॥ ६२५॥ -लोकप्रकाश सर्ग ३

१. (क) करणं अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टिमेव भव्वाणं ।
इयरेसिं पढमं चिय अन्नइ करणंति परिणामो ॥
(ख) जा गंठी ता पढमं गंठिं समइच्छाओ अपुव्वं तु ।
अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्त पुरक्खडे जीवे ॥

तीनों करण कब और कहाँ किये जाते हैं? इस विषय में कहा गया है-(१) ग्रन्थिस्थान-पर्यन्त आगमन के लिए पहला **यथाप्रवृत्तिकरण** किया जाता है। (२) ग्रन्थिभेद करते समय रागद्वेष की गांठ का छेदन करने के अभिमुख होने के लिए **अपूर्वकरण** किया जाता है, इसमें जीव सम्यक्त्वाभिमुख होता है। इसके आगे जीव द्वारा अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसाय रूप तीसरा **अनिवृत्तिकरण** किया जाता है। जिससे सम्यक्त्व प्राप्त करके ही दम लेता है।

तीनों करणों का ग्रन्थिभेद करने में क्या-क्या कार्य एवं उपयोग हैं ?

पूर्वोक्त भयंकर राग-द्वेष की निबिड़ गांठ का भेदन करने के लिए प्रबलतम आत्मिक शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। जो जीव इस प्रकार की प्रबलतम आत्मशक्ति का प्रयोग करके रागद्वेष की ग्रन्थि का भेदन करके दर्शनमोह पर विजय प्राप्त कर आगे बढ़ जाता है, वही मोक्षमार्ग के प्रथम द्वार सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है। परन्तु सभी जीवों में समान शक्ति नहीं होती। कई जीव हार मानकर ग्रन्थिभेद को दुर्भेद्य मानकर साहस एवं उत्साह से हीन होकर वापस भी लौट जाते हैं और सुखशील बन जाते हैं। कई जीव हार भी नहीं मानते और ग्रन्थि को तोड़ भी नहीं पाते, किन्तु थोड़े-से पस्तहिम्मत होकर वहीं बैठ जाते हैं। इसी तथ्य को तीन चींटियों के रूपक[१] द्वारा 'विशेषावश्यक भाष्य' में समझाया गया है।

चींटियों के रूपक द्वारा तीन करणों का स्पष्टीकरण

वैसे तो तीन (स्पर्शन, रसना और नासिका) इन्द्रियों वाली चींटियाँ आँखें न होने से सामान्यतया जमीन पर ही चलनी हैं, आँख, कान न होते हुए भी कुछ चींटियाँ वृक्ष के तने (स्तम्भ) पर चढ़ जाती हैं, किन्तु जहाँ जरा भी खतरा हुआ कि वापस लौट जाती हैं। कई साहसी चींटियाँ दीवार के सहारे चढ़ती हैं, किन्तु किले पर पहुँच नहीं पातीं, वहीं आसपास चढ़ती-उतरती रहती हैं। कई इनसे भी बढ़कर साहसी चींटियाँ हैं, जो किले पर चढ़कर वहाँ से उड़ भी जाती हैं। चींटियों की स्वाभाविक गमनागमन प्रवृत्ति की तरह जीव की यथावत् स्वाभाविक मति यथाप्रवृत्तिकरण रूप

---

१. खिति-साभाविय-गमणं थाणूसयाणं तओ समुप्पयणं ।
थाणं थाणूसिरे वा ओरूहणं वा मुइंगाणं ॥
खिइ-गमणं पिव पढमं थाणूसरणं व करणमपुव्वं ।
उप्पयणं पिव ततो जीवाणं करप्पमनिवट्टिं ॥
थाणुव्व गंठिदेसे गंठियसत्तस्स तत्थवत्थाणं ।
ओयरणं पिव तत्तो वि कम्मट्ठिइ-विवुड्ढी ॥ -विशेषावश्यक भाष्य

होती है। किले पर चढ़ने के समान अपूर्वकरण होता है तथा किले पर पहुँच कर वहाँ से उड़ जाने की तरह अनिवृत्तिकरण होता है।

यथाप्रवृत्तिकरण का परिष्कृत रूप

शारीरिक और मानसिक दुःखों तथैव भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि दुःखों को परवश होकर अज्ञात-अनाभोगरूप से भोगने (सहन करने) से गिरिनदीपाषाण न्याय से अकामनिर्जरा होने से आत्मा पर लगा कर्मों का आवरण कुछ हलका (शिथिल) होता है। यद्यपि पराधीनतावश बिना इच्छा के, बिना जाने-समझे यह अकामनिर्जरा होती है, जिससे परिणामों में कुछ कोमलता और शुभाशयता बढ़ती है। अतः जैसे वह जीव कर्मक्षय की प्रवृत्ति पहले करता था, वैसे ही विशेषरूप से कर्मक्षय-प्रवृत्ति करने हेतु आगे बढ़ना-यथाप्रवृत्तिकरण है। संक्षेप में, अनादिकाल से कर्म बांधने और खपाने की प्रवृत्ति को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। अज्ञानपूर्वक की हुई कर्म-निर्जरा से भी कर्मों की स्थितियाँ कम होती हैं। जैसे 'घुण' नामक कीड़ा लकड़ी पर रेंगता और उसे कुतरता हुआ एक सिरे से दूसरे सिरे तक आता-जाता रहता है। उस समय अनजाने में ही बिना जाने-सोचे, उस काष्ठ पर अ, इ, उ, क आदि अक्षर बन जाते हैं। इसी घुणाक्षर न्याय की तरह बिना इच्छा के, बिना सोचे-समझे अनजाने में जो कर्मों की निर्जरा हो जाती है, उस अकाम निर्जरा के अनाभोगिक परिणामों को यथाप्रवृत्तिकरण कहा गया है।

गिरि-नदी-पाषाणन्यायवत् आत्मपरिणामों की स्वल्प शुद्धि

इस विषय में दूसरा उदाहरण 'गिरि-नदी-पाषाण' का दिया जाता है। पहाड़ी नदी के तीव्र प्रवाह के साथ कई छोटे-बड़े पत्थर घिसटते-बहते चले जाते हैं। यद्यपि वे पत्थर अपनी ओर से कुछ भी प्रयत्न नहीं करते, तथापि पानी के प्रवाह के साथ परस्पर टकराते और घिसते-घिसते कोई-कोई पत्थर एक दिन गोल और मनोरम्य बन जाता है। ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्व दशा में पड़ा हुआ जीव रूपी पाषाण, स्वयं स्वेच्छा से, समझ-बूझ कर कोई भी प्रयत्न विशेष नहीं करता, किन्तु मनस्तरंग रूपी प्रवाह में आकर दुःखों, कष्टों और विपदाओं से संघर्ष करता-टकराता हुआ, सहता हुआ चतुर्गतिक संसार रूपी नदी के प्रवाह के साथ चक्कर लगाता-लगाता एक दिन इस योग्य हो जाता है कि वह शुभ परिणामवश अकाम निर्जरा कर लेता है, कर्मों की स्थिति घटा लेता है। ऐसे परिणामपूर्वक की गई प्रक्रिया को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। दूसरे शब्दों में, इस अज्ञान-पूर्वक दुःख-संवेदना-जनित अत्यन्त अल्प आत्मशुद्धि को यथाप्रवृत्तिकरण कहा जाता है। इसके कारण आत्मा पर छाया हुआ कर्मों का गाढ़ आवरण शिथिल होता है। मिथ्यात्व को मन्द करता है। उस जीव के अनुभव

तथा वीर्योल्लास की मात्रा में कुछ वृद्धि होती है। ऐसी स्थिति में उस विकासगामी आत्मा के परिणामों की शुद्धि एवं कोमलता भी यत्किंचित् बढ़ती है; जिसकी बदौलत वह राग-द्वेष की दुर्भेद्य एवं तीव्रतम ग्रन्थी को तोड़ने का बार-बार प्रयत्न करता है। बीच-बीच में मोहकर्मवश आहत होकर गिरता है, परन्तु पुनः प्रयत्न करता है।[१]

यद्यपि मोक्षप्राप्ति के लिए अयोग्य पात्ररूप, अभव्यजीव भी अनिच्छा से यथाप्रवृत्तिकरण कर लेता है, किन्तु आगे नहीं बढ़ पाता। मोक्ष-प्राप्ति के योग्य भव्यात्मा भी यदि आगे के अपूर्वकरण आदि न करे तो पूर्वकृत यथाप्रवृत्तिकरण भी निष्फल जाता है। भव्य कहलाने वाले जीव ने भी अनन्तकाल में ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण भी अनन्त बार कर लिये, किन्तु ग्रन्थि भेद न कर सकने के कारण वापस लौट कर जहाँ का तहाँ पूर्ववत् रागादिबन्धन में जकड़ कर पुनः कर्मबन्ध की उत्कृष्ट स्थितियाँ बांधने लग जाता है। और मिथ्यात्व पुनः तीव्र=गाढ़ हो जाता है। इसी कारण दिगम्बर परम्परा में इसे अथाप्रवृत्तकरण तथा अधःकरण कहा गया है।[२]

यथाप्रवृत्तिकरण के दो प्रकार : सामान्य और विशिष्ट

इसीलिए आचार्यों ने यथाप्रवृत्तिकरण दो प्रकार बताये हैं-(१) सामान्य और (२) विशिष्ट या पूर्वप्रवृत्त यथाप्रवृत्तिकरण। जिस करण के बाद निश्चित रूप से अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति होती है, ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण को पूर्वप्रवृत्त-विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। आशय यह है कि ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण को करने वाला अवश्य ही ग्रन्थि भेद करके अन्य करणों को करता हुआ आगे बढ़कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः ऐसा यथाप्रवृत्तिकरण ही आत्मोन्नति या

---

१. (क) परिणामविशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम्। -लोकप्रकाश सर्ग ३/५९९
(ख) यथाप्रवृत्तकरणं नन्वनाभोगरूपकम्।
भवत्यनाभोगतश्च, कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ॥ ६०७॥
यथामिथोघर्षणेन ग्रावाणोऽद्रिनदीगताः ।
स्युश्चित्राकृतयो ज्ञानशून्या अपि स्वभावतः॥ ६०८॥
तथा यथाप्रवृत्तात् स्युरप्यनाभोगलक्षणात् ।
लघुस्थितिक कर्माणो जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च ॥ ६०९॥ -लोकप्रकाश सर्ग ३
(ग) कर्म तेरी गति न्यारी भा. १ से भावांश ग्रहण, पृ. ७४, ७५
(घ) चतुर्थ कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं. सुखलालजी), पृ. १८

२. (क) कर्म तेरी गति न्यारी, भा. १, पृ. ६९
(ख) 'अथाप्रवृत्तकरण' के स्वरूप के लिए देखें, 'तत्त्वार्थ सूत्र राजवार्तिक अ. ९, सू. १, वा. १३

आत्मविकास की दिशा में प्रयास करने वाले जीव के लिए पहला स्टेशन है। इस प्रथम स्टेशन पर आये बिना जीव आत्मविकास का या निविड़ ग्रन्थि भेद का कार्य प्रारम्भ ही नहीं कर सकता। सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण तो जीव बार-बार करता है, परन्तु आगे नहीं बढ़ पाता।[१]

अपूर्वकरण : स्वरूप और विशेषता

दूसरा अपूर्वकरण है। अपूर्व का अर्थ है जो पहले (पूर्व में) कभी नहीं किया हो, करण का अर्थ है-ऐसा आत्मिक अध्यवसायरूप शक्ति का प्रयोग करना। अनादिकाल से अनन्त-पुद्गल-परावर्तकाल तक के संसार-परिभ्रमण के दौरान जीव ने पहले जिसका प्रयोग कभी भी नहीं किया था, ऐसे शुभ अध्यवसाय-रूप शक्ति का अभूतपूर्व प्रयोग करके रागद्वेष की सघन ग्रन्थि को भेदन करना अपूर्वकरण है। यह अपूर्वकरण पहले यथाप्रवृत्तिकरण की अपेक्षा विशुद्धतर (अधिक विशुद्ध) है। पूर्वप्रवृत्त-विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण करने वाला भव्य जीव ही इस अपूर्वकरण को कर सकता है। अतः यह अपूर्वकरण विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण का कार्य हुआ; और आगे के अनिवृत्तिकरण का कारण हुआ। पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रिय परिपक्व तथाभव्य जीव ही इसके अधिकारी हैं। अपूर्वकरण में यथाप्रवृत्तिकरण की अपेक्षा अधिक आत्मशुद्धि और वीर्योल्लास की मात्रा बढ़ती है। तभी जीव रागद्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि का भेदन कर पाता है। "इस अपूर्वकरण को तीव्र धार वाले कुठार के समान बताया गया है। इस करण के द्वारा अपनी आत्मशक्ति प्रबल रूप से प्रकट करके कई जीव ग्रन्थि भेद करते हैं।" चूंकि ऐसा करण यानी परिणाम विशेष विकासगामी आत्मा को अपूर्व-प्रथम बार ही प्राप्त होता है। रागद्वेष की निबिड़ ग्रन्थि का भेदन करने में पूर्वोक्त परिपक्व तथा भव्य जीव इस अपूर्वकरण का प्रयोग शस्त्ररूप में करता है। अतः ग्रन्थिभेद अपूर्वकरण की क्रिया का फल है। बीते हुए अनन्त भवों में जीव ने ग्रन्थिभेद का कार्य 'अपूर्वकरण' क्रिया से आज प्रथम बार ही किया है। यदि अपूर्वकरण न हो तो यथाप्रवृत्तिकरण का मूल्य नगण्य है। अपूर्वकरण होते ही दोनों करणों की कीमत अनेक गुणी बढ़ जाती है। यद्यपि यथाप्रवृत्तिकरण में आत्मा की निर्मलता के विकास का प्रारम्भ अवश्य होता है, किन्तु विशेष प्रकार की निर्मलता या विशुद्धि तो अपूर्वकरण में ही होती है।[२]

---

१. कर्म तेरी गति न्यारी, पृ. ६८, ६९

२. (क) वही, भा. १, पृ. ७६, ७७

(ख) तीव्रधार-पर्शुकल्पाऽपूर्वकरणेन हि ।
आविष्कृत्य परं वीर्यं, ग्रन्थिं भिन्दन्ति केचन ॥ ६१८॥ -लोकप्रकाश सर्ग ३

तीन करणों में अपूर्वकरण की दुर्लभता और महत्ता

तीन प्रकार के करणों द्वारा होने वाली आत्मशुद्धियों में दूसरी अपूर्वकरण नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को रोकने का अत्यन्त कठिन कार्य इसी के द्वारा किया जाता है; जो आसान नहीं है। एक बार इस कार्य में सफलता मिलने पर विकासगामी आत्मा चाहे ऊपर की किसी भूमिका से गिर पड़े, फिर भी वह पुनः अपने आध्यात्मिक पूर्ण स्वरूप-रूपी लक्ष्य को कभी न कभी प्राप्त कर लेता है। इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए एक रूपक लीजिए-

अपूर्वकरण रागद्वेष की तीव्रतम ग्रन्थिभेदन में सर्वाधिक उपयोगी

एक वस्त्र है, जिस पर मैल के अलावा चिकनाहट भी लगी है। उसका मैल ऊपर-ऊपर से दूर करना उतना श्रमसाध्य नहीं, जितना कि चिकनाहट का दूर करना। अगर चिकनाहट एक बार दूर हो जाय तो बाकी का मैल दूर करने में अथवा फिर से लगे हुए गर्दे को दूर करने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता और वस्त्र को उसके असली स्वरूप में लाया जा सकता है। ऊपर-ऊपर का मैल दूर करने में जो बल अपेक्षित है, उसके समान है-यथाप्रवृत्तिकरण। चिकनाहट दूर करने वाले विशेष बल व श्रम के प्रयोग के समान है-अपूर्वकरण; जो कि चिकनाहट के समान रागद्वेष की तीव्रतम ग्रन्थि को शिथिल करता है। बाकी बचे हुए मैल को, अथवा चिकनाहट दूर होने के बाद फिर से लगे हुए मैल को कम करने वाले बल-प्रयोग के समान है-अनिवृत्तिकरण। पूर्वोक्त तीनों प्रकार के बलप्रयोगों में चिकनाहट दूर करने वाला बल प्रयोग ही विशेष महत्वपूर्ण है।

अपूर्वकरण बलप्रयोग ही प्रधान क्यों? : एक चिन्तन

एक और उदाहरण के द्वारा इसे समझिए-किसी राजा ने अपनी रक्षा के लिए अपने अंगरक्षकों को तीन भागों में विभाजित किया। उनमें से दूसरा विभाग, शेष दो विभागों से प्रबल था। बड़ा हमला होने पर उसे परास्त करने में उसे ही विशेष बलप्रयोग करना पड़ता था। इसी प्रकार दर्शनमोह को जीतने के लिए विकासगामी आत्मा को दर्शनमोह के रक्षक रागद्वेष के तीव्र संस्कारों को शिथिल करने हेतु तीन बार बलप्रयोग करना पड़ता है। उनमें से दूसरी बार किया जाने वाला बलप्रयोग ही प्रधान होता है, जिसके द्वारा राग-द्वेष की अत्यन्त तीव्रतारूप ग्रन्थि का भेदन किया जाता है। जिस प्रकार उक्त तीनों दलों में से बलवान् द्वितीय अंगरक्षक द्वारा राजा का बल शिथिल किये जाने पर उस राजा को हराना आसान होता है, इसी प्रकार रागद्वेष

की अति तीव्रता को मिटा देने पर दर्शनमोह पर विजय पाना आसान हो जाता है। दर्शनमोह को जीतते ही पहला गुणस्थान समाप्त हो जाता है।[१]

अनिवृत्तिकरण कब, कैसा और कैसे-कैसे?

जीव अपूर्वकरण के द्वारा कोद्रव आदि धान्य के समान मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है-अविशुद्ध, अर्धशुद्ध और शुद्ध। उसके पश्चात् सम्यक्त्व की प्राप्ति तो अनिवृत्तिकरण से होती है।[२] अनिवृत्ति-अर्थात्-जिस करण के करने पर वापस निवृत्ति=लौटना न हो, ऐसा करण यानी आत्मा का शुद्ध प्रबल परिणाम। आत्मा का ऐसा विशुद्ध अध्यवसाय विशेष रूप करण, जिससे सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना जीव निवृत्त नहीं होता, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

अपूर्वकरण से जीवग्रन्थि भेद करके आगे बढ़ता है और अनिवृत्तिकरण से सम्यक्त्व को प्राप्त करके स्थिर होता है। अतः सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना पीछे न हटने की प्रतिज्ञारूप आत्मा के विशुद्ध अध्यवसाय रूप संकल्प अनिवृत्तिकरण है। यह अपूर्वकरण का कार्य है।

अपूर्वकरण के शीघ्र पश्चात् आत्मशुद्धि और वीर्योल्लास की मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है, तब आत्मा मोह की प्रधानभूत शक्ति-दर्शनमोह पर अवश्यमेव विजय प्राप्त करता है। इस विजयकारिणी आत्मशुद्धि को जैनकर्मविज्ञान में अनिवृत्तिकरण कहा है-क्योंकि इतनी आत्मशुद्धि के हो जाने पर आत्मा दर्शनमोह पर विजय पाये बिना नहीं रहता; अर्थात्-वह पीछे नहीं हटता। इसका समय अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। यह अन्तिम करण है।

अनिवृत्तिकरण की प्रक्रिया के बीच में अन्तरकरण : स्वरूप और कार्य

अनिवृत्तिकरण में सतत दीर्घकालिक स्थिति के दो भाग किये जाते हैं। इससे बीच में जो अन्तर पड़ता है, उसे अन्तरकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण-काल के क्रियाकाल के अन्तर्मुहूर्त को अनिवृत्तिकरण तथा निष्ठाकाल के अन्तर्मुहूर्त को अन्तरकरण माना जाता है। दोनों का जो संयुक्त काल होता है, वह भी अन्तर्मुहूर्त ही होता है, परन्तु उसे सम्पूर्ण अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। अन्तरकरण द्वारा मिथ्यात्व के किये हुए दो भागों में से छोटे पुंजरूप मिथ्यात्व-मोहनीय-कर्म-दलिकों का अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है। फिर अनिवृत्तिकरण के ही इस अन्तरकरण रूप निष्ठाकाल में

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी), पृ. २०, २१

२. अपुव्वेणं तिपुंजं मिच्छत्तं कुणइ कोद्दवोवमया।
अनियट्टीकरणेणं उ सो सव्वदंसणं लहइ॥ -विशेषावश्यक भाष्य

मिथ्यात्व-दलिक नहीं रहने से यहाँ पर प्रथम समय में ही उसे उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण के बल पर अन्तरकरण करते हुए जब निष्ठाकाल का अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब सर्वप्रथम मिथ्यात्व निकलता है, क्योंकि मिथ्यात्व के दलिकों को पहले ही वहाँ से नष्ट कर दिया गया है। अतः यहाँ मिथ्यात्व के उपशम से उपशमभाव द्वारा समुत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है।

इसमें मिथ्यात्वमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का अनुदय अर्थात्-उपशम होता है। उपशमभाव द्वारा समुत्पन्न होने से यह सम्यक्त्व औपशमिक कहलाता है। जब जीव अनिवृत्तिकरण करता है, तब अनादिकालीन अज्ञान का अन्त आता है। ऐसी स्थिति में सम्यक् परिणति रूप सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इससे संसार-परिणति का अन्त आता है। संसार परित्त (परिमित) हो जाता है। जिस प्रकार दावानल जलता-जलता ऊषर भूमि या रेतीली भूमि के प्रदेश में आते ही शान्त हो जाता है, वैसे ही अनादिकालिक संसार का अज्ञान एवं मिथ्यात्व अनिवृत्तिकरण के अन्तरकरण के फलस्वरूप शुद्ध सम्यक्त्व-प्राप्ति के पास आते ही दूर हो जाता है।[१]

तीनों करणों के माध्यम से आध्यात्मिक विकास के प्रथम सोपान पर

पूर्वोक्त तीनों करणों के माध्यम से जीव अपनी आध्यात्मिक विकास यात्रा का शुभारम्भ करता हुआ विकास के प्रथम सोपान पर चढ़ता है। यद्यपि यह सारी प्रक्रिया मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान में होती है। इसके पश्चात् वह जीव सीधा अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ स्थान पर आ जाता है।

चतुर्थ गुणस्थान की भूमिका में विपर्यास रहित सच्ची अध्यात्म दृष्टि

यह दशा आध्यात्मिक विकास क्रम की चतुर्थ भूमिका या चौथा गुणस्थान है, जिसे पाकर आत्मा पहले पहल आत्मिक शान्ति तथा आत्मस्वरूप के दर्शन की अनुभूति करता है। इस भूमिका में अध्यात्म दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुखी) होने से विपर्यास रहित हो जाती है। इसे ही जैन दर्शन में सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्व कहा है।[२]

यह भूमिका प्राप्त होते ही जीव स्वरूप का दर्शन कर लेता है। अर्थात्-अब तक उसकी जो पररूप में स्व-स्वरूप की भ्रान्ति थी, वह मिट जाती है। अतएव उसके

---

१. (क) कर्म की गति न्यारी भा. १, पृ. ७९, ८०
   (ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ प्रस्तावना, (पं. सुखलाल जी), पृ. १९

२. जिनोक्तादविपर्यस्ता सम्यग्दृष्टि र्निगद्यते।
   सम्यक्त्व-शालिनां सा स्यात्, तच्चैवं जायतेऽङ्गिनाम् ॥ ५९६ ॥ -लोकप्रकाश सर्ग ३

पुरुषार्थ की दिशा और गति संसाराभिमुखी न होकर मोक्षाभिमुखी हो जाती है। अर्थात्-प्रयत्न की गति उलटी न होकर सीधी हो जाती है। आशय यह है कि विवेकी बनकर कर्तव्य-अकर्तव्य का, आत्मा के हित-अहित का वास्तविक भान हो जाता है। इसी दशा को जैनशास्त्र में अन्तरात्म भाव कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करके विकासगामी आत्मा अपने अंदर विद्यमान सूक्ष्म और सहज शुद्ध परमात्म भाव को देखने लगता है। आशय यह है कि अन्तरात्म भाव आत्म-मन्दिर का गर्भद्वार है, जिसमें प्रविष्ट होकर उस मन्दिर में विद्यमान परमात्म भाव-रूप निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मदेव का दर्शन किया जा सकता है।[१]

चतुर्थ गुणस्थान : अविरत सम्यग्दृष्टि-प्राप्ति का अवर्णनीय-आनन्द

अनादिकालिक मिथ्यात्व को तोड़ कर, तथा निविड़ रागद्वेष की ग्रन्थि को भेद कर जीव जब प्रथम बार सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, तब उसे कितना आनन्द होता है? यह अवर्णनीय है। सचमुच, अपूर्वकरण की प्रक्रिया द्वारा रागद्वेष की ग्रन्थि का भेदन करके जीव जब अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान में पहुँच जाता है, अर्थात्-अनन्तकाल के संसार परिभ्रमण में जीव जो मिथ्यात्व के अन्धकार से निकल कर सम्यक्त्व प्राप्ति की-चतुर्थ गुणस्थान की सिद्धि प्राप्त करता है, उसका आनन्द असीम और अनिर्वचनीय क्यों नहीं होगा? योगबिन्दु में आचार्य हरिभद्रसूरि इसे तीन दृष्टान्तों द्वारा समझाते हैं-(१) जैसे-जन्मान्ध पुरुष को, जिसने जीवन में कभी भी रूप, रंग, प्रकाश आदि की दुनिया देखी ही न हो, उसे योगानुयोग, अकस्मात् किसी दैवी चमत्कारवश आँखें खुल जाने पर जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वह अपूर्व व अनुपम होती है; ठीक इसी प्रकार अनन्त-पुद्गल-परावर्तनकाल में, अनन्त जन्म तक अनादि मिथ्यात्व के कारण, जिसके सम्यग्दर्शनरूपी नयन युगल नष्ट-से हो चुके थे, जो वर्षों से सत्यतत्व को देख ही नहीं सका था, ऐसे भवाभिनन्दी जीव को योगानुयोग तथाभव्यत्व परिपक्व होने पर, यथाप्रवृत्तकरण-अपूर्वकरणादि तीनों करणों के माध्यम से ग्रन्थि भेद होने पर सम्यग्दृष्टि रूपी जो आँखें खुलती हैं, उससे मिथ्यात्वान्धकार का नाश तथा सत्य तत्वों के प्रति जो श्रद्धान होता है, उसका आनन्द जन्मान्ध को आँखें मिलने की अपेक्षा भी अनेक गुना होता है।

(२) मान लो, एक व्यक्ति भयंकर कुष्ट रोग से पीड़ित और संतप्त है, उसे शीतोपचार आदि किसी औषधि-विशेष से अचानक चमत्कार के समान उस रोग से मुक्ति मिल जाती है, तब उस रोगी को जैसा आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द,

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी), पृ० २१
(ख) कर्म की गति न्यारी भा. १, पृ. ८०

बल्कि पारमार्थिक परम आनन्द उस जीव को प्राप्त होता है, जिसे अनादि संसार के मिथ्यात्वरूपी भयंकर रोग से त्रिकरण-रूपी महौषध से मिथ्यात्व की निवृत्तिपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। कहा भी है-आत्मा के अपूर्व वीर्योल्लास के प्रभाव से ग्रन्थि भेद करके सम्यक्त्व प्राप्त करने का उस महान् आत्मा को वैसा ही तात्विक आनन्द प्राप्त होता है, जैसा व्याधिग्रस्त व्यक्ति को महौषध से रोग मिट जाने पर होता है।

(३) सचमुच, अपूर्वकरण रूप तीक्ष्ण भाववज्र द्वारा महाकष्ट से विदारणीय दुर्भेद्य रागद्वेष की सघन ग्रन्थि का भेदन करके जीव जब आगे बढ़ कर मिथ्यात्व-तिमिर का नाश करता है और सम्यक्त्व-सूर्योदय का प्रकाश अन्तरात्मा में फैल जाता है, तब उसे अनुपम, अभूतपूर्व एवं अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता है।

जैसे-भीष्म ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के प्रखर ताप से निर्जन वन में यात्रा करता हुआ कोई यात्री गर्मी और पसीने से घबरा रहा हो, प्यास से कंठ सूख रहा हो, ऐसे समय में सहसा उसे किसी सघन वृक्ष की छाया तथा शीतल मधुर जल मिल जाए तो कितना आनन्द होगा? ठीक इसी तरह अनादिकालीन संसार रूपी विकट वन में जन्म-मरणादि के दुःखों से आक्रान्त, तथा मिथ्यात्व और कषाय के ताप से संतप्त, तृष्णारूपी तृषा से पीड़ित भव्यजीवरूपी यात्री को अनिवृत्तिकरण रूपी शान्तिदायी वृक्ष की शीतल छाया मिलते ही तथा सम्यक्त्वरूपी मधुर शीतल जल मिलते ही असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। यह आनन्द प्रथम बार ही प्राप्त होने के कारण अनिर्वचनीय होता है।[१]

चतुर्थ गुणस्थान-प्राप्ति से आगे की भूमिका द्वारा स्वरूप स्थिरता प्राप्ति का विश्वास

निष्कर्ष यह है कि चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपदर्शन हो जाने से आत्मा को अपूर्व शान्ति, सन्तुष्टि एवं आनन्द की अनुभूति होती है। उस विकासगामी आत्मा को यह विश्वास हो जाता है कि मेरे साध्य की सिद्धि विषयक जो भ्रम था, वह दूर हुआ।

---

१. (क) कर्म की गति न्यारी, भा. १, पृ. ८१, ८२

(ख) जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये।
सद्दर्शनं तथैवाऽस्य ग्रन्थिभेदेऽपरे जगुः॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः।
सद्दृश्याद्यधिभवे यद्वत् व्याधितस्य महौषधात् ॥
तया च भिन्ने दुर्भेदे कर्मग्रन्थि-महाबले।
तीक्ष्णेन भाववज्रेण बहुसंक्लेशकारिणि॥ -योगबिन्दु

और इससे आगे की जितनी भी भूमिकाएँ-पंचम आदि गुणस्थान हैं, वे सब सम्यग्दृष्टि वाली हैं। अब तक जिस पौद्गलिक बाह्य सुख के लिये मैं लालायित रहता था, वह परिणाम-विरस, अस्थिर एवं परिमित है, परिणाम-सुन्दर, सुस्थिर, अपरिमित एवं शाश्वत सुख (अव्याबाध आत्मिक सुख) स्वरूप-प्राप्ति में ही है। मैंने मोह की प्रधान शक्ति दर्शनमोह पर विजय प्राप्त करके उसकी शक्ति को शिथिल कर दिया है, इससे मुझे स्व-रूप-दर्शन तो हुआ, परन्तु जब तक उसकी दूसरी शक्ति-चारित्रमोह को शिथिल न किया जाय, तब तक स्वरूप-प्राप्ति या स्वरूप में स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए वह मोह की दूसरी शक्ति को शिथिल या मन्द करने के लिए पुरुषार्थ करता है। जब वह उस शक्ति को अंशतः शिथिल कर पाता है, तब उसकी और भी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति हो जाती है। इसमें अंशतः स्वरूप-स्थिरता या अंशतः परपरिणति त्याग की पंचम भूमिका प्राप्त होने से चतुर्थ भूमिका की अपेक्षा अधिक शान्ति प्राप्त होती है। इस पंचम भूमिका का नाम पंचम देशविरति गुणस्थान है।[१]

पंचम देशविरति गुणस्थान से छठे सर्वविरति गुणस्थान प्राप्ति की चेष्टा

इस पंचम गुणस्थान से विकासगामी आत्मा को यह विचार होने लगता है कि यदि अल्पविरति से ही इतनी अधिक शान्ति प्राप्त हुई है, तब फिर सर्वविरति से, यानी ज्ञाताद्रष्टा बनकर परभावों के सर्वथा परित्याग से कितनी शान्ति प्राप्त होगी? इस स्वरूपलक्ष्यी चिन्तन से प्रेरित होकर तथा प्राप्त आध्यात्मिक शान्ति की अनुभूति से शक्तिमान् होकर वह विकासगामी आत्मा ऊर्ध्वारोहण करके चारित्रमोह को अधिकांश में शिथिल करके पहले की अपेक्षा अधिक स्वरूप-स्थिरता या स्वरूप-लाभ प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है। इस चेष्टा में सफलता प्राप्त होते ही उसे सर्वविरति-संयम प्राप्त होता है। इसमें पौद्गलिक भावों पर मूर्च्छा-आसक्ति नहीं रहती। उसका सारा समय स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के कार्य में ही व्यय होता है। अतः प्रमत्त-संयत नामक सर्वविरतिरूप छठा गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इसमें आत्म-कल्याण के अतिरिक्त जनकल्याण की भावना या विश्वात्म-कल्याण की भावना तथा तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है। इस कारण यदाकदा बीच-बीच में मद, विषय, कषाय, विकथा, निन्दा, ईर्ष्या आदि प्रमाद भी थोड़ी-बहुत मात्रा में आ जाता है।

यद्यपि पंचम गुणस्थान की अपेक्षा छठे गुणस्थान में स्वरूप-अभिव्यक्ति अधिक होने से विकासगामी आत्मा को पहले की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक शान्ति मिलती

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी) से साभार, पृ. २२, २३

है, तथापि बीच-बीच में विविध प्रमाद-भाव आकर उसकी शान्ति की अनुभूति में विक्षेप डालते हैं, उसकी शान्ति भंग कर देते हैं, जिसे वह सहन नहीं कर सकता। अतः सर्वविरतिजनित आत्मशान्ति के साथ-साथ अप्रमादजनित विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने की प्रबल भावना से प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमाद का त्याग करता है और स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल चिन्तन-मनन के सिवाय अन्य समस्त प्रवृत्तियों का त्याग कर देता है। यद्यपि संयमानुकूल दैहिक व सामाजिक प्रवृत्तियाँ करता है, परन्तु उन्हें यतनापूर्वक, ज्ञाता-द्रष्टा बनकर, अप्रमत्तभाव से करता है। यह अप्रमत्त-संयत नामक सप्तम गुणस्थान का स्वरूप और प्राप्तिक्रम है।

परन्तु इस गुणस्थान में एक ओर से अप्रमादजन्य उत्कट आत्मिक सुख का अनुभव आत्मा को उस स्थिति में बने रहने के लिए उत्तेजित करता है, जबकि दूसरी ओर, प्रमादजन्य पूर्ववासनाएँ या परभावों की वृत्तियाँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानी में विकासगामी आत्मा कभी तो प्रमाद के झूले में झूलने लगता है, कभी अप्रमाद की जागृति के झूले में। अर्थात् वह कभी छठे और कभी सातवें गुणस्थान में अनेक बार आवागमन करता रहता है। जिस प्रकार भंवरजाल में या वात्याचक्र में पड़ा हुआ तिनका इधर से उधर और उधर से इधर चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठे और सातवें गुणस्थान के दौरान विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है।[१]

प्रमाद के साथ होने वाले इस आन्तरिक भाव-संग्राम में युद्ध के समय विकासगामी आत्मा यदि अपना चारित्रबल प्रबलरूप से प्रकट करता है, तो फिर वह प्रलोभनों, भयों, मदों, विषयासक्ति, राग या द्वेष या कषाय आदि के रूप में आये हुए प्रमाद के विभिन्न रूपों को पार कर विशिष्ट अप्रमत्त अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को पाकर वह ऐसी आत्मशक्ति को बढ़ाने की तैयारी करता है, जिससे शेष रहे-सहे मोहबल को भी क्षीण किया जा सके। अवशिष्ट मोह के साथ होने वाले भावी संग्राम के लिये की जाने वाली तैयारी की इस भूमिका को आठवाँ गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान को पा लेने पर पहले कभी नहीं हुई, ऐसी आत्म-विशुद्धि हो जाती है। इस कारण कोई-कोई विकासगामी आत्मा तो मोह के संस्कारों के प्रभाव को क्रमशः दबाता (उपशान्त करता) हुआ आगे बढ़ता है और अन्त में उसे बिलकुल ही उपशान्त कर देता है। जबकि विशिष्ट आत्मशुद्धि वाला कोई अन्य साधक ऐसा भी होता है, जो मोह के संस्कारों को क्रमशः जड़मूल से उखाड़ता हुआ

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी), पृ. २२, २३

आगे बढ़ता है और अन्त में, उन सब मोह दल के संस्कारों को सर्वथा निर्मूल ही कर डालता है।

इस प्रकार आठवें गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले, दूसरे शब्दों में-अन्तरात्म भाव के विकास द्वारा परमात्मभावरूप सर्वोच्च भूमिका के निकट पहुँचने वाले आत्मा दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं-(१) उपशम श्रेणि और (२) क्षपक श्रेणि।

उपशम श्रेणि का स्वरूप और कार्य

एक श्रेणि (उपशम श्रेणि) वाले तो ऐसे होते हैं, जो मोह को एक बार दबा तो देते हैं, उसे उदय में नहीं आने देते, किन्तु उसे निर्मूल नहीं कर पाते। अतः जिस प्रकार किसी बर्तन में भरी हुई भाप कभी-कभी प्रबल वेग से उस बर्तन को उड़ा देती है, अथवा नीचे गिरा देती है। अथवा जिस प्रकार राख के नीचे दबी हुई आग हवा के प्रबल झौंके से राख उड़ते ही प्रज्वलित हो उठती है और अपना कार्य करने लगती है। अथवा जल के तल में बैठा हुआ मैल थोड़ी-सी हलचल होते ही ऊपर उठ कर सारे पानी को गंदा कर देता है; उसी प्रकार पहले दबाया हुआ मोह आन्तरिक युद्ध में थके हुए उन प्रथम श्रेणि (उपशम श्रेणि) वाले साधकों को अपने प्रबल वेग से नीचे पटक देता है। एक बार पूर्णतया उपशान्त किया जाने पर भी मोह, जिस भूमिका से आत्मा को पराजित करके नीचे गिरा देता है, वही ग्यारहवाँ गुणस्थान है। मोह को क्रमशः दबाते-दबाते पूर्णतया दबाने तक में उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि वाली दो भूमिकाएँ (दो गुणस्थान) अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं। जो क्रमशः नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान कहलाता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान अधःपतन की भूमिका वाला है, क्योंकि उसे प्राप्त करने वाला साधक आगे न बढ़कर, एक बार तो अवश्य नीचे गिरता है।

क्षपक श्रेणि का स्वरूप और कार्य

दूसरी (क्षपक) श्रेणि वाले साधक मोह को क्रमशः निर्मूल करते-करते अन्त में उसे सर्वथा निर्मूल कर ही डालते हैं। मोह का सर्वथा क्षय (उन्मूलन) करने की जो उच्च भूमिका है, वही बारहवाँ गुणस्थान है। इस गुणस्थान को पाने तक में, यानी मोह को सर्वथा निर्मूल करने से पहले बीच में नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करना पड़ता है। वस्तुतः पहली उपशमश्रेणि वाले हों, चाहे दूसरी क्षपकश्रेणि वाले, दोनों को नौवाँ, दसवाँ गुणस्थान तो प्राप्त करना ही पड़ता है।[१]

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी) से साभार, पृ. २४, २५

दोनों श्रेणियों में अन्तर

दोनों श्रेणि वालों में अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणि वालों की अपेक्षा दूसरी श्रेणि वालों में आत्मशुद्धि तथा आत्मशक्ति विशिष्ट प्रकार की पाई जाती है। जैसे-किसी एक ही कक्षा में पढ़ने वाले दो विद्यार्थियों में भिन्नता पाई जाती है। एक विद्यार्थी तो सौ बार प्रयत्न करने पर भी अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आगे नहीं बढ़ पाता। मगर दूसरा विद्यार्थी अपनी योग्यता के बल से समस्त कठिनाइयों को पार कर उस कठिनतम परीक्षा को बेधड़क उत्तीर्ण कर लेता है। इन दोनों श्रेणियों में इस अन्तर का कारण है-उनकी आन्तरिक योग्यता की न्यूनाधिकता। वैसे ही नौवें, दसवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले उक्त दोनों श्रेणिवर्ती आत्माओं की आध्यात्मिक विशुद्धि भी न्यूनाधिक होती है। यही कारण है कि उपशम (प्रथम) श्रेणि वाले तो दसवें गुणस्थान को पाकर अन्त में ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर मोह से पराजित होकर वापस नीचे गिरते हैं। जबकि क्षपक (दूसरी) श्रेणि वाले दसवें गुणस्थान को पाकर इतना अधिक आत्मबल प्रकट करते हैं कि अन्त में वे मोह को सर्वथा क्षीण करके बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर ही लेते हैं।

ग्यारहवाँ गुणस्थान अवश्यमेव पुनरावृत्ति का है, जबकि बारहवाँ गुणस्थान अपुनरावृत्ति का है। आशय यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान वाला आत्मा एक बार उससे अवश्यमेव गिरता है, इसके विपरीत बारहवें गुणस्थान वाला साधक उससे कदापि नहीं गिरता, बल्कि ऊपर ही चढ़ता है। जैसे-किसी एक विषय की परीक्षा में फेल होने वाले विद्यार्थी परिश्रम तथा एकाग्रता से पुनः अभ्यास करके योग्यता बढ़ाकर पुनः वह परीक्षा देकर उत्तीर्ण हो जाते हैं, वैसे ही एक बार मोह से हार खाने वाले उपशमश्रेणिगत आत्मा भी अप्रमत्तभाव एवं आत्मबल की प्रबलता से पुनः पुरुषार्थ करके मोह को अवश्य क्षीण कर देते हैं। वस्तुतः दोनों श्रेणियों वाले आत्मार्थियों की तरतमभावापन्न आत्मिक विशुद्धि एक प्रकार से परमात्मभावरूप सर्वोच्च भूमिका पर आरूढ़ होने की मानो दो निसैनियाँ हैं। जिनमें से प्रथम को जैनकर्मविज्ञान में उपशम श्रेणि और दूसरी को क्षपकश्रेणि कहा जाता है। पहली कुछ दूर चढ़ाकर गिराने वाली है, और दूसरी उत्तरोत्तर चढ़ाने वाली ही है। पहली श्रेणि से गिरने वाला आध्यात्मिक दृष्टि से अधःपतन के द्वारा चाहे प्रथम गुणस्थान तक ही क्यों न चला जाए, परन्तु उसकी वह अधःपतित स्थिति कायम नहीं रहती। कभी न कभी प्रथम श्रेणि का स्वामी दुगुने बल और दुगुनी सावधानी से सुसज्ज होकर मोहशत्रु का सामना करता है और अन्त में दूसरी श्रेणि की योग्यता प्राप्त करके मोह का सर्वथा उन्मूलन (क्षय) कर डालता है। व्यावहारिक जीवन में, भौतिक क्षेत्र में

भी देखा जाता है, जो एक बार हार जाता है, वह उत्साह और साहसपूर्वक पूरी तैयारी के साथ हराने वाले विपक्षी या विरोधी को फिर से हरा देता है।[1]

तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में आत्मा की सभी शक्तियों का पूर्ण विकास

परमात्म भाव का सुराज्य पाने में मुख्य रूप से बाधक है-मोह। जिसे नष्ट करना अन्तरात्म भाव के विशिष्ट विकास पर आधारित है। मोह का सर्वथा क्षय होते ही अन्य घातिकर्मों के जो आवरण हैं, वे भी उसी तरह क्षीण हो जाते हैं, जिस तरह सेनापति के मारे जाने के बाद उसके अनुगामी सैनिकगण भी तितर-बितर हो जाते हैं, पराजित हो जाते हैं। तदनन्तर विकासगामी आत्मा शीघ्र ही परमात्म भाव का पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर अर्थात-सच्चिदानन्द स्वरूप को पूर्णतया व्यक्त करके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख और अनन्तवीर्य आदि का लाभ प्राप्त कर लेता है। जैसे-पूर्णिमा की रात्रि में निरभ्र चन्द्र अपनी सम्पूर्ण शुभ्र कलाओं से प्रकाशित होता है, उसी तरह आत्मा भी अपनी समग्र शक्तियों से पूर्णतया प्रकाशित-विकसित हो जाती है। इसी भूमिका को कर्मविज्ञान में सयोगी केवली नामक तेरहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

चौदहवें अयोगि केवली गुणस्थान का स्वरूप और कार्य

इस गुणस्थान में जितना आयुष्य है, वहाँ तक रहने के पश्चात् साधक आत्मा दग्ध रज्जु (जली हुई रस्सी) के समान आवरणों, अर्थात्-अप्रधानभूत अघातिकर्मों को उड़ाकर फैंकने के लिए सूक्ष्म क्रियाप्रतिपातिशुक्लध्यानरूप पवन का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों (प्रवृत्तियों) का सर्वथा निरोध (संवर) कर देता है। यही आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठारूप चौदहवाँ अयोगिकेवली गुणस्थान है। इसमें आत्मा समुच्छिन्न-क्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु की तरह निष्प्रकम्प शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है। चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में पहले सूक्ष्म और फिर स्थूल शरीर के त्यागपूर्वक व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियों से लोकोत्तर अपुनरावृत्ति रूप स्थान को प्राप्त कर लेता है। इसी चौदहवीं भूमिका को हम निर्गुण ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। यही सर्वांगी पूर्णता और पूर्ण कृतकृत्यता है। यही परम पुरुषार्थ द्वारा साध्य की सिद्धि है। यही अपुनरावृत्ति सिद्धिगति नामक स्थान है। इसे पाने के बाद किसी भी प्रकार का मोह नहीं रहता।

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी) से साभार, पृ. २४ से २६ तक

संसार का एकमात्र कारण मोह है। जिसके सभी मोहजनित संस्कारों का निःशेष नाश हो जाने के कारण अब वह कर्मोपाधिक जन्म-मरण रूप संसार छूट जाता है।[१]

द्वितीय तृतीय गुणस्थान का स्वरूप और विश्लेषण

यह चौदह गुणस्थानों में से बारह गुणस्थानों का संक्षिप्त विश्लेषण हुआ। इसमें दूसरे और तीसरे गुणस्थान का वर्णन अवशेष रह गया था, वह इस प्रकार है- सम्यक्त्व अथवा तत्वज्ञान वाली ऊपर की चतुर्थ गुणस्थान आदि भूमिकाओं के राजमार्ग से च्युत होकर जब कोई आत्मा तत्वज्ञान शून्य या मिथ्यादृष्टि वाली प्रथम भूमिका से उन्मार्ग की ओर झुकता है, तब बीच में अधःपतनोन्मुख आत्मा की जो अवस्था होती है, वही दूसरा गुणस्थान है। यद्यपि इस गुणस्थान में प्रथम गुणस्थान को अपेक्षा आत्मशुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है। इसीलिए इसका क्रम पहले गुणस्थान के बाद रखा गया है, फिर भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस गुणस्थान को आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का कारण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रथम गुणस्थान को छोड़कर उत्क्रान्ति करने वाला जीव इस दूसरे गुणस्थान को सीधे तौर से (Direct) प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु ऊपर के गुणस्थानों से गिरने वाला जीव ही इसका अधिकारी बनता है। अधःपतन जब भी होता है, तब मोह के उद्रेक से होता है। अतः इस गुणस्थान के समय मोह की तीव्र कषायिक शक्ति का आविर्भाव पाया जाता है। जिस प्रकार मधुर पदार्थ खाने के बाद जब वमन हो जाता है, तब मुख में एक प्रकार का विलक्षण स्वाद मालूम होता है, जो न तो अत्यन्त मधुर होता है, और न अत्यन्त खट्टा (अम्ल); इसी प्रकार के विलक्षण आध्यात्मिक स्वाद की अनुभूति दूसरे गुणस्थान में होती है। इसका कारण यह है कि उस समय आत्मा न तो तत्त्वज्ञान की निश्चित भूमिका पर होता है, और न ही तत्त्वज्ञान शून्य निश्चित भूमिका पर। अथवा जैसे कोई व्यक्ति चढ़ने की सीढ़ियों से फिसल कर जब तक जमीन पर आकर नहीं ठहर जाता, तब तक बीच में एक विलक्षण अवस्था का अनुभव करता है, वैसी ही विलक्षण आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव सम्यक्त्व के ऊपर के गुणस्थानों से गिरकर मिथ्यात्व को पाने तक में-बीच में रहने वाला द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव करता है। और यह बात अनुभव सिद्ध भी है कि जब कोई व्यक्ति किसी निश्चित उन्नत-अवस्था से गिरकर एकदम नीचे की अवनत-अवस्था तक न पहुँचकर बीच में ही ठहर जाता है, तब एक विलक्षण स्थिति की अनुभूति उसे होती है।

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी) से साभार, पृ. २६, २७

तृतीय गुणस्थान का स्वरूप और कार्य

तृतीय गुणस्थान आत्मा की उस मिश्रित अवस्था का नाम है, जिसमें न तो केवल सम्यग्दृष्टि होती है, और न केवल मिथ्यादृष्टि। अपितु इस गुणस्थानवर्ती आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति दोलायमान बन जाती है। अतएव तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव की बुद्धि स्वाधीन एवं व्यवसायात्मिका न होने के कारण संदेहशील होती है। उसके सामने जो कुछ आया, वह सब उसे सत्य प्रतीत होता है। न तो वह तत्व को एकान्त अतत्वरूप से जानता है और न ही तत्व-अतत्व का यथार्थ एवं पूर्ण विवेक कर पाता है।

कोई आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने वाला जीव (आत्मा) प्रथम गुणस्थान से निकल कर सीधे ही तृतीय गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है और कोई अपक्रान्ति करने वाला जीव भी चतुर्थ आदि गुणस्थान से गिरकर तृतीय गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति दोनों प्रकार की स्थिति वाले, दोनों प्रकार के आत्माओं का आश्रय स्थान यह तृतीय गुणस्थान है। यही तीसरे गुणस्थान की दूसरे गुणस्थान से भिन्नता-विशेषता है।[१]

चौदह गुणस्थानों में क्रमिक आत्मिक उत्कर्ष का विहंगावलोकन

सामान्यतः आध्यात्मिक दृष्टि से जीवों के दो प्रकार हैं-मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि। अर्थात्-कितने ही जीव गाढ़ अज्ञानावृत और विपरीत बुद्धि वाले होते हैं, जबकि कितने ही विवेकी, ज्ञानी, प्रयोजनभूत लक्ष्य के मर्मज्ञ एवं आदर्श का अनुसरण करके जीवन बिताने वाले होते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के जीवों में अज्ञानी और विपरीत बुद्धि वाले जीवों को मिथ्यात्वी कहते हैं, उनका बोध कराने के लिए पहला मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

इसके विपरीत जो सम्यक्त्वधारी सम्यग्दृष्टि होते हैं, उनके भी तीन भेद हैं, जिनका बोध कराने के लिए क्रमशः सास्वादन सम्यग्दृष्टि, मिश्रदृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान हैं। सम्यक्त्व के वे तीन भेद इस प्रकार हैं-(१) सम्यक्त्व से गिरते समय स्वल्प सम्यक्त्व वाले, (२) अर्धसम्यक्त्व और अर्ध मिथ्यात्व वाले, (३) विशुद्ध सम्यक्त्व वाले, किन्तु चारित्र-रहित। इनमें से स्वल्प सम्यक्त्व वाले जीवों के लिए दूसरे, अर्धसम्यक्त्व और अर्धमिथ्यात्व वाले जीवों के लिए तीसरे मिश्रगुणस्थान और विशुद्ध सम्यक्त्व, किन्तु चारित्र-रहित जीवों के लिए चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का कथन किया गया है।[२]

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी), पृ. २८ से २९
२. द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. १ विवेचन, (मरुधरकेसरीजी), पृ. ८ से ११ तक

जैसे चारित्र-रहित चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीवों के तीन भेद हैं, वैसे ही चारित्र-सहित सम्यक्त्वी जीवों के भी मुख्यतया तीन भेद हैं-(१) एकदेश (अंशतः) चारित्र का पालन करने वाले और (२) पूर्णचारित्र का पालन करने वाले। इन दोनों में से एकदेश चारित्र का पालन करने वाले जीवों के लिए पांचवें देशविरत गुणस्थान का कथन है, जबकि सर्वांशत (पूर्ण) चारित्र का पालन करने वाले जीवों के लिए भी प्रमादवश अतिचार (दोष) लगाने वाले प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। (३) जबकि सम्पूर्ण चारित्र का निरतिचार (निर्दोष) पालन करने वाले अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान वाले कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में-प्रमाद-सहित सर्वसंयमी जीव और प्रमादरहित सर्वसंयमी जीव क्रमशः प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत कहलाते हैं।

यद्यपि अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव अभी पूर्ण वीतरागी नहीं हुए हैं, वे अभी छद्मस्थ हैं, कर्मावृत हैं, लेकिन वीतराग दशा प्राप्त करने की ओर उन्मुख हो जाते हैं। अतः अप्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती जीवों में से कितने ही जीव कर्मों का व्यवस्थित रीति से क्षय करने के लिए श्रेणिक्रम पर आरोहण करते हैं; और उनके परिणाम शुद्ध से शुद्धतर होते जाते हैं। श्रेणि का यह क्रम पहले की अपेक्षा दूसरे, दूसरे की अपेक्षा तीसरे समय में अपूर्व ही होता है। इस श्रेणिक्रम में एक की दूसरे से, दूसरे की तीसरे आदि की तुलना या समानता नहीं होती है। अतः ऐसी श्रेणिक्रम स्थिति वाले जीव अपूर्वकरण या निवृत्तिबादर नामक आठवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

यद्यपि श्रेणि-आरोहण के कारण क्रमिक विशुद्धता बढ़ने से जीव के कषाय भावों में काफी निर्बलता-मंदता आ जाती है, तथापि उन कषायों में पुनः उद्रेक होने की शक्ति बनी रहती है। अतः ऐसे कषाय-परिणाम वाले जीवों का बोध कराने के लिए आठवें के पश्चात् नौवें अनिवृत्तिबादर-सम्पराय नामक गुणस्थान का कथन किया गया।

नौवें गुणस्थानवर्ती जीव के द्वारा प्रतिसमय कषायों को कृश करने के प्रयत्न चालू रहते हैं। ऐसी स्थिति में एक समय ऐसा आता है, जब संसार के मूल कारणभूत कषायों की झलक-सी रह जाती है। इस भूमिका वाले जीव सूक्ष्म-सम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।[१]

जैसे झांई मात्र अतिसूक्ष्म अस्तित्व रखने वाली वस्तु तिरोहित या नष्ट हो जाती है, वैसे ही जो कषायवृत्ति अत्यन्त कृश हो ज्ञान से झलक मात्र रह गई है, उसके

---

१. द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. १ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ८ से १० तक

उपशान्त हो (दबा दिये) जाने से अथवा पूर्णतया क्षय हो जाने से जीव को शुद्ध-निर्मल स्व-भाव (स्व-रूप) के दर्शन हो जाते हैं। यों उपशमित (दबाई हुई, किन्तु सत्ता में अवस्थित) तथा नष्ट (समूल क्षय) हुई, इन दोनों स्थितियों या भूमिकाओं को बतलाने के लिए क्रमशः ग्यारहवाँ उपशान्त-मोह-वीतराग और बारहवाँ क्षीण-मोह-वीतराग नामक गुणस्थान है। बारहवें गुणस्थान में दर्शनशक्ति और चारित्रशक्ति के विपक्षी (प्रतिबन्धक) संस्कार (कारण-कषाय) सर्वथा क्षय हो जाते हैं, जिससे शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं।

मोहनीय कर्म के क्षय होने के अनन्तर ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीन घातिकर्मों का क्षय हो जाने से विकासगामी साधक अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख और अनन्त आत्मशक्ति, इन निज गुणों को प्राप्त कर लेता है। किन्तु अभी आयु-शरीरादि योगों का सम्बन्ध बना हुआ होने से योगयुक्त वीतरागी जीव सयोगी केवली नामक तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं और बाद में उन्हें जीवन्मुक्त अरिहन्त दशा प्राप्त हो जाती है। शरीरादि योगों से रहित हो जाने पर शुद्ध ज्ञान-दर्शनयुक्त, आत्मावस्था स्वरूप रमणता या स्वरूप-स्थिति आत्मा में प्रगट हो जाती है, तब उन उन जीवों का कथन अयोगी केवली नामक चौदहवें गुणस्थान नाम से किया जाता है। इस विदेह-दशा को प्राप्त करना मुमुक्षु जीव का परम लक्ष्य है। इस दशा को प्राप्त करने के बाद वह आत्मा शाश्वत, निर्मल, सिद्ध, बुद्ध मुक्त होकर स्वरूप में स्थिर हो जाता है। वह सदा-सदा के लिए समस्त कर्मों से रहित निरंजन, निराकार परब्रह्म हो जाता है। चौदहवाँ गुणस्थान-प्राप्त आत्मा अपने पूर्णरूप में यथार्थरूप से विकसित होकर सदा के लिए स्वरूप में सुस्थिर दशा प्राप्त कर लेती है। इसी को मोक्ष या कर्मों से सर्वथा मुक्ति कहते हैं।[१]

निष्कर्ष

गुणस्थान के इन चौदह भेदों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में, इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा परवर्ती गुणस्थान में प्रायः विकास की मात्रा अधिक होती है। विकास के इस क्रम का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है। स्थिरता का तारतम्य दर्शनमोह और चारित्रमोह की शक्ति की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान में आत्मा की दर्शन और चारित्र शक्ति का विकास इसलिए नहीं हो पाता कि उनमें उनके प्रतिबन्धक कारणों की अधिकता रहती है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में वे

---

१. द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. १ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. १०-११

प्रतिबन्धक संस्कार मन्द-मन्दतर होते चले जाते हैं, जिससे उन-उन गुणस्थानों में दर्शन-चारित्र शक्तियों के विकास का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। प्रतिबन्धक संस्कारों (कारणों) को कर्मविज्ञान की भाषा में कषाय कहते हैं। जिसके अनन्तानुबन्धी आदि मुख्यतः ४ विभाग है। इनमें से प्रथम विभाग दर्शनशक्ति का प्रतिबन्धक होता है, जबकि शेष तीन विभाग चारित्रशक्ति के प्रतिबन्धक हैं। संक्षेप में, आत्मा की समस्त शक्तियों का अत्यधिकरूप से अव्यक्त रहना प्रथम मिथ्यात्व-गुणस्थान है; और क्रमिक विकास करते हुए परिपूर्ण रूप को व्यक्त करके आत्मस्थ हो जाना चौदहवाँ अयोगिकेवली गुणस्थान है। यह चौदहवाँ गुणस्थान चतुर्थ-गुणस्थान में देखे गये परमात्मत्व का तादात्म्य है। पहले और चौदहवें गुणस्थानों के बीच में जो दो से लेकर तेरहवें पर्यन्त गुणस्थान हैं, वे कर्म और आत्मा के द्वन्द्वयुद्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली उपलब्धियों के नाम हैं। गाढ़ कर्मबन्ध से लेकर पूर्णतः कर्ममुक्ति तक के क्रमिक विकास के मार्ग में आत्मा को किन-किन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, यही गुणस्थानों के क्रमबद्ध सोपान हैं, अथवा उनकी क्रमबद्ध शृंखला की एक-एक कड़ियाँ हैं।

■■

१. द्वितीय कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (मरुधरकेसरीजी), पृ. २८, २९, ३०

१५

विविध दर्शनों में आत्मविकास की क्रमिक अवस्थाएँ

आत्मिक गुणों की शुद्धि की तरतमतानुसार कर्मबन्ध से उत्तरोत्तर मुक्ति

गुणस्थान के १४ प्रकारों के स्वरूप को जानने और विश्लेषण करने से जीव को आध्यात्मिक विकास की व्यवस्थित प्रणाली के स्पष्ट दर्शन होते हैं कि पूर्व-पूर्व के गुणस्थानों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के गुणस्थान में ज्ञान, दर्शन आदि आत्मिक गुणों की शुद्धि अधिकाधिक बढ़ती जाती है। फलतः आगे-आगे के गुणस्थानों में अशुभ-प्रकृतियों की अपेक्षा प्रायः शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है। तत्पश्चात् क्रमशः शुभ-प्रकृतियों का बन्ध भी रुक जाने से जीवमात्र के लिए प्राप्त करने योग्य शुद्ध, परमशुद्ध, प्रकाशमान आत्मरमणता रूप अथवा स्वरूप-स्थिति रूप साध्य-परमात्मपद प्राप्त हो जाता है।

आत्मा का विकास क्रमः कर्मक्षय-पुरुषार्थ का फल

पूर्व प्रकरण में जिन चौदह गुणस्थानों के स्वरूप का विशद विश्लेषण किया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा का यह विकासक्रम स्वयं उस आत्मा के कर्मक्षय रूप पुरुषार्थ का फल है, न कि किसी ईश्वर या किसी अन्य देवी-देव या शक्ति के द्वारा प्रदत्त या कृत है। क्योंकि दूसरी आत्मा किसी अन्य आत्मा के लिए आत्मगुणों का विकास करे, यह असम्भव है। हाँ, उसमें निमित्त, प्रेरक या मार्गदर्शक बन सकता है। परन्तु अपने आध्यात्मिक विकास या ह्रास का कर्ता स्वयमेव आत्मा ही है, अन्य नहीं। इससे यह भी स्पष्ट है कि जैनदर्शन में कोई अनादि सिद्ध परमात्मा नहीं है, प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है, परमात्मपद प्राप्त कर सकता है।[१]

---

१. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि)

आध्यात्मिक विकासक्रम: संक्षेप में तीन अवस्थाओं में

इस विराट् विश्व में अनन्त आत्माएँ हैं, उनके आध्यात्मिक विकास या ह्रास को व्यक्तिशः न बताकर १४ वर्गों में-चौदह भूमिकाओं या कक्षाओं में वर्गीकृत किया गया है। पूर्वोक्त १४ गुणस्थानों के द्वारा समस्त आत्माओं की जिन चौदह अवस्थाओं का विचार किया गया है, उनका तथा उनके अन्तर्गत संख्यातीत अवान्तर अवस्थाओं का वर्गीकरण करके अध्यात्म विकास की दृष्टि से जैनदर्शन में उनका संक्षेप में तीन अवस्थाओं में वर्गीकरण किया गया है- (१) बहिरात्म-अवस्था, (२) अन्तरात्म-अवस्था और (३) परमात्म-अवस्था। प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान बहिरात्म-अवस्था के व्यक्तरूप हैं, चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें तक के गुणस्थान अन्तरात्म-अवस्था के व्यक्तरूप हैं, तथा तेरहवाँ-चौदहवाँ गुणस्थान परमात्म-अवस्था के व्यक्तरूप हैं।

पहली बहिरात्म-अवस्था में आत्मा का वास्तविक शुद्धरूप मोहकर्म की दोनों शक्तियों से अतीव आच्छन्न रहता है, जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यास वाला होकर पौद्गलिक विलासों को ही सर्वस्व मान लेता है और उन्हीं की प्राप्ति के लिए समग्र शक्ति का व्यय करता है।

दूसरी अन्तरात्म-अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो पूर्णतया व्यक्त नहीं होता, परन्तु उसके ऊपर का आवरण गाढ़ न होकर उत्तरोत्तर शिथिल, शिथिलतर और शिथिलतम होता जाता है। जिसके फलस्वरूप उसकी दृष्टि पौद्गलिक विलासों से हटकर शुद्ध स्वरूप की ओर लग जाती है। इसी कारण उसकी दृष्टि में शरीर आदि की जीर्णता और पौष्टिकता, अपनी (आत्मा की) जीर्णता और पौष्टिकता या नवीनता प्रतीत नहीं होती। यह अन्तरात्म-अवस्था ही तीसरी परमात्म-अवस्था का दृढ़ सोपान है।

तृतीय परमात्म-अवस्था में आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। अर्थात्-उसके ऊपर लगे हुए समस्त कर्मों के घने आवरण सर्वथा विलीन हो जाते हैं।[१]

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी), पृ० २९, ३०

(ख) बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायक ध्येयाः प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७॥
अन्ये मिथ्यात्व -सम्यक्त्व-केवलज्ञान भागिनः ।
मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तस्तेत्व योगिनि॥ ८॥ -योगावतार द्वात्रिंशिका

(शेष पृष्ठ ३७७ पर)

प्रारम्भ के गुणस्थानत्रयवर्ती जीवों की बहिरात्म संज्ञा

प्रारम्भ के तीन गुणस्थान वाले जीव की बहिरात्मा संज्ञा है। इनमें से प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव पूर्णरूप से बहिरात्मा हैं। द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव में बहिरात्म-तत्त्व प्रथम-गुणस्थानवर्ती की अपेक्षा कम है, जबकि तृतीय-गुणस्थानवर्ती जीव में द्वितीय गुणस्थान वाले की अपेक्षा बहिरात्मभाव और भी कम है।

अन्तरात्मभाव का प्रारम्भ और उसकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था

चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव में अन्तरात्मभाव का प्रारम्भ होता है। ऐसा अन्तरात्मा सम्यक्त्वी जीव ज्यों-ज्यों अन्तर्मुख होकर अपनी दैनिक प्रवृत्तियों का अवलोकन करता है, त्यों-त्यों उसे वे बाह्य प्रवृत्तियाँ अशान्ति, दुःख, असंतोष एवं हानि की कारण, तथा अशाश्वत एवं दुःखप्रद प्रतीत होने लगती हैं, और उसके विपरीत आन्तरिक प्रवृत्तियाँ उसे शान्तिदायिनी लगती हैं। ऐसी स्थिति में जब वह अपनी असत्-प्रवृत्तियों के त्याग की ओर उन्मुख होता है और स्थूल प्राणातिपात प्रभृति पापों का परित्याग करता है, और अन्तरात्मतत्व की ऐसी श्रेणी पर पहुँचता है, जिस अवस्था को श्रावक, उपासक या श्रमणोपासक कहते हैं।

इसके पश्चात् जब उसकी विचार-आचार धारा और अधिक निर्मल होती है, तब वह यह अनुभव करने लगता है, कि पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष, इष्ट वस्तु के संयोग और वियोग तथा इष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट वस्तु के संयोग के प्रति क्रमशः प्रियता-अप्रियता की, अच्छे-बुरे की, मोह-द्रोह की, आसक्ति-घृणा की वृत्ति की, एवं सांसारिक वस्तुओं के प्रति मूर्च्छा-ममता के परित्याग में ही सच्ची शान्ति है, उनके संग्रह एवं ममत्व में नहीं, तब वह उक्त वस्तुओं का तथा सांसारिक मोहबन्धनों एवं कौटुम्बिक स्नेहपाश से मुक्त होने का उपक्रम करता है। फलतः घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि सबका परित्याग कर श्रमणधर्म स्वीकार करता है, सर्वविरतिचारित्र अपनाता है। पांच महाव्रत एवं पंच समिति-त्रिगुप्ति आदि पूर्ण संयम को अंगीकार करता है। यह अन्तरात्मा की तृतीय श्रेणी है। यद्यपि बीच-बीच में इसमें प्रमादावस्था आती है। इसीलिए इसे प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं।

(पृष्ठ ३७६ का शेष)

(ग) अन्ये तु मिथ्यादर्शनादि भाव-परिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादि-परिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादि-परिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्यगुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, ततः परं क्षीणमोह-गुणस्थानं यावदन्तरात्मा, तथा व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या परमात्माऽन्तरात्मा च। व्यक्त्या अन्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्वनयेन बाह्यात्मा, शक्त्या च। -अध्यात्म-मत-परीक्षा गा० १२५ टीका

परन्तु इसी सर्वविरतिचारित्र में रहते हुए जब साधक अप्रमत्त होकर स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन, समतायोग आदि की साधना में तल्लीन हो जाता है, तब वह अन्तरात्म तत्त्व की एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ जाता है। यह अप्रमत्तसंयत नामक सप्तम गुणस्थान है और अन्तरात्म तत्त्व की चतुर्थ श्रेणी है। किन्तु अपरिपक्व साधक की मनोवृत्ति अहर्निश अप्रमत्त नहीं रह पाती। श्रमण-साधनावस्था में शारीरिक-मानसिक द्वन्द्व, शोक, चिन्ता, मद, विकथा, निन्दा, ईर्ष्या, पदलोलुपता, पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान आदि अनेक संकल्प-विकल्प आकर उसके मन को व्यथित, विक्षिप्त एवं चिन्तित कर डालते हैं। इस कारण एकान्तरूप से अनवरत अप्रमत्तावस्था में वह रह नहीं सकता। इसलिए कभी प्रमत्त और कभी अप्रमत्त दोनों अवस्थाओं में वह चलता रहता है।

जब कोई साधक अप्रमत्त-अवस्था में रहते हुए परम आत्मसमाधि में तल्लीन हो जाता है और अपनी मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को बाहर से हटाकर एकमात्र अन्तर्मुखी और आत्मस्वरूप में स्थिर करता है। उस समय उसके हृदय में एक विशुद्ध व अपूर्व भाव जागृत होता है। ऐसी स्थिति में उसके पूर्वभवसंचित कर्म-बन्धन तथा चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम या क्षय क्रमशः चार या पांच श्रेणियों में होता है। यह अवस्था आठवें से लेकर ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान तक की होती है। इन ४ या ५ अवस्थाओं में श्रमण पूर्वबद्ध कर्मबन्धनों को क्रमशः घटाता है और ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जब नये बंधने वाले कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है, केवल एक समय जैसी अत्यल्प-स्थिति वाला सातावेदनीय कर्म का नाममात्र का बन्ध होता है। साथ ही अनादिकाल से बद्ध मूल-उत्तर-कर्म प्रकृतियों के बन्ध में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घातिकर्मों का समूल क्षय कर डालता है। यह **अन्तरात्म-तत्व की सर्वोत्कृष्ट अवस्था** है।

परमात्मदशा : दो गुणस्थानों में

अन्तरात्मा की इस (बारहवें गुणस्थान की) सर्वोत्कृष्ट अवस्था में चार घातिकर्मों के क्षय होते ही तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में **परमात्मदशा** प्रकट हो जाती है। वह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तचतुष्टय धारक जीवन्मुक्त हो जाता है। जब तक उसका आयुष्यकर्म समाप्त नहीं होता, तब तक शरीर आदि बने रहते हैं। शरीरसहित रहने वाली इस परमात्मदशा को सशरीर परमात्मा कहते हैं, जिसे अन्य दार्शनिक सगुण या साकार या सदेह परमात्मा कहते हैं। शरीर को 'कल' भी कहते हैं। शरीर के साथ रहने वाली यह परमात्मदशा सदेह या 'सकल' कहलाती है। इस सकल परमात्म-अवस्था में रहते हुए वे केवली भगवान् विश्व के विभिन्न अंचलों में पादविहार करते हुए स्वयं आत्मस्थ रहकर मुमुक्षु जीवों को सन्मार्ग पर चलने के

लिए प्रेरित करते हैं। जब उनका जीवनकाल (आयुष्य) अत्यन्त अल्प रह जाता है, तब वे विहार, देशना आदि समस्त क्रियाओं का निरोध कर पूर्णतया आत्मस्थ हो जाते हैं। फिर एक लघु अन्तर्मुहूर्त काल में अवशेष रहे हुए आयुष्य, नाम, गोत्र और वेदनीय, इन चार अघातिकर्मों (भवोपग्राही कर्मों) की समस्त प्रकृतियों का क्षय करके नित्य, निरंजन, निराकार, शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। इस अवस्था को अन्य दार्शनिकों ने 'निर्गुण' या निराकार परब्रह्म के नाम से अभिहित किया है। जैसे धान्य के ऊपर का छिलका दूर हो जाने से व्यक्त चावल में अंकुरोत्पत्ति की शक्ति नहीं रहती, वैसे ही कर्म-नोकर्मरूपी मल के नष्ट हो जाने से पूर्ण विशुद्धरूप में व्यक्त आत्मा-सिद्ध परमात्मा का भी भवांकुर पूर्णतया विनष्ट हो जाता है और वे अपुनरागम स्थिति में सदैव परमात्मपद में सिद्ध-मुक्त रूप में स्थित रहते हैं।

आध्यात्मिक विकास-क्रम का निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त परम-आत्मा अपने यथार्थरूप में विकसित होकर सदा के लिए आत्मस्वरूप में सुस्थिर हो जाता है। इसी को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्मदशा या परमात्मपद-प्राप्ति कहते हैं। आत्मा की समग्र शक्तियों का अव्यक्त रहना प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थान है और क्रमिक विकास करते हुए परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त करके आत्मस्थ हो जाना चौदहवाँ अयोगि-केवली गुणस्थान है। यह चौदहवाँ गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थान में देखे गए परमात्मत्व-ईश्वरत्व का तादात्म्य-रूप है। पहले और चौदहवें गुणस्थानों के बीच जो दूसरे से तेरहवें पर्यन्त गुणस्थान हैं, वे कर्म और आत्मा के बीच होने वाले द्वन्द्वयुद्ध के फलस्वरूप क्रमशः प्राप्त होने वाली उपलब्धियों के नाम हैं। इन्हें ही बहिरात्मा आदि तीन अवस्थाओं में वर्गीकृत करके जीवों के आध्यात्मिक विकास का क्रम बतलाया गया है।[१]

चौदह गुणस्थानों में से किसमें कौन-सा ध्यान?

जीव पहले से अन्तिम गुणस्थान तक में से किसी भी गुणस्थानवर्ती क्यों न हो, ध्यान से रहित नहीं होता, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जबकि ध्यान उसी का चिन्तनात्मक रूप है। सामान्यतया ध्यान के दो प्रकार हैं-शुभ और अशुभ। विशेषतया शास्त्रों में ध्यान के चार भेद बताये गए हैं-(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्म-ध्यान और (४) शुक्लध्यान। इन चारों में से पहले दो अशुभ हैं, और पिछले दो शुभ हैं। पौद्गलिक (भौतिक) दृष्टि की मुख्यता को लेकर, अथवा आत्मविस्मृति के समय जो ध्यान होता है, वह अशुभ और पौद्गलिक दृष्टि को गौण करके आत्मानुसन्धान-दशा में जो ध्यान होता है, वह शुभ है। अशुभ ध्यान संसार का

१. द्वितीय कर्मग्रन्थ विवेचन प्रस्तावना (मरुधरकेसरीजी म.), पृष्ठ २९, ३०

कारण और शुभ ध्यान मोक्ष का कारण होता है। आदि के तीन गुणस्थानों में आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान ही तरतमभाव से पाये जाते हैं। चौथे और पांचवें गुणस्थान में उक्त दो ध्यानों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्मध्यान भी होता है। छठे गुणस्थान में आर्त्त और धर्म, ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थान में सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवें से बारहवें गुणस्थान तक पांच गुणस्थानों में धर्म और शुक्ल, ये दो ध्यान होते हैं। तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में एकमात्र शुक्लध्यान होता है।

ध्यान के साथ कर्मबन्ध तथा कर्मक्षय का बहुत सम्बन्ध है, क्योंकि ध्यान एक प्रकार का परिणाम है। इसलिए कषाय भाव के तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र परिणामों से मोहनीय कर्म के तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्रभाव का बन्ध होता है, और उसका गुणस्थानक्रम के अनुसार पहले से दशवें गुणस्थान तक पाया जाना बताया गया है। ग्यारहवें, बारहवें में मोहकर्म क्रमशः उपशान्त और क्षीण हो जाता है। इसलिए धर्मशुक्लध्यान होता है और दो में तो वीतरागता के साथ एकमात्र शुक्लध्यान बताया गया है।

गुणस्थानों और ध्यानों के वर्णन से आगे बढ़ने की प्रेरणा

गुणस्थानों में पाये जाने वाले चार ध्यानों के उक्त वर्णन से तथा क्रमशः गुणस्थानों में किये गए बहिरात्मभाव, अन्तरात्मभाव और परमात्मभाव के पूर्वोक्त वर्णन से प्रत्येक मनुष्य सामान्यतया यह जान सकता है कि मैं किस गुणस्थान का अथवा कौन-सी आत्मा का या किस ध्यान का अधिकारी हूँ? ऐसा बोध, योग्य एवं आत्मार्थी अधिकारी की आत्मविकास की स्वाभाविक महत्वाकांक्षा को ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में आरोहण करने के लिए उत्तेजित, प्रोत्साहित एवं प्रेरित करता है,[१] जैसा कि युगादि-तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने गृहस्थपक्षीय ९८ पुत्रों को प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया था।

अन्यदर्शनों में आत्मिक विकासक्रम का निरूपण

यद्यपि जैन, बौद्ध और वैदिक आदि प्राचीन आस्तिक दर्शनों में, किसी न किसी रूप में आत्मा के क्रमिक विकास का विचार किया गया है, क्योंकि ये सभी आस्तिक दर्शन आत्मा के अस्तित्व, उसके पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, उसकी विकासशीलता एवं मुक्ति (मोक्ष) प्राप्ति की योग्यता को मानते हैं; तथापि जैनदर्शन में गुणस्थानों का

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी), पृ० ३१, ३२
(ख) आर्त्त-रौद्र-धर्म-शुक्लानि। परे मोक्षहेतुः। -तत्त्वार्थ सूत्र अ० ९, सू० २९, ३०
(ग) ध्यान के लिए विस्तृत वर्णन ध्यानशतक गा० ६३, आवश्यक हारि० टीका पृ० ६०२, तथा ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों में पढ़िये।

विभिन्न पहलुओं से कर्मों के संयोग और वियोग की विभिन्न अवस्थाओं को लेकर जैसा विस्तृत एवं सूक्ष्म विचार किया गया है, वैसा अन्य दर्शनों एवं मतों में नहीं पाया जाता। फिर भी उक्त तीनों आस्तिक दर्शनों में उक्त विचारधारा के सम्बन्ध में बहुत कुछ समानता है। अर्थात्-संकेत, प्ररूपणशैली, पारिभाषिक शब्दों की भिन्नता होते हुए भी वस्तुतत्त्व के विषय में तीनों दर्शनों का अन्तर नगण्य है।

योगवाशिष्ठ में आत्मा के क्रमिक विकास की भूमिकाओं का विस्तार से निरूपण किया गया है। संक्षेप में, योगवाशिष्ठ में सात भूमिकाएँ अज्ञान की और सात भूमिकाएँ ज्ञान की मानी हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-

अज्ञान की सात भूमिकाएँ-(१) बीज-जाग्रत, (२) जाग्रत, (३) महाजाग्रत, (४) जाग्रत स्वप्न, (५) स्वप्न, (६) स्वप्न जाग्रत और (७) सुषुप्तक।

ज्ञान की सात भूमिकाएँ-(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्वापत्ति, (५) असंसक्ति (६) पदार्थाभाविनी और (७) तूर्यगा।

उक्त चौदह भूमिकाओं का संक्षिप्त स्वरूप निरूपण इस प्रकार है-

१. **बीज-जाग्रत**- इस भूमिका में अहंत्व और ममत्व बुद्धि की जागृति नहीं होती। किन्तु बीजरूप में जागृति की योग्यता होती है। यह भूमिका वनस्पति आदि क्षुद्रनिकायों में मानी गई है।[१]

२. **जाग्रत**- इस भूमिका में अहंत्व-ममत्व-बुद्धि अल्पांश में जागृत होती है। यह भूमिका कीड़े-मकोड़े आदि तथा पशु-पक्षियों में पाई जाती है।

३. **महाजाग्रत**- इस भूमिका में अहंत्व-ममत्व बुद्धि विशेषरूप से पुष्ट होती है। यह भूमिका मानवगण तथा देवसमूह में पाई जाती है।

४. **जाग्रत-स्वप्न**- इस भूमिका में जागते हुए भी मनोराज्य अथवा भ्रम का समावेश होता है। जैसे- एक चन्द्र के बदले दो चन्द्र दिखना, सीप में चाँदी की भ्रान्ति होना। इन कारणों से यह भ्रमजनित भूमिका जाग्रत-स्वप्न कहलाती है।

५. **स्वप्न**- निद्रावस्था में आए हुए स्वप्न का जागने के पश्चात् भी जो भान होता है, वह स्वप्न-भूमिका है।

६. **स्वप्न-जाग्रत**- वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का इसमें समावेश होता है। वह स्वप्न शरीर-पात हो जाने पर भी चलता रहता है।

---

१. (क) योगवाशिष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ११७, श्लोक २ से २४

(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि), पृ० १७३, १७४

७. **सुषुप्तक**– यह भूमिका प्रगाढ़ निद्रावस्था में होती है, इसमें जड़-सी स्थिति हो जाती है और कर्म मात्र वासना के रूप में रहे हुए होते हैं।

इन सात प्रकार की अज्ञानमय भूमिकाओं में तीसरी से लेकर सातवीं तक की भूमिका स्पष्टरूप से मानव-निकाय में होती है।

ज्ञान की सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं–

१. **शुभेच्छा**– आत्मावलोकन की वैराग्यमय इच्छा।

२. **विचारणा**– शास्त्र एवं सज्जनों के संसर्गपूर्वक वैराग्याभ्यास के कारण सदाचार में प्रवृत्ति।

३. **तनुमानसा**– शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का घटना।

४. **सत्त्वापत्ति**– सत्य और शुद्ध आत्मा में स्थिर होना।

५. **असंसक्ति**– असंगरूप परिपाक से चित्त में निरतिशय आनन्द प्रादुर्भूत होना।

६. **पदार्थाभाविनी**– इसमें बाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थों पर से इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। शरीरयात्रा केवल दूसरों के प्रयत्नों को लेकर चलती है।

७. **तूर्यगा**– भेदभाव का भान बिलकुल भूल जाने से एकमात्र स्वभावनिष्ठा में स्थिर रहना। यह भूमिका जीवन्मुक्त की है। देहमुक्ति के पश्चात् विदेहमुक्त की भूमिका तूर्यातीत कहलाती है।

पूर्वोक्त सात अज्ञान की भूमिकाओं में अज्ञान का प्राबल्य होने से उन्हें अविकास क्रम में और ज्ञान की सात भूमिकाओं में क्रमशः ज्ञान की वृद्धि होने से उन्हें विकासक्रम में गिना जा सकता है। ज्ञान की सातवीं भूमिका में विकास पूर्ण कला में पहुँच जाता है। उसके पश्चात् की स्थिति मोक्ष की मानी जाती है।[१]

कतिपय विद्वानों ने इन भूमिकाओं की तुलना मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अवस्थाओं से की है, परन्तु हमारे नम्र मतानुसार संख्या की दृष्टि से भले ही गुणस्थानों के साथ इनकी तुलना की जाए, किन्तु क्रमिक विकास की दृष्टि से गुणस्थानों के साथ इनकी समानता की संगति नहीं बैठती।[२]

---

१. योगवाशिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११८, श्लोक ५/१५

२. जैन आचार (डॉ० मोहनलाल मेहता), पृ० ३९

योगवेत्ता जैनाचार्यों की दृष्टि में : तीन अवस्थाएँ

योगवेत्ता जैनाचार्यों ने चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की गणना सम्प्रज्ञातयोग में तथा तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान की गणना असम्प्रज्ञात योग में की है। उन्होंने साधना की दृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा को क्रमशः पतित-अवस्था, साधक-अवस्था और सिद्ध अवस्था कहा है। दूसरी दृष्टि से नैतिकता की अपेक्षा इन तीनों अवस्थाओं को क्रमशः अनैतिकता (Immoral)-अवस्था, नैतिकता (Moral)-अवस्था और अतिनैतिकता (Amoral)-अवस्था कहा जा सकता है। प्रथम अवस्था वाला प्राणी दुरात्मा या दुराचारी, द्वितीय अवस्था वाला प्राणी महात्मा या सदाचारी और तृतीय अवस्था वाला प्राणी परमात्मा या आदर्शात्मा होता है।[१]

योगदर्शन की दृष्टि में चित्त की पांच अवस्थाएँ

पातंजल योगदर्शन में चित्त की पांच अवस्थाएँ बताई गई हैं-(१) मूढ़ (२) क्षिप्त, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध। इनके स्वरूप क्रमशः इस प्रकार हैं-

१. **मूढ़**-इसमें चित्त तमोगुण-प्रधान होता है। इस अवस्था में व्यक्ति अज्ञान, आलस्य और मूढ़ता से घिरा रहता है। न उसमें सत्य को जानने की जिज्ञासा होती है, न ही धर्म के प्रति अभिरुचि होती है और न धन-सम्पत्ति के संग्रह की प्रवृत्ति होती है। उसका समग्र जीवन अज्ञान तथा अनैश्वर्य में ही बीतता है। ऐसी अविकसित अवस्था मनुष्यों और तिर्यंचों में पाई जाती है।

२. **क्षिप्त**-इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। चित्त बाह्य विषयों में फँसा रहता है। वह उसी उधेड़बुन में रहता है। रजोगुण की प्रबलता के कारण अति-प्रवृत्ति करता है और इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और लालसाएँ उसे फुटबॉल की तरह इधर से उधर दौड़ाती हैं, स्थिरता से बैठने नहीं देतीं। जब उसके साथ तमोगुण का मिश्रण होता है, तब अतिलोभ, कामान्धता और क्रूरता की प्रवृत्तियाँ पनपती हैं। किसी समय जब उसका सत्त्वगुण के साथ यत्किंचित् मिश्रण होता है, अच्छी प्रवृत्तियों में लगता है, अच्छे विचार करता है, उसका चित्त अच्छे कार्यों का चिन्तन करता है। यह अवस्था उस संसारी मानव की है, जो संसार मे फंसा है, अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति करता है, विविध प्रकार के उखाड़-पछाड़ में लगा रहता है।

३. **विक्षिप्त**-इस अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है। रजोगुण और तमोगुण दबे हुए होते हैं, वे गौणरूप से रहते हैं। इस अवस्था में सत्त्वगुण की प्रधानता रहने

---

१. (क) योगावतार द्वात्रिंशिका, श्लोक १५ से २१
(ख) परमात्म-प्रकाश, गा० १३, १४, १५ व्याख्या

से मनुष्य की प्रवृत्ति धर्मज्ञान और ऐश्वर्य की ओर अभिमुख रहती है, किन्तु रजोगुण के कारण यदाकदा चित्त विक्षिप्त और डांवाडोल होता रहता है।

योगदर्शन के अनुसार इन तीनों अवस्थाओं की योग की भूमिका में गणना नहीं की गई है, क्योंकि इन तीनों में चित्त वृत्ति प्रायः बहिर्मुखी होती है। लेकिन विक्षिप्त अवस्था में वह कभी-कभी अन्तर्मुखी भी होती है, किन्तु मन शीघ्र ही पुनः विषयों में भटकने लगता है।

४. **एकाग्र**—इस अवस्था में मन किसी प्रशस्त विषय में एकाग्र या तल्लीन हो जाता है। जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव घट जाता है, तब चित्त इधर-उधर भटकना छोड़कर एक विषय में एकाग्र और स्थिर हो जाता है। दीर्घकाल तक चित्त में चिन्तन की एक धारा चलती रहती है। इससे उसकी विचार शक्ति में उत्तरोत्तर गहनता आती जाती है। साधक जिस बात को सोचता है, उसकी गहराई में उतरता जाता है। आँखें बंद करने पर भी वही तथ्य उसके दिमाग में घूमता रहता है। इस प्रकार की एकाग्रता होने पर वह वस्तु उसके स्वाधीन और अधिकृत हो जाती है। ऐसी ही अवस्था में योग की विशिष्ट शक्तियाँ उभरती हैं। इस भूमिका को सम्प्रज्ञात या सबीजसमाधि कहते हैं। उसकी चार अवस्थाएँ हैं- वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

५. **निरुद्ध**—जिस चित्त में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। एकमात्र संस्कार ही शेष रह गए हों, वह निरुद्ध अवस्था है। इस अवस्था को असम्प्रज्ञात या निर्बीज- समाधि कहते हैं। इसके प्राप्त हो जाने पर चित्त के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध टूट जाता है और वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इसी का दूसरा नाम स्वरूपावस्थान है। इस अवस्था में पुरुष द्रष्टा बनकर बाह्य विषयों के चिन्तन को सर्वथा छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो जाता है।[१]

यही कारण है कि योगदर्शन में इन पांच अवस्थाओं को दृष्टिगत रखकर चित्त के दो भेद किये गए हैं—व्युत्थान-चित्त और निरुद्ध-चित्त। प्रथम तीन अवस्थाओं का सम्बन्ध व्युत्थानचित्त के साथ है और अन्तिम दो अवस्थाओं का सम्बन्ध निरुद्ध (निरोध) चित्त के साथ है। चित्त की प्रथम तीन अवस्थाएँ अविकासकाल की हैं और अन्तिम दो अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकासक्रम को सूचित करती हैं। चित्त की इन पांचों अवस्थाओं में मूढ़ और क्षिप्त में रजोगुण और तमोगुण की इतनी अधिक

१. (क) पातंजल योगदर्शन पाद १, सूत्र १ का व्यासभाष्य तथा वाचस्पति मिश्र की टीका।

(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि), पृ० १७५, १७६

प्रबलती रहती है कि वे नि:श्रेयस-प्राप्ति में साधक नहीं, बाधक बनते हैं, इन दो अवस्थाओं में आध्यात्मिक विकास नहीं होता। तीसरी विक्षिप्त अवस्था में जब कभी सात्त्विक विषयों में जो यत्किंचित् समाधि प्राप्त होती है, उस दौरान भी चित्त की अस्थिरता इतनी अधिक होती है कि उसे एकाग्रता में टिकने नहीं देती, इसी कारण उसे भी योग की कोटि में स्थान नहीं दिया गया है। एकाग्र और निरुद्ध अवस्था के दौरान जो समाधि होती है, उसे 'योग' कहा गया है। और वही आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम है। इन पांच भूमिकाओं के पश्चात् की स्थिति ही मोक्ष है।[१]

चित्त की पांच अवस्थाओं और गुणस्थानों में कितना सादृश्य, कितना विसादृश्य?

जैनकर्मविज्ञान-विहित गुणस्थान के साथ जब चित्त की इन पांच अवस्थाओं की तुलना करते हैं, तो यह कह सकते हैं कि आदि की दो अवस्थाएँ प्रथम गुणस्थान की सूचक हैं। तृतीय विक्षिप्त अवस्था मिश्र-गुणस्थान के तुल्य है। चतुर्थ एकाग्र अवस्था विकास की सूचक है और अन्तिम पंचम निरुद्ध अवस्था पूर्ण विकास को अभिव्यक्त करती है। चौथी से पांचवीं अवस्था के बीच में जो विकास की क्रमश: भूमिकाएँ हैं, वे नहीं बताई गई हैं। दूसरी बात- ये अवस्थाएँ चित्तवृत्ति के आधार पर आयोजित हैं। इनमें आत्मा की गौणता स्पष्ट परिलक्षित होती है और इसमें आत्मा की अन्तिम विकास-स्थिति का कुछ भी परिज्ञान नहीं होता, जबकि गुणस्थान का सीधा सम्बन्ध मन, बुद्धि, चित्त और हृदय के साथ नहीं, आत्मा के साथ है। फिर जैनकर्म-विज्ञान-निरूपित गुणस्थानों का क्रम राग, द्वेष, कषाय, विषयविकार, योग, मिथ्यात्वमोह आदि कर्मबन्धजनक कारणों तथा कर्मबन्ध के उत्तरोत्तर ह्रास एवं उपशम, क्षयोपशम और अन्त में पूर्णत: क्षय करने का है, जिसका इन चित्तवृत्तियों के निरोधक्रम में कहीं अता-पता नहीं है। माना कि चित्तवृत्तियों का निरोध परोक्षरूप से उक्त विकारों और दोषों को दूर करने का संकेत करता है, परन्तु आत्मा की पूर्णत: शुद्धि केवल चित्तवृत्ति के निरोध से नहीं होती, उसके लिए विकास की क्रमिक अवस्थाओं को अपनाना आवश्यक होता है। अत: जैनकर्म-विज्ञान प्ररूपित गुणस्थानों के साथ इन चित्तवृत्तियों की आंशिक तुलना हो सकती है, पूर्णरूप से नहीं।[२]

---

१. (क) योगदर्शन पाद १, सूत्र १ के भाष्य तथा टीका के आधार पर
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि), पृ० १७६

२. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि), पृ० १७७

बौद्ध दर्शन में भी आत्मा के विकासक्रम के बारे में चिन्तन किया गया है। उसमें आत्मा की संसार और मोक्ष (निर्वाण) आदि अवस्थाएँ मानी हैं। स्वरूपोन्मुख होने से लेकर स्वरूप की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने तक की स्थिति का वर्णन 'मज्झिमनिकाय' आदि ग्रन्थों में है। त्रिपिटक में आत्मिक विकास का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। जिसमें विकास की ६ स्थितियाँ बताई गई हैं-(१) अन्ध-पुथुज्जन, (२) कल्याण-पुथुज्जन, (३) सोतापन्न, (४) सकदागामी, (५) औपपातिक और (६) अरहा।

मज्झिमनिकाय में धर्मानुसारी आदि पाँच अवस्थाओं का स्पष्ट वर्णन है। वे इस प्रकार हैं-(१) धर्मानुसारी, (२) सोतापन्न, (३) सकदागामी, (४) अनागामी, और (५) अरहा।

मालूम होता है, 'त्रिपिटक' में उक्त अन्धपुथुज्जन और कल्याण-पुथुज्जन ये दो भेद उन सामान्य मानवों के हैं, वे मज्झिमनिकाय में उक्त 'धर्मानुसारी' से पूर्व की भूमिका को सूचित करते हैं; क्योंकि अंधपुथुज्जन और कल्याणपुथुज्जन में दीघनिकाय के अनुसार निम्नोक्त दसों प्रकार की संयोजनाएँ (बन्ध के मुख्य कारण) होती हैं। लेकिन इन दोनों में अन्तर यह है कि अन्धपुथुज्जन को आर्यदर्शन और सत्संग प्राप्त नहीं होता, जबकि दूसरे कल्याणपुथुज्जन को वह प्राप्त होता है। परन्तु दोनों ही निर्वाण मार्ग से पराङ्मुख हैं। दस प्रकार की संयोजनाएँ (बन्धन) ये हैं-(१) सक्कायदिट्ठि, (२) विचिकच्छा, (३) सीलव्वत-परामास, (४) कामराग, (५) पटीघ, (६) रूपराग, (७) अरूपराग, (८) मान, (९) उद्धच्च, और (१०) अविज्जा।

इनके पश्चात् मज्झिमनिकाय में उक्त 'धर्मानुसारी' का नम्बर है। धर्मानुसारी जैनाचार्यों द्वारा उक्त मार्गानुसारी या केवल श्रद्धाशील के सदृश है, जो मोक्षमार्ग के अभिमुख हुआ हो, लेकिन उसे प्राप्त न हुआ हो, यह अविरति सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान के सदृश है। मोक्ष (निर्वाण) मार्ग को प्राप्त किये हुए आत्माओं के विकास की न्यूनाधिकता के हेतुभूत 'सोतापन्न' आदि चार विभाग हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है-

(१) **सोतापन्न**-जो आत्मा अविनिपात, धर्मानियत और सम्बोधि-परायण हो।

(२) **सकदागामी**-जो एक ही बार इस लोक में जन्म लेकर मोक्ष जाने वाला हो।

(३) **अनागामी या औपपत्तिक (अनावृत्तिधर्मा)**-वह होता है, जो इस लोक में जन्म ग्रहण न करके ब्रह्मलोक से सीधे ही मोक्ष जाने वाला हो।

(४) **अरहा**-जो समस्त आसवों (आस्रवों) का क्षय करके कृतकार्य हो जाता है।[१]

धर्मानुसारी आदि पूर्वोक्त ५ अवस्थाओं को मज्झिमनिकाय में पांच प्रकार के बछड़ों से उपमित किया है। धर्मानुसारी आदि पांच अवस्थाओं की तुलना करते हुए कहा है-जैसे क्रमशः तत्कालजात वत्स (बछड़ा), कुछ बड़ा किन्तु दुर्बल वत्स, प्रौढ़ वत्स, हल में जोतने लायक बलवान् बैल और पूर्ण वृषभ, जिस प्रकार उत्तरोत्तर अल्प-अल्पतर श्रम से गंगानदी के तिरछे प्रवाह को पार कर लेते हैं, वैसे ही धर्मानुसारी आदि पूर्वोक्त पांच प्रकार के जीव (आत्मा) भी मार (काम) के वेग को उत्तरोत्तर अल्प-अल्पतर श्रम से जीत सकते हैं।

बौद्धशास्त्रोक्त पूर्वोक्त १० संयोजनाओं (कर्मबन्धनों) में से प्रारम्भ की पांच को **'ओरंभागीय'** और पिछली पांच को **'उड्ढंभागीय'** कही गई हैं। पहली तीन अवस्थाओं का क्षय हो जाने पर **'सोतापन्न'** अवस्था प्राप्त होती है। इसके बाद राग, द्वेष और मोह शिथिल होने पर तीन संयोजनाओं को क्षय और दो को शिथिल कर देने से **'सकदागामी'** अवस्था प्राप्त होती है। पांचों ओरंभागीय संयोजनाओं का क्षय हो जाने पर **'औपपत्तिक अनावृत्तिधर्मा'** अथवा **'अनागामी'** अवस्था प्राप्त होती है। तथा दसों संयोजनाओं का क्षय हो जाने पर **'अरहा'** पद प्राप्त होता है। यह निरूपण जैनकर्मविज्ञान द्वारा प्ररूपित कर्मबन्ध के क्रमशः क्षय से मिलता-जुलता है। सोतापन्न आदि पूर्वोक्त चार अवस्थाओं का विचार चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के विचारों के समान है, परन्तु कहना चाहिए कि ये चार अवस्थाएँ चौथे से लेकर चौदहवें गुणस्थानों का संक्षिप्त दिग्दर्शनमात्र हैं।[२]

---

१. (क) मज्झिमनिकाय (प्रो० सि० वि० राजवाड़े सम्पादित मराठी भाषान्तरित) सू० ६, २२, ४, ४८
   (ख) त्रिपिटक
   (ग) दीघनिकाय मराठी भाषान्तरित, पृ० १७५ टिप्पणी
   (घ) चतुर्थ कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी), पृ० ५४, ५५
   (ङ) दीघनिकाय (मराठी भाषान्तरित) पृ० १७६ टिप्पणी
   (च) द्वितीय कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (मरुधरकेसरीजी), पृ० ३२, ३३
   (छ) मज्झिमनिकाय (मराठी भाषान्तरित), पृ० १५६
२. (क) मज्झिमनिकाय (राजवाड़े द्वारा सम्पादित मराठी भाषान्तरित), पृ० १५६
   (ख) दीघनिकाय (राजवाड़े-सम्पादित), पृ० १७५ टिप्पणी
   (ग) चतुर्थ कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं० सुखलाल जी), पृ० ५४, ५५

इनमें प्रथम अंधपुथुज्जन आध्यात्मिक अविकास काल की अवस्था है। द्वितीय कल्याणपुथुज्जन अवस्था में विकास का अल्पांशतः स्फुरण होता है; किन्तु इसमें विकास की अपेक्षा अविकास का ही विशेष प्रभाव रहता है। तीसरी से छठी तक चार अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की हैं। और वह विकास छठी 'अरहा' अवस्था में पूर्ण होता है। इसके पश्चात् निर्वाण की स्थिति बनती है।[१]

आजीवक मत का प्रवर्तक मंखलिपुत्र गोशालक भगवान् महवीर का प्रतिद्वन्द्वी हुआ है, उसने अवश्य ही आत्मविकास की क्रमिक अवस्थाओं को बताने हेतु कुछ परिकल्पना की होगी। परन्तु इसका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। फिर भी बौद्धग्रन्थों में आजीवकमत-प्ररूपित आध्यात्मिक विकास के ८ सोपान इस प्रकार बतलाये गए हैं-(१) मन्दा, (२) खिड्डा, (३) पद वीमंसा, (४) उज्जुगत, (५) सेक्ख, (६) समण, (७) जिन और (८) पन्न।

मज्झिमनिकाय की सुमंगलविलासिनी टीका में इन आठों का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है-

(१) **मंदा**-जन्मदिन से लेकर सात दिन तक गर्भ-निष्क्रमणजन्य दुःख के कारण प्राणी मन्दस्थिति में रहता है, उसे मन्दा कहते हैं।

(२) **खिड्डा**-दुर्गति से आकर जन्म लेने वाला बालक पुनः-पुनः रुदन करता है और सुगति का स्मरण कर हास्य एवं क्रीड़ा करता है। यह खिड्डा (क्रीड़ा) भूमिका है।

(३) **पद-वीमंसा**-माता-पिता के हाथ या अन्य किसी के सहारे से बालक का धरती पर पैर रखना पदवीमंसा है।

(४) **उज्जुगत**-पैरों से स्वतंत्र रूप से चलने की क्षमता प्राप्त करना।

(५) **सेक्ख**-शिल्प, कला आदि के प्रशिक्षण के समय की शिष्य-भूमिका या शैक्ष-अवस्था।

(६) **समण**-घर-बार, कुटुम्ब-कबीला आदि छोड़कर संन्यास ग्रहण करना श्रमण-भूमिका है।

(७) **जिन**-आचार्य की उपासना करके ज्ञान प्राप्त करने की भूमिका।

---

१. द्वितीय कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (मरुधरकेसरीजी), पृ० ३३

(८) **पन्न**-प्राज्ञ बना हुआ भिक्षु जब कुछ भी बातचीत नहीं करता, ऐसे निर्लोभ श्रमण की भूमिका पन्न है। इसके पश्चात् मोक्ष प्राप्ति की संभावना है।[१]

इन आठ भूमिकाओं के स्वरूप को जानने से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ये न तो आत्मा से सम्बद्ध बताई गई हैं, और न ही कर्म के संयोग-वियोग से सम्बन्धित। पहली पांच भूमिकाएँ शारीरिक एवं भौतिक विकास की सूचक हैं, छठी से लेकर आठवीं तक की भूमिका भी स्पष्टतः आध्यात्मिक विकास की सूचक नहीं है, क्योंकि घर-बार छोड़ने मात्र से, तथा गुरुकुल में शिक्षण प्राप्त करने मात्र से अथवा तथाकथित प्रखर बौद्धिक या तार्किक बन जाने मात्र से कोई व्यक्ति अध्यात्म विकास की उच्च भूमिका को तब तक उपलब्ध नहीं कर सकता, जब तक कि वह विषयविकारों, राग-द्वेषों तथा कषाय-नोकषायों का उत्तरोत्तर क्षय करने का पुरुषार्थ न करे।

यद्यपि योगवाशिष्ठ, पातंजलयोग, बौद्ध और आजीवकमत की आत्मविकास के लिए मानी जाने वाली भूमिकाओं में जैनदर्शन के गुणस्थानों जैसी क्रमबद्धता और स्पष्ट स्थिति नहीं है; तथापि इनका प्रासंगिक संकेत इसलिए किया गया है, ताकि मुमुक्षु साधक पूर्वजन्म-पुनर्जन्म तथा इहलोक-परलोक मानने वाले दर्शनों द्वारा प्ररूपित आत्मविकास की क्रमिक अवस्थाओं की जानकारी करके जैन कर्मविज्ञान-प्ररूपित आत्मा की कर्मबद्ध अवस्थाओं को उत्तरोत्तर पार करके कर्ममुक्त अवस्था को प्राप्त कर सके।

■■

---

१. (क) मज्झिमनिकाय; सुमंगल विलासिनी टीका,
(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (मरुधरकेसरी), पृ० ३३, ३४

१६

गुणस्थानों में जीवस्थान आदि की प्ररूपणा

गुणस्थान का उद्देश्य, स्वरूप और कार्य

आत्मा (जीव) के ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप जो स्वभाव-विशेष हैं, वे गुण कहलाते हैं। उन गुणों के स्थान- भेद या स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहते हैं। जीव के उन आत्मगुणों में शुद्धि के अपकर्ष और अशुद्धि के उत्कर्ष के कारण कर्मबन्ध के हेतु आस्रव और बन्ध हैं। तथैव अशुद्धि के अपकर्ष और शुद्धि के उत्कर्ष के हेतु संवर और निर्जरा हैं। आस्रव के द्वारा कर्मावरण के आने और बन्ध के कारण दुग्ध-जलवत् या अग्नि-लोहपिण्डवत् आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाने से आत्मगुणों पर आवरण गाढ़ा होता जाता है, जिससे अशुद्धि का उत्कर्ष होता है। लेकिन संवर के द्वारा नवीन कर्ममल के आगमन (आस्रव) का निरोध होने तथा निर्जरा द्वारा पूर्वसम्बद्ध कर्ममल का क्षय हो जाने से गुणों की शुद्धि में उत्कर्षता और अशुद्धि में अपकर्षता अथवा न्यूनता आती जाती है, जिससे जीवों की पारिणामिक शुद्धि और गुणों में उत्तरोत्तर अधिकता, वृद्धि और विकास होता जाता है। आत्मगुणों के इसी विकास-क्रम को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान : विकासक्रम की उपलब्धियों के सूचक

तात्पर्य यह है कि गुणों की दृष्टि से निश्चयनयापेक्षया सभी जीव समान हैं। सामान्यरूप से चतुर्गतिरूप संसार में विद्यमान सभी जीवों के गुण समान हैं, उनमें न्यूनाधिकता नहीं है। किन्तु संसारी आत्माओं के गुण मोहनीयादि आवारक कर्मों द्वारा आच्छादित हैं। उन आवारक कर्मों की आच्छादन-शक्ति की न्यूनाधिकता या तरतमता से तथा समग्ररूपेण प्रगट हुए ज्ञानादि गुणों के स्थान को गुणस्थान कहते हैं। अथवा जीव द्वारा अपने विकास के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि की अपेक्षा से उपलब्ध स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कहते हैं। अर्थात्-गुण

ज्ञानी-ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि जीव का स्वभाव और स्थान- उनकी तरतमता से प्रकट हुए स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान : मोहकर्म की न्यूनाधिकताएँ गुणों की शुद्धि-अशुद्धि की तरतमता के मापक

ये स्वरूप-विशेष ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतमभाव से होते हैं। गुणों की शुद्धि और अशुद्धि में तरतमता या न्यूनाधिकता होने का मुख्य कारण मोहनीय कर्म का उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि हैं। जब प्रतिरोधक कर्म कम हो जाता है, तब ज्ञानदर्शनादि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट हो जाती है, और जब प्रतिरोधक कर्म की अधिकता होती है तब ज्ञानादि गुणों की शुद्धि कम होती है। आत्मिक गुणों के इस न्यूनाधिक क्रमिक विकास की अवस्था को गुणस्थानक्रम कहते हैं।[१]

तात्पर्य यह है कि (गोम्मटसार के अनुसार) 'दर्शन-मोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जिन परिणामों से युक्त जो जीव परिलक्षित होते हैं, उन जीवों को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवन्तों ने उसी गुणस्थान वाले और उन भावों (अध्यवसायों-परिणामों) को गुणस्थान कहा है।'[२]

गुणस्थानों में जीवस्थान आदि प्ररूपणीय विषय

गुणस्थानों के १४ भेद एवं उनके लक्षण, कार्य, स्थिति आदि का विवेचन इससे पूर्व के निबन्धों में कर आए हैं। १४ गुणस्थानों में जीवस्थान आदि प्ररूपणीय विषय ये हैं-(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्धहेतु, (६) बन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्प-बहुत्व, (११) भाव और (१२) संख्यात आदि संख्या।[३]

---

१. (क) पंचसंग्रह भा. १, (मरुधर केसरी जी), पृ० १३०-१३१
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ (मरुधरकेसरीजी) पृ० ६
(ग) तत्र गुणाः -ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीव-स्वभाव-विशेषाः, स्थानं पुनरत्र तेषां शुद्धयशुद्धि-प्रकर्षाऽपकर्षकृतः स्वरूपभेदः तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा यथाऽध्यवसायस्थानमिति गुणानां स्थानं गुणस्थानम्।
-कर्मस्तव (गोविन्दगणि वृत्ति) पृ० २
(घ) जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ८
२. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ८ का भावार्थ
३. चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ४५ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ० २६६

(१) गुणस्थानों में जीवस्थान की प्ररूपणा

मिथ्यात्व गुणस्थान में सभी (१४) जीवस्थान होते हैं। पाँच अपर्याप्त और संज्ञीद्विक मिलकर सात जीवस्थान सास्वादन गुणस्थान में हैं। अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में दो प्रकार के संज्ञी जीवस्थान हैं और शेष रहे गुणस्थानों में संज्ञीपर्याप्त जीवस्थान हैं।

पहले गुणस्थान में सभी (चौदह ही) जीवस्थान होते हैं, क्योंकि एकेन्द्रियादि सभी प्रकार के संसारी जीव मिथ्यात्व में पाये जाते हैं।

दूसरे सास्वादन गुणस्थान में सात जीवस्थान इस प्रकार बताये गए हैं–(१) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (२) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, (३) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, (४) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, (५) असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, (६) संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त तथा (७) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त। यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए, लब्धि अपर्याप्त नहीं।

चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्त, ये दो जीवस्थान हैं। यहाँ भी अपर्याप्त का अर्थ-करण अपर्याप्त है।

इन तीन गुणस्थानों (मिथ्यात्व, सास्वादन और अविरत-सम्यक्त्व) के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों में सिर्फ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त यह एक ही जीवस्थान होता है। संज्ञी पर्याप्त के सिवाय अन्य किसी प्रकार के जीवों में ऐसे परिणाम नहीं होते हैं, जो पूर्वोक्त तीन गुणस्थानों को छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानों (मिश्रदृष्टि तथा देशविरति से लेकर अयोगिकेवली तक को प्राप्त कर सकें।[१]

(२) गुणस्थानों में योगों की प्ररूपणा

पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में आहारक-द्विक (आहारक और आहारक मिश्र इन दो योगों) को छोड़कर तेरह योग हैं, वे इस प्रकार हैं– कार्मणयोग, विग्रहगति में, तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में वैक्रियमिश्र और औदारिक मिश्र ये दो

---

१. (क) सव्वजियठाण मिच्छे सग सासणि पण अपज्ज अन्निदुगं।
सम्मे सन्न दुविहो, सेसेसुं सन्नि-पज्जत्तो॥ ४५॥ –कर्मग्रन्थ भा. ४

(ख) कर्मग्रन्थ भाग ४, गा. ४५भावार्थ (पं० सुखलाल जी), पृ० १६७, १६८

(ग) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६९८ में २, ६, १३वें गुणस्थान में अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञी ये दो जीवस्थान माने हैं।

(घ) तेरहवें गुणस्थान के स्वामी सयोगि केवली को योग की अपूर्णता की अपेक्षा से अपर्याप्त कहा है। –गोम्मटसार (जीवकाण्ड) १२५ गा०

योग, तथा उत्पत्ति के प्रथम समय के अनन्तर अपर्याप्त अवस्था में दो योग, चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक तथा एक वैक्रिय; ये दस योग पर्याप्त-अवस्था में। आहारक और आहारक-मिश्र ये दो योग चारित्र-सापेक्ष होने से उक्त तीन गुणस्थानों में नहीं होते। आठवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक पांच गुणस्थानों में छह योग नहीं होते, क्योंकि ये गुणस्थान विग्रहगति और अपर्याप्त अवस्था में नहीं पाये जाते। अतएव इनमें कार्मण और औदारिक मिश्र, ये दो योग नहीं होते। तथा ये दोनों गुणस्थान अप्रमत्त-अवस्थाभावी हैं। अतएव इनमें प्रमादजन्य लब्धि प्रयोग न होने के कारण वैक्रिय-द्विक और आहारक-द्विक, ये चार योग भी नहीं होते।

तीसरे गुणस्थान में आहारकद्विक, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण, इन पांच योगों के सिवाय शेष दस योग होते हैं। आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग, ये दो संयम-सापेक्ष होने के कारण इस गुणस्थान में नहीं होते। तथा औदारिकमिश्र आदि तीन योग अपर्याप्त-अवस्थाभावी होने के कारण इसमें नहीं होते, क्योंकि अपर्याप्त-अवस्था में तीसरा गुणस्थान सम्भव ही नहीं है।

पांचवें देशविरति गुणस्थान में पूर्वोक्त नौ योग तथा वैक्रियद्विक, ये सब मिलकर ग्यारह योग होते हैं। देशविरति गुणस्थान वाले मनुष्य व तिर्यञ्च, जो वैक्रियलब्धि सम्पन्न होते हैं, वे वैक्रिय शरीर बनाते हैं। इसलिए उनमें वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये दो योग अधिक होते हैं। चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक, ये ९ योग तो मनुष्य-तिर्यञ्च के लिए साधारण हैं। अतः पंचम गुणस्थान में कुल ९+२=११ योग समझने चाहिए। उसमें सर्वविरति न होने के कारण आहारक और आहारक मिश्र, तथा अपर्याप्त अवस्था न होने के कारण कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो , यों कुल ४ नहीं पाये जाते।

छठे गुणस्थान (प्रमत्तसंयत) में देशविरति-गुणस्थान-सम्बन्धी ९ योग (४ मन के, ४ वचन के, और एक औदारिक काय) सब मुनियों के साधारण होते हैं, इनके अतिरिक्त वैक्रिय-द्विक और आहारक-द्विक, ये चार योग वैक्रिय शरीर तथा आहारक शरीर बनाने वाले तल्लब्धिधारी मुनियों के ही होते हैं। वैक्रियमिश्र और आहारक मिश्र, ये दो योग तभी पाये जाते है, जब वे वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर का प्रारम्भ और परित्याग करते है, उस समय उनकी प्रमाद-अवस्था होती है।

सातवाँ अप्रमत्त-संयत गुणस्थान अप्रमत्त-अवस्थाभावी होने के कारण उसमें छठे गुणस्थान में उक्त १३ योगों में से उक्त दो योगों (वैक्रियमिश्र और आहारक मिश्र) को छोड़कर शेष ११ योग माने गए हैं। वैक्रिय शरीर या आहारक शरीर बना लेने पर भी अप्रमत्त-अवस्था सम्भव है। इसलिए अप्रमत्त-संयत-गुणस्थान के योगों में वैक्रियकाययोग और आहारककाययोग की गणना है।

तेरहवें सयोगीकेवली गुणस्थान में कार्मण, औदारिकद्विक, सत्यमनोयोग, असत्यामृषमनोयोग, सत्यवचनयोग तथा असत्यामृष-वचनयोग, ये ७ योग होते हैं। चूँकि सयोगीकेवली को केवलि-समुद्घात के समय कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग होते हैं, अन्य सब समय में औदारिककाय योग होता है, तथा अनुत्तर-विमानवासी देव आदि के प्रश्न का मन से उत्तर देते समय दो मनोयोग और देशना देते समय दो वचनयोग होते हैं। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान में सात योग माने गए हैं।

केवलज्ञानी भगवान् योगों का निरोध करके जब अयोगि-अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, तब एक भी योग उनमें नहीं पाया जाता, क्योंकि चौदहवें अयोगिकेवलि-गुणस्थान में योगों का सर्वथा अभाव है।[१]

(३) गुणस्थानों में उपयोगों की प्ररूपणा

प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान और द्वितीय सासादन गुणस्थान में सम्यक्त्व का अभाव होने से सम्यक्त्व के सहचारी पांच ज्ञान, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन, इन ७ उपयोगों को छोड़कर शेष तीन अज्ञान और दो दर्शन, ये पांच उपयोग होते हैं।

चतुर्थ अविरति सम्यग्दृष्टि और पंचम देशविरति, इन दो गुणस्थानों में मिथ्यात्व न होने से तीन अज्ञान और सर्वविरति न होने से मनःपर्यायज्ञान तथा घातिकर्मों का अभाव न होने से केवलद्विक (केवलज्ञान-केवलदर्शन), ये कुल ६ उपयोग नहीं होते, शेष ६ उपयोग (तीन ज्ञान और तीन दर्शन आदि के) होते हैं।

तीसरे मिश्रदृष्टि गुणस्थान में भी पूर्वोक्त तीन ज्ञान और तीन दर्शन, ये ही ६ उपयोग होते हैं। परन्तु दृष्टि मिश्रित (शुद्ध-अशुद्ध-उभयरूप) होने से ज्ञान अज्ञानमिश्रित होता है। छठे से बारहवें (प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणमोहनीय) गुणस्थान तक सात गुणस्थानों में पूर्वोक्त ६ और मनःपर्यायज्ञान, ये सात उपयोग हैं। इन ७ गुणस्थानों में मिथ्यात्व न होने के कारण अज्ञानत्रिक नहीं है और घातिकर्म का

---

१. (क) मिच्छदुग अजइ जोगाहार दुगूणा अपुव्व-पणगे उ।
मणवइ उरलं सविउव्व मीसि सविउव्व-दुग देसे॥ ४६॥
साहारदुग पमत्ते, ते विउव्वाहार-मीस विणु इयरे।
कम्मुरलदुगंताइस-मण-वयण संजोगि न अजोगि॥ ४७॥ -कर्मग्रन्थ भा. ४
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ४६, ४७ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १६३ से १६६
(ग) पंचसंग्रह द्वार १ गा० १६-१७ में भी इसी प्रकार योगों की प्ररूपणा है।
(घ) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा० ७०३ में पांचवें और सातवें गुणस्थान में नौ और छठे गुणस्थान में ११ योग माने हैं।

क्षय न होने के कारण केवलद्विक भी नहीं है। इस तरह ५ उपयोगों को छोड़कर शेष सात उपयोग समझने चाहिए।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में घातिकर्म का अभाव होने से छद्मस्थावस्थाभावी दस उपयोग नहीं होते, सिर्फ केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो ही उपयोग होते हैं।[१]

(४) गुणस्थानों में लेश्या की प्ररूपणा

प्रथम से लेकर छठे गुणस्थान तक छह लेश्याएँ हैं। सातवें गुणस्थान में तेज, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ हैं। आठवें से तेरहवें गुणस्थान तक छह गुणस्थानों में केवल शुक्ललेश्या है। चौदहवें गुणस्थान में कोई भी लेश्या नहीं है।

प्रत्येक लेश्या असंख्यात लोकाकाश-प्रदेश-प्रमाण अध्यवसाय-स्थान (संक्लेश-मिश्रित परिणाम) रूप है, इसलिए उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि उतने ही भेद समझने चाहिए। अतएव कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओं को छठे गुणस्थान में अतिमन्दतम और पहले गुणस्थान में अतितीव्रतम मानकर छह गुणस्थानों तक उनका सम्बन्ध कहा गया है। सातवें गुणस्थान में आर्त्त तथा रौद्रध्यान न होने के कारण परिणाम इतने विशुद्ध रहते हैं कि, जिससे उस गुणस्थान में अशुभ लेश्याएँ सर्वथा नहीं होतीं, किन्तु तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। पहले गुणस्थान में तेज और पद्म लेश्या को अतिमन्दतम और सातवें गुणस्थान में अतितीव्रतम, इसी प्रकार शुक्ललेश्या को पहले गुणस्थान में अतिमन्दतम और तेरहवें गुणस्थान में अतितीव्रतम मानकर उपर्युक्त रीति से गुणस्थानों में उनका सम्बन्ध बतलाया गया है।[२]

---

१. (क) ति-अनाण-दुदंसाइम-दुगे अजइ देसि नाण-दंसतिंग।
ते मीसि मीसा समणा, जयाइ केवलदु अंतदुगे॥ ४८॥ —चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ४८ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १६७, १६८
(ग) यह विषय पंचसंग्रह द्वार १ की १९-२० वीं गाथा तथा गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ७०४ में है।

२. (क) छसु सव्वा तेउतिगं, इगि छसु, इगि छसु सुक्का अयोगि अलेसा॥ ५०॥ -
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ५० विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १७२-१७३
(ग) देखें-विशेषावश्यक भाष्य, वृत्ति गा० २७४१,२७४२
(घ) (प्र०) चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होने के समय द्रव्यलेश्या शुभ और अशुभ दोनों मानी जाती हैं, किन्तु भावलेश्या शुभ ही। प्रश्न है-क्या अशुभ द्रव्यलेश्या वालों

(शेष पृष्ठ ३९६ पर)

(५) गुणस्थानों में बन्ध-हेतु-प्ररूपणा

सामान्यतया कर्मबन्ध के मूल हेतु पांच हैं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। कर्मबन्ध के कारणों की संख्या के विषय में निम्नोक्त तीन परम्पराएँ आगमों और ग्रन्थों में दृष्टिगोचर हुई हैं- (१) कषाय और योग, ये दोनों ही बन्ध हेतु हैं, (२) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांचों विभिन्न अपेक्षाओं से कर्मबन्ध के हेतु हैं। (३) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चार बन्ध हेतु हैं।[१]

बारीकी से देखा जाए तो प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का हेतु योग, और स्थितिबन्ध एवं अनुभागबन्ध का हेतु कषाय है। चारों प्रकार के बन्ध योग और कषाय, इन दोनों में समाविष्ट हो जाते हैं। यों देखा जाए तो रागद्वेष मोहरूप मिथ्या परिणामरूप होने से मिथ्यात्व का योग में अन्तर्भूत हो जाता है। अविरति एवं प्रमाद एक प्रकार से कषाय-नोकषायरूप होने से कषाय के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रमाद भी एक प्रकार का असंयम ही है, उसका अविरति में समावेश हो जाता है। अतः स्पष्ट बोध करने हेतु यहाँ बन्ध के मुख्य चार हेतुओं- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग का ग्रहण किया गया है।

जितने अधिक बन्धहेतु : उतने अधिक कर्मबन्ध

कर्मग्रन्थों तथा कर्मविज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थों में आध्यात्मिक विकास की भूमिकारूप गुणस्थानों में बंधने वाली कर्मप्रकृतियों के तरतमभाव को बतलाने के

(पृष्ठ ३९५ का शेष)

के भी भावलेश्या शुभ होती है? (उ०) समाधान यह है-द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के सम्बन्ध में यह नियम नहीं है कि दोनों समान ही होनी चाहिए। यद्यपि मनुष्य और तिर्यञ्च, जिनकी द्रव्यलेश्या अस्थिर होती है, उनमें जैसी द्रव्यलेश्या होती है, वैसी ही भावलेश्या होती है, परन्तु देवों और नारकों, जिनके द्रव्यलेश्या अवस्थित (स्थिर) मानी गई है, उनके विषय में इससे उलटा है। अर्थात् नारकों में अशुभ द्रव्यलेश्या के होते हुए भी भावलेश्या शुभ हो सकती है। इसी प्रकार शुभ द्रव्यलेश्या वाले देवों में भावलेश्या अशुभ भी हो सकती है। इसको विशद्रूप से समझने के लिए देखें-प्रज्ञापनासूत्र का १७वाँ लेश्यापद और उसकी वृत्ति। -चतुर्थ कर्मग्रन्थ टिप्पण, पृ० १७३

१. (क) बंधस्स मिच्छ अविरइ कसाय जोगत्ति चउ हेऊ॥ ५०॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ५० उत्तरार्ध विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १७४, १७५
(ग) मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योग बन्धहेतवः। -तत्वार्थ सूत्र अ० ८ सू. १

लिए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन चार बन्धहेतुओं का निर्देश किया गया है। और इनके माध्यम से जीव की विकास-स्थिति का स्पष्ट बोध हो जाता है। इसलिए जिस गुणस्थान में उक्त चार में से अथवा चार के उत्तरभेदों में से जितने अधिक बन्ध हेतु होंगे, उस गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उतना ही अधिक होगा और जहाँ पर ये मूलबन्ध हेतु अथवा बन्धहेतु के उत्तरभेद कम होंगे, वहाँ कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी कम ही होगा। अर्थात् मिथ्यात्व आदि चार मूल हेतुओं के तथा उनके उत्तरभेदों के कथन की परम्परा पृथक्-पृथक् गुणस्थानों में तरतमता को प्राप्त होने वाले कर्मबन्ध के कारणों का स्पष्टीकरण करने हेतु कर्मग्रन्थों में ग्रहण की गई है।[1]

बन्धहेतुओं के रहने तक उन-उन कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता रहता है।

कर्मप्रकृतियों के बन्ध के सम्बन्ध में एक साधारण-सा नियम यह है कि जिन कर्मप्रकृतियों का बन्ध जितने कारणों से होता है, उतने कारणों के रहने तक ही उन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है तथा किसी एक बन्धहेतु के कम हो जाने से उन कर्मप्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। शेष सब प्रकृतियों का बन्ध होता है। उदाहरणार्थ- मिथ्यात्व-गुणस्थान के अन्त में विच्छेद होने वाली नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त १६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन चार हेतुओं से होता है। ये चारों बन्धहेतु प्रथम गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहते हैं। अतः उक्त १६ प्रकृतियों का बन्ध भी उस समय तक सम्भव है। चूंकि पहले गुणस्थान से आगे मिथ्यात्व नहीं रहता है, इसलिए नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त १६ प्रकृतियों का बन्ध भी प्रथम गुणस्थान से आगे नहीं होता है। इसी प्रकार अन्यान्य कर्म-प्रकृतियों का बन्ध या विच्छेद बन्धहेतुओं के सद्भाव और विच्छेद पर निर्भर है।[2]

कर्मों के मूल बन्ध हेतु और उनका स्वरूप

कर्मों के मूल बन्ध-हेतु चार हैं- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। उनका स्वरूप इस प्रकार है-

(१) **मिथ्यात्व** आत्मा का वह परिणाम है, जो मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से होता है और जिससे कदाग्रह, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि दोष होते हैं।

---

१. कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से भावांश ग्रहण, पृ० ७१
२. कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से भावांश ग्रहण, पृ० ७२

(२) **अविरति** वह परिणाम है, जो अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होता है, और जो चारित्र को रोकता है। (३) **कषाय** वह परिणाम है, जो चारित्रमोहनीय के उदय से होता है, और जिससे क्षमा, विनय, सरलता, सन्तोष, शान्ति, समता आदि गुण प्रकट नहीं हो पाते या अत्यल्प प्रमाण में प्रकट होते हैं। (४) **योग** आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द (चांचल्य) को कहते हैं, जो मन, वचन या शरीर के योग्य पुद्गलों के आलम्बन से होता है।[१]

मूल बन्धहेतु : उनके भेद और स्वरूप

(१) **मिथ्यात्व** के पाँच भेद हैं–(१) आभिग्रहिक, (२) अनाभिग्रहिक, (३) आभिनिवेशिक, (४) सांशयिक और (५) अनाभोग।[२]

(१) **आभिग्रहिक**–तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही किसी एक सिद्धान्त के प्रति पूर्वाग्रह या पक्षपात रखकर अन्य पक्ष का खण्डन करना। (२) **अनाभिग्रहिक**–गुणदोष की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना। (३) **आभिनिवेशिक**–अपने पक्ष को असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करने के लिये दुरभिनिवेश (दुराग्रह) करना। (४) **सांशयिक**–ऐसा देव होगा या अन्य प्रकार का, इसी प्रकार गुरु और धर्म के विषय में भी संदेहशील बने रहना। (५) **अनाभोग मिथ्यात्व**–विचार या विशेष ज्ञान का अभाव, अर्थात्–प्रगाढ़तम मोह की अवस्था। इन पांचों में से आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक ये दो मिथ्यात्व गुरु हैं, और शेष तीन लघु; क्योंकि पूर्व के दोनों मिथ्यात्व विपर्यास रूप होने से तीव्र क्लेश के कारण हैं, और शेष तीन विपर्यासरूप न होने से तीव्र क्लेश के कारण नहीं हैं।

(२) **अविरति** के बारह भेद है। वे इस प्रकार–मन और पांच इन्द्रियों को वश में न रखना, ये ६ तथा पृथ्वीकायिक आदि षट्कायिक जीवों का वध (हिंसा) करना; ये ६ मिलकर बारह प्रकार हुए।

मन को अपने विषय में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देना **मन-अविरति** है। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय से लेकर श्रोत्रेन्द्रिय तक पांचों इन्द्रियों को भी स्वच्छन्दता-पूर्वक प्रवृत्ति करने देना, वश में न रखना **पंचेन्द्रिय-अविरति** है। **पृथ्वीकायिक आदि षट् जीवनिकायों की अविरति** को भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। मृषावाद-अविरति, अदत्तादान-अविरति आदि सब अविरतियों का समावेश भी इन बारह अविरतियों में हो जाता है।

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (पं० सुखलालजी), पृ० १७४

२. मिथ्यात्व के ५, १० और २५ भेदों का स्पष्टीकरण पूर्व निबन्ध में पढ़िये।

(३) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ आदि सोलह कषाय हैं, और हास्य, रति, अरति आदि ९ नोकषाय हैं। इस प्रकार कषाय के कुल २५ भेद हैं।

(४) योग के उत्तरभेद कुल पन्द्रह हैं। यों सब मिलाकर बन्धहेतुओं के उत्तरभेद ५+१२+२५+१५=५७ होते हैं।

गुणस्थानों में मूल बन्धहेतु की प्ररूपणा

पहले गुणस्थान में चारों हेतुओं से बन्ध होता है। इसलिए उस दौरान होने वाले बन्ध में उपर्युक्त चारों कारण हैं। दूसरे से पांचवें तक चार गुणस्थानों में मिथ्यात्वोदय के सिवाय अविरति आदि तीन हेतुओं से बन्ध होता है। अर्थात्-उस समय होने वाले कर्मबन्ध में तीन कारण हैं। छठे आदि पांच गुणस्थानों में मिथ्यात्व और अविरति, इन दो के सिवाय, शेष कषाय और योग दो ही हेतु माने जाते हैं। अर्थात् छठे से दसवें गुणस्थान तक पाँच गुणस्थानों में कषाय और योग, ये दो कर्मबन्ध के हेतु हैं, ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक तीन गुणस्थांनों में कषाय भी कारण नहीं होता, एकमात्र योग ही कर्मबन्ध का हेतु माना जाता है। और चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाता है। अतएव उसमें बन्ध का एक भी कारण नहीं रहता।[१]

एक सौ बीस प्रकृतियों के यथासम्भव मूल बन्धहेतु

ज्ञानावरणीय आदि ८ मूल कर्म-प्रकृतियों की बन्धयोग्य कुल १२० प्रकृतियाँ हैं- ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६ (सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के सिवाय), आयुकर्म की ४, नामकर्म की ६७, गोत्रकर्म की २, और अन्तरायकर्म की ५, ये सब बन्धयोग्य उत्तरप्रकृतियाँ कुल मिलाकर १२० होती हैं।

सातावेदनीय कर्म का बन्ध चतुर्हेतुक कहा गया है, यानी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चारों सातावेदनीय के बन्ध हेतु हैं। इसका कारण यह है कि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से, दूसरे से पांचवें तक चार गुणस्थानों में अविरति से, छठे से दसवें गुणस्थान तक पांच गुणस्थानों में कषाय से, तथा ग्यारहवें आदि तीन

---

१. (क) अभिगहियमणभिगहियाभिनिवेसिय-संसइयमणाभोगं।
पण मिच्छ बार अविरइ, मणकरणानियमु छजिय-वहो॥ ५१॥
नव-सोल कसाया पनर जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना।
इग-चउ-पण-ति-गुणेसु, चउ-ति-दु-इग-पच्चओ बंधो॥ ५२॥
-चतुर्थ कर्मग्रन्थ

(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ५१, ५२ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १७५ से १७९ तक

गुणस्थानों में योग से सातावेदनीय का बन्ध होता है। इस प्रकार तेरह गुणस्थानों में उसके सब मिलाकर चार बन्धहेतु होते हैं।

नरकत्रिक आदि सोलह कर्मप्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व से होता है। उनके नाम इस प्रकार हैं- नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु), जाति-चतुष्क (एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक), स्थावर-चतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण नामकर्म), हुंडक संस्थान, आतप नामकर्म, सेवार्त संहनन, नपुंसकवेद, एवं मिथ्यात्वमोहनीय। इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्वहेतुक इसलिए कहा गया है कि ये प्रकृतियाँ सिर्फ प्रथम गुणस्थान में बांधी जाती हैं। मिथ्यात्व के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। मिथ्यात्व हो, तभी इन प्रकृतियों का बन्ध होता है, और मिथ्यात्व के अभाव में ये नहीं बंधती हैं। इसलिए मिथ्यात्व इन प्रकृतियों के बन्ध का मुख्य कारण है, बाकी के तीन हेतु गौण हैं।

मिथ्यात्व और अविरति, इन दो बन्धहेतुओं से तिर्यंचत्रिक आदि पैंतीस कर्मप्रकृतियों के बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। मिथ्यात्व-अविरति बन्ध हेतुक पैंतीस प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं-तिर्यंचत्रिक (तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंचायु), स्त्यानर्द्धि-त्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि), दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय नामकर्म), अनन्तानुबन्धी-चतुष्क (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ), मध्यम-संस्थान-चर्तुष्क[1] (न्याग्रोध-परिमण्डल, सादि संस्थान, कुब्जक और वामन-संस्थान), मध्यम-संहनन-चतुष्क (ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच और कीलिका-संहनन) तथा नीच गोत्र, उद्योत नाम, अप्रशस्त, विहायोगतिनाम और स्त्रीवेद, वज्रऋषभनाराच संहनन, मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु), अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और औदारिक द्विक (औदारिक और औदारिकमिश्र काययोग) इस प्रकार २१+४+१०=३५ कर्मप्रकृतियाँ मिथ्यात्व-अविरति बन्ध-द्वय-हेतुक हैं। जहाँ तक मिथ्यात्व और अविरति हो, वहाँ तक इन प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनके अभाव में बन्ध का भी अभाव हो जाता है। स्पष्ट शब्दों में- पहले गुणस्थान में ये सब प्रकृतियाँ मिथ्यात्व से और दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थानों में अविरति से बांधी जाती हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त सातावेदनीय की एक, नरकत्रिक आदि सोलह तथा तिर्यंचत्रिक आदि पैंतीस एवं तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक, इन

---

१. (क) चउ मिच्छ मिच्छ-अविरइ-पच्चइया, साय-सोल-पणतीसा।
जोग-विणु ति-पच्चइयाहारग-जिण-वज्ज सेसाओ॥ ५३॥
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ५३ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १७९ से १८९

१+१६+३५+३=५५ प्रकृतियों को एक सौ बीस बंधयोग्य प्रकृतियों में से घटा देने पर पैंसठ प्रकृतियाँ शेष बचती हैं। इन पैंसठ प्रकृतियों का बन्ध त्रिहेतुक है। इन ६५ प्रकृतियों का बन्ध अविरति, कषाय और योग हेतुक इस अपेक्षा से समझना चाहिए कि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरति से, और छठे आदि पांच गुणस्थानों में कषाय से बन्ध होता है। इन तीन हेतुओं के साथ उक्त पैंसठ प्रकृतियों का अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध है। जहाँ तक ये तीन हेतु होते हैं, वहाँ तक ये प्रकृतियाँ बन्धती हैं और इन हेतुओं के नहीं रहने पर अगले गुणस्थानों में नहीं बंधती हैं। तथापि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व की, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरति की, और छठे आदि पांच गुणस्थानों में कषाय की प्रधानता है और अन्य हेतुओं की अप्रधानता। इस कारण इन गुणस्थानों में क्रमशः केवल मिथ्यात्व, अविरति एवं कषाय को बन्ध हेतु कहा है। यह ध्यान रहे कि मिथ्यात्व के समय अविरति आदि तीन हेतु, अविरति के समय कषाय आदि दो हेतु तथा कषाय के समय योगरूप हेतु अवश्य रहता है।

ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक सिर्फ योग रहता है और योग के साथ इन प्रकृतियों का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए योग को ग्रहण नहीं किया गया है।[१]

कर्मग्रन्थकार ने आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग) तथा तीर्थंकर नामकर्म इन तीन प्रकृतियों की गणना कषायहेतुक प्रकृतियों में नहीं की है। इसके स्थान पर तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का कारण सिर्फ सम्यक्त्व, तथा आहारक द्विक के बन्ध का कारण सिर्फ संयम को माना है। इसका कारण केवल विशेष हेतु दिखाने का मालूम होता है, किन्तु कषाय का निषेध नहीं; क्योंकि सभी कर्मों के प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध में योग की तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध में कषाय की कारणता सिद्ध है। पंचसंग्रह में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है।

इस प्रकार ११७ प्रकृतियाँ त्रिहेतुक मानी हैं और शेष तीन प्रकृतियाँ सम्यक्त्व तथा संयमबन्ध हेतुक मानी हैं।

इसके विपरीत तत्त्वार्थसूत्र ९/१ की सर्वार्थसिद्धि टीका[२] में ये तीन प्रकृतियाँ कषायहेतुक मानी गई हैं। पंचसंग्रह ४/१९ में 'सेसाउ कसाएहिं' पद से तीर्थंकर

---

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ५३ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ० १८१
२. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ (मरुधरकेसरीजी) गा० ५३ पर विवेचन पृ० १८१
   (ख) पंचसंग्रह द्वार ४ गा० २०
   (ग) तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका, अ० ९ सू० १

नामकर्म और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों का बन्ध कषायहेतुक ध्वनित किया है।

इस प्रकार बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों के यथासम्भव मूल बन्धहेतुओं की प्ररूपणा की गई है।

गुणस्थानों में उत्तर बन्धहेतुओं की सामान्य और विशेष प्ररूपणा

उत्तर बन्धहेतुओं में मूल बन्धहेतु चतुष्टय के क्रमशः ५+१२+२५+१५=५७ भेदों की गणना की गई है। इन ५७ उत्तरबन्धहेतुओं में से किस-किस गुणस्थान में कितने-कितने और कौन-कौन-से बन्धहेतु होते हैं ? यह बतलाया गया है। परन्तु इन बन्धहेतुओं को सामान्य और विशेष दो प्रकार से बताया गया है। किसी एक गुणस्थान में वर्तमान समग्र जीवों में युगपत् पाये जाने वाले बन्धहेतु को 'सामान्य और किसी एक जीवविशेष में पाये जाने वाले बन्धहेतु को 'विशेष' कहा गया है। गोम्मटसार और पंचसंग्रह में सामान्य और विशेष, दोनों प्रकार के बन्ध-हेतुओं का प्रतिपादन किया गया है।[१]

गुणस्थानों में उत्तर बन्धहेतुओं की संख्या

पूर्वपृष्ठों में हम उत्तर-बन्ध हेतु के ५७ भेद गिना आए हैं। उनमें से प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में ५५ उत्तरबन्धहेतु हैं। आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारकमिश्र काययोग) ये दोनों संयम-सापेक्ष हैं और प्रथम गुणस्थान में संयम का अभाव है। इसलिये ५७ बन्धहेतुओं में आहारकद्विक नहीं होने से शेष ५५ बन्धहेतु होते हैं।

दूसरे सास्वादन गुणस्थान में ५० बन्धहेतु हैं; क्योंकि इस गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय न होने से पांच मिथ्यात्वों को पूर्वोक्त ५५ भेदों में से कम करने से शेष पचास उत्तरबन्धहेतु दूसरे गुणस्थान में कहे हैं।[२]

तीसरे मिश्रगुणस्थान में ४३ बन्धहेतु हैं, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय दूसरे गुणस्थान तक होने से तीसरे गुणस्थान में ये चार बन्धहेतु नहीं होते, अतः ये

---

१. उत्तरबन्धहेतु के सामान्य और विशेष इन दो भेदों की व्याख्या एवं विवरण के लिए देखें-गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ७८९-७९०, पंचसंग्रह द्वार ४ गा० ५ तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की गाथा-७७ में। पंचसंग्रह टीका में विशेष उत्तरबन्धहेतु का वर्णन स्पष्टता से समझाया गया है।

२. (क) पणपन्न पन्न तियच्छ हिअचत्त गुणचत्त छ चउ-दुग-वीसा।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिंमि॥ ५४॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ५४ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १८२

चार तथा इस गुणस्थान में मृत्यु न होने से अपर्याप्त -अवस्थाभावी कार्मण, औदारिक मिश्र और वैक्रिय मिश्र, ये तीन योग भी नहीं होते। यों दूसरे गुणस्थान के ५० बन्धहेतुओं में से उक्त सात बन्धहेतु कम हो जाने से शेष तेतालीस उत्तरबन्धहेतु तीसरे गुणस्थान में रहते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान (अविरति-सम्यग्दृष्टि) में छयालीस बन्धहेतु हैं। चूंकि चौथा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्था में भी पाया जाता है। इसलिए इसमें अपर्याप्त-अवस्थाभावी कार्मण, औदारिक मिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग सम्भव हैं। अतः तीसरे गुणस्थान-सम्बन्धी ४३ बन्धहेतुओं में इन तीन योगों को मिलाने से कुल ४६ उत्तरबन्धहेतु चतुर्थ गुणस्थान में समझने चाहिए।

पांचवें देशविरति गुणस्थान में उनतालीस बन्धहेतु हैं। इसका कारण यह है कि यह गुणस्थान पर्याप्त-अवस्थाभावी है। अतएव इसमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग नहीं होते हैं। अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय-चतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान तक ही होने से, उसका पांचवें गुणस्थान में अभाव होने से तथा पांचवें गुणस्थान देशविरति (आंशिक संयम) रूप होने से उसमें त्रसकायिक जीवहिंसा का त्याग होता है, अतएव त्रस-अविरति, भी नहीं है। इस तरह चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धी छयालीस उत्तरबन्धहेतुओं में से कार्मण, औदारिकमिश्र अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय-चतुष्क और त्रस अविरति इन सात बन्धहेतुओं को कम करने से पंचम गुणस्थान में उनतालीस बन्धहेतु रहते हैं। इन उनतालीस हेतुओं में वैक्रियमिश्र काययोग शामिल है, पर वह अपर्याप्त-अवस्थाभावी नहीं, किन्तु वैक्रियलब्धिजन्य है, जो पर्याप्त-अवस्था में ही होता है। पंचम गुणस्थान में संकल्पजन्य त्रसहिंसा तो सम्भव ही नहीं, आरम्भजन्य-त्रसहिंसा अवश्य सम्भव है, मगर बहुत कम। इसलिए आरम्भजन्य त्रसहिंसा की विवक्षा न करके उनतालीस हेतुओं में त्रस-अविरति की गणना नहीं[१] की गई है।

---

१. (क) पणपन्न मिच्छहारग, दुगूण सासाणि पन्नमिच्छ विणा।
मिस्स दुगकंम अण-विणु तिचत्त मीसे अह छ चत्ता॥ ५५॥
सदुमिस्सकंम अजए, अविरइ-कम्मुरल-मीस-बि-कसाये।
मुत्तुगुण चत्त देसे छवीस साहार दु पमत्ते ॥ ५६॥
अविरइ-इगार-तिकसाय-वज्ज अपमत्ति मीस-दुग-रहिया।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवीस अविउव्वियाहारा॥ ५७॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ

(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ५५ से ५७ विवेचन (प० सुखलाल जी), पृ० १८२ से १८५

छठा गुणस्थान सर्वविरतिरूप है। इसलिए इस गुणस्थान में २६ उत्तरबंधहेतु हैं। इसमें १२ अविरतियों में से ११ अविरतियाँ नहीं होतीं, साथ ही प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क भी नहीं होता, जिसका उदय पांचवें गुणस्थान-पर्यन्त ही रहता है। इस प्रकार पंचम गुणस्थान-सम्बन्धी ३९ हेतुओं में से ११+४=१५ बन्धहेतु घटा देने से २४ शेष रहे। ये चौबीस तथा आहारकद्विक मिलाने से २६ उत्तरबन्धहेतु छठे गुणस्थान में हैं। इस गुणस्थान में आहारक लब्धिधारी मुनि आहारकलब्धि के प्रयोग द्वारा आहारकशरीर रचते हैं। इसी से छब्बीस हेतुओं में आहारकद्विक परिगणित है।

वैक्रिय शरीर के प्रारम्भ और परित्याग के समय वैक्रियमिश्र तथा आहारक शरीर के प्रारम्भ और परित्याग के समय आहारकमिश्र योग होता है। परन्तु उस समय प्रमत्तभाव होने के कारण सातवाँ गुणस्थान नहीं होता। इस कारण इस गुणस्थान के बन्ध-हेतुओं में ये दो योग नहीं गिने गए हैं। अतएव अप्रमत्त-संयत नामक सप्तम गुणस्थान में पूर्वोक्त छब्बीस में से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र, ये दो योगों के सिवाय शेष चौबीस बन्धहेतु होते हैं। अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थान में बाईस बन्धहेतु हैं। इस गुणस्थान में वैक्रिय और आहारक ये दो काययोग भी नहीं होते। इन दोनों के न होने का कारण है–वैक्रिय शरीर वाले को वैक्रिय काययोग और आहारक शरीर वाले को आहारक काययोग होता है। और इन दो शरीरों वाले अधिक से अधिक सातवें गुणस्थान के ही अधिकारी होते हैं, आगे के गुणस्थानों के नहीं। नौवें अनिवृत्ति-बादर गुणस्थान में बन्धहेतु सोलह हैं। इस गुणस्थान में हास्यषट्क (हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा) का उदय नहीं होता, क्योंकि हास्य-षट्क का उदय आठवें गुणस्थान तक ही सम्भव है। इसलिए आठवें गुणस्थान के बाईस बन्धहेतुओं में से ६ हास्यषट्क (कषाय) को कम करने पर शेष १६ बन्धहेतु नौवें अनिवृत्तिबादर नामक नौवें गुणस्थान में होते हैं। तीन वेद और संज्वलन-त्रिक (संज्वलन कषाय के क्रोध, मान, माया), इन ६ का उदय नौवें गुणस्थान तक ही रहता है। अतः इन ६ को छोड़कर दस बन्धहेतु दसवें गुणस्थान में होते हैं। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में संज्वलन-लोभ कषाय कम होने से सिर्फ नौ बन्धहेतु ही रहते हैं– चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिक काययोग। संज्वलन[1] लोभ का उदय १०वें गुणस्थान तक ही रहता है। अतः इसके सिवाय पूर्वोक्त १० में

१. (क) अछ-हास सोल बायरि, सुहुमे दस वेय-संजलण-ति-विणा।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुव्वुत्त सगजोगा॥ ५८॥ –चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ५८ का विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १८४ से १८६

से शेष नौ हेतु ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में पाये जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ ७ हेतु हैं। सत्यमनोयोग, असत्यामृषा-मनोयोग सत्यभाष और असत्यामृषा वचनयोग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग तथा कार्मण काययोग, यों कुल मिलाकर सात बन्धहेतु हैं। चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव है, इसलिए इसमें बन्धहेतु का सर्वथा अभाव है।

(६) गुणस्थानों में बन्ध की प्ररूपणा

मूल प्रकृतियों के बन्ध की प्ररूपणा

तीसरे गुणस्थान के सिवाय पहले से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ६ गुणस्थानों में सात या आठ मूल कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। आयुकर्म के बन्ध के समय आठ का और उसे न बांधने के समय सात का बन्ध समझना चाहिए।

तीसरे (मिश्र), आठवें (अपूर्वकरण) और नौवें (अनिवृत्तिबादर) गुणस्थान में आयुष्यकर्म का बन्ध न होने से सात का ही बन्ध होता है। आठवें और नौवें गुणस्थान में परिणाम इतने अधिक विशुद्ध हो जाते हैं, जिससे उनमें आयु-बन्ध-योग्य परिणाम ही नहीं रहते तथा तीसरे गुणस्थान का स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें आयु का बन्ध नहीं होता। अतएव इन तीन गुणस्थानों में ७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में ६ प्रकृतियों का बन्ध होता है, क्योंकि उसमें आयु और मोहनीय, इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। परिणाम अतिविशुद्ध हो जाने से आयु का बन्ध और बादर कषायोदय न होने से मोहनीय का बन्ध इस गुणस्थान में वर्जित है। ग्यारहवें (उपशान्तमोह), बारहवें (क्षीणमोह) और तेरहवें (सयोगी केवली) गुणस्थान में केवल एक सातावेदनीय का बन्ध होता है, क्योंकि उसमें कषायोदय सर्वथा न होने से अन्य किसी भी कर्मप्रकृति का बन्ध संभव नहीं है।

निष्कर्ष[१] यह है कि तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थान में सात का ही बन्धस्थान, तथा पहले, दूसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में सात या

---

१. (क) अपमत्तंता सत्त-ट्ठ, मीस. अपुव्व-बायरा सत्त।
बंधइ छस्सुहुमो, एगमुवरिमा बंधगा अजोगी॥ ५९॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ५९ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १८७, १८८
(ग) ५९ वीं से ६२ वीं गाथा-पर्यन्त बंधादि प्ररूपणा का समर्थन पंचसंग्रह द्वार ५, गा० २, ३, ५ में देखें।
(घ) यह विचार नन्दीसूत्र गा० ३ की मलयगिरि वृत्ति में भी है।
(ङ) बंधादि चारों की प्ररूपणा मूल कर्म प्रकृतियों को लेकर की गई है।

आठ का बन्धस्थान, दसवें में ६ का बन्धस्थान और ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में एक का बन्धस्थान होता है। १४ वाँ गुणस्थान सर्वथा अबन्धक है।

(७-८) गुणस्थानों में सत्ता और उदय की प्ररूपणा

पहले से लेकर दसवें सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान तक आठ कर्मों की सत्ता और आठ ही कर्मों का उदय है। अर्थात्-आदि के १० गुणस्थानों में सत्तागत तथा उदयमान आठों ही कर्म पाये जाते हैं। ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में सत्ता आठ कर्म की और उदय सात कर्म का होता है। अर्थात्-ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म सत्तागत रहता है, किन्तु उदयमान नहीं। इसलिये उसमें सत्ता ८ कर्म की और उदय सात कर्म का है। बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से सत्ता और उदय, दोनों सात कर्मों के हैं। तेरहवें सयोगिकेवली और चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में सत्ता और उदय चार कर्मों के हैं; क्योंकि इन दोनों गुणस्थानों में चार घातिकर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, इसलिए इनमें सत्तागत और उदयमान चार अघातिकर्म ही हैं।

सारांश यह है कि सत्तास्थान पहले ग्यारह गुणस्थानों में आठ का, बारहवें में सात का और तेरहवें-चौदहवें में चार कर्मों का है, जबकि उदयस्थान पहले दस गुणस्थानों में आठ का, ग्यारहवें और बारहवें में सात का, तथा तेरहवें और चौदहवें में चार का है।[१]

(९) गुणस्थानों में उदीरणा की प्ररूपणा

उदीरणा की प्ररूपणा जानने से पूर्व यह नियम ध्यान में रखना आवश्यक है कि जो कर्म उदयमान हो, उसी की उदीरणा होती है, अनुदयमान कर्म की नहीं। और जब उदयमान कर्म आवलिका-प्रमाण शेष रहता है, तब (उस समय) उसकी उदीरणा रुक जाती है।

तृतीय गुणस्थान को छोड़कर पहले से प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान पर्यन्त पांच गुणस्थानों में सात या आठ कर्म की उदीरणा होती है। आयु की उदीरणा न होने के कारण सात कर्म की और होने के समय आठ कर्म की समझनी चाहिये। उक्त नियम के अनुसार आयु की उदीरणा उस समय रुक जाती है, जिस समय वर्तमान भव की आयु आवलिका-प्रमाण शेष रहती है। यद्यपि वर्तमान भवीय आयु की

---

१. (क) आसुहुमं संतुदये, अट्ठ वि मोहविणु सत्त खीणंमि।
चउ चरिम-दुगे अट्ठ उ, संते उवसंति सतुदए॥ ६०॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ६० विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १८९

स्थिति आवलिका से अधिक होती है, तथापि अनुदयमान होने के कारण उसकी उदीरणा उक्त नियम के अनुसार नहीं होती। तीसरे (मिश्र) गुणस्थान में आठ कर्म की उदीरणा मानी जाती है, क्योंकि इस गुणस्थान में मृत्यु नहीं होती। इस कारण आयु की अन्तिम आवलिका में, जबकि उदीरणा रुक जाती है, इस गुणस्थान का संभव ही नहीं है। सातवें (अप्रमत्त), आठवें (अपूर्वकरण) और नौवें (अनिवृत्ति-बादर) गुणस्थान में आयु और वेदनीय कर्म के सिवाय छह कर्म की उदीरणा होती है। इसका कारण यह है कि इन दो (आयु और वेदनीय) कर्मों की उदीरणा के लिए जैसे अध्यवसाय आवश्यक हैं, उक्त तीन गुणस्थानों में अतिविशुद्धि होने के कारण वैसे अध्यवसाय नहीं होते।

सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में छह अथवा पांच कर्मों की उदीरणा होती है। आयु और वेदनीय की उदीरणा न होने के समय छह कर्म की तथा उक्त कर्मद्वय तथा मोहनीय कर्म की उदीरणा न होने के समय पांच कर्म की समझनी चाहिए। मोहनीय कर्म की उदीरणा दशम गुणस्थान की अन्तिम आवलिका में रुक जाती है; वह इसलिए कि उस समय उसकी स्थिति आवलिका-प्रमाण शेष रहती है। ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में आयु, वेदनीय और मोहनीय कर्म की उदीरणा न होने के कारण शेष पांच कर्मों की उदीरणा होती है। इस गुणस्थान में उदयमान न होने के कारण मोहनीय कर्म की उदीरणा निषिद्ध है। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में अन्तिम आवलिका को छोड़कर अन्य सब समय में आयु, वेदनीय और मोहनीय के सिवाय पांच कर्मों की उदीरणा होती रहती है। अन्तिम आवलिका में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय की स्थिति आवलिका-प्रमाण शेष रहती है। इस कारण उनकी उदीरणा रुक जाती है। और शेष दो (नाम और गोत्र) कर्मों की उदीरणा रहती है। इस प्रकार क्षीणमोह गुणस्थान में पांच या दो कर्मों की उदीरणा मानी है।

तेरहवें गुणस्थान में अघातिकर्मचतुष्टय ही शेष रहते हैं, इनमें से आयु और वेदनीय की उदीरणा तो पहले से रुकी हुई है। इसी कारण सयोगिकेवली नामक गुणस्थान में सिर्फ दो कर्मों (नाम और गोत्र) की उदीरणा मानी गई है।

चौदहवें अयोगि-केवली गुणस्थान में योग का अभाव होने से उदीरणा का अभाव है, क्योंकि योग के बिना उदीरणा हो नहीं सकती और इस गुणस्थान में योगों का निरोध हो जाता है।[१]

---

१. (क) उइरंति पमत्तंता, सगट्ठ मीसट्ठ-वेय-आउ-विणा।
छग अपमत्ताइ तओ, छ पंच सुहुमो पणुवसंतो॥ ६१॥
पण दो खीणदुजोगीणुदीरगु ..... ॥ ६२/१ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ

(शेष पृष्ठ ४१३ पर)

निष्कर्ष यह है कि तीसरे गुणस्थान में आठ ही कर्मों का उदीरणास्थान, पहले, दूसरे, चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में सात या आठ कर्मों का, तथा सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक एक आवलिका शेष रहे तब तक छह कर्मों का और दसवें की अन्तिम आवलिका से बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका शेष रहने तक पांच कर्मों का तथा बारहवें की अन्तिम आवलिका से तेरहवें गुणस्थान के अन्त तक दो कर्मों का उदीरणास्थान पाया जाता है। चौदहवें गुणस्थान में योगों का अभाव होने से उदीरणा नहीं होती। अतः चौदहवाँ गुणस्थान अनुदीरक है।

(१०) गुणस्थानों में अल्पबहुत्व की प्ररूपणा

गुणस्थानों में अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव अन्य सभी गुणस्थान वाले जीवों से अन्य हैं, क्योंकि ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशमश्रेणि का है। अतः उपशमश्रेणि के प्रतिपद्यमान (किसी विवक्षित समय में उस अवस्था को पाने वाले) जीव चौवन पाये जाते हैं, जबकि पूर्व-प्रतिपन्न (किसी विवक्षित समय पहले से इस अवस्था को प्राप्त किये हुए) एक, दो या तीन आदि पाये जाते हैं। बारहवाँ गुणस्थान क्षपकश्रेणि का है। क्षपकश्रेणि-प्रतिपद्यमान बारहवें गुणस्थान वाले जीव उत्कृष्ट १०८ और पूर्वप्रतिपन्न जीव शत-पृथक्त्व (यानी दो सौ से नौ सौ तक) पाये जाते हैं। इसलिए ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीवों से बारहवें गुणस्थान वाले जीव संख्यातगुणे कहे गए हैं। अर्थात्-ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव अल्प और बारहवें गुणस्थान वाले उनसे संख्यातगुणे माने गए हैं। आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान वाले जीव उपशमक और क्षपक, दोनों श्रेणियों में पाये जाते हैं। अतः उभयश्रेणि वाले ये तीनों गुणस्थान वाले जीव आपस में समान हैं, किन्तु बारहवें गुणस्थान वालों की अपेक्षा विशेषाधिक हैं।

तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान, अप्रमत्त और प्रमत्त गुणस्थान वाले जीव पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हैं। अर्थात्-आठवें गुणस्थान वालों से तेरहवें गुणस्थान वाले संख्यातगुणे इसलिए कहे गए हैं कि ये जघन्य दो करोड़, और उत्कृष्ट नौ करोड़ होते हैं। सयोगिकेवलि गुणस्थान वालों से सातवें (अप्रमत्त) गुणस्थान वाले संख्यातगुणे इसलिए हैं कि वे दो हजार करोड़ पाये जाते हैं। इसी तरह सातवें गुणस्थान वालों से छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले इसलिए संख्यातगुणे हैं कि वे नौ

(पृष्ठ ४१२ का शेष)

(ख) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ६१, ६२ विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० १९० से १९२

(ग) इसकी प्ररूपणा पंचसंग्रह द्वार २ गा० ८०-८१ में है।

(घ) गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० ६२२ से ६२८ तक कुछ भिन्नरूप से प्ररूपित है।

हजार करोड़ तक पाये जाते हैं। देशविरति, सासादन, मिश्र और अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले जीव पूर्व-पूर्व से असंख्यातगुणे हैं। वह इसलिए हैं कि असंख्यात तिर्यञ्च गर्भज भी देशविरति नामक पंचम गुणस्थान वाले जीव छठे गुणस्थान वालों से असंख्यातगुणे हो जाते हैं। देशविरतिगुणस्थान वालों से द्वितीय (सास्वादन) गुणस्थान वाले जीव असंख्यातगुमे कहे गए हैं। इसका कारण यह है कि देशविरति तिर्यञ्च और मनुष्य दो गतियों में ही होती है, जबकि सास्वादन सम्यक्त्व चारों गतियों में होता है। परन्तु सास्वादन सम्यक्त्व गुणस्थान की अपेक्षा मिश्रदृष्टि गुणस्थान का कालमान असंख्यातगुण अधिक है। यही कारण है कि सास्वादन सम्यक्त्व गुणस्थान वालों की अपेक्षा मिश्रदृष्टि वाले असंख्यातगुणे अधिक हैं। चौथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान चारों गतियों में सदैव पाया जाता है और उसका कालमान भी बहुत अधिक है। इसलिए चौथे गुणस्थान वाले तीसरे गुणस्थान वालों से असंख्यातगुणे हैं। यद्यपि भवस्थ अयोगी केवली क्षपक श्रेणि वालों के बराबर दशपृथकत्व-प्रमाण ही हैं। तथापि अभवस्थ अयोगिकेवली (सिद्ध परमात्मा) अनन्त हैं। इसी कारण अयोगि केवली जीव चौथे गुणस्थान वालों से अनन्तगुणे कहे गए हैं। किन्तु साधारण वनस्पतिकायिक जीव सिद्धों से भी अनन्तगुणे हैं और वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले चौदहवें गुणस्थान वालों से अनन्तगुणे हैं।[१]

अल्पबहुत्व : उत्कृष्ट संख्या पर आधारित

निष्कर्ष यह है कि पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवां और तेरहवाँ, ये ६ गुणस्थान लोक में सदैव पाये जाते हैं। शेष आठ गुणस्थान कभी नहीं भी पाये जाते हैं, तब भी उनमें वर्तमान जीवों की संख्या कभी जघन्य और कभी उत्कृष्ट रहती है। ऊपर कहा हुआ अल्पबहुत्व उत्कृष्ट संख्या की अपेक्षा से समझना चाहिए, जघन्य संख्या की अपेक्षा से नहीं।[२] क्योंकि जघन्य-संख्या के समय जीवों का प्रमाण

---

१. (क) .....अजोगि थोव उवसंता।
संखगुण खीण सुहुमाऽनियट्टी अपुव्व सम अहिया॥ ६२॥
(ख) जोगि-अपमत्त इयरे, संखगुणा देस-सासणामीसा।
अविरय अजोगिमिच्छा, असंख चउरो दुवे णंता॥ ६३॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ
(ग) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ६२-६३ विवेचन (पं० सुखलाल), पृ० १९२ से १९५ तक

२. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ६२-६३ विवेचन , पृ० १९२ से १९५ तक
(ख) इस विषय की प्ररूपणा पंचसंग्रह द्वार २, गा० ८०-८१ में है।
(ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० ६२२ से ६२८ तक में भी इसका कथन भिन्नरूप से है।

उपर्युक्त अल्प बहुत्व के विपरीत भी हो जाता है। उदाहरणार्थ-कभी ग्यारहवें गुणस्थान वाले बारहवें गुणस्थान वालों से अधिक भी हो जाते हैं। अतः उपर्युक्त अल्पबहुत्व सभी गुणस्थानों में जीवों के उत्कृष्ट संख्यक पाये जाने के समय ही घटित हो सकता है।

(११) गुणस्थानों में पांच भावों की प्ररूपणा

औपशमिक आदि पांच या छह भावों पर विस्तृत रूप से हमने '**औपशमिक पांच भावों से मोक्ष की ओर प्रस्थान**' शीर्षक निबन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। कर्मों के साथ इन पांच भावों का काफी घनिष्ठ सम्बन्ध है। कर्मग्रन्थ में पांचों भावों का कर्म के साथ सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है कि औपशमिक भाव मोहनीय कर्म के ही होता है। मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव चार घातिकर्मों का ही होता है। शेष तीन (क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक) भाव आठों कर्मों के होते हैं।

धर्मास्तिकाय आदि अजीवद्रव्य के पारिणामिक भाव हैं, किन्तु पुद्गल-स्कन्ध के औदयिक और पारिणामिक ये दो भाव हैं।

कर्म के सम्बन्ध में औपशमिक आदि भावों का मतलब है-उसकी अवस्था विशेषों से। जैसे-कर्म की उपशम-अवस्था औपशमिक भाव है, क्षयोपशम-अवस्था क्षायोपशमिक भाव है, क्षय-अवस्था क्षायिक भाव है, उदय-अवस्था औदयिक भाव है और परिणमन-अवस्था पारिणामिक[१] भाव है।

आशय यह है कि उपशम-अवस्था मोहनीय कर्म के सिवाय अन्य कर्मों की नहीं होती। इसलिए औपशमिक भाव मोहनीय कर्म का ही कहा गया है। क्षयोपशम चार घातिकर्मों का ही होता है। इस कारण क्षयोपशम भाव घातिकर्म का ही माना गया है। विशेषता इतनी है कि केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय, इन दो घातिकर्म-प्रकृतियों के विपाकोदय का निरोध न होने के कारण इनका क्षयोपशम नहीं होता। क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक; ये तीनों भाव आठों कर्मों के हैं, क्योंकि क्षय, उदय और परिणमन, ये तीन अवस्थाएँ आठों ही कर्मों की होती हैं। निष्कर्ष यह है कि मोहनीय कर्म के पांचों भाव, मोहनीय के सिवाय चार घातिकर्म के चार भाव और चार अघातिकर्म के तीन भाव हैं।

---

१. पारिणामिक शब्द का यह एक अर्थ है-स्वरूप-परिणमन, जो सब द्रव्यों में लागू होता है। जैसे-कर्म का जीवप्रदेशों के साथ विशिष्ट सम्बन्ध होना या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि भिन्न-भिन्न निमित्त पाकर अनेक रूप में संक्रान्त होते रहना (परिवर्तित होते रहना) कर्म का पारिणामिक भाव है। जीव का परिणमन जीवत्व भाव में या भव्यत्व या अभव्यत्वरूप में स्वतः बने रहना है। इसी तरह धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में भी समझ लें।

धर्मास्तिकाय आदि पांच द्रव्यों में से पुद्गलास्तिकाय के सिवाय शेष चारों द्रव्यों के पारिणामिक भाव ही होता है। धर्मास्तिकाय जीव-पुद्गलों की गति में सहायक बनने रूप अपने कर्म में अनादिकाल से परिणत हुआ करता है। अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक बनने रूप कार्य में, आकाशास्तिकाय अवकाश देने रूप कार्य में, और काल, समय-पर्यायरूप स्वकार्य में अनादिकाल से परिणमन किया करता है। परन्तु पुद्गल द्रव्य के पारिणामिक और औदयिक ये दो भाव हैं। स्कन्धों में भी द्वयणुकादि सादि स्कन्ध पारिणामिक भाव वाले ही हैं; लेकिन औदारिक आदि शरीररूप स्कन्ध पारिणामिक और औदयिक दोनों भावों वाले हैं; क्योंकि ये स्व-स्वरूप में परिणत होते रहने के कारण पारिणामिक भाव वाले और औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदयजन्य होने के कारण औदयिक भाव वाले हैं। पुद्गल द्रव्य के जो दो भाव कहे गए हैं, उन्हें कर्म पुद्गल से भिन्न पुद्गल के समझने चाहिए। कर्म पुद्गल के तो औपशमिक आदि पांचों भाव हैं, जिनका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है।[१]

चौदह गुणस्थानों में पांच भावों के मूल भेदों की प्ररूपणा

एक जीव की अपेक्षा से चौथे, पांचवें, छठे और सातवें, इन चार गुणस्थानों में तीन या चार भाव होते हैं। औदयिक भाव में मनुष्यादि गति, पारिणामिक भाव में जीवत्व आदि, और क्षायोपशमिक भाव में भावेन्द्रिय, सम्यक्त्व आदि, ये तीन भाव होते हैं, जो क्षायोपशमिक के समय पाये जाते हैं। परन्तु जब क्षायिक या औपशमिक सम्यक्त्व इन दोनों में से कोई एक सम्यक्त्व तथा उक्त तीन, इस प्रकार चार भाव समझने चाहिए।

नौवें, दसवें और ग्यारहवें इन तीन गुणस्थानों में चार या पांच भाव होते हैं। चार भाव उस समय होते हैं, जब औपशमिक सम्यक्त्वी जीव उपशम श्रेणि वाला हो। चार भावों में तीन तो उपर्युक्त हैं ही, चौथा औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्र है। पांच भावों में उक्त तीन और चौथा क्षायिक सम्यक्त्व और पांचवां है-औपशमिक चारित्र।

आठवें और बारहवें, इन दो गुणस्थानों में चार भाव होते हैं। आठवें में पूर्वोक्त तीन, चौथा औपशमिक और क्षायिक; इन दो में से कोई एक सम्यक्त्व, ये चार भाव

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ६९ विवेचन, पृ० २०४ से २०६
(ख) मोहेव समो मीसो, चउघाइसु अट्ठकम्मंसु च सेसा।
धम्माइ परिणामिय-भावे खंधा उदइएवि॥ ६९॥ -चतुर्थ कर्मग्रन्थ

समझने चाहिए। बारहवें में उक्त तीन और चौथा क्षायिक सम्यक्त्व ये चार भाव होते हैं। शेष पांच (पहले, दूसरे, तीसरे, तेरहवें और चौदहवें) गुणस्थानों में तीन भाव हैं। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव (मनुष्य आदि गति) पारिणामिक भाव (जीवत्व आदि) और क्षायोपशमिक भाव (भावेन्द्रिय आदि), ये तीन भाव हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में औदयिक (मनुष्यत्व), पारिणामिक (जीवत्व) और क्षायिक (ज्ञान आदि) ये तीन भाव हैं। निष्कर्ष यह है-एक जीव में विभिन्न समय में पाये जाने वाले भावों की विवक्षा से कथन इस प्रकार है-पहले तीन गुणस्थानों में औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव, चौथे से ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानों में पांचों भाव, बारहवें गुणस्थान में औपशमिक के सिवाय चार भाव, तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में औपशमिक और क्षायोपशमिक के सिवाय शेष तीन भाव होते हैं।[१]

चौदह गुणस्थानों के पांच भावों के उत्तरभेदों की अपेक्षा से प्ररूपणा

अनेक जीवों की अपेक्षा से चौदह गुणस्थानों में पंचविध भावों के उत्तरभेदों की विवक्षा से प्ररूपणा इस प्रकार है-**(१) क्षायोपशमिक**-पहले दो गुणस्थानों में तीन अज्ञान, चक्षु आदि दो दर्शन, दान आदि ५ लब्धियाँ, ये दस। तीसरे गुणस्थान में तीन ज्ञान, तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि तथा पांच लब्धियाँ, ये बारह भेद। चौथे में तीसरे गुणस्थान वाले बारह, किन्तु मिश्रदृष्टि के स्थान में सम्यक्त्व, पांचवें में चौथे गुणस्थान वाले १२, और देशविरति, कुल १३, छठे-सातवें में उक्त तेरह में से देशविरति को कम करके उसमें सर्वविरति और मनःपर्यायज्ञान मिलाने से १४, आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में उक्त चौदह में से सम्यक्त्व के सिवाय शेष १३, ग्यारहवें, बारहवें में उक्त तेरह में से चारित्र को छोड़कर शेष १२ क्षायोपशमिक भाव हैं। चौदहवें में क्षायोपशमिक भाव नहीं है।

(२) औदयिक भाव-पहले गुणस्थानों में अज्ञानादि २१, दूसरे में मिथ्यात्व के सिवाय २०, तीसरे-चौथे में अज्ञान को छोड़कर १९, पांचवें में देवगति, नरकगति के सिवाय उक्त १९ में से शेष १७, छठे में तिर्यञ्चगति और असंयम कम करके १५, सातवें में कृष्णादि तीन लेश्याओं को छोड़कर उक्त १५ में से शेष १२, आठवें-नौवें में तेजः और पद्मलेश्या के सिवाय १०, दसवें में क्रोध, मान, माया इन तीन कषायों

---

१. (क) चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ७० विवेचन (पं० सुखलाल जी), पृ० २०६, २०७
(ख) 'संमाइ चउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसंते।
चउ खीणापुव्व तिन्नि,सेसगुणट्ठाणगेग जिए॥ ७०॥' -चतुर्थ कर्मग्रन्थ

तथा तीन वेदों के सिवाय उक्त दस में से शेष ४; ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ को छोड़कर शेष ३, और चौदहवें गुणस्थान में शुक्ललेश्या के सिवाय तीन में से मनुष्यगति और असिद्धत्व ये दो औदयिक भाव हैं।

(३) **क्षायिक भाव**–पहले तीन गुणस्थानों में क्षायिक भाव नहीं हैं। चौथे से ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानों में सम्यक्त्व; बारहवें में सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो और तेरहवें-चौदहवें दो गुणस्थानों में क्षायिक भाव है।

(४) **औपशमिक भाव**–पहले के तीन और बारहवें आदि तीन, इन छह गुणस्थानों में औपशमिक भाव नहीं है। चौथे से आठवें तक पांच गुणस्थानों में सम्यक्त्व और नौवें से ग्यारहवें तक तीन गुणस्थानों में सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो औपशमिक भाव हैं।

(५) **पारिणामिक भाव**–पहले गुणस्थानों में जीवत्व आदि तीनों, दूसरे से बारहवें गुणस्थान तक ग्यारह गुणस्थानों में जीवत्व और भव्यत्व; और तेरहवें और चौदहवें में जीवत्व ही पारिणामिक भाव है। भव्यत्व अनादि सान्त है, क्योंकि सिद्ध अवस्था में उसका अभाव हो जाता है। घातिकर्मों का क्षय होने के बाद सिद्धावस्था प्राप्त करने में अधिक विलम्ब नहीं लगता, इसलिए पूर्वाचार्यों ने तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में भव्यत्व नहीं माना है।

एक जीवाश्रित भावों के उत्तरभेदों की प्ररूपणा

इसी प्रकार **एक जीवाश्रित भावों** के उत्तरभेद की प्ररूपणा यों है–(१) **क्षायोपशमिक पहले दो गुणस्थानों** में मति-श्रुत दो, या विभंग-सहित तीन अज्ञान, अचक्षु एक या चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, दान आदि ५ लब्धियाँ; **तीसरे** में दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पांच लब्धियाँ। **चौथे** में दो या तीन ज्ञान, अपर्याप्तावस्था में एक अचक्षु या अवधि सहित दो दर्शन, और पर्याप्तावस्था में दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व और पांच लब्धियाँ। **पांचवें** में दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, देशविरति, पांच लब्धियाँ। **छठे-सातवें** में दो, तीन या मनःपर्याय पर्यन्त ४ ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र (सर्वविरति), पांच लब्धियाँ। आठवें, नौवें और दसवें में सम्यक्त्व को छोड़कर छठे-सातवें गुणस्थान वाले समस्त क्षायोपशमिक भाव। ग्यारहवें-बारहवें में चारित्र को छोड़कर दसवें गुणस्थान वाले सभी भाव। (२) **औदयिक-पहले** गुणस्थान में अज्ञान, असिद्धत्व, एक लेश्या, एक कषाय, एक गति, एक वेद, और मिथ्यात्व। **दूसरे** में मिथ्यात्व को छोड़कर पहले गुणस्थान वाले सभी औदयिक भाव भेद। **तीसरे, चौथे, पांचवें** में अज्ञान को छोड़ दूसरे वाले सब। **छठे से**

लेकर नौवें तक असंयम के सिवाय पांचवें वाले सब। **दसवें** में वेद के सिवाय नौवें वाले सब, **ग्यारहवें-बारहवें** में कषाय के सिवाय दसवें वाले सब। **तेरहवें** में असिद्धत्व, लेश्या और गति। **चौदहवें** में गति और असिद्धत्व। (३) **क्षायिक**-चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक में सम्यक्त्व, बारहवें में सम्यक्त्व और चारित्र दो, और तेरहवें चौदहवें में-नौ क्षायिक भाव। (४) **औपशमिक**-चौथे से आठवें तक सम्यक्त्व, नौवें से ग्यारहवें तक सम्यक्त्व और चारित्र। (५) **पारिणामिक**-पहले में तीनों, दूसरे से बारहवें तक में जीवत्व और भव्यत्व दो, तथा तेरहवें-चौदहवें में एक-जीवत्व।

इस प्रकार की प्ररूपणा से यह स्पष्ट है, पांच भावों में मूल या उत्तरभेदों में प्रवर्तमान जीव मोहकर्म की शक्तियों को उत्तरोत्तर क्षीण करता हुआ कर्मबन्ध से कर्मक्षय की ओर गति-प्रगति कर सकता है।[१]

■■

१. देखें-चतुर्थ कर्मग्रन्थ की गा० ७० के आधार पर, तृतीयाधिकार परिशिष्ट 'ब' (पं० सुखलालजी), पृ० २३१, २३२

गुणस्थानों में जीवस्थान आदि की प्ररूपणा का यंत्र

क्रम संख्या	गुणस्थान नाम	जीव स्थान	योग	उपयोग	लेश्या	मूलबन्ध हेतु	उत्तरबन्ध हेतु	मिथ्यात्व	कषाय	योग	बन्ध-प्रकृति	उदय-प्रकृति	उदीरणा प्रकृति	सत्ता-प्रकृति	अल्पबहुत्त्व
१	मिथ्यात्व	१४	१३	५	६	४	५५	५	१२	२५	७/८	८	७/८	८	अनन्तगुणा
२	सास्वादन	७	१३	५	६	३	५०	०	१२	२५	७/८	८	७/८	८	असंख्यगुणा
३	मिश्र	१	१०	६	६	३	४३	०	१२	२१	७	८	८	८	असंख्यगुणा
४	अविरति	२	१३	६	६	३	४६	०	१२	२१	७/८	८	७/८	८	असंख्यगुणा
५	देशविरति	१	११	६	६	३	३९	०	११	१७	७/८	८	७/८	८	असंख्यगुणा
६	प्रमत्तसंयत	१	१३	७	६	२	२६	०	०	१३	७/८	८	७/८	८	संख्यातगुणा
७	अप्रमत्तसंयत	१	११	७	३	२	२४	०	०	१३	७/८	८	६	८	संख्यातगुणा
८	अपूर्वकरण	१	९	७	१	२	२२	०	०	१३	७	८	६	८	तुल्य
९	अनिवृत्तिकरण	१	९	७	१	२	१६	०	०	७	७	८	६	८	तुल्य
१०	सूक्ष्म सम्पराय	१	९	७	१	२	१०	०	०	१	६	८	६/५	८	विशेषाधिक
११	उपशान्तमोह	१	९	७	१	१	९	०	०	०	१	७	५	८	सबसे कम
१२	क्षीणमोह	१	९	७	१	१	९	०	०	०	१	७	५/२	८	संख्यातगुणा
१३	सयोगिकेवली	१	७	२	१	१	७	०	०	०	१	४	२	४	संख्यातगुणा
१४	अयोगिकेवली	१	०	२	०	०	०	०	०	०	०	४	०	४	अनन्तगुणा

१७

गुणस्थानों में बन्ध-सत्ता-उदय-उदीरणा प्ररूपणा

आत्मा पर लगे बन्धादि के संयोग-वियोग का गुणस्थानों द्वारा नापजोख

आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप सच्चिदानन्दघन रूप है। जिसे जैनदर्शन की परिभाषा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख (आत्मिक आनन्द) और अनन्त वीर्य (आत्मशक्ति) कहा गया है। आत्मा के इस स्वरूप को विकृत, आवृत, कुण्ठित और सुषुप्त करने का कार्य कर्मों का है। कर्मों का बन्धन आत्मा को संसार के कारागृह में जकड़ कर डाल देता है, किसी का बन्धन तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम होता है, और किसी का मन्द, मन्दतर और मन्दतम। कर्मावरण की घनघोर घटाएँ जब आत्मारूपी सूर्य पर गहरी छा जाती हैं, तब आत्मा की उपर्युक्त ज्ञानादि शक्तियों की ज्योति मन्द हो जाती है। परन्तु ज्यों-ज्यों आत्मा उन कर्मावरणों को अपने सत् पुरुषार्थ से हटाने, घटाने, रोकने और मिटाने का पुरुषार्थ करता है त्यो-त्यों वह कर्मावरण मन्द, मन्दतर होता जाता है, कर्मों की जकड़ शिथिल होती जाती है; जीव के कर्ममय संसार कारावास की कालसीमा भी उत्तरोत्तर कम होती जाती है; और आत्मा की पूर्वोक्त सुषुप्त शक्तियाँ जागृत और प्रकट होती जाती हैं। आत्मा की विशुद्धि एवं अशुद्धि अथवा पूर्वोक्त शक्तियों के विकास और ह्रास को गुणस्थानों के माध्यम से नापा जाता है, और बन्ध की न्यूनाधिकता के बिन्दुओं से उसके उत्थान-पतन का नाप-जोख किया जाता है। गुणस्थान चौदह हैं। उनके स्वरूप, क्रम और कार्य का विश्लेषण हम पिछले निबन्धों में कर आए हैं। और यह भी पिछले पृष्ठों में हम अंकित कर आए हैं कि किस गुणस्थान में कर्म की आठ मूलप्रकृतियों में से कितनी प्रकृतियों की बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा होती है? अतः इस निबन्ध में हम यह बताना चाहते हैं कि किस गुणस्थान में कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ कितनी बंधती हैं,

कितनी सत्ता में रहती हैं, कितनी उदय में आती हैं, कितनी प्रकृतियों की उदीरणा होती है ?[१]

(१) बन्धाधिकार

कर्मबन्धयोग्य एक सौ बीस प्रकृतियाँ : क्यों और कैसे?

ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों की उत्तर-प्रकृतियाँ १४८ हैं; इन १४८ उत्तर प्रकृतियों के नाम एवं उनके स्वरूप का वर्णन हम प्रकृतिबन्ध से सम्बद्ध निबन्धों में कर आए हैं। उक्त १४८ उत्तरकर्मप्रकृतियों में से किसी खास गुणस्थान और किसी खास जीव की विवक्षा किये बिना बन्धयोग्य (बन्धव्य) कर्मप्रकृतियाँ १२० मानी गई हैं। इसलिए १२० कर्मप्रकृतियों के बन्ध को सामान्य बन्ध या ओघबन्ध कहते हैं। यद्यपि कोई एक जीव किसी भी अवस्था में एक समय में कर्मपुद्गलों को १२० रूप में परिणमित नहीं कर सकता है। अर्थात्-१२० कर्मप्रकृतियों को एक समय में नहीं बांध सकता है। परन्तु अनेक जीव एक समय में १२० कर्मप्रकृतियों को बांध सकते हैं। इसी तरह एक जीव भी पृथक्-पृथक् समय सब मिला कर १२० कर्मप्रकृतियों को बांध सकता है; क्योंकि जीव के मिथ्यात्वादि परिणामों के अनुसार कार्मण-पुद्गल १२० प्रकार में परिणत हो सकते हैं। इसी कारण १२० कर्म-प्रकृतियाँ बन्ध-योग्य मानी जाती हैं।

बन्धयोग्य १२० उत्तरकर्मप्रकृतियाँ : एक दृष्टि में

बन्धयोग्य १२० कर्म-प्रकृतियों के मूल कर्मों के नाम और उनकी उतर-प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है-

(१) ज्ञानावरणीय के ५ भेद, (२) दर्शनावरणीय के ९ भेद, (३) वेदनीय के २ भेद, (४) मोहनीय के २६ भेद, (५) आयुकर्म के ४ भेद, (६) नामकर्म के ६७ भेद, (७) गोत्रकर्म के २ भेद, और (८) अन्तरायकर्म के ५ भेद।

इन सब ज्ञानावरणीयादि कर्मों के ५+९+२+२६+४+६७+२+५=१२० भेद यानी १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गई हैं।[२]

---

१. (क) जिनवाणी, साधना-विशेषांक, सन् १९७१ जनवरी, फरवरी, मार्च से भावांश ग्रहण, पृ. १९
(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि) से भावांश ग्रहण, पृ. १४३

२. (क) कर्मग्रन्थ भाग २, गा. १ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ५१
(ख) देखें-पंचसंग्रह में
(ग) पंचणव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंध-पयडीओ ॥ -गो. जीवकाण्ड गा. ३५

गोम्मटसार के अनुसार भेद विवक्षा से १४६ भेद

गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार ये १२० कर्मप्रकृतियाँ अभेद विवक्षा से बन्धयोग्य हैं। किन्तु भेदविवक्षा (भेददृष्टि से कथन करने की इच्छा) से १४६ कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य होंगी; क्योंकि दर्शनमोह की सम्यक्त्व, सम्यग्-मिथ्यात्व और मिथ्यात्व-इन तीन भेदों में से मूल मिथ्यात्व प्रकृति ही बन्धयोग्य मानी जाती है। इसका कारण यह है कि मिथ्यात्व-प्रकृति को ही जीव अपने परिणामों द्वारा अशुद्ध, अर्धशुद्ध और विशुद्ध-इन तीन भागों में विभाजित करता है, जिससे मिथ्यात्व के ही तीन भेद हो जाते हैं। उनमें से विशुद्ध कर्मपुद्गलों को सम्यक्त्व-मोहनीय और अर्धशुद्ध कर्मपुद्गलों को सम्यग्-मिथ्यात्व-मोहनीय कहते हैं। इसलिए मोहनीय कर्म के सम्यक्त्व और सम्यग्-मिथ्यात्व, इन दो प्रकृतियों को बन्धयोग्य प्रकृतियों में ग्रहण न करने से भेदविवक्षा से १४६ कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी जाती हैं।[१]

एक सौ बीस प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य क्यों; शेष क्यों नहीं?

अतः कुल १४८ कर्मप्रकृतियों में से अभेद विवक्षा से १२० प्रकृतियाँ सामान्यतया बन्ध-योग्य मानी गई हैं। शेष २८ प्रकृतियों का बन्ध न होने का कारण यह है कि नामकर्म की ९३ या १०३ कर्मप्रकृतियों में से केवल ६७ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गई हैं, इसका कारण यह है कि वर्णादिचतुष्क के उत्तरभेद जो बीस बताये गए हैं, उनमें से एक जीव एक समय में वर्णपंचक में से किसी एक वर्ण का, रस-पंचक में से किसी एक रस का, गन्धद्वय में से किसी एक गन्ध का, और स्पर्श-अष्टक में से किसी एक स्पर्श का ही बन्ध करता है, अवशेषों का बन्ध नहीं करता। इसलिए वर्णचतुष्क की सोलह प्रकृतियां नहीं बंधती। तथा शरीर-नामकर्म में बन्धन और संघातन, ये दोनों अविनाभावी होने से पांच बन्धन और पांच संघात का अन्तर्भाव पांच शरीरों में कर लिया जाता है। अतः बन्ध और उदयावस्था में बन्धन और संघात नामकर्म शरीर-नामकर्म से पृथक् नहीं गिने जाते। अतः शरीर नामकर्म में इन ५+५=१० कर्म-प्रकृतियों का समावेश हो जाने से तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, इन चार भेदों में भी अभेद-विवक्षा से इनके बीस भेद समाविष्ट हो जाने से बन्ध और उदयावस्था में सिर्फ चार भेद लिये जाने पर नामकर्म के शेष रहे ६७ भेद ही बन्धयोग्य माने गए हैं। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों में से अनादि मिथ्यात्वी में केवल एक मिथ्यात्व की ही सत्ता रहती है, उसके शेष दो भेद तो सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् होते हैं। इस कारण मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय इन दोनों का भी

---

१. कर्मग्रन्थ भा. २ टिप्पण (मरुधरकेसरीजी), पृ. ५२

बन्ध नहीं होता। फलतः १६+५+५+२=२८ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य न होने से १४८ में से इनको कम करने पर शेष १२० कर्मप्रकृतियाँ ही सामान्यतया बन्धयोग्य रह जाती हैं।[१]

(१) प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में सामान्य से बन्धयोग्य पूर्वोक्त १२० कर्मप्रकृतियों में से ११७ कर्मप्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध कर सकते हैं। पूर्वोक्त १२० में से तीर्थंकर नामकर्म और आहारक-द्विक (आहारकशरीर और आहारक अंगोपांग), इन तीन कर्मप्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीवों के नहीं होता। अर्थात्-ये तीन कर्मप्रकृतियाँ मिथ्यात्वगुणस्थान में[२] **अबन्ध**-योग्य हैं; क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध सम्यक्त्व से होने से सम्यक्त्वी जीव ही करता है, और आहारकद्विक का बन्ध अप्रमत्तसंयम से होने से अप्रमत्तसंयत ही कर सकता है;[३] मगर प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में जीवों को न तो सम्यक्त्व होना सम्भव है और न ही अप्रमत्तसंयम; क्योंकि चतुर्थ अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से पहले सम्यक्त्व हो नहीं सकता और सातवें अप्रमत्त-संयत गुणस्थान से पहले अप्रमत्त-संयम भी संभव नहीं है। निष्कर्ष यह है कि प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पांचों बन्धहेतुओं के विद्यमान रहने से पूर्वोक्त तीन प्रकृतियों के सिवाय शेष ११७ कर्मप्रकृतियों का ही यथासम्भव बन्ध कर सकते हैं। अतः कर्मग्रन्थ की भाषा में, मिथ्यात्वगुणस्थान में ११७ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य और ३ प्रकृतियाँ अबन्धयोग्य हैं।[४]

(२) दूसरे सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से १६ प्रकृतियाँ **बन्ध-विच्छेदयोग्य** होने से १०१ कर्मप्रकृतियाँ

---

१. (क) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य देवेन्द्रमुनि), पृ. १४८
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ गा. ३-अभिनव-कम्मग्गहणं बंधो ओहेण वीससयं। विवेचन, पृ. ४९ से

२. **अबन्ध**-उस गुणस्थान में वह कर्म न बंधे, किन्तु आगे के गुणस्थान में उस कर्म का बन्ध हो, उसे **अबन्ध** कहते हैं।

३. सम्मेव तित्थबंधो, आहारदुगं पमाद-रहिदेसु।-गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ९२

४. (क) तित्थयराहारक दुग वज्जं मिच्छंमि सत्तरसयं।
-कर्मग्रन्थ भा. २, गा. ३, विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ५३
(ख) देहे अविणाभावी बंधण-संघाद इद अबंधुदया।
वण्णचउक्के अभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये ॥३४॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड
(ग) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १४९

बन्धयोग्य मानी जाती हैं। बन्धविच्छेद[1] होने वाली १६ प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं-नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु), जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय जाति से चतुरिन्द्रिय जाति तक), स्थावर-चतुष्क (स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम), हुण्डकसंस्थान, आतपनाम, सेवार्त-संहनन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्वमोहनीय। इन १६ प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में बन्ध-विच्छेद हो जाने से सासादन गुणस्थान में १०१ कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य रहती हैं।

कर्मविज्ञान का यह नियम है कि गुणस्थानों में कर्मबन्ध के मिथ्यात्व आदि जो-जो हेतु बताये गए हैं, उनमें से जिस-जिस गुणस्थान तक जिस-जिस का उदय रहता है, तब उस-उस के निमित्त से बंधने वाली कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उस-उस गुणस्थान तक होता रहता है।

मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म का उदय प्रथम (मिथ्यात्व) गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है, दूसरे गुणस्थान में नहीं। अतएव मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से अत्यन्त अशुभरूप और प्रायः नारक जीवों, एकेन्द्रिय जीवों तथा विकलेन्द्रिय जीवों के योग्य नरकत्रिक से लेकर मिथ्यात्व-मोहनीय पर्यन्त (चतुर्थ गाथा में) उक्त सोलह प्रकृतियों का बन्ध पहले गुणस्थान के अन्तिम समय तक, जब तक मिथ्यात्व मोहनीय का उदय है, हो सकता है; दूसरे गुणस्थान के समय नहीं। इसलिए पहले गुणस्थान में जिन ११७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध माना गया है, उनमें से नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त १६ प्रकृतियों को छोड़कर शेष १०१ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध दूसरे गुणस्थान में होता है।[2]

(३) तीसरे मिश्र (सम्यग्-मिथ्यात्व) गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है; वह इस प्रकार-दूसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य जो १०१ प्रकृतियाँ बताई गई थीं, उसके अन्त समय में निम्नोक्त २५ कर्मप्रकृतियों का विच्छेद हो जाता है। अर्थात्-आगे तीसरे, चौथे आदि गुणस्थानों में इन प्रकृतियों का बन्ध नहीं हो सकता है। वे विच्छेदयोग्य २५ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं-तिर्यञ्चत्रिक (तिर्यंचगति,

---

१. **बन्ध-विच्छेद**-आगे के किसी भी गुणस्थान में बंध न होने को **बन्ध-विच्छेद** कहते हैं। छेद, अन्त, क्षय या भेद, ये सब एकार्थक शब्द हैं।

२. (क) नरयतिग जाइ-थावर-चउ हुंडायवछिवट्ट-नपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसउ, सासणि तिरिथीण-दुहगतिगं ॥४॥
-कर्मग्रन्थ भा. २, विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ५४

(ख) मिच्छत्त हुंड-संढाऽसंपत्तेयक्ख-थावरादावं ।
सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छे॥-गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ९५

तिर्यञ्चानुपूर्वी और तिर्यंचायु) स्त्यानर्द्धि-त्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि), दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेयनाम), अनन्तानुबन्धीचतुष्क, (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ), मध्यम-संस्थानचतुष्क (न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान, सादिसंस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जसंस्थान), मध्यमसंहनन-चतुष्क (ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच एवं कीलिका-संहनन)। ये २१ और नीचगोत्र, उद्योतनाम, अशुभ-विहायोगतिनाम और स्त्रीवेद, ये ४ मिलाकर कुल पच्चीस प्रकृतियों का बन्ध अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होता है, और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय सिर्फ पहले और दूसरे गुणस्थान तक ही रहता है; तीसरे आदि आगे के गुणस्थानों में नहीं। इसलिए दूसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों में से तिर्यञ्चत्रिक आदि २५ प्रकृतियों को कम करने से तीसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य ७६ प्रकृतियाँ माननी चाहिए थीं।[१]

किन्तु तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव का स्वभाव ऐसा होता है कि उस समय न तो उसकी मृत्यु होती है, और न ही उस दौरान परभव का आयुष्य बांधता है; क्योंकि मिश्रगुणस्थान और मिश्र काययोग की स्थिति में आयुष्यकर्म का बन्ध नहीं होता। इसलिए आयुकर्म के चार भेदों में से नरकायु का बन्ध पहले गुणस्थान तक और तिर्यञ्चायु का बन्ध दूसरे गुणस्थान तक होने से तथा शेष मनुष्यायु एवं देवायु, इन दो आयुष्यों का इस तृतीय गुणस्थान में बन्ध न होने से तिर्यञ्चत्रिक आदि पूर्वोक्त २५ प्रकृतियों तथा मनुष्यायु एवं देवायु, इन दो प्रकृतियों सहित २७ प्रकृतियों को सासादन गुणस्थान की बन्ध-योग्य १०१ प्रकृतियों में से कम करने पर शेष ७४ कर्मप्रकृतियाँ तीसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य हैं।

(४) अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान में तीर्थंकर (जिन) नाम तथा मनुष्यायु एवं देवायु का बन्ध होने से तृतीय गुणस्थान की ७४ और ये तीन प्रकृतियाँ अधिक होने से ७४+३=७७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। तात्पर्य यह है कि तीसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य ७४ प्रकृतियाँ हैं; इस (चतुर्थ) गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का नया विच्छेद नहीं होता है। अतः चौथे गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ बन्ध योग्य होनी चाहिए थी, किन्तु '**सम्ममेव तित्थबंधो**' इस सिद्धान्तानुसार सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थंकरनाम कर्म की प्रकृति का बन्ध होता है, अतः चतुर्थ गुणस्थान में तीर्थंकरनाम बन्ध की सम्भावना है। इसी प्रकार नरकायु और तिर्यंचायु का बन्ध-

---

१. (क) अण-मज्झागिइ-संघयण-चउ, निउज्जोय-कुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउय अबंधा ॥५॥ -कर्मग्रन्थ भा. २
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ विवेचन गा. ५ (मरुधरकेसरी), पृ. ५६ से ५८ तक

विच्छेद पहले और दूसरे गुणस्थान में हो जाने से मनुष्यायु और देवायु, ये दो प्रकृतियाँ बन्धयोग्य रहती हैं। तीसरे सम्यग्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में **'सम्मामिच्छादिट्ठी आउयबंधं पि न करेइ'** के सिद्धान्तानुसार मनुष्यायु और देवायु का बन्ध नहीं होता था, उन दोनों आयुओं का बन्ध चौथे गुणस्थान में हो सकता है। अतः चौथे गुणस्थान में तीसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७४ प्रकृतियों के साथ तीर्थंकरनामकर्म तथा मनुष्यायु और देवायु इन तीन प्रकृतियों के मिल जाने से ७७ कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य रह जाती हैं।

एक बात ध्यान देने योग्य है कि चतुर्थ गुणस्थान में देव और नारक यदि परभव-सम्बन्धी आयु का बन्ध करें तो मनुष्यायु और तिर्यंचायु को बांधते हैं, तथा मनुष्य और तिर्यंच देवायु को बांधते हैं।

(५) पंचम देशविरत गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। चतुर्थ गुणस्थान में बन्धयोग्य जो ७७ प्रकृतियाँ हैं, उनमें से वज्रऋषभनाराच संहनन, मनुष्य-त्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु), अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क (अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ), औदारिकद्विक (औदारिकशरीर, औदारिक अंगोपांग) इन १० प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद चतुर्थ गुणस्थान के अन्त में होने से पंचम गुणस्थान में बन्धयोग्य ६७ प्रकृतियाँ रहती हैं।[१]

पाँचवें आदि गुणस्थानों में मनुष्यभवयोग्य कर्मप्रकृतियों का बन्ध न होकर देवभवयोग्य कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। इसलिए मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु, ये तीन प्रकृतियाँ केवल मनुष्यजन्म में तथा वज्रऋषभनाराचसंहनन, औदारिक शरीर और औदारिक अंगोपांग, ये तीन प्रकृतियाँ मनुष्य या तिर्यंच के जन्म में ही भोगनेयोग्य होने से इन ६ प्रकृतियों का बन्ध पांचवें आदि गुणस्थानों में नहीं होता।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों का बन्ध चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है, आगे ये गुणस्थानों में नहीं। क्योंकि कषाय के बन्ध के लिए यह सामान्य नियम है कि जितने गुणस्थानों में जिस कषाय का उदय हो सकता है, उतने गुणस्थानों तक उस कषाय का बन्ध होता है।

पांचवें देशविरत गुणस्थानवर्ती जीव एकदेश संयम का पालन करता है, इसलिए एकदेश-संयम-पालक को 'देशविरत' कहते हैं।

---

१. (क) सम्मे सगसयरि जिणायुबंधि, वइर नरतिग वियकसाय ।
उरल-दुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिय-कसायंतो ॥६॥ -कर्मग्रन्थ भा. २
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २, गा. ६ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ५७ से ६० तक

देशसंयम को रोकने वाला अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। अतः जब तक उसका उदय रहेगा, तब तक देशसंयम ग्रहण नहीं होने से जीव को पंचम गुणस्थान प्राप्त नहीं हो सकेगा। इस प्रकार चौथे गुणस्थान की बंधयोग्य ७७ प्रकृतियों में से पूर्वोक्त १० प्रकृतियों का चौथे गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाने से पांचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।[१]

(६) **छठे प्रमत्त-संयत गुणस्थान** में ६३ (तिरसठ) कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है। पंचम गुणस्थान में बन्ध योग्य पूर्वोक्त ६७ प्रकृतियों में प्रत्याख्यानावरण चतुष्क (प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ) का उदय पांचवें गुणस्थान तक ही होता है और उसके अन्तिम समय में बन्ध-विच्छेद हो जाने से प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चार कषायों को छोड़कर शेष ६३ प्रकृतियाँ छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्धयोग्य हैं। यदि उक्त प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय रहता तो छठा गुणस्थान ही प्राप्त नहीं हो पाता। किन्तु प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि चार कषाय का बन्ध पंचम गुणस्थान के अन्तिम समय में बन्ध-विच्छेद होने से ६७ से ४ प्रकृतियाँ कम होने पर बंधयोग्य ६३ प्रकृतियाँ ही छठे गुणस्थान में रहती हैं।[२]

(७) **सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थान** में ५९ या ५८ कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी जाती हैं। वे इस प्रकार हैं- छठे गुणस्थान में बन्धयोग्य ६३ प्रकृतियाँ बताई गई थीं, उनमें से शोक, अरति, अस्थिरद्विक (अस्थिरनाम और अशुभनाम), अयशःकीर्तिनाम और असातावेदनीय, इन ६ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से सातवें गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का बन्ध होना चाहिए, किन्तु इस गुणस्थान में आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक

---

१. (क) अयदे बिदिय कसाया वज्जं ओरालमणुदुमणुवाऊ ।
देसे तदियकसाया णियमेणिह बंध-वोच्छिण्णा ॥
-गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ९७
(ख) तेवट्ठि पमत्ते ..... । -कर्मग्रन्थ भा. २ गा. ७ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ६०-६१

२. (क) ..... सोग अरइ अथिरदुग अजय अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व सुराउं जया निट्ठे ॥७॥
गुणसट्ठि अप्पमत्ते सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारदुगं बंधे ॥८॥ -कर्मग्रन्थ भा. २
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ गा. ७-८ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ६२-६३
(ग) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप (आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि), पृ. १६३, १६४

अंगोपांग) ये दो प्रकृतियाँ भी बन्धयोग्य होने से ५९ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी जाती हैं। किन्तु जो जीव छठे गुणस्थान में ही देवायु का बन्ध-विच्छेद करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा ५८ प्रकृतियाँ ही सातवें गुणस्थान में बंध-योग्य मानी जाती हैं।

इस विभिन्नता का कारण है- सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले द्विविध जीव:- (१) एक वे हैं, जो छठे गुणस्थान में देवायु के बन्ध को प्रारम्भ करके उसे उसी गुणस्थान में उसका विच्छेद किये बिना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं और सप्तम गुणस्थान में देवायु के बन्ध को समाप्त करते हैं। (२) दूसरे वे हैं, जो देवायु के बन्ध का प्रारम्भ तथा उसका विच्छेद, इन दोनों को छठे गुणस्थान में ही करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। इन दोनों प्रकार के सप्तम-गुणस्थानवर्ती जीवों में प्रथम प्रकार के जीव छठे गुणस्थान के अंन्तिम समय में शोक, अरति आदि ६ प्रकृतियों को छठे गुणस्थान की बन्धयोग्य ६३ प्रकृतियों में से कम करके तथा आहारकद्विक प्रकृतियों सहित ५७+२=५९ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं; जबकि दूसरे प्रकार के जीव इन ५९ प्रकृतियों में से देवायु का भी बन्धविच्छेद करके ५८ प्रकृतियों का बंध करते हैं। ध्यान रहे, आहारक शरीर और आहारक-अंगोपांग, इन दोनों प्रकृतियों का उदय सातवें गुणस्थान में ही होने से इन दोनों का बन्ध भी सातवें गुणस्थान में होता है।

(८) **आठवें निवृत्तिबादर (अपूर्वकरण) गुणस्थान** के सात भाग हैं। उनमें **प्रथम भाग** में सातवें गुणस्थान में बन्धयोग्य ५९ प्रकृतियों में से देवायु को कम कर देने से शेष ५८ प्रकृतियाँ बंधती हैं। द्वितीय भाग से लेकर छठे भाग तक (पांच भागों) में छप्पन प्रकृतियाँ बंधती हैं, क्योंकि यहाँ निद्रा और प्रचला, ये दो प्रकृतियाँ नहीं बँधती हैं। अत: पूर्वोक्त ५८ प्रकृतियों में से ये दो प्रकृतियाँ घटा देने पर ५६ प्रकृतियाँ ही शेष रहती हैं। सातवें भाग में २६ प्रकृतियाँ बंधती हैं। छठे भाग में बन्धयोग्य ५६ प्रकृतियों में सुरद्विक आदि ३० प्रकृतियाँ कम करने से शेष २६ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य रहती हैं।

यद्यपि देवायु के बन्ध का प्रारम्भ सातवें गुणस्थान में नहीं होता, किन्तु छठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये हुए देवायु के बन्ध की सातवें गुणस्थान में समाप्ति होती है, इस अपेक्षा से सातवें गुणस्थान में बंधयोग्य ५९ प्रकृतियों में देवायु की गणना की गई है। किन्तु आठवें आदि गुणस्थानों में न तो देवायु के बन्ध का प्रारम्भ होता है और न ही उसकी समाप्ति होती है। इस अपेक्षा से आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में देवायु को छोड़कर ५८ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गई है। इस प्रथम भाग के अन्तिम समय

में निद्रा और प्रचला, इन दो प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाने से दूसरे भाग से छठे भाग तक (पांच भागों) में ५६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। तथा छठे भाग के अन्त में इन ५६ प्रकृतियों में से निम्नोक्त ३० प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाता है– (१) देवगति, (२) देवानुपूर्वी (सुरद्विक), (३) पंचेन्द्रिय जाति, (४) शुभ-विहायोगति, (५) त्रस, (६) बादर, (७) पर्याप्त, (८) प्रत्येक (९) स्थिर, (१०) शुभ, (११) सुभग, (१२) सुस्वर, (१३) आदेय (त्रसनवक), (१४) वैक्रिय शरीर नाम, (१५) आहारक शरीर नाम, (१६) तैजस शरीरनाम, (१७) कार्मण शरीर नाम, (१८) समचतुरस्र संस्थान, (१९) वैक्रिय अंगोपांग, (२०) आहारक अंगोपांग, (२१) निर्माण नाम, (२२) तीर्थंकर नाम, (२३) वर्ण, (२४) गन्ध, (२५) रस, (२६) स्पर्श (वर्णचतुष्क), (२७) अगुरुलघु, (२८) उपघात, (२९) पराघात, और (३०) श्वासोच्छ्वास (अगुरु लघुचतुष्क)। इस प्रकार नामकर्म की ये ३० प्रकृतियाँ पूर्वोक्त ५६ प्रकृतियों में से घटा देने से शेष २६ प्रकृतियों का ही बन्ध आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में होता है। नामकर्म की उक्त बन्धविच्छेदयोग्य ३० प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक ही बांधी जाती हैं, आगे नहीं।

(९) **नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान** के पांच भाग हैं। **प्रथम भाग** में २२ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में बंधयोग्य शेष रही २६ प्रकृतियों में से अन्तिम समय में हास्य, रति, जुगुप्सा और भय, नोकषायमोहनीय कर्म की इन चार प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाने से नौवें आदि आगे के गुणस्थानों में इनका बन्ध नहीं होता है। इस कारण पूर्वोक्त २६ प्रकृतियों में से प्रथम भाग में हास्यादि चार प्रकृतियाँ कम हो जाने से शेष २२ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गई हैं। **दूसरे भाग** में २१ प्रकृतियों का बन्ध होता है। नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग में बांधी गई २२ प्रकृतियों में से पुरुषवेद का विच्छेद प्रथम भाग के अन्तिम समय में हो जाने से द्वितीय भाग में २१ प्रकृतियों का बन्ध होता है। **तृतीय भाग** में पूर्वोक्त २१ प्रकृतियों में से संज्वलन-क्रोध का विच्छेद द्वितीय भाग के अन्तिम समय में हो जाने से शेष रही २० प्रकृतियों का बन्ध होता है। **चतुर्थ भाग** में पूर्वोक्त २० प्रकृतियों में से संज्वलन मान का विच्छेद तृतीय भाग के अन्तिम समय हो जाने से शेष रही १९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। और पंचम भाग में पूर्वोक्त १९ प्रकृतियों में से चौथे भाग के अन्तिम समय में संज्वलन माया का विच्छेद हो जाने से शेष रही १८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(१०) **दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान** में १७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। नौवें गुणस्थान के पांचवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलन-लोभ का बन्धविच्छेद

हो जाने से नौवें गुणस्थान में बन्धयोग्य १८ प्रकृतियों में से संज्वलन लोभ कम कर देने से दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है।[१]

यद्यपि दसवें गुणस्थान में बन्ध के वास्तविक कारण स्थूल लोभ-कषाय का उदय नहीं रहता है, किन्तु सूक्ष्म-सा लोभकषाय रहता है, जो बन्ध का कारण नहीं है। फिर भी कषाय का अतिसूक्ष्म अंश दसवें गुणस्थान में है ही। इसलिए बन्ध के हेतुभूत कषाय और योग के वहाँ रहने से कषाय-निमित्त दर्शनावरणीय चतुष्क (चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण), उच्चगोत्र, यश:कीर्तिनाम, ज्ञानावरण-पंचक (मतिज्ञानावरण से केवलज्ञानावरण तक), अन्तराय-पंचक (दानान्तराय आदि पांच), ये १६ प्रकृतियाँ और योगनिमित्तक सातावेदनीय, यों कुल १७ प्रकृतियों का बन्ध दशवें गुणस्थान में होता है। (११-१२-१३) **ग्यारहवें उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, बारहवें क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ और सयोगि-केवली,** इन तीन गुणस्थानों में सिर्फ योगनिमित्तक सातावेदनीय प्रकृति बन्धयोग्य रहती है, क्योंकि दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्म कषायांश के भी नष्ट हो जाने से तन्निमित्तक दर्शनावरणचतुष्क आदि पूर्वोक्त १६ प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाता है, किन्तु योग का सद्भाव है, इसलिए ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें, इन तीन गुणस्थानों में योग निमित्तक सिर्फ सातावेदनीय का बन्ध होता है।

---

१. (क) अडवन्न अपुव्वाइमि निद्दुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंग ॥९॥
समचउर निमिण जिण वण्ण-अगुरुलहु-चउ छलंसि तीसंतो ।
चरमे छवीसबंधो हास-रई-कुच्छ-भय-भेओ ॥१०॥
अनियट्टि भाग-पणगे इगेगहीणो दुवीस विहबंधो ।
पुमसंजलणचउण्हं कमेण छेओ सत्तर सुहुमे ॥१॥ -कर्मग्रन्थ भा. २
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ गा. ९, १०, ११ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ६५ से ६८ तक
(ग) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १६६
(घ) तुलना करें-मरणूणम्हि णियट्टी पढमे, णिद्दा तहेव पयला य ।
छट्ठे भागे तित्थं णिमिणं सग्गमण-पंचिंदी ॥९९॥
तेजदुहार दुसम चउ सुर वण्णागुरुचउक्क-तसणवयं ।
चरमे हस्सं च रदी भयं जुगुच्छा य बंधवोच्छिण्णा ॥१००॥
पुरिसंचदु संजलणं कमेण अणियट्टि पंचभागे ॥१०१॥ -गोम्मटसार कर्मकाण्ड

(१४) चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में बन्ध के कारणभूत योग का भी अभाव होने से न तो किसी कर्म का बन्ध होता है और न बन्धविच्छेद ही। इसलिए चौदहवें गुणस्थान में अबन्धकत्व अवस्था प्राप्त होती है।[१]

बन्ध की उत्तरोत्तर न्यूनता और बन्धशून्यता ही जीवन का लक्ष्य

सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में परिणाम (अध्यवसाय) इतने शुद्ध और स्थिर हो जाते हैं कि उन गुणस्थानों में आयु का बन्ध नहीं होता। सातवें गुणस्थान में देवायु बन्ध का प्रारम्भ तो होता ही नहीं, उस बन्ध की कदाचित् समाप्ति होती है, उस अपेक्षा से देवायुबन्ध की गणना और सम्भावना की गई है। परन्तु एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक एकाध गुणस्थान को छोड़कर उत्तरोत्तर कर्मबन्ध कम होते जाते हैं, आत्मशुद्धि की वृद्धि एवं आत्मगुणों का विकास होता जाता है। अतः आत्मार्थी जिज्ञासु एवं मुमुक्षु के लिए गुणस्थानों के माध्यम से बन्ध की उत्तरोत्तर न्यूनता और अन्त में बन्ध-शून्यता बहुत ही आशास्पद एवं प्रेरणादायी है। अतः इसका अत्यन्त बारीकी से अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करना आवश्यक है। वस्तुतः अबन्धकत्व अवस्था प्राप्त करना ही जीव का लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् जीव अपने शुद्ध ज्ञानादिमय स्वरूप में रमण करता रहे, यही उसकी सबसे बड़ी सिद्धि और उपलब्धि है।

(२) सत्ताधिकार

(२) चौदह गुणस्थानों (कर्म) सत्ता की प्ररूपणा

बन्ध और सत्ता में अन्तर

सत्ताधिकार के द्वारा यह बताया गया है कि किस गुणस्थान में कौन-से कर्म की कितनी प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। आशय यह है कि बन्ध का एक लक्षण कर्मवैज्ञानिकों ने किया है-'नवीन कर्मों का ग्रहण करना बन्ध है।' जो कर्म बंध गए हैं, वे जब तक उदय में आकर फल नहीं देते, तब तक वे पुनः नवीनरूप से नहीं बंधते, वे सत्ता में पड़े रहते हैं। कर्म का बन्ध होते ही तत्काल उसका फल भोग (वेदन) नहीं होता, किन्तु उसकी जितनी स्थिति है, कालावधि है उसके अनुसार वह

१. (क) चउदंसणुच्चस नाण विग्घदसगं नि सोलसुच्छेओ ।
तिसु सायबंध छेओ सजोगिबंधं तुणंतो अ ॥१२॥ -कर्मग्रन्थ भा. २
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २, गा. १२ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ६९, ७०
(ग) पढमं विग्घं दंसणचउ जस उच्चं च सुहुमंते ॥१०१॥
उवसंतखीणमोहे जोगिम्हि य समयिदिट्ठिदी सारं ॥१०२॥
-गोम्मटसार कर्मकाण्ड

उसी रूप में (जिस रूप में बंधा है, उसी रूप में) स्थित रहता है। इस स्थिर रहने के समय को '**अबाधाकाल**' कहते हैं। जिस प्रकार वर्तमान में पानी कितना ही खौल रहा हो, लेकिन उसमें पकने के लिये डाली गई वस्तु कुछ समय के लिए तले में बैठ जाती है, और फिर उसके बाद पकनी शुरू होती है। इस प्रकार तले में बैठने की स्थिति और समय (कालावधि) को अबाधाकाल समझना चाहिए। किन्तु यह अबाधाकाल सभी कर्मों का अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। जब तक किसी कर्म का अबाधाकाल पूर्ण नहीं होता, तब तक वह कर्म सत्ता में पड़ा रहता है। वह उस जीव को तब तक (उदय में न आने तक) सुख या दुःख किसी प्रकार का अनुभव नहीं कराता।

कर्म का बन्ध हो जाने के बाद के सम्बन्ध को बन्ध नहीं कहा जाता। क्योंकि बन्ध होने के बाद कर्म का सत्ता में समावेश हो जाता है। आशय यह है कि नवीन कर्मों के बंधने को बंध कहा गया है, किन्तु सत्तारूप में विद्यमान अथवा स्वभावान्तर में संक्रमित कर्मों को बन्ध नहीं कहा जाता।

सत्ता का स्वरूप और दो रूप

इस अभिप्राय से कर्म-ग्रहण मात्र को बन्ध न कहकर अभिनव कर्मग्रहण को बन्ध कहा गया है। इसी तरह आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म जब परिणामविशेष से एक स्वभाव का परित्याग कर स्वभावान्तर को प्राप्त कर लेते हैं, तब वह स्वभावान्तर **संक्रमण** कहलाता है, बन्ध नहीं। इस प्रकार बन्ध या संक्रमण आदि के द्वारा जिन कर्मपुद्गलों (आकाशप्रदेश में अवस्थित कर्मवर्गणा के पुद्गलों) ने अपने स्वरूप (कर्मत्व) को प्राप्त किया है, उन कर्मपुद्गलों का उसी कर्मस्वरूप में आत्मा से लगा रहना कर्मों की सत्ता या सत्त्व है। अर्थात्-बंधादि द्वारा (यानी बंध के समय) स्वस्वरूप को प्राप्त (जो कर्मपुद्गल जिस कर्मस्वरूप में परिणत) हैं, उन कर्मपरमाणु पुद्गलों की (उसी रूप में) स्थिति, अवस्थान, सद्भाव या विद्यमानता सत्ता कहलाती है।

इस प्रकार सत्ता के दो रूप हुए- एक बन्धसत्ता और दूसरी संक्रमणसत्ता। बन्ध के समय जो कर्मपुद्गल जिस कर्मस्वरूप में परिणत होते हैं, उनका उसी कर्मस्वरूप में आत्मा के साथ संलग्न रहना **बन्धसत्ता** है, तथा उन्हीं कर्मपुद्गलों का पूर्वस्वरूप को छोड़कर दूसरे कर्मस्वरूप में परिवर्तित होकर आत्मा के साथ लगे रहना **संक्रमणसत्ता** है।[१]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २ गा. २५ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ९९, १००
(ख) सत्ता कम्माण ठिई बंधाई-लद्ध-अत्त-लाभाणं ।
-कर्मग्रन्थ भा. २ गा. २५ का पूर्वार्द्ध

सत्ता का परिष्कृत स्वरूप और प्रकार

इसे स्पष्टरूप से समझ लें– जब से आत्मा के साथ मिथ्यात्व आदि हेतुओं से जो कर्मवर्गणा के पुद्गल-स्कन्ध सम्बद्ध हो जाते हैं, तब से उसको 'कर्म' कहने लगते हैं, तभी से उस कर्म की सत्ता मानी जाती है। मान लो, किसी के नरकगति का बन्ध हुआ, वह बद्ध कर्म जब तक उदय में न आए और उसकी निर्जरा न हो जाए तब तक नरकगति नामकर्म की सत्ता मानी जाएगी, क्योंकि बंध द्वारा बद्ध कर्मपुद्गलों ने नरकगति नामकर्म के रूप में अपना आत्मस्वरूप प्राप्त करके उसी रूप में अवस्थान कर लिया है। इस प्रकार की सत्ता **बन्ध-सत्ता** समझी जाएगी, किन्तु यदि नरकगतिनामकर्म तिर्यञ्चगति नामकर्म में संक्रमित हो गए, नरकगति के बन्ध द्वारा जो कर्मस्वरूप प्राप्त किया था, उसमें तिर्यञ्चगति का संक्रमण होने से कर्म ने अपना तिर्यंचगतिक स्वरूप प्राप्त किया और उसी रूप में उदय में न आने तक स्थित रहा, यह **संक्रमणसत्ता** हुई। इसमें नरकगतिनामकर्म की सत्ता, जो बन्ध से उत्पन्न हुई थी, उसका स्वभावान्तर या स्वरूपान्तर होने से संक्रमण हो गया और वह पूर्व सत्ता विच्छिन्न होकर **संक्रमितसत्ता** अवस्थित हुई।

सत्ता के दो प्रकार : सद्भावसत्ता, सम्भवसत्ता

इसी प्रकार सत्ता के और भी दो प्रकार हैं– सद्भावसत्ता और सम्भवसत्ता। अमुक समय में किन्हीं प्रकृतियों की सत्ता न होने पर भी भविष्य में उनके सत्ता में होने की सम्भावना मानकर जो सत्ता मानी जाती है, उसे **सम्भवसत्ता** कहते हैं, और जिन प्रकृतियों की उस समय सत्ता होती है, उसे **सद्भाव (स्वरूप) सत्ता** कहते हैं।

दोनों का उदाहरणपूर्वक स्पष्टीकरण

उदाहरणार्थ– नरकायु और तिर्यंचायु की सत्ता वाला उपशमश्रेणी का प्रारम्भ नहीं करता है। फिर भी ग्यारहवें गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। उसका कारण यह है कि पहले यदि देवायु अथवा मनुष्यायु बांध ली हो तो उस उसकी सद्भावसत्ता मानी जाती है, लेकिन ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त नरक और तिर्यंच इन दो आयुओं को सद्भावसत्ता नहीं मानी जाती। पर यदि जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर बाद में उक्त दो (नरक-तिर्यञ्च) आयुओं को बांधने वाला हो, उस अपेक्षा से सत्ता मानने पर उसे सम्भवसत्ता कहा जाएगा।

सत्ता के अन्य प्रकार

पुनः सम्भवसत्ता और सद्भावसत्ता में भी पूर्वबद्धायु और बद्धायु ऐसे दो प्रकार होते हैं। उनमें भी पृथक्-पृथक् अनेक जीवों की अपेक्षा से तथा उपशम श्रेणी और

क्षपक श्रेणी के विसंयोजक और अविसंयोजक के आश्रय से तथा क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के आश्रय से भी विचार किया जाता है।[१]

विसंयोजना करने वाले को **'विसंयोजक'** कहते हैं। दर्शनसप्तक की ७ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का तो क्षय हो जाए, किन्तु शेष दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ (मोहत्रिक) सत्ता में हों, उनका क्षय न हुआ हो, अर्थात्-मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के सत्ता में होने से उनका उदय हो, तब पुनः अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क के बन्ध की सम्भावना बनी रहे, ऐसे क्षय को **विसंयोजना** कहते हैं। तथा जिसका क्षय होने पर पुनः उस प्रकृति के बन्ध की सम्भावना ही न रहे, उसे **क्षय** कहते हैं।[२]

सत्तायोग्य कर्मप्रकृतियाँ १४८ : कौन-कौन-सी ?

सत्तायोग्य १४८ कर्मप्रकृतियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं- ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयुकर्म की ४, नामकर्म की ९३, गोत्रकर्म की २ और अन्तरायकर्म की ५; यों कुल मिलाकर आठ कर्मों की ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ कर्मप्रकृतियाँ सत्तायोग्य होती हैं।

यद्यपि उदययोग्य कर्मप्रकृतियाँ १२२ बतलाई गई हैं, किन्तु सत्तायोग्य १४८ कर्मप्रकृतियाँ बतलाने का कारण यह है कि उदयाधिकार में पांच बन्धन और पांच संघातन नामकर्म की १० प्रकृतियों की पृथक्-पृथक् विवक्षा न करके उन दोनों की ५-५ प्रकृतियों का अन्तर्भाव शरीरनामकर्म में कर लिया गया था। इसी प्रकार उदय के समय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नामकर्म की एक-एक प्रकृति की विवक्षा की गई थी, परन्तु सत्ता के प्रकरण में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के क्रमशः ५, २, ५, ८ भेदों का ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में बन्धन और संघातन के पूर्वोक्त ५+५=१० भेद मिलाने से तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, इन चारों के २० भेदों में से ४ भेद बाद करके १६ भेद और मिलाने से, अर्थात् कुल २६ भेदों को उसमें और

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. २, गा. २५ पर विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. १००, १०३
(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. २५ पर विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ७३, ७४

२. (क) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. २५ विवेचन पृ. १०२, १०३
(ख) संते अडयालसयं जा उवसमु विजिणु विय-तइए ॥२५॥ -कर्मग्रन्थ भा. २
(ग) पूर्वोक्त बन्धन और संघातन तथा वर्णचतुष्क, ये सब नामकर्म की प्रकृतियां हैं। अतः इनके पूरे नामों को कहने के लिए प्रत्येक प्रकृति के साथ 'नामकर्म' शब्द जोड़ लेना चाहिए। -सम्पादक

मिलाने से सत्तायोग्य कुल प्रकृतियाँ १४८ मानी जाती हैं। इन कर्मप्रकृतियों के स्वरूप की व्याख्या हम कर्मविज्ञान के सप्तमखण्ड (कर्मबन्ध की सार्वभौम व्याख्या) में कर आए हैं। अतः सामान्य से सत्तायोग्य १४८ कर्मप्रकृतियाँ मानी गई हैं।[१]

दूसरे-तीसरे गुणस्थान के सिवाय पहले से ग्यारहवें गुणस्थान में सत्ता की प्ररूपणा

प्रथम नौ गुणस्थानों में १४८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता की प्ररूपणा की गई है। अर्थात् प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान तक में से दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर, शेष नौ गुणस्थानों में १४८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता की प्ररूपणा की गई है। यह कथन योग्यता और सम्भावना की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि किसी भी जीव के भुज्यमान और बध्यमान, इन दो आयुओं से अधिक आयु की सत्ता हो नहीं सकती, परन्तु योग्यता तो सभी आयु आदि कर्मों की हो सकती है, जिससे बन्धयोग्य सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान में नहीं है, उसका भी बन्ध होने से सत्ता अवश्यम्भावी मानी जाती है। अर्थात्-वर्तमान में जिस कर्म की स्वरूप (सद्भाव) सत्ता भले ही न हो, किन्तु भविष्य में उस कर्म के बंधने की योग्यता की सम्भावना हो, ऐसी स्थिति में सम्भवसत्ता की अपेक्षा से १४८ कर्मप्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जाती हैं। जब बन्धननामकर्म की ५ प्रकृतियों के बदले उसके १५ भेदों को गिनते हैं तो नामकर्म की ९३ के बदले १०३ उत्तरप्रकृतियाँ हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में १४८ के बदले १५८ कर्मप्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जाएँगी।

यद्यपि मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता नहीं मानी जानी चाहिये, क्योंकि सम्यक्दृष्टि ही तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर सकता है। ऐसी स्थिति में तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता प्रथम गुणस्थान में नहीं माननी चाहिए, किन्तु जिस मनुष्य ने पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बन्ध कर लिया है और बाद में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करे तो वह जीव मरते समय सम्यक्त्व का वमन कर नरक में जाय और वहाँ पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसके पहले अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व रहता है। इस अपेक्षा से ऐसे जीव के प्रथम गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता मानी जाती है। इस कारण मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानने में कोई दोषापत्ति नहीं है।

---

१. (क) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. २५ विवेचन, (मरुधरकेसरी), पृ. १०३, १०४
(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. २५ विवेचन (पं. सुखलाल जी), पृ. ७४

दूसरे-तीसरे गुणस्थान में सत्ता की प्ररूपणा

दूसरे और तीसरे गुणस्थान में १४७ प्रकृतियों की सत्ता है; क्योंकि दूसरे और तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव तीर्थंकर नामकर्म को नहीं बांध पाता। इसका कारण यह है कि उन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व न होने से तीर्थंकर नामकर्म नहीं बांधा जा सकता। इसी प्रकार तीर्थंकर नामकर्म को बांधकर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए प्रथम गुणस्थान में सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से तीर्थंकर नामकर्म को छोड़कर दूसरे-तीसरे गुणस्थान में १४७ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी गई हैं।

ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता : क्यों और कैसे?

यहाँ प्रश्न होता है कि नरकायु और तिर्यञ्चायु का बन्ध करने वाला उपशम-श्रेणि नहीं करता, तथा बन्ध और उदय के बिना आयुकर्म की सत्ता होती नहीं, तथा ८, ९, १०, ११ गुणस्थानों में नरकायु और तिर्यञ्चायु की सत्ता नहीं बताई है, ऐसी स्थिति में ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता कैसे मानी जाती है? इसका समाधान यह है कि नरकायु और तिर्यंचायु की सत्ता घटती तो नहीं है, फिर भी कोई जीव उपशम श्रेणी से च्युत होकर चारों गतियों का स्पर्श कर सकता है। अतः सम्भव सत्ता की विवक्षा से यहाँ नरकायु और तिर्यंचायु की सत्ता की सम्भावना बतलाई जाती है।[१] दर्शन-मोहसप्तक को क्षय नहीं करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह के १४८ प्रकृतियों की सत्ता संभव है।

अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और नरकतिर्यञ्चायु, इन ६ प्रकृतियों को छोड़कर १४२ प्रकृतियों की तथा सप्तक का क्षय हुआ हो तो अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

सामान्य की अपेक्षा प्रथम से ग्यारहवें तथा दूसरे तीसरे गुणस्थान में सत्ता प्ररूपणा

यद्यपि पूर्वपृष्ठ में दूसरे-तीसरे गुणस्थान को छोड़कर पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक सामान्यरूप से १४८ कर्मप्रकृतियों की तथा दूसरे-तीसरे गुणस्थान में १४७ प्रकृतियों की सत्ता बताई गई है। सामान्य की अपेक्षा यह कथन यथार्थ है। किन्तु चौथे से लेकर आगे के गुणस्थानों में वर्तमान जीवों के अध्यवसाय विशुद्धतर होने से कर्मप्रकृतियों की सत्ता कम होती जाती है।

---

१. कर्मग्रन्थ भा. २ गा. २५ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. १०५

चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक में सत्ता-प्ररूपणा

अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक, इन ७ प्रकृतियों का जिन्होंने क्षय किया है, उनकी अपेक्षा से चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक, चार गुणस्थानों में १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यह १४१ प्रकृतियों की सत्ता बिना श्रेणी वाले क्षायिक सम्यक्त्वी के समझना चाहिए। तथा क्षायिक सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरमशरीरी नहीं हैं, किन्तु जिन्हें मोक्ष के लिए जन्मान्तर ग्रहण करना बाकी है, उन जीवों की अपेक्षा से १४१ प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि १४१ प्रकृतियों की सत्ता दो प्रकार के जीवों की अपेक्षा से मानी गई है- (१)श्रेणी नहीं चढ़ने वाले क्षायिक सम्यक्त्वी अनेक जीवों की अपेक्षा से सामान्य से चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक (चार गुणस्थानों) में, (२)क्षायिक सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरमशरीरी जीव नहीं हैं, ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा से।

उपशम श्रेणी वाले चार गुणस्थानों में सत्ता की प्ररूपणा

उपशमश्रेणी आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक मानी जाती है। अर्थात्- ये चार गुणस्थान उपशम श्रेणी के होते हैं और उपशम श्रेणी मांडने वाले जीवों के आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त चार गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और नरकायु तथा तिर्यंचायु इन ६ प्रकृतियों[१] को १४८ सामान्य सत्तायोग्य प्रकृतियों में से कम कर देने पर १४२ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

क्षपक श्रेणी वाले चार गुणस्थानों में सत्ता की प्ररूपणा

क्षपक जीवों की अपेक्षा से चार गुणस्थानों में नरक-तिर्यञ्च-देवायु इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ प्रकृतियों की, तथा सप्तक के बिना १३८ प्रकृतियों की सत्ता अनिवृत्ति गुणस्थान के प्रथम समय तक होती है।

जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपक श्रेणी मांडने वाले हैं और चरमशरीरी हैं, अर्थात्-अभी तो वे औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी ही हैं, किन्तु क्षपकश्रेणी पर अवश्य आरूढ़ होने वाले तथा इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं, उनके मनुष्यायु की ही सत्ता रहती है। अन्य तीन आयुओं की सत्ता नहीं रहती, और न

---

१. (क) अपुव्वाइ-चउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु बियाल-सयं।
सम्माइ-चउसु सत्तग-खयंमि, इगचत्तसयमहवा॥ २६॥ -द्वितीय कर्मग्रन्थ
(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. २६ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. १०५ से १०७ तक

उनकी सम्भवसत्ता ही है। इसलिए इस प्रकार के क्षपक जीवों की अपेक्षा चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से मनुष्यायु के सिवाय शेष तीन आयुओं को कम करने पर १४५ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है।

किन्तु जिन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और दर्शन-मोह-त्रिक का क्षय करने से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त है और इस भव के बाद दूसरा भव नहीं करना है, ऐसे जीव चतुर्थ गुणस्थान से ही क्षायिक सम्यक्त्वी होकर क्षपक श्रेणी करते हैं तो उन जीवों की अपेक्षा से अनन्तानुबन्धी कषायादि सप्तक का क्षय होने से तथा वर्तमान मनुष्यायु के सिवाय अन्य तीन आयुओं की सत्ता न होने से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से उक्त दस प्रकृतियाँ कम करने से १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता चतुर्थ गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यन्त जाननी चाहिए।

जो जीव वर्तमानकाल में ही क्षपकश्रेणी कर सकते हैं और चरमशरीरी भी हैं, किन्तु अभी अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और दर्शन-मोहत्रिक का क्षय नहीं किया है, उन जीवों की अपेक्षा से १४५ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। मगर जिन्होंने उक्त अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि ७ प्रकृतियों का क्षय कर दिया है, उन जीवों के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है, और यह सत्ता नौवें गुणस्थान के प्रथमभाग तक पाई जाती है। किन्तु जो जीव वर्तमान में क्षपकश्रेणी नहीं कर सकते, यानी अचरम-शरीरी हैं। उनमें से कुछ क्षायिक सम्यक्त्वी भी होते हैं, कुछ औपशमिक सम्यक्त्वी और कतिपय होते हैं-क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी।[१] इनमें से क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी और औपशमिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीवों की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

जो अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का विसंयोजन कर लेता है और जिसे नरक-तिर्यञ्चायु का बन्ध न हो, वही उपशमश्रेणी प्रारम्भ कर सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उपशमश्रेणी को प्रारम्भ करने वाले के आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-

---

१. सम्यग्दृष्टि जीव ३ प्रकार के होते हैं-उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। जो सम्यक्त्व की बाधक मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करके सम्यग्दृष्टि वाले हैं, उन्हें उपशम सम्यग्दृष्टि तथा मोहनीय कर्म की क्षययोग्य प्रकृतियों का क्षय और शेष रही हुई प्रकृतियों का उपशम करने से जिन्हें सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उस प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीव को क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जिन्होंने सम्यक्त्व की बाधक मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का पूर्णतया क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त किया है, उन्हें क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

पर्यन्त चार गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क तथा नरकायु-तिर्यञ्चायु इन ६ प्रकृतियों के सिवाय १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।[१]

नौवें गुणस्थान के दूसरे से नौवें भाग तक में सत्ता की प्ररूपणा

नौवें गुणस्थान के नौ भाग होते हैं। इन नौभागों में से प्रथम भाग में क्षपकश्रेणी की अपेक्षा से १३८ प्रकृतियों की सत्ता होने की प्ररूपणा पहले की जा चुकी है। दूसरे भाग में १२२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। प्रथम भाग में जो १३८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, उसमें से स्थावरद्विक (स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम), तिर्यञ्चद्विक (तिर्यंचगति और तिर्यंचानुपूर्वी), नरकद्विक (नरकगति और नरकानुपूर्वी), आतपद्विक, (आतप और उद्योत नामकर्म), स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि) एकेन्द्रिय जाति नामकर्म, विकलेन्द्रिय त्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय नामकर्म और साधारण नामकर्म, इन १६ प्रकृतियों का क्षय नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग के अन्तिम समय में हो जाने से इन १६ प्रकृतियों के कम हो जाने से दूसरे भाग में १२२ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। **तीसरे भाग** में ११४ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है; क्योंकि दूसरे भाग की १२२ सत्तायोग्य प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क तथा प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क, इन ८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता का क्षय दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाने से तीसरे भाग में ११४ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है। चौथे भाग में ११३ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है, क्योंकि तीसरे भाग के अन्तिम समय में पूर्वोक्त ११४ में से नपुंसकवेद की सत्ता का क्षय हो जाने से ११३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इसी प्रकार चौथे भाग के अन्तिम समय में स्त्रीवेद का अभाव हो जाने से चौथे भाग की सत्तायोग्य ११३ प्रकृतियों में से एक प्रकृति कम हो जाने से ११२ प्रकृतियों की सत्ता पांचवें गुणस्थान में रहती है। पांचवें भाग के अन्तिम समय में हास्य-षट्क का क्षय हो जाने से छठे भाग में पंचम भागोक्त ११२ में से ६ प्रकृतियाँ कम हो जाने से १०६ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती है। छठे भाग में सत्ता योग्य १०६ प्रकृतियों का कथन किया गया था, उनमें से छठे भाग के अन्तिम समय में पुरुषवेद की सत्ता का अभाव हो जाने से सातवें भाग में १०५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। सातवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलन क्रोध का क्षय होने से आठवें भाग में १०४ और आठवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलन मान का क्षय हो जाने से नौवें भग में १०३ और नौवें भाग के

---

१. (क) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. २७ विवेचन, पृ. १०७ से १११ तक
(ख) खवगं तु पप्प चउसु वि, पणयालं नरय-तिरि-सुराउ विणा।
सत्तग विणु अडतीसं, जा अनियट्टी पढमभागो॥ २७॥ -द्वितीय कर्मग्रन्थ

अन्तिम समय में संज्वलन माया का क्षय हो जाने से दसवें गुणस्थान में १०२ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है। तत्पश्चात् दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में संज्वलन-लोभ का अभाव हो जाता है। फलतः बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त १०१ कर्मप्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। बारहवें गुणस्थान के द्वि-चरम समय में निद्रा और प्रचला, इन दो प्रकृतियों का क्षय हो जाता है, जिससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ९९ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। इन १४ कर्मप्रकृतियों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है।[१] अतएव तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त ८५ प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। तेरहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में निम्नोक्त ७२ कर्मप्रकृतियों की सत्ता का क्षय हो जाता है। वे ७२ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं-देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी) खगति-द्विक (शुभविहायोगति, अशुभ विहायोगति), गन्धद्विक (सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध), स्पर्शाष्टक (कर्कश मृदु आदि ८ स्पर्श), वर्णपंचक (कृष्णनीलादि), रसपंचक (कटुकतिक्तादि पांच रस), पंचशरीर (औदारिकादि), बन्धन-पंचक (औदारिक वैक्रिय आदि पंच-शरीर बंधन), संघातन-पंचक (औदारिक वैक्रिय आदि शरीर-संघातन), निर्माण नामकर्म, संहनन-षट्क (वज्रऋषभनाराच आदि), अस्थिर-षट्क (अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति), संस्थान-षट्क-(समचतुरस्र, आदि ६ संठाण= संस्थान), अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नामकर्म), अपर्याप्त नामकर्म, प्रत्येकत्रिक (प्रत्येक, स्थिर और शुभ नामकर्म), उपांग-त्रिक (औदारिक-वैक्रिय-आहारक-अंगोपांग), सुस्वर नामकर्म, नीचगोत्र और सातावेदनीय या असातावेदनीय दोनों से कोई एक; इस प्रकार कुल मिलाकर ७२ कर्मप्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में हो जाता है, जिससे चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में १३

---

१. (क) थावर-तिरि-निरयायवदुग क्षीण तिगेग विगल, साहारं।
सोलखओ दुवीससयं, वियंसि विय-तिय-कसायंतो॥ २८
नपु-इत्थि-हासछग-पुंस-तुरिय-कोह-मय-माय-खओ।
तइयाइसु चउदस-तेर-बार-छपण-चउ-तिहिय सय कमसो॥ २९॥
सुहुमि दुसय लोहंतो, खीणदु-चरिमेगसय दुचरिद-खओ।
नव-नवइ चरम-समए, चउ-दंसण-नाण-विग्घंतो॥ ३०॥

(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. २८ से ३० तक, विवेचन (पं. सुखलाल जी), पृ. ७९ से ८२ तक

(ग) द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. २८ से ३० तक, विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. १११ सं ११६ तक

प्रकृतियों की सत्ता रहती है। वे १३ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं-(१-३) मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु) (४ से ६) त्रसत्रिक (त्रस, बादर और पर्याप्त नामकर्म), (७) यशःकीर्तिनामकर्म, (८) आदेय नामकर्म, (९) सुभग नामकर्म, (१०) तीर्थंकर नामकर्म, (११) उच्चगोत्र, (१२) पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म, (१३) सातावेदनीय या असातावेदनीय, दोनों में से कोई एक। इन १३ प्रकृतियों का क्षय (अभाव, अन्त या नाश) भी चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है[१] और आत्मा कर्मरहित होकर सर्वथा मुक्त बन जाता है।

यह एक सामान्य नियम है कि कारण के अभाव में कार्य का भी सद्भाव नहीं रहता। अतः पहले के गुणस्थानों में जिन कर्मप्रकृतियों का क्षय हुआ, उनके बन्ध, उदय और सत्ता के प्रायः प्रमुख कारण मिथ्यात्व, अविरति और कषाय हैं। पूर्व-पूर्व के गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के गुणस्थानों में मिथ्यात्व आदि कारणों का क्रमशः अभाव होता जाता है। अतः जब वे मिथ्यात्वादि कारण नहीं रहे, तो उनके सद्भाव में बन्ध, उदय और सत्तारूप में रहने वाले कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, नहीं रह पाते।

बारहवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। अतः सत्तायोग्य प्रकृतियों में मोहनीय कर्म की प्रबलता से बंधने वाली, उदय होने वाली और सत्ता में रहने वाली कर्मप्रकृतियाँ नहीं रहती हैं। मोहनीय कर्म के कारण ही ज्ञानावरणीय और अन्तराय की पांच-पांच और दर्शनावरणीय की चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार मिलकर कुल १४ प्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता की संभावना रहती है। अतः मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का सर्वथा क्षय हो जाने से पूर्वोक्त १४ प्रकृतियों का बन्ध, उदय और सत्तारूप में अस्तित्व नहीं रह पाता। यही कारण है कि बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तराय-पंचक, इन १४ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। और फिर प्रतिबन्धक कारणों (कर्मों) के नष्ट होते ही

---

१. (क) पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देव-खगइ-गंध-दुगं।
फासट्ठ-वण्ण-रस-तणु-बंधण-संघायण-निमिणं॥ ३१॥
संघयण-अथिर-संठाण-छक्क अगुरुलहु-चउ अपज्जत्तं।
सायं व असायं वा परित्तुवंग-तिग-सुसरनियं॥ ३२॥
विसपरिखओ य चरिमे, ते रस मणुय-तस-तिग-जसाइज्जं।
सुभग-जिण च पणिंदिय तेरस साया-सासगयरछेओ॥ ३३॥
(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. ३१ से ३३ तक विवचेन (मरुधरकेसरी), पृ. ११७ से ११९

सहज चेतना के निरावरण होने से आत्मा के स्व-स्वरूपमय केवलज्ञान-केवलदर्शन का आविर्भाव हो जाता है।[१]

(३-४) उदयाधिकार और उदीरणाधिकार

उदय और उदीरणा के स्वरूप में अन्तर

उदय का सामान्यतया अर्थ है-विपाक के समय फल को भोगना; जबकि उदीरणा का अर्थ है-विपाक का समय न होने पर भी फल का भोग करना 'उदीरणा' है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मदलिकों का अपने-अपने नियत समय शुभ-अशुभ फलों का अच्छा-बुरा अनुभव कराना **उदय** है; जबकि बंधे हुए कर्मदलिकों को प्रयत्न विशेष से खींचकर नियत-समय से पहले ही उनके शुभ-अशुभ फलों को समभाव से धैर्य या शान्ति से भोग लेना **उदीरणा** कहलाती है।

कर्मों के शुभाशुभ फल को भोगने का ही नाम उदय और उदीरणा है। किन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि उदय में प्रयत्न बिना ही स्वाभाविक क्रम से फलभोग होता है, जबकि उदीरणा में फलोदय का काल प्राप्त न होने पर भी प्रयत्न द्वारा बद्धकर्मों को, जो कि सत्ता में पड़े हैं, उन्हें प्रयत्न द्वारा उदयोन्मुख करके फल भोगना होता है।

परन्तु यह ध्यान रहे-कर्म-विपाक के वेदन (भोगने) को उदय और उदीरणा कहने के प्रसंग में 'रसोदय' को ग्रहण करना चाहिए, प्रदेशोदय को उदयाधिकार में ग्रहण करना अभीष्ट नहीं है।

जिस कर्म का बन्ध उसी का फलभोग : अन्य का नहीं

प्रत्येक कर्म में बन्ध के समय उसके कारणभूत कषायगत-रागद्वेषमोह-गत अध्यवसाय के तीव्र-मन्द भाव के अनुसार तीव्र-मन्द फल प्रदान करने की शक्ति उत्पन्न होती है। और अवसर आने पर कर्म उसका फल भुगवाता है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक फलप्रद शक्ति जिस कर्म में निहित हो, उसी कर्म के स्वभाव, प्रकृति या प्रवृत्ति के अनुसार ही फल देती है; दूसरे कर्मों के स्वभावानुसार नहीं। जैसे-ज्ञानावरण कर्म की फलप्रद शक्ति उस कर्म के स्वभावानुसार ही ज्ञान को आवृत कुण्ठित करने का काम करती है, लेकिन दर्शनावरण, वेदनीय आदि अन्य कर्म के

---

१. वही, द्वितीय कर्मग्रन्थ, विवेचन पृ. ११३, ११५

स्वभावानुसार फल नहीं देती है। इसी प्रकार अन्य कर्मों की फलदायी शक्ति के बारे में भी समझ लेना चाहिए।[१]

सामान्यतया उदययोग्य प्रकृतियाँ : कितनी और कैसे?

सामान्यतया उदययोग्य प्रकृतियाँ १२२ हैं; जबकि बंधयोग्य १२० प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार उदययोग्य और बन्धयोग्य प्रकृतियों में दो का अन्तर है। जो नहीं होना चाहिए, क्योंकि जितनी प्रकृतियों का बन्ध हो, उतनी ही प्रकृतियों को उदययोग्य माना जाना उचित है। अन्यथा, बिना कर्मबन्ध के ही कर्मफल भोगना माना जाएगा, जो सिद्धान्त विरुद्ध है। इसका समाधान यह है कि बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों की अपेक्षा १२२ प्रकृतियों का उदययोग्य मानने का कारण यह है कि बन्ध केवल मिथ्यात्वमोहनीय का ही होता है, किन्तु वह मिथ्यात्व-मोहनीय जब परिणामों की विशुद्धता अर्द्धविशुद्धरूप या शुद्धरूप हो जाता है, तब मिश्रमोहनीय (सम्यग्-मिथ्यात्वमोहनीय) तथा सम्यक्त्वमोहनीय के रूप में उदय में आने के कारण बन्धयोग्य १२० में इन दोनों प्रकृतियों को मिलाने पर १२०+२=१२२ प्रकृतियाँ उदययोग्य तथा उदीरणायोग्य मानी जाती हैं।

उदययोग्य तथा उदीरणायोग्य १२२ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं-ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयुकर्म की ४, नामकर्म की ६७, गोत्रकर्म की २, और अन्तराय कर्म की ५; इस प्रकार ५+९+२+२८+४+६७+२+५=१२२ प्रकृतियाँ होती हैं।[२]

प्रथम गुणस्थान में उदययोग्य ११७ प्रकृतियाँ : क्यों और कैसे?

(१) **प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान** में ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं। सामान्यतया उदययोग्य १२२ कर्मप्रकृतियों में से मिश्रमोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में, सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय चौथे गुणस्थान में, आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग) का उदय प्रमत्तसंयत गुणस्थान में और तीर्थंकर नामकर्म का उदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता है। अतः इन पांच प्रकृतियों को छोड़कर शेष ११७ प्रकृतियों का उदय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में माना जाता है।[३]

---

१. (क) उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससयं।
सत्तर सयं मिच्छे, मीस-सम्म-आहार-जिणऽणुदया॥ १३॥ -द्वितीय कर्मग्रन्थ
(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. १३, विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ७२ से ७४ तक

२. द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. १३, विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ७५

३. वही, गा. १३ विवेचन, पृ. ७५-७६

द्वितीय गुणस्थान में १११ प्रकृतियाँ उदययोग्य : क्यों और कैसे?

(२) **दूसरे सास्वादन गुणस्थान** में १११ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं। प्रथम गुणस्थान में उदययोग्य जो ११७ प्रकृतियाँ मानी गई हैं, उनमें से सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म नाम, साधारण नाम और अपर्याप्त नामकर्म), आतप नामकर्म और मिथ्यात्व मोहनीय, ये पांच प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के कारण ही उदय में आती हैं। सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का विच्छेद हो जाने से इन पांच प्रकृतियों का उदय नहीं हो सकता।

दूसरी युक्ति यह है कि सूक्ष्म नामकर्म का उदय सूक्ष्मजीवों को, साधारण नामकर्म का उदय साधारण जीवों को तथा अपर्याप्त नामकर्म का उदय अपर्याप्त जीवों को ही होता है, मगर सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त जीवों को न तो सास्वादन गुणस्थान प्राप्त होता है और न ही इनमें से कोई सास्वादन-सम्यक्त्व प्राप्त कर पाता है, और न सास्वादन सम्यक्त्व-प्राप्त जीव सूक्ष्म, साधारण या अपर्याप्त रूप में पैदा होता है। अभिप्राय यह है कि सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त जीव मिथ्यात्वी ही होते हैं।

इसी तरह सास्वादन गुणस्थान में आतप नामकर्म का उदय भी सम्भव नहीं है, क्योंकि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद बादर पृथ्वीकायिक जीवों के आतप नामकर्म का उदय हो सकता है, पहले नहीं। जो जीव सास्वादन गुणस्थान को पाकर बादर पृथ्वीकाय में पैदा होते हैं, वे शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पहले ही पूर्वप्राप्त सास्वादन सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं। अर्थात्-जब बादर पृथ्वीकायिक जीवों को सास्वादन-सम्यक्त्व-प्राप्ति की संभावना होती है, तब आतप नामकर्म का उदय सम्भव नहीं होता, और जब आतप नामकर्म की सम्भावना होती है, तब उनको सास्वादन सम्यक्त्व संभव नहीं होता। इस कारण सास्त्रादन गुणस्थान में आतप नामकर्म का उदय नहीं माना जाता।

यों प्रथम गुणस्थान की उदययोग्य ११७ प्रकृतियों में से पूर्वोक्त सूक्ष्मादि पांच प्रकृतियाँ कम हो जाने से ११२ प्रकृतियों का उदय द्वितीय गुणस्थान में होना चाहिए था, किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व से पतित (च्युत) होकर सास्वादन गुणस्थान में आकर टिकने वाला जीव नरकगति में नहीं जाता और नरकगति में जाने वाले जीव को सास्वादन गुणस्थान प्राप्त नहीं होता। अतः इस गुणस्थान में नरकानुपूर्वी का उदय नहीं होता।

इस प्रकार प्रथम गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छिन्न होने वाली सूक्ष्म नामकर्म आदि पांच तथा नरकानुपूर्वी, कुल ६ प्रकृतियों को पहले गुणस्थान की

उदययोग्य ११७ प्रकृतियों में से कम कर देने पर १११ प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान में रह जाता है।[१]

(३) **तीसरे मिश्र गुणस्थान** में १०० प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं। दूसरे गुणस्थान की उदय-योग्य १११ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क, एकेन्द्रिय जाति नामकर्म, स्थावरनाम, और विकलेन्द्रिय-त्रिक, ये ९ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छिन्न हो जाती हैं। कारण यह है कि अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का उदय पहले-दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। इसी प्रकार स्थावर नाम, एकेन्द्रिय जाति और विकलेन्द्रिय त्रिक नामकर्म के उदय वालों में पहला-दूसरा गुणस्थान ही होता है, तीसरे से लेकर आगे के गुणस्थान नहीं होते; क्योंकि स्थावर नामकर्म तथा एकेन्द्रिय जातिनामकर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवों के होता है, द्वीन्द्रिय जातिनाम का उदय द्वीन्द्रिय जीवों के, त्रीन्द्रिय जातिनाम का उदय त्रीन्द्रिय जीवों के और चतुरिन्द्रिय जाति नाम का उदय चतुरिन्द्रिय जीवों के होता है और इन जीवों के पहला और दूसरा ये दो गुणस्थान होते हैं। अतः इन नौ प्रकृतियों का उदय-विच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से १०२ प्रकृतियाँ शेष रहीं। तथा नरकानुपूर्वी का उदय विच्छेद पहले गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। शेष रही तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन तीनों आनुपूर्वियों का तीसरे गुणस्थान में अनुदयरूप होने से तीसरे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों में नहीं गिनी जातीं। आनुपूर्वी नामकर्म का उदय उन्हीं जीवों के उस समय होता है, जो परभाव में जन्म ग्रहण करने के लिए वक्र गति से जाते हैं। तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीव की मृत्यु नहीं होती, इसलिए परभव में जाने और जन्म लेने का सवाल नहीं रहता। इसलिए तीसरे गुणस्थान में आनुपूर्वी चतुष्टय का अनुदय माना गया है।

इस प्रकार अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क से लेकर चतुरिन्द्रिय नामकर्म पर्यन्त ९ प्रकृतियों तथा पूर्वोक्त आनुपूर्वियों सहित १२ प्रकृतियों को दूसरे गुणस्थान की १११ प्रकृतियों में से कम करने पर ९९ प्रकृतियों का उदय तृतीय गुणस्थान में माना जाना चाहिए था, किन्तु तीसरे गुणस्थान में ही मिश्र-मोहनीय कर्म का उदय होने से ९९

---

१. (क) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. १३ विवेचन से, पृ. ७८, ७९
(ख) देखें-गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. २६५ में-'मिच्छे मिच्छादावं सुहुमतियं ..... उदय-वोच्छिण्णा।' अर्थात्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्तिम समय में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्मादि तीन, इन ५ प्रकृतियों का उदय-विच्छेद होता है।
(ग) णिरयं सासण सम्मो ण गच्छदि नियेण तस्स णिरयाणू। -गो. कर्मकाण्ड २६२

प्रकृतियों में मिश्र मोहनीय कर्म को मिलाने से कुल १०० प्रकृतियों का उदय तृतीय गुणस्थान में माना जाता है।[१]

(४) **चौथे गुणस्थान** में वर्तमान जीवों के १०४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। तीसरे गुणस्थान में जिन १०० प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से केवल मिश्रमोहनीय[२] कर्म का ही उदय चौथे गुणस्थान में नहीं होता। शेष ९९ कर्म-प्रकृतियों का उदय तो होता ही है। तथा सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वियों के उदय का भी सम्भव है। इस प्रकार ९९ और १+४=५ प्रकृतियाँ मिलकर कुल १०४ प्रकृतियों का उदय चतुर्थ गुणस्थान में सम्भव है।

(५) **पंचम गुणस्थान** में ८७ कर्मप्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। चौथे गुणस्थान में उदययोग्य १०४ प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी, दुर्भगनामकर्म, अनादेयनामकर्म, अयश:कीर्ति नामकर्म तथा वैक्रियाष्टक (देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, देवायु, नरकायु, वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग), इन ४+२+१+१+१+८=१७ कर्मप्रकृतियों का चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में अन्त हो जाता है। अत: चतुर्थ गुणस्थान की उदययोग्य १०४ प्रकृतियों में से उक्त १७ प्रकृतियों को घटाने से शेष ८७ प्रकृतियों का उदय पांचवें गुणस्थान में होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान तक रहता है, जब तक उक्त कषायचतुष्क का उदय रहता है, तब तक जीवों को देशविरति आदि गुणस्थानों की प्राप्ति नहीं हो सकती। पंचम गुणस्थान में तिर्यंचों का होना सम्भव है। पांचवें से लेकर आगे के गुणस्थान मनुष्यों को ही हो सकते हैं, देवों और नारकों को नहीं। तथा किसी भी आनुपूर्वी नामकर्म के उदय के समय जीवों को पंचम आदि गुणस्थान होना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि चतुर्थ गुणस्थान के अन्तिम समय में इनका उदय-विच्छेद माना गया है। अत: नरकानुपूर्वी और देवानुपूर्वी-इन दो आनुपूर्वियों का उदय भी पंचम-गुणस्थान में नहीं होता।

---

१. (क) सासणे अणेइंदी थावर-वियलं च उदय-वोच्छिण्णा ।
-गोम्मटसार (क.) २६५

(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. १४, १५ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ७७ से ८१ तक

(ग) सुहुम-तिगायव मिच्छं, मिच्छंतं सासणे इगारसयं।।
णिरयाणुपुव्विणुदया अण-थावर-इग-विगल-अंतो॥ १४॥
मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो।
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा बियकसाया॥ १५॥ -द्वितीय कर्मग्रन्थ

२. मिस्से मिस्सं च उदय वोच्छिण्णा।

यह ध्यान रहे कि जिनको जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त यावज्जीवन वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म का उदय रहता है, ऐसे देवों और नारकों की अपेक्षा से यहाँ उदय विचार किया गया है। चूंकि मनुष्यों और तिर्यंचों को कुछ समय के लिए इन दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है, वह भी सभी मनुष्यों और तिर्यञ्चों को नहीं। इसलिए मनुष्यों की अपेक्षा से छठे, और तिर्यंचों की अपेक्षा से पंचम गुणस्थान में उक्त दोनों प्रकृतियों का उदय सम्भव होने पर भी उसकी विवक्षा नहीं की गई है। अतः भव-प्रत्ययिक वैक्रियद्विक का उदय-विच्छेद पंचम गुणस्थान में माना है, गुणप्रत्ययिक उत्तरवैक्रिय द्विक की विवक्षा नहीं की गई है।

वस्तुतः पंचम आदि गुणस्थानवर्ती जीवों के परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति नामकर्म, ये तीन प्रकृतियाँ आदि के चार गुणस्थानों में ही उदय को प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु पंचम आदि आगे के गुणस्थानों में इनका उदय होना सम्भव नहीं है।

इसलिए पंचम गुणस्थान में ८७ प्रकृतियाँ ही उदययोग्य मानी गई हैं।[१]

(६) **छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियाँ** उदय-योग्य होती हैं। पंचम गुणस्थान में उदययोग्य ८७ प्रकृतियों में से तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, नीचगोत्र, उद्योत-नामकर्म और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क इन आठ प्रकृतियों का उदय-विच्छेद[२] पंचम गुणस्थान के अन्तिम समय में ही हो जाता है। इसलिए इन ८ प्रकृतियों को ८७ प्रकृतियों में से कम करने पर ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य शेष रहती हैं, तत्पश्चात् आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग नामकर्म) की दो प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में ही होने से पूर्वोक्त ७९ में इन २ प्रकृतियों को मिलाने से कुल ८१ प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में माना गया है। तिर्यञ्चगति आदि ४

---

१. (क) मणु-तिरिणुपुव्विं विउवऽट्ठ दुहम अणाइज्जदुग सतरछेओ।
सगसीह देसिं तिरिगइ-आउ निउज्जोय तिकसाया॥ १६॥ -द्वितीय कर्मग्रन्थ
(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. १६ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ८१ से ८४
(ग) अविरत जीव विरति रहित होने से चारों गति सम्बन्धी आयु का बन्ध कर सकता है। अतः परभव सम्बन्धी शरीर ग्रहण करने हेतु विग्रह गति से जाते समय चारों आनुपूर्वियों में से यथायोग्य उस-उस नाम वाले आनुपूर्वी नामकर्म का उदय अविरत सम्यग्दृष्टि को होता है। -संपादक
(घ) तुलना करें-अयदे वि-दिय कसाया वेगुव्विय छक्क णिरय देवाऊ।
मणुय-तिरियाणुपुव्वी दुब्भगऽणादेज्ज अज्जसयं॥ -गोम्मटसार क. २६६

२. देसे तदियकसाया तिरियाउज्जोव-णीच- तिरियगदी। -गोम्मटसार कर्मकाण्ड, २६७

प्रकृतियाँ तिर्यंचों में ही उदययोग्य हैं, और तिर्यंचों को पहले के पांच गुणस्थान ही हो सकते हैं, छठे आदि आगे के गुणस्थान नहीं होते। तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का जब तक उदय रहता है, तब तक छठे गुणस्थान से लेकर आगे के किसी भी गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अर्थात्-प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय के रहते सर्वविरति (सकल संयम) का पालन नहीं हो सकता और न ही छठा गुणस्थान प्राप्त हो सकता है। अतएव तिर्यञ्चगति आदि ४ प्रकृतियों तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का पंचम गुणस्थान के अन्तिम समय में उदय-विच्छेद हो जाने से छठे गुणस्थान में ये ८ प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं मानी जातीं।

छठे गुणस्थान में आहारकद्विक का उदय उस समय पाया जाता है, जब कोई चतुर्दशपूर्वधारक मुनि किसी सूक्ष्म-विषय-सम्बन्धी शंका के समाधान हेतु निकट में किसी सर्वज्ञ के न होने की स्थिति में, औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना अशक्य समझ कर अपनी विशिष्ट आहारक लब्धि के प्रयोग द्वारा शुभ, सुन्दर, निरवद्य और अव्याघाती (मुंड हाथ के) आहारक शरीर का निर्माण करते हैं और ऐसे शरीर से क्षेत्रान्तरस्थित सर्वज्ञ के पास पहुँच कर उनसे शंका का निवारण कर फिर अपने स्थान पर वापस आ जाते हैं।[१]

(७) **सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान** में उदययोग्य ७६ कर्मप्रकृतियाँ हैं। सातवाँ गुणस्थान अप्रमादी साधु का है। इसलिए छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में प्रमादरूप जो स्त्यानर्द्धि-त्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि) तथा आहारक-द्विक (आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग) हैं, इन ५ प्रकृतियों का उदय प्रमत्त-संयत गुणस्थान में ही होता है। स्त्यानर्द्धित्रिक भी प्रमादरूप है, और आहारकद्विक के द्वारा आहारक लब्धि का प्रयोग भी प्रमादरूप है; क्योंकि लब्धि का प्रयोगकर्त्ता उत्सुक हो ही जाता है और उत्सुकता होते ही एकाग्रता या स्थिरता (आत्म-स्वरूप में स्थिरता) भंग हो जाती है, इसी का नाम ही प्रमाद है। इसलिए इन पांच प्रकृतियों का उदय-विच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। अतः छठे गुणस्थान की उदययोग्य ८१ प्रकृतियों में से इन ५ प्रकृतियों को कम करने

---

१. (क) अट्ठच्छेओ इगसी, पमत्ति, आहार-जुगल-पक्खेवा।
थीणतिगाहारग-दुग छेओ, छस्सयरि अपमत्ते॥ १७॥ -द्वितीय कर्मग्रन्थ
(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. १७ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ८५ से ८७
(ग) शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दश-पूर्वधरस्यैव। -तत्त्वार्थ सूत्र २/४९
(घ) आहारक लब्धि वाला साधु आहारक शरीर बनाने की इच्छा करता हुआ यथास्थूल पूर्वबद्ध आहारक शरीर नामकर्म के प्रभूत पुद्गलों की निर्जरा करता है। आहारक शरीर बनाते समय आहारक-समुद्घात भी होता है।

से सातवें गुणस्थान में ७६ प्रकृतियाँ उदय योग्य रह जाती हैं। यद्यपि आहारक शरीर का निर्माण कर लेने के पश्चात् भी कोई मुनि विशुद्ध परिणामों से आहारक शरीरधारी होने पर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं। परन्तु ऐसा क्वचित् ही तथा अत्यल्पकाल के लिये ही होता है। अतएव सप्तम गुणस्थान में आहारकद्विकों के उदय को नहीं माना है।[१]

(८) **आठवें गुणस्थान** में उदययोग्य ७२ प्रकृतियाँ माना गई हैं। सातवें गुणस्थान में उदययोग्य ७६ प्रकृतियों में से उसके अन्तिम समय में सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का तथा अन्तिम संहनन-त्रिक (अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त संहनन) का उदय-विच्छेद हो जाने से सप्तम गुणस्थान की उदययोग्य ७६ प्रकृतियों में उक्त चार प्रकृतियों को कम करने से आठवें गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का उदय होता है।

सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान श्रेणी आरोहण करने वाले मुनि के होते हैं और श्रेणी-आरोहण वही मुनि कर सकता है, जिसके सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय हो जाता है, दूसरा नहीं। जब तक सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म का उदय रहता है, तब तक श्रेणी-आरोहण नहीं किया जा सकता। अतएव जो साधक सम्यक्त्व मोहनीय का उपशम करके श्रेणी-आरोहण करता है, उसे उपशम श्रेणी वाला और जो जीव उसका क्षय करके श्रेणी-आरोहण करता है, उसे क्षपक श्रेणी वाला कहते हैं।

दूसरी बात-श्रेणी-आरोहण की क्षमता आदि के तीन संहनन (वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच और नाराच संघयण) वाले जीवों में ही होती है। क्योंकि अन्तिम तीन संहनन (अर्धनाराच, कीलक और सेवार्तसंहनन) वाले मंद विशुद्धि वाले होते हैं, उनकी क्षमता श्रेणी-आरोहण करने योग्य नहीं होती। इसीलिए सम्यक्त्व मोहनीय का तथा अन्तिम तीन संहनन का सप्तम गुणस्थान के अन्तिम समय में उदय-विच्छेद हो जाता है। अष्टम गुणस्थान में इन ४ प्रकृतियों का उदय नहीं होता। फलतः ७२ प्रकृतियाँ ही उसमें उदययोग्य रहती हैं।

(९) **नौवें अनिवृत्तिकरण या अनिवृत्तिबादर गुणस्थान** में सिर्फ ६६ प्रकृतियों का ही उदय होता है। वस्तुतः गुणस्थान-क्रम के बढ़ने के साथ आत्म-परिणामों की विशुद्धि भी बढ़ती जाती है। फलतः नौवें गुणस्थान से लेकर आगे के

---

१. (क) द्वितीय कर्मग्रन्थ, विवेचन गा. १७ (मरुधरकेसरी) पृ. ८७
(ख) छट्ठे आहारदुगं थीणतियं उदय-वोच्छिण्णा। -गोम्मटसार कर्मकांड गा. २६७
(ग) अपमत्ते सम्मत्तं अंतिम-तिय संहदी। -गोम्मटसार कर्मकाण्ड २६८

गुणस्थानों में संक्लिष्ट-परिणामरूप कषायिक प्रकृतियों का उदय होना भी न्यून से न्यूनतर होता जाता है। यही कारण है कि आठवें गुणस्थान में उदय-योग्य ७२ प्रकृतियों में से, इसी गुणस्थान के अन्तिम समय में हास्यादिषट्क (हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा, इन ६) प्रकृतियों का उदय-विच्छेद हो जाता है। फलतः ७२ प्रकृतियों में ये ६ प्रकृतियाँ कम हो जाने पर ६६ प्रकृतियों का ही उदय होता है।

(१०) **दसवें सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान** में ६० प्रकृतियाँ उदययोग्य होती हैं। वास्तव में नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में ६६ प्रकृतियों का उदय होता है, किन्तु उत्तरोत्तर क्रमशः परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाने से अनुक्रम से वेदत्रिक (स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद) तथा संज्वलन कषायत्रिक (संज्वलन का क्रोध, मान, और माया) इन ६ प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है।[१] अतः उक्त ६६ प्रकृतियों में से वेदत्रिक और संज्वलनकषाय त्रिक को कम करने पर दसवें गुणस्थान में ६० प्रकृतियाँ ही उदय-योग्य रह जाती हैं।

(११) **ग्यारहवें गुणस्थान** में ५९ प्रकृतियाँ उदययोग्य होती हैं। दसवें गुणस्थान में उदययोग्य ६० प्रकृतियों में से उसी गुणस्थान के अन्तिम समय में संज्वलन-लोभ का उदय-विच्छेद हो जाता है। अतः संज्वलन-लोभ-कषाय को कम करने से ५९ प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में होता है।[२]

---

१. नौवें गुणस्थान में वेदत्रिक एवं संज्वलन कषायत्रिक, इन ६ प्रकृतियों के उदय-विच्छेद का क्रम यों है–यदि श्रेणी का प्रारम्भ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्रीवेद का, तदनन्तर पुरुषवेद का और फिर नपुंसक वेद का उदय-विच्छेद करती है। तत्पश्चात् क्रमशः संज्वलन कषायत्रिक को रोकती है। यदि श्रेणी का प्रारम्भ पुरुष करता है तो सर्वप्रथम पुरुषवेद, तदनन्तर स्त्रीवेद और फिर नपुंसक वेद का उदय-विच्छेद करके क्रमशः संज्वलनत्रिक का उदय रोकता है। यदि श्रेणी आरोहण कर्ता नपुंसक है तो पहले नपुंसकवेद का उदय रोक कर उसके बाद स्त्रीवेद के उदय को, और फिर पुरुषवेद के उदय को रोकता है, तत्पश्चात् क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को रोकता है।

–द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. १९ की टिप्पणी (मरुधरकेसरी) पृ. ८९

तुलना करें– .....अपुव्वम्हि। छच्चेव णोकसाया अणियट्टी भाग भागेसु॥ २६८
वेदतिय कोहमाणं माया-संजलणमेव सुहुमंते। सुहुमो लोहो संते वज्जणाराय-णारायं॥

–गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २६९

२. (क) सम्मत्तंतिम-संघयणतियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइ छक्क अंतो छसट्ठि अनियट्टि वेयतिगं॥ १८॥

(शेष पृष्ठ ४५२ पर)

(१२) **बारहवें क्षीणमोह या क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान** के अन्तिम समय में ५५ प्रकृतियों का उदय माना जाता है। पहले कहा जा चुका है कि बारहवां गुणस्थान क्षपकश्रेणी-आरोहण करने वाले प्राप्त करते हैं। क्षपकश्रेणी-आरोहणकर्त्ता का एकमात्र वज्रऋषभनाराच-संहननधारी होना अवश्यम्भावी है। अतः ऋषभनाराच और नाराच, इन दो संहननों का उदय-विच्छेद ग्यारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। फलतः ग्यारहवें गुणस्थान की उदययोग्य ५९ प्रकृतियों में से उक्त दो प्रकृतियों को कम करने पर बारहवें गुणस्थान में उदययोग्य ५७ प्रकृतियाँ मानी जानी चाहिए। किन्तु इन ५७ प्रकृतियों का उदय भी द्विचरम समय अर्थात्-अन्तिम समय से पूर्व के समय तक पाया जाता है। तथा अन्तिम समय निद्राद्विक (निद्रा और प्रचला) का उदय-विच्छेद होने से, इन दो प्रकृतियों को छोड़ने से शेष ५५ प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में पाया जाता है।[१]

(१३) **तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान** में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या ४२ है। बारहवें गुणस्थान में कथित उदययोग्य ५५ प्रकृतियों में से ज्ञानावरण-पंचक (मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण), अन्तरायपंचक (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय), तथा दर्शनावरण-चतुष्क (चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण) इन चौदह प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छिन्न हो जाता है। तदनुसार तेरहवें गुणस्थान में बारहवें गुणस्थान में कथित उदययोग्य ५५ प्रकृतियों में से उक्त १४ प्रकृतियाँ कम करने पर कुल ४१ प्रकृतियाँ मानी जानी चाहिए थीं, किन्तु तेरहवें गुणस्थान की विशेषता यह है कि तीर्थंकर नामकर्म का बंध करने वाले जीव के इसका उदय इसी गुणस्थान में होता है, अन्य गुणस्थानों में नहीं। अतः पूर्वोक्त उदय

(पृष्ठ ४५१ का शेष)

संजलणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहमंमि तुरिय-लोभंतो।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि रिसहनाराय-दुगअंतो॥ १९॥ -द्वितीय कर्मग्रन्थ

(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. १८, १९ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ८७ से ९० तक

१. (क) सगवन्न-खीण दुचरमि निद्द-दुगंतो य चरमि पणपन्ना।
नाणंतराय-दंसण चउ छेओ, सजोगि बायाला॥ २०॥ -द्वितीय कर्मग्रन्थ

(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. २० विवेचन, पृ. ९१, ९२

(ग) खीण कसाय दुचरिमे णिद्दा पयला य उदय वोच्छिण्णा।
णाणंतराय दसयं दंसण चत्तारि चरिमम्हि॥ -गोम्मटसार कर्मकाण्ड २७०

योग्य ४१ प्रकृतियों के साथ तीर्थंकर नामकर्म[1] को मिलाने से कुल ४२ प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है।

(१४) **चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान** के अन्तिम समय तक १२ प्रकृतियों का उदय रहता है, इसके पश्चात् इनका भी अन्त हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में कथित उदययोग्य ४२ प्रकृतियों में से औदारिक द्विक आदि ३० प्रकृतियों का उदय विच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। फलतः पूर्वोक्त ४२ में से ये ३० प्रकृतियाँ कम करने पर सिर्फ १२ कर्मप्रकृतियों का उदय १४वें गुणस्थान के अन्तिम समय रहता है। फिर इनका भी विच्छेद होते ही जीव सर्वथा कर्ममुक्त होकर पूर्ण सिद्ध बुद्ध, मुक्त विदेह होकर अनन्त शाश्वत सुख का स्थान-मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[2]

चौदहवें गुणस्थान में ३० प्रकृतियों का उदय-विच्छेद और १२ प्रकृतियों का उदय

वे तीस कर्मप्रकृतियाँ, जिनका उदय-विच्छेद १३वें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है, इस प्रकार हैं- औदारिक द्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग), अस्थिरद्विक (अस्थिर नाम, अशुभ नामकर्म), खगतिद्विक (शुभविहायोगति अशुभविहयोगति नामकर्म), प्रत्येकत्रिक (प्रत्येक, स्थिर शुभनामकर्म), संस्थानषट्क (समचतुरस्र अदि ६ संठाण), अगुरुलघु-चतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात और उच्छ्वासनाम), वर्णचतुष्क (वर्ण, गन्ध, रस-स्पर्शनाम), निर्माणनाम, तेजसशरीर कार्मणशरीर, वज्रऋषभनाराच संहनन, दुःस्वर, और सुस्वर नामकर्म तथा सातावेदनीय और असातावेदनीय दोनों में से कोई एक, यों २+२+२+३+६+४+४+६+१=३० प्रकृतियाँ सब मिलाकर होती हैं। फलतः तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य ४२ प्रकृतियों में से इन ३० प्रकृतियों को कम करने पर शेष रही निम्नोक्त १२ प्रकृतियों का उदय

---

१. तित्थं केवलिणि।

२. (क) तित्थुदया उरलाऽथिर खगइ-दुग परित्तितिग छ संठाणा।
अगुरु लहु-वन्न चउ निमिण-तेय-कम्माइ-संघयणं॥ २१॥
दूसर सूसर सायासाए गयरं च तीस-वुच्छेओ।
बारस अजोगि सुभगाइज्ज-जसन्नयर-वेयणियं॥ २२॥
तसतिग-पणिंदि मणुयाउ-गइ जिणुच्चं ति चरम-समयंता॥ २३॥
-द्वितीय कर्मग्रन्थ

(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा. २१ से २३ तक विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ९३ से ९६

(ग) तुलना करें- गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. २६१, २७२

चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक में रहता है– (१) सुभग, (२) आदेय, (३) यश:कीर्तिनाम, (४) वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों में से एक, (५) त्रस, (६) बादर, (७) पर्याप्त, (८) पंचेन्द्रिय जाति, (९) मनुष्यायु, (१०) मनुष्या गति, (११) तीर्थंकरनाम और (१२) उच्चगोत्र। ये १२ प्रकृतियाँ भी चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सर्वथा क्षय हो जाती हैं। इस प्रकार प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक उदय की प्ररूपणा कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में की गई है।[१]

उदय से उदीरणा में विशेषता

छठे गुणस्थान तक उदय और उदीरणा में समानता

यद्यपि गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों की संख्या उदय और उदीरणा में समान है, किन्तु यह नियम प्रथम-मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक समझना चाहिए, आगे सातवें-अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर तेरहवें-सयोगिकेवली गुणस्थान तक – इन ७ गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेषता होती है।

उदय की अपेक्षा उदीरणा में विशेषता : ७ वें से १४ वें गुणस्थान तक

उस विशेषता का कारण यह है कि छठे गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियाँ ८१ बतलाई गई हैं। उसके अन्तिम समय में आहारकद्विक और स्त्यानर्द्धित्रिक, इन ५ प्रकृतियों उदय-विच्छेद बताया गया है, किन्तु इन ५ प्रकृतियों के सिवाय वेदनीयद्विक (साता-असाता-वेदनीय) और मनुष्यायु, इन तीन प्रकृतियों का उदीरणा-विच्छेद भी होता है। छठे गुणस्थान से आगे ऐसे अध्यवसाय नहीं होते हैं कि वेदनीयद्विक और मनुष्यायु की उदीरणा हो सके, क्योंकि उदीरणा (इन तीनों की) संक्लिष्ट परिणामों से ही होती है, इस कारण अप्रमत्तादि गुणस्थानों में इनकी उदीरणा होना सम्भव नहीं है। इसी कारण सप्तम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक उदययोग्य प्रकृतियों की अपेक्षा उदीरणायोग्य तीन प्रकृतियाँ कम मानी जाती हैं।

---

१. (क) मोक्ष की असाधारण-कारणभूत पुण्योदयात्मक प्रकृतियाँ प्राय: १४वें गुणस्थान तक उदय में रहती हैं इसलिए वहाँ तक संसारी अवस्था मानी जाती है। तदनन्तर सिद्धावस्था होती है, जब एक भी कर्म सत्ता या उदय में नहीं रहता है। सत्ता में भी १४वें गुणस्थान के अन्त तक प्राय: ये ही १२ प्रकृतियाँ रहती हैं। -सं.

(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. २२ विवेचन (मरुधरकेसरीजी), पृ. ९५, ९६

निष्कर्ष यह है कि पहले से छठे गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में उदययोग्य और उदीरणायोग्य प्रकृतियाँ समान हैं, परन्तु सातवें से तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की अपेक्षा उदीरणायोग्य प्रकृतियाँ तीन-तीन कम होती हैं।

कर्मप्रकृतियों की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त ही समझनी चाहिए। चौदहवें अयोगि-केवली गुणस्थान में किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती, क्योंकि उदीरणा होने में योग की अपेक्षा है, परन्तु चौदहवें गुणस्थान में योगों का सर्वथा निरोध हो जाता है। अतः इस गुणस्थान में कर्मों की उदीरणा कतई नहीं होती।[१]

■■

१. (क) उदउव्वुदीरणा परमपमत्ताई सग-गुणेसु ॥ २३ ॥
एसा पयडि-तिगूणा वेयणियाऽहारजुगल थीणतिगं।
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणूदीरणो भगवं॥ २४॥ -द्वितीय कर्मग्रन्थ
(ख) द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. २३-२४ विवेचन (मरुधरकेसरी), पृ. ९६ से ९८ तक
(ग) णत्थित्ति अजोगि जिणे उदीरणा उदयपयडीणं। - गोम्मटसार कर्मकाण्ड, २८०

१. बन्ध-यंत्र

क्रम	गुणस्थान-नाम		मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीय	मोहनीय	आयुकर्म	नामकर्म	गोत्रकर्म	अन्तरायकर्म	अबन्ध
	सामान्य	.....	८	१२०	५	९	२	२६	४	६७	२	५	०
१	मिथ्यात्व	.....	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	३
२	सास्वादन	.....	८	१०१	५	९	२	२४	३	५१	२	५	१९
३	मिश्र	.....	७	७४	५	६	२	१९	०	३६	१	५	४६
४	अविरत	.....	८	७७	५	६	२	१९	२	३७	१	५	४३
५	देशविरत	.....	८	६७	५	६	२	१५	१	३२	१	५	५३
६	प्रमत्तसंयत	.....	८	६३	५	६	२	११	१	३२	१	५	५७
७	अप्रमत्तसंयत	.....	८/७	५९/५८	५	६	१	९	१/०	३१	१	५	६१/६२
८	अपूर्वकरण	भाग-१	७	५६	५	६	१	९	०	३१	१	५	६२
	अपूर्वकरण	भाग-२	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	अपूर्वकरण	भाग-३	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४

	अपूर्वकरण	भाग-४	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	अपूर्वकरण	भाग-५	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	अपूर्वकरण	भाग-६	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	अपूर्वकरण	भाग-७	७	२६	५	४	१	९	०	१	१	५	९४
९	अनिवृत्तिकरण	भाग-१	७	२२	५	४	१	५	०	१	१	५	९८
	अनिवृत्तिकरण	भाग-२	७	२१	५	४	१	४	०	१	१	५	९९
	अनिवृत्तिकरण	भाग-३	७	२०	५	४	१	३	०	१	१	५	१००
	अनिवृत्तिकरण	भाग-४	७	१९	५	४	१	२	०	१	१	५	१०१
	अनिवृत्तिकरण	भाग-५	७	१८	५	४	१	१	०	१	१	५	१०२
१०	सूक्ष्म सम्पराय	.....	६	१७	५	४	१	०	०	१	१	५	१०३
११	उपशान्त मोह	.....	१	१	०	०	१	०	०	०	०	०	११९
१२	क्षीण-मोह	.....	१	१	०	०	१	०	०	०	०	०	११९
१३	सयोगिकेवली	.....	१	१	०	०	१	०	०	०	०	०	११९
१४	अयोगिकेवली	.....	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१२०

२. सत्ता-यंत्र

क्रम	चौदह गुणस्थानों में सत्ता		मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	उपशमश्रेणि	क्षपकश्रेणि	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीय	मोहनीय	आयुकर्म	नामकर्म	गोत्रकर्म	अन्तरायकर्म
	सामान्य	.....	८	१४८	--	--	५	९	२	२८	४	९३	२	५
१	मिथ्यात्व	.....	८	१४८	--	--	५	९	२	२८	४	९३	२	५
२	सासादन	.....	८	१४७	--	--	५	९	२	२८	४	९२	२	५
३	मिश्र	.....	८	१४७	--	--	५	९	२	२८	४/१	९३	२	५
४	अविरत	.....	८	१४८	१४८ / १४१	१४५/१३८	५	९	२	२८/२४/२१	४/१	९३	२	५
५	देशविरत	.....	८	१४८	"	" "	५	९	२	"	"	९३	२	५
६	प्रमत्तसंयत	.....	८	१४८	"	" "	५	९	२	"	"	९३	२	५
७	अप्रमत्तसंयत	.....	८	१४८	"	" "	५	९	२	"	"	९३	२	५
८	अपूर्वकरण	.....	८	१४८ / १४२	१४२ / १३९	१३८	५	९	२	"	२/१	९३	२	५
९	अनिवृत्तिकरण	भाग-१	८	"	"	१३८	५	९	२	२१	२/१	९३	२	५
	अनिवृत्तिकरण	भाग-२	८	"	० — १२२		५	९/६	२	२१	"	"	२	५

	अनिवृत्तिकरण	भाग-३	८	१४८/१४२+	०	११४	५	९/६	२	१३	२/१	९३/८०	२	५
	अनिवृत्तिकरण	भाग-४	८	"	०	११३	५	९/६	२	१२	"	"	२	५
	अनिवृत्तिकरण	भाग-५	८	"	०	११२	५	"	२	११	"	९२/८०	२	५
	अनिवृत्तिकरण	भाग-६	८	"	०	१०६	५	"	२	५	"	"	२	५
	अनिवृत्तिकरण	भाग-७	८	"	०	१०५	५	"	२	४	"	"	२	५
	अनिवृत्तिकरण	भाग-८	८	"	०	१०४	५	"	२	३	"	"	२	५
	अनिवृत्तिकरण	भाग-९	८	"	०	१०३	५	"	२	२	"	"	२	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय	.....	८	१४८/१४२	१४२/१३६	१०२	५	"	२	२८/२४/२१×	"	९३/८०	२	५
११	उपशान्तमोह	.....	८	" "	" "	१०१	५	"	२	२८/२४/२१	"	९३	२	५
१२	क्षीणमोह	.....	७	१०१/९९	०	१०१/९९	५	६/४	२	२८/२४/२१	१	८०	२	५
१३	सयोगिकेवली	.....	४	८५	०	८५	०	०	२	०	१	८०	२	०
१४	अयोगिकेवली	.....	४	८५/१३/१२	०	१२	०	०	२/१	०	१	८०/९	२/१	०

+ तद्भव-मोक्षगामी अनन्तानुबन्धी-विसंयोजक उपशम श्रेणी को करने वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के १४१ की सत्ता मानी गई है। तद्भव मोक्ष नहीं जाने वाले उपशम श्रेणी वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि की मानी जाती है।

× नौवें गुणस्थान में नौ भागों में मोहनीय के २८-२४-२१ अंक सहित समझना चाहिए।

३. उदय-यंत्र

क्रम	गुणस्थान का नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीय	मोहनीय	आयुकर्म	नामकर्म	गोत्रकर्म	अन्तरायकर्म	अनुदय
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	०
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३	मिश्र	८	१००	५	९	२	३२	४	५१	२	५	२२
४	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६	प्रमत्तसंयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१
७	अप्रमत्तसंयत	८	७६	५	६	२	१४	१	४२	१	५	४६

८	अपूर्वकरण	८	७२	५	६	२	१३	१	३१	१	५०
९	अनिवृत्तिकरण	८	६६	५	६	२	७	१	३१	१	५६
१०	सूक्ष्म-सम्पराय	८	६०	५	६	२	१	१	३१	१	६२
११	उपशान्त-मोह	७	५९	५	६	२	०	१	३१	१	६३
१२	क्षीण-मोह	७	५७/५५	५	६/४	२	०	१	३७	१	६५/६७
१३	सयोगिकेवली	४	४२	०	०	२	०	१	३८	१	८०
१४	अयोगि-केवली	४	१२	०	०	१	०	१	३१	१	११०

४. उदीरणा-यंत्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीय	मोहनीय	आयुकर्म	नामकर्म	गोत्रकर्म	अन्तरायकर्म	अनुदीरणा
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	×
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३	मिश्र	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५	२२
४	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६	प्रमत्त संयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१

७	अप्रमत्तसंयत	६	७३	५	६	०	१४	०	४२	२	५	४९
८	अपूर्वकरण	६	६९	५	६	०	१३	०	३९	२	५	५३
९	अनिवृत्तिकरण	६	६३	५	६	०	७	०	३९	२	५	५९
१०	सूक्ष्मसम्पराय	६	५७	५	६	०	१	०	३९	२	५	६५
११	उपशान्त-मोह	५	५६	५	६	०	०	०	३२	२	५	६६
१२	क्षीण-मोह	५	५४/५२	५	६/४	०	०	०	३७	२	५	६८/७०
१३	सयोगि-केवली	२	३९	०	०	०	०	०	३८	२	०	८३
१४	अयोगि-केवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१२२

१८

औपशमिकादि पांच भावों से मोक्ष की ओर प्रस्थान

समुद्र और उसकी लहरों की तरह जीव और उसके पंच भाव

समुद्र और उसकी लहरें मूल में एक ही हैं। कभी-कभी वे लहरें दूर-दूर तक ऊँची-ऊँची उठती जाती हैं और थोड़ी देर बाद शान्त हो जाती हैं। कभी अत्यन्त ऊँची उछलती हैं तो कभी एकदम शान्त दिखाई देती हैं, कभी-कभी थोड़ी शान्त होती हैं और थोड़ी धीमे-धीमे चलती रहती हैं। कभी-कभी ऐसा भी मालूम होता है कि समुद्र से जो लहरें उठी थीं, वे वापस आकर समुद्र में विलीन हो गई हैं। वे लहरें बिलकुल मिट गई हैं, वे पुनः कभी नहीं उठतीं। अथवा वे लहरें समुद्र से उठकर समुद्र के आसपास फैली हुई बालू में मिलकर बिलकुल नष्ट हो गई हैं। परन्तु इन सब स्थितियों-पर्याय परिवर्तनों के होते हुए भी समुद्र में जो समुद्रत्व या जलत्व है, वही उन लहरों में हैं। लहरें समुद्र से भिन्न प्रतीत होते हुए भी भिन्न नहीं हैं।[१] वे समुद्र की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं, पर्यायें हैं, समुद्र के ही स्व-तन्त्र हैं।

जीव के पांच भाव

इसी प्रकार समुद्र और उसकी तरंगों की अभिन्नता के समान 'धवला' में जीवद्रव्य और उसके पंचविध भावों में अभिन्नता का व्यपदेश किया गया है। समुद्र की विभिन्न अवस्थापन्न लहरों की तरह ये पंचविध भाव भी जीवरूपी समुद्र की अवस्था (पर्याय) रूपी लहरें हैं। इनके कर्मशास्त्रीय नाम ये हैं- (१)औपशमिक (२) क्षायिक (३) क्षायोपशमिक (४) औदयिक और (५) पारिणामिक। आगमों

---

१. समुद्रो न च तारंगः, तारंगोऽपि क्वचन तथा। -सिद्धसेन दिवाकर

में तथा कर्मग्रन्थ में इन पांच भावों के अतिरिक्त छठा सान्निपातिक[१] भाव भी बताया गया है।[२]

आत्मा के स्वतत्व रूप पंचविध भाव जीवद्रव्य में, जीवद्रव्य से ही उठते हैं

जिस प्रकार लहरों के विषय में पूछे जाने पर कि लहरें कहाँ से उत्पन्न होती हैं? उसका उत्तर होगा- लहरें समुद्र से उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार धवला में प्रश्न उठाया गया है कि यह (पंचविध) भाव कहाँ होता है ? कहाँ रहता है? कहाँ से उत्पन्न होता है? भाव का अधिकरण क्या है? उत्तर दिया गया है- भाव द्रव्य में ही रहता है या होता है, द्रव्य से ही उठता है। क्योंकि गुणी के बिना गुणों का रहना असम्भव है। जीवद्रव्य में ये पांचों भाव रहते हैं, ये पांचों भाव जीव से उत्पन्न होते हैं।[३]

पांचों भाव जीव के स्वतत्व : असाधारण गुण : तात्पर्यार्थ

'पंचास्तिकाय' में कहा गया है-'वे पांचों जीवगुण जीव के भाव हैं, बहुत प्रकार के अर्थों में विस्तीर्ण (फैले हुए) हैं।' तत्त्वार्थसूत्र में इन पांच भावों को जीव के 'स्वतत्व' कहा गया है। राजवार्तिक एवं सर्वार्थसिद्धि के अनुसार- 'ये पंचविध भाव आत्मा के असाधारण (विशिष्ट) धर्म हैं, इसलिये ये स्वतत्व कहलाते हैं।' किन्तु इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि ये जीव (आत्मा) के स्वभाव-रूप[४] हैं। यहाँ असाधारण या स्वतत्व का तात्पर्य केवल इतना ही है कि ये पांचों भाव आत्म

---

१. आर्षेसान्निपातिक भाव उक्तः। -राजवा. ९/७/६७२

२. (क) औपशमिक-क्षायिकौ भावौ, मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च। -तत्त्वार्थ सूत्र अ. २/सू. १

(ख) छव्विधे भावे पण्णत्ते, तं.-ओदइए उवसमिते खतिते खओवसमिते पारिणामिते, सन्निवाइए।

-अनुयोगद्वारसूत्र २३३, स्थानांग स्थान ६ सूत्र ५३७, भगवती सूत्र १४/७

(ग) उवसम-खय-मीसोदय-परिणामा'''' सन्निवाइय'''' ॥

-कर्मग्रन्थ भा. ४, गा. ६४

३. (क) कत्थ भावो? दव्वम्हि चेव। गुणिव्वदिरेगेण गुणाणमसंभवा।

-धवला ५/१, ७/१/१८८

(ख) कथं दव्वस्स भावव्ववएसो? भवनं भावः भूतिर्वाभाव इति भावसद्दस्स विउप्पत्ति अवलंबणादो। -धवला ५/१, ७, १ १/१८४

४. (क) ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा। -पंचास्तिकाय गा. ५६

(ख) जीवस्य स्वतत्त्वम्। स्वभावोऽसाधारणो धर्मः।

(ग) सर्वार्थसिद्धि २/१ पृ. १४९

(जीव) द्रव्य के अलावा अन्य द्रव्यों में नहीं होते। ये पांच भाव जीव के जीवत्व गुण (जिस गुण के कारण जीव जीवित रहता है) की अपेक्षा से बताये गए हैं। जैसे समुद्र और उसकी तरंगों में जलाधारत्व (समुद्रत्व) गुण है, वैसे ही जीव में जीवत्व गुण असाधारण है। वही उसका स्वतत्व है। यद्यपि जीव में अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक गुण हैं, किन्तु ये गुण तो जीव के सिवाय अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है। मगर जीवत्व गुण जीव का ही असाधारण गुण है, जो अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। इसलिए यहाँ जीव के जीवत्व गुण की अपेक्षा उसके भावों का वर्णन किया गया है।

जीवद्रव्य : औपशमिकादि पांचों भावों से युक्त

इसलिए पंचसंग्रह में जीव का लक्षण किया गया है- 'जो औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इन पांच भावों से युक्त द्रव्य हो, वह जीव हैं।' तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार- 'पर्याय की अपेक्षा से जीव औपशमिक आदि भाव-पर्यायरूप है। निश्चय से तो वह एकमात्र पारिणामिक भाव साधनरूप है।' यद्यपि जीव का स्वरूप उपयोगात्मक है, किन्तु यहाँ कर्मजन्य अवस्थाओं और मूल स्वभाव को बतलाने की मुख्य विवक्षावश औपशमिक आदि पांच भावों को जीव का स्वरूप बताया गया है। इसलिए सर्वार्थसिद्धि में भाव को औपशमिकादि लक्षण (रूप) बताया गया है।[१]

पांचभाव : आत्मा की पंचविध पर्यायें या अवस्थाएँ

इन्हीं पांच भावों के कारण आत्मा की पांच प्रकार की अवस्थाएँ या पर्यायें अथवा अन्तःकरण की पंचविध परिणतियाँ (परिणाम) हैं। आत्मा के ये पर्याय एक ही अवस्था के नहीं होते। कुछ पर्याय किसी एक ही अवस्था के होते हैं, दूसरे कुछ पर्याय किसी दूसरी अवस्था के होते हैं। इसी कारण पर्यायों की ये विभिन्न अवस्थाएँ ही आत्मा के विभिन्न भाव हैं। पर्यायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही भाव कहलाती हैं। आत्मा के पर्याय अधिक से अधिक पांच भाव वाले हो सकते हैं।[२]

---

१. (क) तत्त्वार्थ सूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि), पृ. ७९, ८०
(ख) किं जीवा? उवसमाइएहिं भावेहिं संजुत्तं दव्वं। -पंचसंग्रह २/२, ३ पृ. ६
(ग) वही, भा. २, गा. २ का विवेचन, पृ. ६
(घ) औपशमिकादिभावपर्यायो जीवः पर्यायादेशात्। पारिणामिक भावसाधनो निश्चयः। -तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/७/३, ८
(ङ) भावः औपशमिकादि लक्षणः। -सर्वार्थसिद्धि १/८/२९/८

२. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी), पृ. ४७

जीवों में पांचों भाव, पुद्गलादि द्रव्यों में नहीं

संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा (जीव) हो, उसके सभी पर्याय इन पांच भावों में से किसी न किसी भाव वाले होंगे ही। धवला में स्पष्ट कहा गया है- 'जीवों में पांचों ही भाव पाये जाते हैं, किन्तु शेष द्रव्यों में तो पांचों भाव नहीं हैं; क्योंकि पुद्गल द्रव्यों में औदयिक और पारिणामिक, ये दो भाव ही उपलब्ध होते हैं, जबकि धर्मास्तिकाय आदि चारों द्रव्यों में सिर्फ पारिणामिक भाव ही पाया जाता है।' इसलिए स्पष्ट है कि जीव में पांच भावों वाले पर्याय सम्भव हैं, जबकि अजीव में पांचों भाव वाले पर्याय सम्भव नहीं हैं। इसी कारण ये भाव अजीव के स्वतत्व नहीं हैं।[१]

पांचों में से किस जीव में कितने भाव?

पूर्वोक्त पांचों भाव सभी जीवों में एक साथ होने का भी नियम नहीं है। सिद्ध-मुक्त जीवों में दो भाव होते हैं- क्षायिक और पारिणामिक। सांसारिक जीवों में कोई तीन भावों वाला, कोई चार भावों वाला और कोई पांच भावों वाला होता है, मगर दो भावों वाला कोई संसारी जीव नहीं होता । आशय यह है कि मुक्त आत्मा के पर्याय दो भावों तक तथा संसारी आत्माओं के पर्याय तीन से लेकर पांच भावों तक पाये जाते हैं।[२]

आत्मा के स्वरूप के विषय में अन्य दर्शनों और जैनदर्शन का मन्तव्य

यहाँ एक प्रबल शंका उपस्थित होती है कि आत्मा तो कूटस्थनित्य है, आत्मा के पर्याय होगी तो वह कूटस्थनित्य न होकर परिणमनशील हो जाएगी। क्योंकि सांख्य और वेदान्तदर्शन विश्व की समस्त आत्माओं को कूटस्थ नित्य मानते हैं। वे उनमें कोई परिणमन (पर्याय-परिवर्तन) नहीं मानते। अतएव ये ही दोनों दर्शन आत्मा के सुख-दुःखादि परिणामों को आत्मा (पुरुष या ब्रह्म) के न मानकर क्रमशः प्रकृति और अविद्या (माया) के मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन ज्ञान आदि को आत्मा के गुण तो अवश्य मानते हैं, किन्तु आत्मा को ये दोनों दर्शन नित्य (अपरिणामी) मानते हैं। तात्पर्य यह है कि ये चारों दर्शन आत्मा में कोई भी पर्याय-परिवर्तन (परिणमन) नहीं मानते। बौद्धदर्शन आत्मा को एकान्त क्षणिक, अर्थात्-निरन्वय परिणामों का प्रवाहमात्र मानता है। ऐसी स्थिति में आत्मा के पर्यायरूप ये

---

१. जीवेसु पंचभावाणमुवलंभा। ण च सेसदव्वेसु पंच भावा अत्थि। पोग्गलदव्वेसु ओदइय-पारिणामियाणं दोण्हं चेव भावाणमुवलंभा; धम्माधम्मागास-कालदव्वेसु एक्कस्स पारिणामिय-भावस्सेवुवलंभा। -धवला ५/१, ६, ९/१८६

२. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी), पृ. ४८

पांचों भाव कैसे हो सकेंगे? इसका समाधान यह है कि जैनदर्शन का मन्तव्य है- जैसे- जड़पदार्थों (अजीवों) में न तो कूटस्थनित्यता है और न ही एकान्त क्षणिकता; अपितु परिणामि-नित्यता है, वैसे ही जैनदृष्टि से आत्मा न तो एकान्त कूटस्थनित्य है और न ही एकान्त क्षणिक है, अपितु परिणामि-नित्य है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा नित्य है, जबकि पर्यायदृष्टि से परिणमनशील (परिवर्तनशील) है। अर्थात्-आत्मा तीनों कालों में मूलरूप से कायम (नित्य) रहने पर भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि के निमित्त से उसका पर्याय-परिवर्तन होता रहता है। इस कारण वह परिणामि-नित्य मानी गई है।[१]

पांच भावों की उत्पत्ति में साधन

'धवला' में एक प्रश्न उठाया गया है कि पांचभाव किस (कारण) से होते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है- इन पांच भावों में से कोई भाव कर्मों के उदय से, कोई कर्म के क्षय से, कोई क्षयोपशम से, कोई कर्म के उपशम से, कोई इन सबसे निरपेक्ष स्वभाव से होता है। जीवद्रव्य के भाव कर्मों के आश्रित उक्त पांचों कारणों से होते हैं, किन्तु पुद्गल द्रव्य के भाव कर्मों के उदय से अथवा स्वभाव से उत्पन्न होते है।[२]

पांच भावों को जानने-पहचाने से लाभ

आशय यह है कि ये पांच भाव कर्मबन्ध से सीधे सम्बन्धित नहीं हैं, यानी ये पांचों भाव कर्मबन्ध के कारणरूप नहीं हैं; अपितु एक दृष्टि से सोचा जाए तो ये जीव को बन्ध से लेकर उदय में आने तक का अवकाश देते हैं, कि जब तक कर्म बद्ध होकर सत्ता में पड़ा है, तब तक तुम उसमें रद्दोबदल कर सकते हो, अपने भावों (परिणामों या अध्यवसायों) द्वारा। यही कारण है कि इन पांच भावों का क्रम उदय से प्रारम्भ होता है। जैसे-समुद्र से उठने वाली तरंगें जब तक ऊपर न उठें, लहरें शान्त हों, जब तक नाविक सावधान होकर अपनी नौका को ठीक-ठाक कर सकता है, उसकी चैकिंग करके जहाँ कहीं भी छिद्र आदि जान पड़े या टूट-फूट मालूम हो, उसे दुरुस्त कर सकता है। इसी प्रकार जीवन-नैया का नाविक भी संसार समुद्र पार करते समय समुद्र से उदय भाव (परिणाम) की तरंगें न उठें, उससे पहले ही सावधान होकर अपनी जीवन-नौका को दुरुस्त, (आस्रवद्वार बन्द करके) निश्छिद्र,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (पंडित सुखलालजी) विवेचन, पृ. ४७

२. केण भावो? कम्माणमुदएण खयण-खओवसमेण, कम्माणमुवसमेण सभावदो वा। तत्थ जीवदव्वस्स भावा उत्त-पंचकारणेहिंतो होंति। पोग्गलदव्वभावा दुवा कम्मोदएण विस्ससादो वा उव्वज्जंति। सेसाणं चउण्हं दव्वाणं भावा सहावदो उव्वज्जंति।

-धवला ५/१, ७ १/१८१

संवृत एवं सुदृढ़ कर सकता है। वह अपने भावों को उपशान्त, क्षीण या क्षयोपशमयुक्त, अथवा स्वाभाविक बना सकता है, और कुछ नहीं तो अपने इन भावों का पता लगा सकता है।

पांच भावों को जानना आवश्यक : क्यों और कैसे?

जैसे-कुशल नाविक समुद्र से उठने वाली तरंगों को जान लेता है कि ये तरंगें बहुत दूर-दूर ऊँची उछलने वाली हैं, या थोड़ी दूर तक बढ़कर उपशान्त होने वाली हैं, अथवा थोड़ी देर तक उछल-कूद मचाकर बालू के साथ मिलकर सदा के लिये मिट (क्षीण हो) जाने वाली हैं; अथवा थोड़ी देर में समुद्र में विलीन होती है पुनः उपशान्त हो जाती है, या फिर वे समुद्र के साथ अभिन्न होकर स्वाभाविक अवस्था में पड़ी हैं? इसी प्रकार कर्मविज्ञान कुशल साधक जान लेता है कि पूर्वबद्ध कर्मों में से कौन-से कर्म उदयावस्था (पर्याय) में हैं, कौन-से उपशम-अवस्था में हैं, कौन-से कर्म क्षयोपशम-अवस्था में हैं, और कौन-से कर्म क्षायिक अवस्था (पर्याय) में हैं? या आत्मा का वह स्वाभाविक तत्व है (पारिणामिक भाव) है, जो न तो कर्म से सम्बद्ध है और न कर्मों के क्षय-क्षयोपशम-उपशमादि से सम्बद्ध है?

पांच भाव : जीव की पांच अवस्थाएँ

कर्मविज्ञान बताता है कि इन पांच भावों का प्ररूपण समग्र जीवराशि की अपेक्षा से या किसी जीव-विशेष में सम्भावना की अपेक्षा से पूर्वबद्ध कर्मों के उदय की, उपशम की, क्षय की, क्षयोपशम की या कर्मनिरपेक्ष स्वाभाविक पर्याय या अवस्था की अपेक्षा किया गया है।[१] चूँकि भाव एक तरह से पर्याय या अवस्था या परिणमन हैं। इसलिए पांच भावों में से कोई न कोई भाव अवश्य होंगे। पूर्वकाल में बद्ध कर्म, जो सत्ता में संचित पड़े थे, उनमें से या तो वह कतिपय कर्मों के उदय से प्राप्त आत्मा की अवस्था या पर्याय (औदयिक भाव) होती है, अथवा कर्मों के उपशम से प्राप्त (औपशमिक) पर्याय या अवस्था होती है; या कर्मों के क्षय से प्राप्त पर्याय (क्षायिकभाव) होती है, अथवा कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त अवस्था या पर्याय (क्षायोपशमिक भाव) होती है, अथवा वह पर्याय या अवस्था कर्मों के उदय आदि से बिलकुल सम्बद्ध नहीं होती, वह केवल किसी भी द्रव्य की स्वाभाविक पर्याय या

---

१. (अ) कर्म की उपशम आदि अवस्थाएँ ही औपशमिक आदि भाव हैं; यह अर्थ कर्म के भावों में लागू पड़ता है।

(ब) कर्म की उपशम आदि अवस्थाओं से होने वाले पर्याय औपशमिक आदि भाव हैं। यह अर्थ जीव के भावों में घटित होता है।

स्वरूप-परिणमन होती है, अर्थात्-द्रव्य के अस्तित्व से अपने आप होने वाला द्रव्य का स्वाभाविक परिणमन होता है।

पांच भावों में स्वाभाविक-वैभाविक, शुद्ध-अशुद्ध बन्धक-अबन्धक कौन-कौन?

संक्षेप में, यों कहा जा सकता है कि जीवों की स्वाभाविक और वैभाविक अवस्थाएँ बताने के लिए ही जैनकर्म-विज्ञान में पांच भावों का निरूपण किया गया है। इन पांचों भावों में से औदयिक भाव वाले पर्याय वैभाविक हैं और शेष चार भावों वाले पर्याय स्वाभाविक हैं। दूसरी दृष्टि से देखें तो क्षायिक और पारिणामिक भाव ही शुद्ध हैं, शेष मिश्र हैं या अशुद्ध हैं। 'धवला' के अनुसार पूर्वोक्त पांच भावों में से औदयिक भाव बन्ध का (पारम्परिक) कारण है और औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों भाव आत्मा के मोक्ष के कारण हैं। पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण नहीं है।[१] यों निश्चय दृष्टि से देखा जाए तो 'समयसार' में कहा गया है कि 'यथाख्यातचारित्र अवस्था से नीचे राग का सद्भाव अवश्यम्भावी होने से (न्यूनाधिक रूप से) बन्ध का कारण है, क्योंकि ज्ञान गुण जघन्य ज्ञान गुण के कारण पुनः अन्यरूप से परिणमन करता है, इसलिए वह कर्मों का बन्धक कहा गया है।' 'समयसार वृत्ति' में कहा गया है कि आगम की भाषा में जो औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक ये तीन भाव कहे जाते हैं वे ही अध्यात्म भाषा में शुद्धाभिमुख परिणाम या शुद्धोपयोग आदि पर्याय संज्ञाओं को प्राप्त करते हैं।[२]

औपशमिक को प्राथमिकता क्यों? औदयिक को क्यों नहीं?

तत्त्वार्थसूत्र, पंचसंग्रह इत्यादि ग्रन्थों में पांच भावों के क्रमविन्यास में सर्वप्रथम औपशमिक भाव को ग्रहण किया गया है, उस विषय में पंचसंग्रह में एक प्रश्न

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी), पृ. ४८
(ख) ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जियो होहि। -धवला ७/२, १, ७/गा. ३/९

२. (क) जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो, तेण दु सो बंधगो भणिदो॥
(ख) आगमभाष्यौपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिकभावत्रयं भण्यते अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धाभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञा लभते।
-समयसार ता. वृ. ३२०
टीका-स तु यथाख्यात-चारित्रावस्थाया अधस्तातवश्यम्भावि-रागसद्भावात् बन्धहेतुरवस्यात्॥ -समयसार मूल व टीका १७१

उठाया गया है कि औदयिक भाव तो निगोद से लेकर समस्त संसारी जीवों के होता है, और औपशमिक तो कितनों को ही होता है। अतः औदयिक भाव को छोड़कर सर्वप्रथम औपशमिक भाव को ग्रहण करने का क्या कारण है?

इसका समाधान यह है कि वस्तु का ऐसा स्वरूप बताना चाहिए, जो असाधारण हो, जिससे उसकी अन्य से व्यावृत्ति की जा सके, उसकी विशेषता और पृथक्ता समझी जा सके। इसी हेतु से जीव का स्वरूप बतलाते समय प्रारम्भ में औदयिक को ग्रहण न करके औपशमिक भाव का विन्यास किया गया है। आशय यह है कि औदयिक और परिणामिक ये दो भाव तो अजीवद्रव्य में भी पाये जाते हैं। इसीलिए उन भावों को प्रारम्भ में ग्रहण नहीं किया गया। क्षायिक भाव औपशमिक भावपूर्वक ही होता है, क्योंकि कोई भी जीव उपशम भाव को प्राप्त किये बिना क्षायिक भाव को प्राप्त नहीं करता। इसलिए क्षायिक को प्रारम्भ में नहीं रखा गया। क्षायोपशमिक भाव औपशमिक से अत्यन्त भिन्न नहीं है। यही कारण है कि सर्वप्रथम औपशमिक भाव को ग्रहण किया गया है।[१]

औपशमिक भाव : स्वरूप, फल और कार्य

कर्मों का उदय कुछ समय के लिए रोक देना या उसका प्रभाव शान्त हो जाना उपशम है। 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है- 'जिस प्रकार कतक (निर्मली) या फिटकरी आदि पदार्थ मैले या गंदे जल में डालने से उसकी मलिनता या कीचड़ (कुछ देर के लिए) नीचे बैठ जाती है, दब जाती है, और पानी स्वच्छ व शान्त दिखाई देता है, अर्थात् जिस प्रकार मलिन जल कुछ देर तक निश्चल होकर बर्तन के तल में बैठ जाता है, और उसके ऊपर वाला जल सर्वथा शुद्ध और निर्मल हो जाता है, इसी प्रकार कर्म मल के विपक्षी कारणों के संयोग से कुछ काल पर्यन्त निश्चल रूप से साधना करने पर कर्ममल कुछ देर के लिये नीचे बैठ जाता है, शान्त हो जाता है, अचेत होकर फलदान से विरत हो जाता है, अथवा कर्म के प्रभाव से आत्मा को प्रभावित न होने देना उपशम कहलाता है। संक्षेप में, उपशम का पारिभाषिक अर्थ है-कुछ देर के लिए मोहनीय कर्ममल का शान्त हो जाना, उदय में न आना। उपशम की शास्त्रीय परिभाषा है- प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार से कर्मोदय का (थोड़ी देर के लिये) रुक जाना उपशम है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार- आत्मा में कर्म की निजशक्ति (फलदानशक्ति) का कारणवश प्रगट न होना उपशम है, उपशम जिस भाव का प्रयोजन-कारण है, वह औपशमिक भाव है। धवला के अनुसार- जो कर्मों के उपशम से उत्पन्न होता है, वह औपशमिक भाव है। अथवा कर्मों के उपशम से

१. पंचसंग्रह भाग २, गा. २ पर विवेचन, पृ. ७

होने वाले परिणाम (आत्मा की अवस्था या पर्याय) को औपशमिक कहते हैं। अथवा उपशम से प्रगट हुए या निष्पन्न हुए भाव को औपशमिक भाव कहते हैं। पंचास्तिकाय के अनुसार- 'उपशम से युक्त भाव औपशमिक है।'[१]

उपशम किस कर्म का, कौन-कौन-सा और क्यों?

अब यह प्रश्न उठता है कि यहाँ उपशम किस कर्म का होता है? ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों में से मोहनीय कर्म में ही उपशम भाव प्राप्त होता है, अन्य कर्मों में नहीं। इसका कारण यह है कि मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम होने से जैसे- उपशम भाव का सम्यक्त्व और उपशमभावरूप यथाख्यातचारित्र (कषायों का क्षणिक शमन) होता है, उसी प्रकार से ज्ञानादि गुणों की पूर्ण स्वच्छता हो जाने पर या सर्वज्ञता प्रगट हो जाने पर वह पुनः विलीन हो जाए, यह सम्भव नहीं। तथैव ज्ञानावरणीयादि कर्मों का उपशम होने से थोड़ी देर के लिए तथारूप केवलज्ञान आदि गुण उत्पन्न ही नहीं होते हैं।

उपशम के दो प्रकार हैं- देशोपशम और सर्वोपशम। उनमें से यहाँ देशोपशम की नहीं, सर्वोपशम की विवक्षा समझनी चाहिए; क्योंकि देशोपशम तो आठों हीं कर्मों का होता है, जो कार्यकारी नहीं है।[२]

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि २/१ पृ. १४९
   (ख) कर्मसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ११३
   (ग) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय श्री केवलमुनिजी) पृ. ७९
   (घ) अध्यात्मकमलमार्तण्ड ३/८
   (ङ) कर्मग्रन्थ भा. ४, विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ. १९६
   (च) उपशमो विपाक-प्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं, उपशमः प्रयोजनमस्येयौपशमिकः। -सर्वार्थसिद्धि २/१/१४९/९
   (छ) आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः। उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः। -सर्वार्थसिद्धि २/१/१४९/९
   (ज) तेषामुपशमादौपशमिकः। -धवला ५/१, ७, १/१८७
   (ञ) उपशमेन युक्तः औपशमिकः। -पंचास्तिकाय त. प्र. ५६/१०६

२. (क) पंचसंग्रह भा. ३, विवेचन, पृ. ९३
   (ख) कर्मसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी), पृ. ११२
   (ग) धवला आदि ग्रन्थों में औपशमिक भाव के भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन है, जिज्ञासु देखें।

औपशमिक भाव का परिष्कृत लक्षण तथा उपलब्धि

अत: औपशमिक भाव का परिष्कृत लक्षण हुआ- मोहनीय कर्म के उपशम से आत्मा की जो अवस्था (पर्याय) प्राप्त होती है, वह औपशमिक भाव है। मोहनीय कर्म के एक भेद दर्शन-मोहनीय के उपशम से जो सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) प्राप्त होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है, और मोहनीय कर्म के दूसरे भेद- चारित्रमोहनीय के उपशम से जो (यथाख्यात) चारित्र प्राप्त होता है, वह औपशमिक चारित्र है। ये दोनों ही औपशमिक भाव कहलाते हैं।[१]

औपशमिक भाव का फल

इसी कारण औपशमिक भाव के तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों और आगमों में मुख्य दो भेद बताए हैं- सम्यक्त्व और चारित्र। परन्तु ये दोनों होते हैं- उपशमरूप ही। आशय यह है कि औपशमिक भाव में निमित्तभूत कर्ममल क्षणभर के लिए दबा रहता है, या उदय में नहीं आता। इस भाव में अनादिकालीन विषमता तथा अशान्ति क्षणभर के लिए दूर हो जाने पर पूर्ण समता तथा शमता (शान्ति) की प्रतीति होकर पुन: लुप्त हो जाती है। यह औपशमिक भाव का फल है।

तात्पर्य यह है कि औपशमिक भाव जीव को उसी समय तक होता है, जब तक पूर्वोक्त द्विविध मोहनीय कर्म का पुन: उदय नहीं हो जाता। मोहनीय कर्म का क्षणभर के लिए उदय न होने से औपशमिक भाव प्राप्त होने पर जीव के परिणामों में विशुद्धि आ जाती है।

औपशमिक भाव का कार्य

औपशमिक भाव का कार्य है- पूर्ण समता और शमता की क्षणिक प्रतीति तथा दर्शनमोह एवं चारित्रमोह की प्रकृति का उपशम अथवा उदयविरति। जिस प्रकार गाढ़ निद्रा के अकस्मात् भंग हो जाने पर आँख खुल तो जाती है, लेकिन क्षणभर के लिए थोड़ी-सी झलक दिखा कर पुन: मुंद जाती है। इसी प्रकार उपशमभाव से मोहकर्म की उपशान्तता होकर पुन: दब जाती है, थोड़ी देर के लिए मोहनीयकर्म को सुला दिया जाता है, वह शान्त होकर बैठ जाता है। उदयविरति का क्षणिक काल समाप्त होने ही वह पुन: सचेष्ट हो जाता है, उदय में आकर वह पुन: जीव के परिणामों पर अपना प्रभाव दिखाने लगता है। फलत: जीव के परिणाम पुन: पूर्ववत् मलिन हो जाते हैं।[२]

---

१. जैनदर्शन (न्या. न्या. न्यायविजयजी), पृ. ३०७
२. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. २/३ पृ. ८०
   (ख) कर्मसिद्धान्त, पृ. १०७-१०८

औपशमिक भाव से मोक्षाभिमुख गति-प्रगति और पराक्रम

यहाँ केवल इतना ही बताना अभीष्ट है कि कर्ममल जितनी देर तक दबा रहा, शान्त निश्चल एवं उदय से विरत रहा, भले ही क्षणभर के लिए सही, उतनी देर तक तो जीव के परिणाम शत-प्रतिशत निर्मल एवं विशुद्ध रहे, इतने काल तक उसमें न कोई विकल्प उदित होता है, न ही कषाय। उतने काल तक वह पूर्ण समता और शमता से युक्त रहा। भले ही वह थोड़ा-सा काल व्यतीत हो जाने पर पुनः उक्त कर्म का उदय आ जाए और उसके प्रभाव से जीव में पुनः विकल्प और कषाय जागृत हो जाए, परन्तु इतने काल तक तो वह पूर्णतया निर्विकल्प तथा वीतराग रहता ही है।

उपशम सम्यक्त्व में जिस प्रकार दर्शनसप्तक का उपशम हो जाता है, इसी प्रकार उपशमचारित्र में भी चारित्रमोहनीय अथवा कषाय-नोकषाय-मोहनीय का सर्वथा उपशमन हो जाता है। इन कषायों के उपशमन होने से यानी दब जाने से आत्मा के परिणाम बहुत ही शुद्ध और निर्मल हो जाते हैं। उस जीव को अपनी शुद्धात्मा का उस समय रसास्वादन होता है। श्रेणी चढ़ने पर वह शुक्लध्यान पर भी पहुँच जाता है। इतना सब होते हुए भी वह जीव वीतराग केवली नहीं बन पाता। चूँकि मोह एवं कषाय पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ, इसलिए कषायों का उदय होते ही उसके परिणाम पुनः मलिन हो जाते हैं। फिर भी यह काल अत्यल्प होते हुए भी जीवन में इसका जो महत्व है, वह अल्प न होकर महान् है। यही औपशमिक भाव की मोक्षाभिमुख गति-प्रगति है।[१]

औपशमिक भाव के भेद-प्रभेद और उसका महत्व

औपशमिक भाव के भेद-प्रभेदों की ओर दृष्टिपात करने से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है। औपशमिक भाव के दो ही स्थान होते हैं- सम्यक्त्व और चारित्र। इस अपेक्षा से इसके मूल भेद दो ही होते हैं- औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र। इनमें से औपशमिक सम्यक्त्व 'धवला' के अनुसार एक ही प्रकार का है, जबकि औपशमिक चारित्र सात प्रकार का है। जैसे- नपुंसकवेद के उपशमनकाल में एक चारित्र, स्त्रीवेद के उपशमनकाल में दूसरा चारित्र, पुरुषवेद और छह नोकषायों के उपशमनकाल में तीसरा चारित्र, क्रोधसंज्वलन के उपशमनकाल में चौथा चारित्र, मान-संज्वलन के उपशमनकाल में पांचवाँ चारित्र, माया-संज्वलन के उपशमनकाल में छठा चारित्र और लोभ-संज्वलन के उपशमनकाल में सातवाँ चारित्र। इस प्रकार सात भेद औपशमिक चारित्र के होते हैं।

---

१. (क) 'कर्मसिद्धान्त', पृ. १०७-१०८
(ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय श्री केवलमुनिजी), पृ. ८१

औपशमिक भाव द्वारा मोक्ष के शिखर के निकट पहुँचने का पराक्रम

औपशमिक भाव से सम्यक्त्व और चारित्र के इतने सोपानों को पार करके मोहकर्मद्वय का उपशमन करना कर्ममुक्ति की साधना में महान् पुरुषार्थ है, विराट् पराक्रम है। यह तो भिन्न-भिन्न कार्यों के लिंग से कारणों में भी भेद की सिद्धि होने से औपशमिक चारित्र सात प्रकार का प्रतिपादित किया गया है।[१] परन्तु कर्मग्रन्थ के अनुसार- अनन्तानुबन्धी-चतुष्क के क्षयोपशम या उपशम से और दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से जो तत्वरुचिव्यञ्जक आत्म-परिणाम प्रकट होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है, तथा चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों के उपशम से व्यक्त होने वाला आत्मा का स्थिरतात्मक परिणाम औपशमिक चारित्र है। इस प्रकार उपशमद्वय युक्त औपशमिक भाव सादि-सान्त है। यह ग्यारहवें गुणस्थान में उपलब्ध होने वाला यथाख्यात-चारित्र है। यदि उक्त प्रकार की भेद-विवक्षा न की जाए तो वह अनेक प्रकार का हो सकता है; क्योंकि उपशम श्रेणी में प्रतिसमय पृथक्-पृथक् असंख्यात गुणश्रेणीनिर्जरा के निमित्तभूत परिणाम पाए जाते हैं। अतएव स्पष्ट है कि औपशमिक भावयुक्त आत्मा दर्शनमोह, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन कषायों की कितनी विकट घाटियाँ पार करके मोक्ष के शिखर के निकट पहुँच जाता है।[२] यह उपलब्धि भी कम नहीं है। 'षट्खण्डागम' में औपशमिक भाव को अविपाक-प्रत्ययिक जीव-भावबन्ध कहकर उसे उपशान्त क्रोध, उपशान्त-मान, उपशान्त-माया, उपशान्त-लोभ, उपशान्त-राग, उपशान्त-दोष (द्वेष), उपशान्त-

---

१. सम्मत्तंचारित्तं दो चेवट्ठाणाइमुवसमे होंति ।
अट्ठवियप्पा य तहा कोहाइया मुणेदव्वा ॥७॥
टीका-ओवसमियस्स भावस्स सम्मत्तं चारित्तं चेदि दोण्णिट्ठाणाणि। कुदो ? उवसमसम्मत्तं उवसमचारित्तमिदि दोण्णिं चे उवलंभा। उवसम-सम्मत्तमेयविहं। ओवसमियं-चारित्तं सत्तविहं। तं जहा-नपुंसयवेदुवसामणद्धाए एयं चारित्तं, इत्थिवेदुवसामणद्धाए बिदियं, पुरिस-छण्णोकसाय-उवसामणद्धाए तदियं, कोहुवसामणद्धाए चउत्थं, माणुवसामणद्धाए पंचमं, माओवसामणद्धाए छट्ठं लोहुवसामणद्धाए सत्तमोवसमियंचारित्तं। भिण्णकज्जलिंगेण कारण-भेद सिद्धिदो उवसमियं चारित्तं सत्तविहं उत्तं। अण्णहा पुण अणेयपयारं, पडिसमयं उवसमसेडिहि पुध पुध असंखेज्ज-गुण-सेडि-णिज्जरा-णिमित्त-परिणामुवलंभा।
-धवला ५/१, ७, १/७ व टीका १९०

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४, पृ. १९७
(ख) कर्मसिद्धान्त, पृ. ११७

मोह, उपशान्त-कषाय, वीतराग-छद्मस्थ, औपशमिक-सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र तथा इनसे लेकर जितने भी (अन्य) औपशमिक भाव हैं, उनसे युक्त विशेषणों से विभूषित किया गया है, क्योंकि इन दोनों (उदीरणा और उदय) से तथा बन्ध से व्यतिरिक्त कर्म-पुद्गल-स्कन्ध को उपशान्त कहा गया है, उसमें औपशमिक भाव ही कारण है।[१]

क्षायिक भाव : स्वरूप, कार्य और फल

कर्मों के क्षय से युक्त भाव क्षायिक है। क्षय का अर्थ है- नष्ट होना, अत्यन्तिक (सर्वथा) उच्छेद होना, अर्थात्-आत्यन्तिक निवृत्ति-सर्वथा नाश होना क्षय है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार- क्षय जिसका प्रयोजन-कारण है, उस भाव को क्षायिक भाव कहते हैं। पंचाध्यायी के अनुसार क्षायिक भाव का लक्षण है- 'प्रतिपक्षी कर्मों के यथायोग्य सर्वथा क्षय होने से आत्मा में जो भाव उत्पन्न होता है, वह शुद्ध स्वाभाविक क्षायिक भाव कहलाता है।' धवला में कहा गया है- 'कर्मों के क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला भाव क्षायिक भाव है, अथवा कर्मों के क्षय के लिए उत्पन्न हुआ भाव क्षायिक है।' कर्मग्रन्थ में इसका लक्षण दिया गया है- 'क्षायिक भाव वह है, जो कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर प्रकट होता है।' क्षय आत्मा की परम विशुद्धि है, जो कर्म का सम्बन्ध बिलकुल छूट जाने पर प्रकट होती है। जैसे-मैले जल में फिटकरी के डालने से उपशान्त जल को किसी साफ बर्तन में निकाल लेने पर वह बिलकुल स्वच्छ हो जाता है, उस जल की गंदगी पूर्णतया नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा से अष्ट कर्मों का अथवा भवस्थ की अपेक्षा चार घातिकर्मों की सर्वथा निवृत्ति हो जाना, आत्यन्तिक रूप से क्षय हो जाना क्षय है। कर्मों के सर्वथा क्षय से आत्मा का जो भाव (पर्याय या अवस्था) होती है, वह क्षायिक भाव कहलाता है। गोम्मटसार के अनुसार ज्ञानावरणीयादि घातिकर्मों का अथवा घाति-अघाति समस्त कर्मों का आत्मा से सदा के लिए अलग हो जाना, आत्मा की

---

१. (क) "जो सो ओवसमिओ अविवाग-पच्चइओ जीवभाव-बंधो णाम, तस्स इमो णिद्देसो-से उवसंतकोहे, उवसंतमाणे, उवसंतमाए, उवसंतलोहे, उवसंतरागे, उवसंतदोसे, उवसंतमोहे, उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्थे उवसमियं सम्मत्तं, उवसमियं चारित्तं। जे चामण्णे एवमादिया उवसमिया भावा सो सव्वो उवसमिओ अविवाग-पच्चइओ जीव-भाव-बंधो णाम॥"

-षट्खण्डागम १४/५, ६/ सू. १७/१४

(ख) 'द्वाभ्यामाभ्यां व्यतिरिक्तः कर्मपुद्गल-स्कन्धः उपशान्तः।'

-धवला १२/४, २, १०, २/३०३

स्वाभाविक शक्ति का कदापि घात न करना क्षय कहलाता है। क्षय से होने वाले भाव क्षायिक होते हैं।[१]

औपशमिक और क्षायिकभाव में अन्तर

औपशमिक और क्षायिक में बहुत अन्तर है। उपशम में मोहनीय कर्म के भागों का उपशमन होता है, क्षायिक में क्षय। उपशमभाव में मोहकर्म समूल नष्ट नहीं होता, वह दब जाता है, वापस उभर आता है, जबकि क्षय में समूल नष्ट हो जाता है। उपशम में थोड़ी देर के लिए उदय रुक जाता है, पर क्षायिक भाव में दग्ध बीज की तरह पुनः उदय में आना संभव नहीं होता। उपशम भाव में मोह उपशान्त होने पर पूर्ण समता-शमता प्राप्त होती है, क्षायिक भाव में भी। परन्तु उपशमभाव की स्थिति सादि-सान्त व बहुत थोड़ी है, क्षायिक भाव की सादि-अनन्त व बहुत अधिक है। औपशमिक में समता-शमता केवल एक क्षण को अपना मुख दिखाकर लुप्त हो जाती हैं, जबकि क्षायिक भाव में क्षय से प्राप्त वे सदा-सदा के लिए अवस्थित रहती हैं। औपशमिक भाव में उपशम केवल सम्यक्त्व और चारित्र के क्षेत्र में ही होता है, वह भी मोह का ही जबकि क्षायिक में इन दोनों के अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन नौ शक्तियों के क्षेत्र में लागू होता है। क्षायिक भाव में सदा के लिए दर्शन-मोह तथा चारित्रमोह के क्षय से पूर्ण समता और पूर्व शान्ति (शमता) प्राप्त होने के साथ-साथ ज्ञानावरणीयादि शेष तीन घातिकर्मों के क्षय से ज्ञान, दर्शन, दानादि पाँच लब्धियाँ आदि शक्तियाँ सदा के लिए पूर्ण हो जाती हैं। कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से जीव के परिणाम अत्यन्त विशुद्ध और निर्मल होकर सदाकाल के लिए वैसे ही बने रहते हैं।

---

१. (क) क्षयः आत्यन्तिकोच्छेदः। –पंचसंग्रह मलय. टीका पृ. १२९
(ख) क्षयः प्रयोजनमस्येति क्षायिकः। –स. सि. २/१/१४९
(ग) यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां स्वतः क्षयात् जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः। –पंचाध्यायी (उ.) ९६८
(घ) कम्माणं खए जादो खइओ, खयट्ठं जाओ वा खइओ भावो, इदि दुविहा सद्दउप्पत्ती घेत्तव्वा। –धवला ५/१, ७, १०/२०६
(ङ) क्षयेण युक्तः क्षायिकः। –पंचास्तिकाय (त. प्र.) ५६
(च) तस्मिन् (क्षये) भवः क्षायिकः। –गोम्मटसार (जी. प्र.) ८/२९/१४
(छ) तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी), पृ. ४८
(ज) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ९६
(झ) कर्मसिद्धान्त, पृ. ११५
(ञ) जैनदर्शन, पृ. ३०७

औपशमिक भाव में जल को ऊपर से स्वच्छ करने की भांति कर्मप्रकृति को थोड़ी देर के लिए सुला दिया जाता है, जिस प्रकार भभके में भाप बनने की प्रक्रिया से जल को शुद्ध (Refine) किया जाता है, उसी प्रकार क्षायिक भाव में बाह्याभ्यन्तर तप की भट्टी पर चढ़ाकर कर्ममल को भस्म कर दिया जाता है। औपशमिक में कर्म शान्त होकर थोड़ी देर के लिए बैठ जाता है, वर्तमान में निश्चेष्ट कर देने पर भी उसका अस्तित्व है, सत्ता में पड़ा है, जबकि क्षायिक में उसे सर्वथा नष्ट कर दिया जाता है, जिससे उसके वापस उभरने का सवाल ही नहीं होता,[१] क्योंकि इसमें प्रतिपक्षी कर्मों का सम्पूर्ण क्षय या विनाश हो जाता है, फिर मलिनता कैसे आएगी?

क्षयिकभाव की नौ विशिष्ट उपलब्धियाँ

क्षायिकभाव में ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय (विशेषतः केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय कर्म) के सर्वथा क्षय से केवलज्ञान और केवलदर्शन, पंचविध अन्तरायकर्म के सर्वथा क्षय से दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, ये पांच लब्धियाँ तथा दर्शनमोहनीय के सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्रमोहनीय के सर्वथा क्षय से क्षायिक (यथाख्यात) चारित्र, ये नौ उपलब्धियाँ आविर्भूत होती हैं। इसलिये केवलज्ञानादि नवविध पर्याय क्षायिक कहलाते हैं। इस प्रकार क्षायिक भाव के कुल ९ भेद केवल चार घतिकर्मों के क्षय से साधित ही यहाँ लिये गए हैं, क्योंकि यह निरूपण सिर्फ (जीवन्मुक्त केवलज्ञानी की) भवस्थदशा को लक्ष में रखकर किया गया है, सिद्ध परमात्मा की दृष्टि से तो उनमें घाति-अघाति समस्त कर्मों के सर्वथा क्षय से निष्पन्न क्षायिक भाव विवक्षित है । जीवन्मुक्त वीतराग केवली परमात्मा की दृष्टि से क्षायिक भाव के नौ भेद इस प्रकार हैं- (१) क्षायिक ज्ञान, (२) क्षायिक दर्शन, (३) क्षायिक दान, (४) क्षायिक लाभ, (५) क्षायिक भोग, (६) क्षायिक उपभोग, (७) क्षायिक वीर्य, (८) क्षायिक सम्यक्त्व और (९) क्षायिक चारित्र।[२]

---

१. (क) कर्मसिद्धान्त, पृ. ११६
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र (उपाध्याय श्री केवलमुनिजी), पृ. ७९
२. (क) जैनदर्शन (न्या. न्या. न्यायविजयजी), पृ. ३०७-३०८,
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र २/४
   (ग) प्रशमरति गा. १८७ विवेचन (वाचकवर्य श्री उमास्वाति जी), पृ. ९१-९२
   (घ) सम्यक्त्व चारित्रे । ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोगवीर्याणि च ।
   -तत्त्वार्थसूत्र २/३-४, गो. क. सू. ८१६

क्षायिकभावापन्न विदेहमुक्त सिद्ध परमात्मा की दृष्टि से 'षट्खण्डागम' में उन्हें निम्नोक्त विशेषणों से विभूषित किया है- 'जो क्षायिक अविपाक-प्रत्ययिक जीव भावबन्ध है, उसका निर्देश इस प्रकार है- वह क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाया, क्षीणलोभ, क्षीणराग, क्षीणदोष (द्वेष), क्षीणकषाय, वीतराग, वीतछद्मस्थ, क्षायिक-सम्यक्त्वी, क्षायिकचारित्री, क्षायिक दानलब्धिमान्, क्षायिक लाभलब्धि, क्षायिक भोगलब्धि, क्षायिक उपभोगलब्धि तथा क्षायिक वीर्यलब्धि से सम्पन्न, केवलज्ञानी, केवलदर्शनी, सिद्ध, बुद्ध, परिनिर्वृत, सर्वदुःखान्तकृत् तथा इनके अतिरिक्त इस प्रकार के जो भी क्षायिक भाव होते हैं, उनसे युक्त हैं तथा क्षायिक अविपाक-प्रत्ययिक जीवभावबन्ध युक्त हैं।[१]

क्षायिक भाव भी उपचार से कर्मजनित हैं

'पंचास्तिकाय' में एक प्रश्न उठाया गया है कि क्षायिक भाव का कर्म से क्या सम्बन्ध है? उसका समाधान किया गया है कि कर्म के बिना जीव को उदय, उपशम, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये चार भाव (चतुर्विध जीवभाव) नहीं होते, इसलिए ये कर्मकृत हैं, क्षायिक भाव तो केवलज्ञानादि रूप है, यद्यपि वह वस्तुवृत्या शुद्ध-बुद्ध, एकमात्र जीव का स्वभाव है, तथापि कर्म के क्षय से उत्पन्न होने के कारण क्षायिक भाव को भी उपचार से कर्मजनित कहा जाता है।[२]

केवलज्ञानी का औदयिक भाव बन्ध का कारण नहीं है

'धवला' में एक प्रश्न और उठाया गया है तीर्थंकर केवली तथा सामान्य केवली वीतराग तथा भवस्थ अरिहन्त में क्षायिक भाव होते हुए भी अभी भवोपग्राही चार अघातिकर्म शेष होने के कारण औदयिक भाव भी है, और औदयिक भाव को बन्ध

---

१. जो सो खइओ अविवाग-पच्चइओ जीव-भाव-बंधोणाम, तस्स इमो णिद्देसो-से खीणकोहे खीणमाणे खीणमाये खीणलोहे खीणरागे खीणदोसे खीणमोहे खीणकसाय-वीयराय वीयछद्मत्थे खइयसम्मत्तं, खाइयचारित्तं खइया दाणलद्धी, खइया लाहलद्धी, खइया भोगलद्धी, खइया परिभोगलद्धी, खइया वीरियलद्धी केवलणाणं केवलदंसणं सिद्धे बुद्धे परिणिव्वुदे सव्वदुक्खाणमंतयडेत्ति जे चामण्णे एवमादिया खइया भावा सो सव्वो खइयो अविवाग-पच्चइओ जीवभावबंधोणाम॥ १८॥
-षट्खण्डागम १४३/५-६/१८/१५

२. (क) कम्मेण विणाउदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं।
वा खइयं, खओवसमियं, तम्हाभावं तु कम्मकदं। -पंचास्तिकाय ५८
(ख) क्षायिकभावस्तु केवलज्ञानादिरूपो यद्यपि वस्तुवृत्त्या शुद्ध-बुद्धैकस्वभावस्तथापि कर्म-क्षयेणोत्पन्नत्वादुपचारेण कर्मजनित एव। -वही, ता. वृ. ५६/१०६/१०

का कारण बताया गया है, जबकि क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावों को मोक्ष के कारण प्ररूपित किये गए थे। अतः क्या तीर्थंकर या सामान्य केवली का औदयिक भाव बन्ध का कारण नहीं है? इसका समाधान किया गया है कि 'औदयिक भाव बन्ध का कारण है,' ऐसा कथन होने पर भी सभी औदयिक भाव बन्ध के कारण नहीं हैं, जो औदयिक भाव मोहादि घातिकर्मों से रहित है, वह बन्ध का कारण नहीं है। अन्यथा, तीर्थंकर केवली आदि के भी गति, जाति, शरीर आदि नामकर्म सम्बन्धी औदयिक भाव भी बन्ध के कारण बन जाएँगे, जबकि उनके बन्धकरण मोहादि न होने से वे बन्ध के कारण नहीं हैं।[१]

अर्हन्त भगवान् की क्रियाएँ औदयिक होते हुए भी क्षायिक हैं

'प्रवचनसार' में दूसरा प्रश्न यह है कि अर्हन्त भगवान् अत्यन्त पुण्यफल वाले हैं, उनकी क्रियाएँ तो औदयिकी ही हैं (योग द्वारा होने से) तथा उनकी विहार, उपदेश आदि सब क्रियाएँ पुण्य के उदय से निष्पन्न होने के कारण औदयिकी ही हैं, अतः क्या वे बन्ध करने वाली नहीं हैं? इसका समाधान यह है कि ऐसा होने पर भी वह औदयिकी क्रिया सदैव मोहराजा की समस्त सेना के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होती है, इसलिए मोह-राग-द्वेषरूपी उपरंजकों (कर्मबन्धकों) का सर्वथा अभाव होने से चैतन्य (उनकी आत्मा) के लिए विकृति (बन्ध) का कारण नहीं। इसलिए उन क्रियाओं को कार्यभूत बन्ध की अकारणभूतता के कारण, किन्तु कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता के कारण उन्हें क्षायिकी ही क्यों न मानी जाएँ? वास्तव में, मोहजनित भाव ही औदयिक हैं, और वे बन्ध के कारण हैं, मोहरहित भाव औदयिक होते हुए भी वे बन्ध के कारणभूत न होने से एक प्रकार से क्षायिक ही समझने चाहिए।[२]

क्षायोपशमिक भाव : स्वरूप, कार्य और फल

कर्मों के क्षयोपशम से प्रगट होने वाले भाव को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। क्षायोपशमिक भाव को मिश्रभाव भी कहते हैं; क्योंकि यह भाव कर्मों के आंशिक

---

१. "..... ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा, एदीए सुत्तगाहाए ..... ओदइया बंधयरा त्ति वुत्ते, ण सव्वेसिमोदइयाणं भावाणं गहणं, गदि-जादि-आदीणं पि ओदइयभावाणं बंध-कारण-प्पसंगादो।"

–धवला २/१, ७/९/९

२. (क) पुण्णफला अरहंता, तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिगा।
मोहादीहिं विरहिदा, तम्हा सा खाइग त्ति मदा॥

(ख) प्रवचनसार, मूल ४५, त. प्र. टीका।

रूप (एकदेश) से क्षय तथा आंशिकरूप (एकदेश) से उपशम से उत्पन्न होता है। 'धवला' में कहा गया है- कर्मों के क्षय से और उपशम से उत्पन्न हुआ गुण क्षायोपशमिक भाव कहलाता है। इस भाव में न तो कर्मों का सर्वथा क्षय होता है, और न सर्वथा उपशम। 'राजवार्तिक' में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि जैसे कोदों को धोने से कुछ कोदों की मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की अक्षीण, उसी तरह परिणामों की निर्मलता से कर्मों के एकदेश का क्षय और एकदेश का उपशम होना ही मिश्रभाव (क्षयोपशमभाव) है। इस क्षयोपशम के लिए (आत्मा के) जो भाव (पर्याय) होते हैं, उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। वस्तुतः क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय होते रहने पर प्रगट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित होती है, जैसे- कोदों को धोने से उनकी मादक शक्ति कुछ अंशों में क्षीण हो जाती है और कुछ अंशों में रह जाती है। पंचसंग्रह में इस भाव का स्पष्ट स्वरूप बताया गया है कि उदयावलिका में प्रविष्ट कर्मांश के क्षय और उदयावलिका में अप्रविष्ट अंश के विपाकोदय को रोकने रूप उपशम के द्वारा होने वाले जीव-स्वभाव को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। प्रशमरति में भी इसी आशय का स्वरूप बताते हुए कहा गया है- 'उदय में आए हुए कर्म के क्षय और अनुदित कर्म के उपशम से प्रकट हुए जीव के भाव को क्षायोपशमिक कहते हैं। क्षायोपशमिक में क्षयोपशम घातिकर्मों का ही होता है। इसलिए न्यायविजयजी ने सरल लक्षण बताया है- घातिकर्मों के क्षयोपशम (एक प्रकार के शिथिलीभाव) से प्राप्त होने वाली (आत्मा की) अवस्था (पर्याय) क्षायोपशमिक भाव कहलाती है।

क्षायोपशमिक भाव का रहस्यार्थ और कार्य

सर्वार्थसिद्धि में क्षायोपशमिक भाव का रहस्य बताते हुए कहा गया है- वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी (भविष्य में उदय होने रूप) क्षय होने से और आगामीकाल की अपेक्षा उन्हीं का सदवस्थारूप (सत्ता में रहने रूप) उपशम होने से तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है। आशय यह है कि कर्म के उदयावलि-प्रविष्ट मन्दरस-स्पर्द्धक का क्षय और अनुदयमान रस-स्पर्द्धक की सर्वघातिनी विपाकशक्ति का निरोध अथवा देशघातिरूप में परिणमन तथा तीव्रशक्ति का मन्दशक्ति के रूप में परिणमन (उपशमन) क्षयोपशम भाव है। इसी तथ्य का फलितार्थ पंचास्तिकाय (त. वृ.) में बताया गया है कि फलदान समर्थरूप से कर्मों का उद्भव और अनुद्भव क्षयोपशम है।

यद्यपि यहाँ कुछ कर्मों का उदय भी विद्यमान रहता है, किन्तु उनकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाने के कारण एवं कर्मों का उदय रहते हुए भी जो जीव-गुण का

खण्ड (अंग) (प्रबलरूप से) उपलब्ध रहता है, इस कारण वह जीवगुण को घातने में समर्थ नहीं होता, इस अपेक्षा से इसे औदयिक भाव न कहकर क्षयोपशम भाव माना गया है। इसकी प्रक्रिया का निरूपण करते हुए 'धवला' में कहा गया है- सर्वघाति-स्पर्द्धक जब अनन्तगुणे हीन होकर तथा देशघातिस्पर्द्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं, तब उन सर्वघातिस्पर्द्धकों का अनन्तगुणहीनत्व ही 'क्षय' कहलाता है और उनका देशघातिस्पर्द्धकों के रूप में अवस्थान होना उपशम है। उन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय का नाम क्षयोपशम भाव (क्षायोपशमिक पर्याय) है।[१]

चार घातिकर्मों के क्षयोपशम से निष्पन्न क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद

चूँकि घातिकर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली अवस्था क्षायोपशमिक भाव होती है, इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म के प्रारम्भ के चार भेदों के क्षयोपशम से

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र २/४,
(ख) तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः। -धवला १/१, १, ८/१६१
(ग) यथा प्रक्षालन-विशेषात् क्षीणाक्षीण मदशक्तिकस्य कोद्रवस्य द्विधा वृत्तिः, तथा यथोक्तक्षयहेतुसन्निधारे सति कर्मण एकदेशस्य क्षयादेकदेशस्य च वीर्योपमादुत्मनो भाव उभयात्मकौ मिश्र इति व्यपदिश्यते।
-राजवार्तिक २/५/१५७/३
(घ) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन २/४ (पं. सुखलालजी), पृ. ४८
(ङ) उदयावलिका-प्रविष्टस्यांशस्य क्षयेण, अनुदयावलिका-प्रविष्टस्योपशमेन विपाकोदय-निरोधलक्षणेन निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः।
-पंचसंग्रह मलयगिरि टीका, पृ. २९
(च) प्रशमरति, श्लोक १९६ टीका, पृ. ९१
(छ) जैन दर्शन, पृ. ३०८
(ज) सर्वघाति-स्पर्द्धकानामुदय क्षयात्तेषामेव सदुपशमादेशघाति-स्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति। -सर्वार्थसिद्धि २/५/१३७/३
(झ) कर्मग्रन्थ (मरुधरकेसरी) भा. ४, विवेचन, पृ. ३२४
(ञ) कर्मणां फलदान-समर्थतया ..... उद्भूत्यनुद्भूती क्षयोपशमः।
-पंचास्तिकाय त. प्र., ५६
(ट) कम्मोदए संते वि जं जीवगुणक्खंडमुवलंभदि सो खओवसमिओभावो णाम।
-धवला ५/१, ७, १/१८५
(ठ) सव्वघादि-फद्दयाणि अणंतगुणहीणाणि होदूण देसघादि-फद्दयत्तेण परिणमिय उदयमागच्छंति तेसिमणंत गुणहीणत्तं खओ णाम। देसघादि-फद्दम-सरूवेणवट्ठाणमुवसमो। तेहिं खओवसमेहिं संजुत्तोदओ खओवसमो णाम।
-धवला ७/२, १, ४९/९२

सम्पादित मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान, ये ७ भेद, दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से साधित चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, ये तीन भेद, मोहनीय कर्म के एकभेद-दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व और दूसरे चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से प्राप्त देशविरतिरूप और सर्वविरतिरूप चारित्र। इस प्रकार मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से साधित तीन भेद, तथा अन्तरायकर्म के क्षयोपशम से उपलभ्य दानादि पांच लब्धियाँ यों कुल मिलाकर ७+३+३+५=१८ भेद क्षायोपशमिक भाव के बताये गए हैं।[१]

ये अठारह भेद क्षायोपशमिक क्यों ?

ये १८ भेद क्षायोपशमिक क्यों हैं? इसका समाधान करते हुए धवला में कहा गया है–सम्यक्त्व-(मोहनीय) प्रकृति के देशघाती[२] स्पर्द्धकों के उदय के साथ रहने वाला सम्यक्त्व-परिणाम क्षायोपशमिक कहलाता है। इसी प्रकार (पूर्ण) ज्ञान (शक्ति) के विनाश का नाम क्षय है, उस क्षय का उपशम हुआ एकदेशक्षय; इस प्रकार ज्ञान के एकदेश-क्षय की अपेक्षा मतिज्ञानादि सात की क्षयोपशम संज्ञा मानी जाती है। अपने-अपने कर्मों के सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदय से उत्पन्न होने के कारण मति आदि (७) ज्ञान-अज्ञान तथा चक्षु आदि (३) दर्शन क्षायोपशमिक हैं। संज्वलन कषाय व नोकषाय के क्षयोपशम संज्ञा वाले देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से होने वाले कारण **संयतासंयत** गुणस्थान क्षायोपशमिक है तथा नोकषाय के सर्वघाती स्पर्द्धकों की शक्ति का अनन्तगुण क्षीण हो जाना ही उनका क्षय, साथ ही उन्हीं के देशघाती स्पर्द्धकों का सदवस्थारूप उपशम, इन दोनों से युक्त उसी के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से होने के कारण **प्रमत्त व अप्रमत्त संयत गुणस्थान** क्षायोपशमिक हैं अथवा पांचवें, छठें और सातवें गुणस्थान की क्षायोपशमिकता इस प्रकार समझनी चाहिए–अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरणीय के उदयाभावी क्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से और प्रत्याख्यानावरणीय, संज्वलन कषाय और नोकषाय रूप देशघाति कर्मों के उदय से होने के कारण संयतासंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है, इसी प्रकार प्रत्याख्यानावरणीय के सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से तथा संज्वलनरूप देशघाती के उदय से होने के कारण **प्रमत्त**

---

१. जैनदर्शन (न्यायविजयजी), पृ. ३०८

२. कर्मस्कन्ध में उसके अनुभाग में जीव के कषाय व योग में तथा इसी प्रकार स्पर्द्धक संज्ञा का ग्रहण किया जाता है। किसी भी द्रव्य के प्रदेशों में अथवा उसकी शक्ति के अंशों में जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त जो क्रमिक वृद्धि या हानि होती है उसी से स्पर्द्धक उत्पन्न होते हैं। –जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा. ४, पृ. ४७३

व अप्रमत्त गुणस्थान क्षायोपशमिक हैं। इसी प्रकार मिश्र गुणस्थान तथा वेदक सम्यक्त्व को भी क्षायोपशमिक में गिना गया है।[१]

क्षायोपशमिक भाव के तीन कार्य : कौन-कौन से?

जैसे–नींद से खुली हुई आँख को एक बार मूंदने के बाद दो स्थितियाँ होती हैं–(१) पुनः नींद न आने रूप तथा (२) कुछ देर तक आँखें चुंधियाने रूप; इसी प्रकार कर्म का उपशम हो जाने पर उसकी भी दो अवस्थाएँ हो जाती हैं–एक तो पूर्ण उदय में आने रूप तथा दूसरी आंशिक उदय और आंशिक उपशम रूप। इनमें से दूसरी अवस्था में कुछ मन्द-सा आलोक प्रतीति में आता रहता है। ऐसे आंशिक उदय को ही क्षयोपशम कहा जाता है और क्षयोपशम जिसका प्रयोजन-कारण है, उसे क्षायोपशमिक कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकार के आंशिक उदय को हम तीन रूपों में सांसारिक जीवों में देखते हैं–एक तो अपूर्णता के रूप में, दूसरे अविशदता=अस्पष्टता (धुंधलेपन) के रूप में और तीसरे हानि-वृद्धिगत तारतम्यों के रूप में। उदाहरणार्थ–पहले हम अपने वर्तमान ज्ञान को देखें–**प्रथम** तो वह अपूर्ण है, क्योंकि हम सब कुछ नहीं जान पाते। **दूसरे** वह ज्ञान अविशद-अस्पष्ट या संदिग्ध है; क्योंकि जिन विषयों को हम जानते हैं, उनमें भी कहीं न कहीं कुछ न कुछ संदिग्धता बनी रहती है। अन्यथा, हेतु युक्ति या तर्क आदि के द्वारा अथवा दूसरे से पूछ कर उसे पुष्ट करने की आवश्यकता हमें न होती। **तीसरी बात**–इसमें हानि-वृद्धिगत तरतमता भी प्रत्यक्ष है। हम देखते हैं कि किसी का ज्ञान कम है और किसी का अधिक। जिसका ज्ञान आज कम है, कल को वह अधिक हो जाता है और जिसका ज्ञान आज अधिक है, कल को वह कम हो जाता है। ये तीनों बातें क्षायोपशमिक भाव में स्वाभाविक हैं।

आज सांसारिक मानवों की ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ आदि शक्तियों की जो समग्र अभिव्यक्तियाँ अनुभव में आ रही हैं, वे सबकी सब क्षायोपशमिक हैं। कर्मविज्ञान की भाषा में कहें तो इन समस्त शक्तियों को तिरोहित, आच्छादित या कुण्ठित करने वाली ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तरायकर्म-प्रकृतियों का क्षयोपशम ही वर्तमान में सांसारिक जनों को उपलब्ध है। उपशम इसका सम्भव नहीं और क्षय वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

---

१. (क) सम्मत्तस्स देसघादि-फद्दयाणमुदएण सद्द वड्ढमाणो सम्मत्त-परिणामो खओवसमिओ। –धवला ५/१, ७/२००

(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा.२ में क्षायोपशमिक भाव के सन्दर्भ में उद्धृत पृ. १८२-१८३

इसी प्रकार जिनका उपशम सम्भव है, उन सम्यक्त्व तथा चारित्र नामक शक्तियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। दर्शन-मोहनीय के क्षयोपशम से जो समता व्यक्त होती है एवं चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से जो शमता प्राप्त होती है, उन दोनों में भी क्षयोपशम के आंशिक उदय के पूर्वोक्त तीनों रूप दृष्टिगोचर होने स्वाभाविक हैं। आशय यह है कि इन दोनों कर्मप्रकृतियों के क्षयोपशम से प्राप्त समता और शमता उपशम की भांति पूर्ण न होकर अपूर्ण होती है; उसकी तरह विशद और निश्चल न होकर कम्पित, संदिग्ध एवं अस्थिर होती हैं। कभी ये दोनों थोड़ी बढ़ जाती हैं, कभी घट भी जाती हैं। किसी साधक में अधिक होती हैं, किसी में कम। जिनमें आज अधिक हैं, कल उनमें कम हो जाती हैं और जिनमें आज कम हैं, उनमें कल अधिक हो जाती हैं। यह हुआ क्षायोपशमिक भाव का आध्यात्मिक स्वरूप।

इसका सैद्धान्तिक स्वरूप इस प्रकार है-क्षयोपशम में क्षय और उपशम दोनों सम्मिलित हैं। अत: क्षायोपशमिक कर्मप्रकृति को न क्षीण कहा जा सकता है और न ही उदित। वैसे चुंधियाने वाली आँख में मूंदने की शक्ति निद्रावस्था की अपेक्षा काफी क्षीण हो चुकी होती है, उसी प्रकार उपशम के पश्चात् आंशिक उदय वाली इस अवस्था में कर्म की शक्ति पूर्वापेक्षया काफी क्षीण होकर उदय में आती है। वर्तमान निषेक की शक्ति का क्षीण होकर उदय में आना ही उस निषेक का क्षय समझना चाहिए, उदय नहीं। क्योंकि जीव के गुण को पूर्णतया आच्छादित या विकृत करने में समर्थ नहीं है। अर्थात्-कर्मप्रकृति के क्षयोपशम की अवस्था में जीव कर्म के प्रभाव का अनुभव भी करता जाता है, साथ ही अपनी अपूर्ण ज्ञान, दर्शन, समता तथा शमता आदि शक्तियों का न्यूनाधिक स्वाद भी लेता रहता है।

उपशम की भांति क्षयोपशम में भी व्यक्ति नीचे गिर जाता है, यानी पुन: कर्म-प्रकृति के प्रभाव में आकर अपने पूर्वोक्त शक्तियों के रसों से वंचित हो जाता है। मगर यहाँ उसका अवस्थान उपशम की तरह क्षणमात्र न होकर प्राय: अधिक काल के लिए होता है। दूसरा अन्तर यह है कि उपशम से गिरकर पुन: उपशम नहीं होता; जबकि क्षयोपशम से गिरकर पुन: क्षयोपशम हो जाता है। क्षायोपशमिक क्षेत्र में बहुत लम्बे अर्से तक गिरना-चढ़ना चलता रहता है।[१]

ये और ऐसे क्षयोपशमजनित भाव क्षायोपशमिक हैं

'षट्खण्डागम' में क्षायोपशमिकभाव-युक्त जीवों का निर्देश विशदरूप से करते हुए कहा गया है-जो तदुभय-प्रत्ययिक (क्षायोपशमिक) जीवभाव-बन्ध हैं, उनका

---

१. कर्मसिद्धान्त, पृ. ११३ से ११५

निर्देश इस प्रकार है–एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रिय-लब्धि क्षायोपशमिक, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी सम्यग्मिथ्यात्वलब्धि, सम्यक्त्वलब्धि, संयमासंयमलब्धि, संयमलब्धि, दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य-लब्धि, आचारधर, सूत्रकृतधर, स्थानधर, समवायधर, व्याख्या-प्रज्ञप्ति-धर तथा नायाधर्मधर, उपासकाध्ययनधर, अन्तकृद्धर, अनुत्तरौपपातिकधर, प्रश्नव्याकरणधर, विपाकसूत्रधर, दृष्टिवादधर, गणी, वाचक, दशपूर्वधर तथा क्षायोपशमिक चतुर्दश-पूर्वधर; ये तथा इसी प्रकार के और भी जो क्षायोपशमिक भाव हैं, वे सब तदुभय-प्रत्ययिक जीव-भावबन्ध है।

आगे धवला में कहा गया है कि जीव के समग्र अवयवों (प्रदेशों) में क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की गई है।[1]

चार घातिकर्मों में से किस कर्म में किन-किन भावों का प्रादुर्भाव ?

निष्कर्ष यह है कि सम्यक्त्व और चारित्र तीन प्रकार का है–औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक; क्योंकि मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम तीनों होते हैं। अतः इन तीनों से साध्य सम्यक्त्व और चारित्र भी तीन प्रकार के हैं। अन्तराय कर्म के क्षय और क्षयोपशम दो ही होते हैं। अतः दानादि पांच लब्धियाँ क्षायोपशमिक और क्षायिक इन दो ही भावों में आती हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम और क्षय, ये दो ही होते हैं, इसलिए ये सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन क्षायोशमिक और क्षायिक इन दो ही भावों में आते हैं तथा असम्यग्ज्ञान (मतिरूप, श्रुतरूप और विभंगरूप अज्ञान) केवल क्षायोपशमिक भाव में ही आते हैं।[2]

औदयिक भाव : स्वरूप, कार्य और फल

रागद्वेषादि परिणामों से युक्त होकर मन, वचन और काय द्वारा विभिन्न-प्रवृत्तियों या क्रियाओं के करने से आत्म-प्रदेशों में शुभ-अशुभ कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है, तत्पश्चात् वे बद्ध कर्म तत्काल फल न देकर सत्ता (सत्त्व-अवस्था) में पड़े

---

१. जो सो तदुभय-पच्चइयो जीवभावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो–खओवसमियं एइंदियलद्धि त्ति वा खओवसमियं बेइंदियलद्धि त्ति वा ..... खओवसमियं चोद्दसपुव्वधरं त्ति वा जे चामण्णे एवमादिया खओवसमियभावा सो सव्वो तदुभय-पच्चइओ जीव-भाव-बंधोणाम। –षट्खण्डागम १४/५, ६/१९/१८

२. जैनदर्शन (न्यायविजयी), पृ. ३०९

रहते हैं। जब वे सत्ता में संचित कर्म पक कर द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से जीव को स्वकर्मानुसार फल देने लगते हैं, तब वह अवस्था उन कर्मों की उदय-अवस्था कहलाती है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म जो फल जीव को वेदन (अनुभव) कराता है, वह उदय कहलाता है। अर्थात्-कर्मों की शुभाशुभ प्रकृतियों के विपाक (फल) का अनुभव (वेदन) करना (भोगना) उदय है। कर्मों के उदय से प्राप्त हुए या प्राप्त होने वाले भाव को अथवा प्राप्त होने वाली जीव की स्थिति या अवस्था (पर्याय) को औदयिक भाव कहते हैं। कर्मों के उदय में आने पर आत्मा की स्वाभाविक शक्ति आवृत या कुण्ठित हो जाती है और उसके परिणाम कर्म की प्रकृति के अनुरूप हो जाते हैं। इसलिए कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए गुण को औदयिक भाव कहते हैं।[१]

सामान्यरूप से औदयिक भाव के अनन्त और मुख्य रूप से इक्कीस प्रकार

समस्त संसारी जीवों की कर्मों के उदय से जो-जो अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं या वे जो जो (शरीर, इन्द्रिय, सुख-दुःख आदि की) अवस्थाएँ या पर्यायें प्राप्त करते हैं, वे सब अवस्थाएँ औदयिक भाव में परिगणित होती हैं। इस दृष्टि से सांसारिक जीवों का औदयिक भाव अनन्त अवस्थाओं की अपेक्षा से अनन्त प्रकार का हो सकता है। परन्तु यहाँ तो प्रमुख भावों (पर्यायों या अवस्थाओं) का निर्देश करके औदयिक भाव के इक्कीस मुख्य प्रकार बताए हैं-(१) अज्ञान, (२) असिद्धत्व, (३) असंयम, (४-९) छह लेश्या (कृष्ण, नील, कापोत, (तेजो) पीत, पद्म और शुक्ल), (१०-१३) चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ), (१४-१७) चार गति (नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देव-गति), (१८ से २०) तीन वेद (स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद=काम) और (२१) मिथ्यात्व।[२]

---

१. (क) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से भावांशग्रहण, पृ. १२६.
(ख) द्रव्यादि निमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः। -सर्वार्थसिद्धि २/१
(ग) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन २/१ (उपाध्याय केवलमुनि) पृ. ७९
(घ) कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः। -धवला १/१, १/८
(ङ) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ३२४
(च) उदयः शुभाशुभ-प्रकृतीनां विपाकतोऽनुभवनं स एव, तेन वानिर्वृत्तः औदयिकः।
-कर्मग्रन्थ ४ स्वोपज्ञ वृत्ति पृ. १९०

२. (क) जैनदर्शन (न्यायविजयजी)
(ख) गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतु स्त्र्यैकैकैकैकषड्भेदा। -तत्त्वार्थसूत्र २/७

जीव की ये सभी औदयिक अवस्थाएँ कर्मोदय-जनित होती हैं, इसलिए देखना है कि कौन-सी अवस्था (पर्याय) किस-किस कर्म के उदय से होती है?

अज्ञानादि पर्याय: किन-किन कर्मों के उदय से?

अज्ञान (मिथ्यादर्शन) मिथ्यात्व के उदय से होता है। बुद्धिमान्द्यरूप अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होता है। असिद्धत्व आठों प्रकार के कर्मों के उदय से होता है। असंयम अर्थात्-अविरति अप्रत्याख्यानावरणीय कर्म के उदय से होती है। लेश्या मनोयोग का परिणाम है और मनःपर्याप्ति नामकर्म का एक भेद है। अतः लेश्या का सम्बन्ध नामकर्म के साथ है। कषाय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। गति गतिनामकर्म के कारण होती है। पुरुषादि वेद वेद-मोहनीय के उदय का परिणाम है। मिथ्यात्व मिथ्यात्व-मोहनीय के उदय का प्रभाव है।[१]

इन सबको भी औदयिक भाव में समझने चाहिए

इस तालिका के अतिरिक्त दर्शनावरण-जन्य निद्रा-पंचक, वेदनीयकर्म से उत्पन्न सुख-दुःख, मोहनीयजन्य हास्यादि छह, आयुष्यकर्म के चार आयुष्य, नामकर्म की प्रकृति-परम्परा, गोत्रकर्मोदय-जन्य, उच्च-नीचगोत्र, ये सब औदयिक भाव में समझने चाहिए; क्योंकि किसी भी कर्म के उदय का परिणाम औदयिक भाव में आता है।

औदयिक भाव का कार्य और फल

वस्तुतः औदयिक भाव किसी भी कर्म के उदय से ही निष्पन्न होता है। उदय एक प्रकार का आत्मिक मालिन्य (कालुष्य) है, जो कर्म के विपाकानुभव से होता है। जैसे-मैल के मिल जाने पर जल मलिन हो जाता है। औदयिक भाव जीव का पराभव करते हैं, इसलिए ये बंध के कारण हैं।[२]

गति नामकर्म के उदय का फल नरकादि चार गतियाँ हैं, कषाय-मोहनीय के उदय से क्रोधादि चार कषाय उत्पन्न होते हैं। वेदमोहनीय के उदय से स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद होता है। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मिथ्यादर्शन (तत्त्व का अश्रद्धान) होता है। अज्ञान (ज्ञानाभाव) ज्ञानावरणीय कर्म के उदय का फल है। असंयतत्व (विरति का सर्वथा अभाव) अनन्तानुबन्धी आदि १२ प्रकार के चारित्रमोहनीय के उदय का परिणाम है। कृष्ण, नील, कापोत आदि छह लेश्याएँ (कषायोदयरंजित योग

---

१. जैनदर्शन, पृ. ३१०

२. (क) वही, पृ. ३११
(ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन २/७ (पं. सुखलालजी), पृ. ४८

परिणाम) कषाय के उदय अथवा योगजनक शरीर नामकर्म के उदय का परिणाम है। इस प्रकार ये गति आदि इक्कीस पर्याय औदयिक हैं।[१]

मोहजनित भाव ही औदयिक भाव है, शेष औपचारिक

औदयिक भाव की वास्तविक जांच परख के लिए पिछले पृष्ठों में कहा गया था कि जहाँ मोहजनित भाव है, वहीं औदयिक है, उसके बिना या तो क्षायिक है या औपशमिक हैं। पंचाध्यायी (उ.) में इसी अपेक्षा से कहा गया है कि इसी न्याय से मोहादिक घातीकर्मों के तथा अघाती कर्मों के (मोहजनित) उदय से आत्मा में जितने भी भाव होते हैं, उतने सब औदयिक भाव हैं। परन्तु इन भावों में भी यह भेद है कि केवल मोहजन्य वैकृतिक भाव ही सच्चा विकारयुक्त औदयिकभाव है, बाकी के सब लोकरूढ़ि से विकारयुक्त औदयिक भाव हैं, ऐसा समझना चाहिए। 'धवला' में भी इस सम्बन्ध में यही स्वर है कि मोहजनित औदयिक भाव ही बन्ध के कारण हैं,[२] अन्य नहीं।

पारिणामिक भाव : स्वरूप, कार्य, प्रकार और फल

परिणाम कहते हैं–स्व-भाव को। परिणाम जिसका प्रयोजन है, वह पारिणामिक है। अर्थात्–जिसके होने में द्रव्य का स्व-रूप-लाभ मात्र कारण है, वह परिणाम है। इसका परिष्कृत लक्षण राजवार्तिक में किया गया है–कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखने वाले द्रव्य की स्वभावभूत अनादि पारिणामिक शक्ति से ही आविर्भूत ये भाव पारिणामिक हैं। अर्थात्–जो क्षायिकादि चारों भावों से व्यतिरिक्त जीव अजीवगत भाव है, वह पारिणामिक भाव है। कर्मग्रन्थ के अनुसार–जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन न होकर स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है। आशय यह है कि परिणमित होना, यानी अपने मूल स्वरूप का त्याग न करके अन्य स्वरूप को प्राप्त होना परिणाम कहलाता है, परिणाम को ही पारिणामिक कहते हैं। वस्तुतः किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप-परिणमन ही पारिणामिक भाव है।

इसका तात्पर्य यह है कि जीव का अपने प्रदेशों से सम्बद्ध होकर अपने स्वरूप को छोड़े बिना दूध और पानी की तरह मिश्रित–एकाकार हो जाना अथवा तत्-तत् प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल और अध्यवसाय की अपेक्षा से उस-उस प्रकार के

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (उपाध्याय केवलमुनिजी)

२. (क) धवला ७/२, १, ७/९/९,
(ख) पंचाध्यायी (उ.) १०२४, १०२५.

संक्रमादि रूप में जो परिणमन हो, वह पारिणामिक भाव है। आत्मा का पारिणामिकभाव ही वह भाव है, जो आत्मा को जड़ (अजीव) द्रव्यों से पृथक् करता है। यह आत्मा का त्रिकाली स्वाभाविक चेतन-परिणाम है, जो इन सबमें अनुस्यूत रहते हुए भी उदय आदि से सर्वथा अस्पृष्ट है। औपशमिकादि चारों भाव कर्मों के उपशमादि से होते हैं, किन्तु पारिणामिक भाव कर्मजन्य नहीं है। इस भाव की विशेषता यह है कि यह अनादि, अनन्त, निरुपाधि, स्वाभाविक और ज्ञायिक है। जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, ये तीन भाव आत्मा के असाधारण पारिणामिक भाव हैं, क्योंकि ये भाव किसी अन्य द्रव्य में नहीं होते।[१]

साधारण-असाधारण पारिणामिक भाव-निर्देश

प्रश्न यह है कि अस्तित्व, नित्यत्व और प्रदेशत्व आदि भी तो पारिणामिक भाव हैं। फिर उनका तत्त्वार्थसूत्र में ग्रहण क्यों नहीं किया गया ? इसका समाधान है-कि

१. (क) परिणामः स्वभावः प्रयोजनमस्येति पारिणामिक इत्यन्वर्थसंज्ञा। तदभावादनादि-द्रव्य-भवन-सम्बन्ध-परिणाम-निमित्तत्वात् पारिणामिका इति।
-राजवार्तिक २/७/२/११०/२२ तथा २/७/१६/११३/१७

(ख द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः। पारिणामिकत्वम्-कर्मोदयोपशम-क्षय-क्षयोपशमानपेक्षित्वात्। -सर्वार्थसिद्धि २/१/१४९/९ तथा २/७/१६१/२

(ग) पंचसंग्रह भा. ३, विवेचन, पृ. ९२

(घ) जो चउहिं भावेहिं पुव्वुत्तेहिं वदिरित्तो जीवाजीवगओ सो पारिणामिओ णाम।
-धवला ५/१, ७, १/१८५/३

(ङ) कम्मज भावातीदं जाणग भावं विसेस आहारं तं परिणामो जीवो अचेयणं भवदि इदराणं। -नयचक्र वृत्ति ३७४

(च) कर्मग्रन्थ भा. ४ (मरुधरकेसरी), पृ. ३२५

(छ) कृत्स्न कर्म-निरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात् आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात् पारिणामिकः। -पंचाध्यायी (उ.) ९७१

(ज) जैनदर्शन में आत्मविचार, पृ. १२६.

(झ) कर्मसिद्धान्त, पृ. ११७

(ञ) जैन दर्शन पृ. ३११

(ट) जीव-भव्याभव्यादीनि च। -तत्त्वार्थसूत्र २/७

(ठ) जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमिति त्रयोभावाः पारिणामिका अन्यद्रव्यासाधारणा आत्मनो वेदितव्याः। ननु अस्तित्व-नित्यत्व-प्रदेशत्वादयोऽपि भावाः पारिणामिकाः सन्ति ..... अस्तित्वादयः पुनर्जीवाजीव-विषयत्वात् साधारणा इति च शब्देन पृथग्गृह्यन्ते। -राजवार्तिक २/७, १/११०/१९

(ड) पारिणामिकस्त्वनादि-निधनो निरुपाधिः स्वाभाविक एव।
-पंचास्तिकाय (त. प्र.) ५८

ये अस्तित्व आदि तो जीव और अजीव दोनों में साधारण हैं। इसलिए 'च' शब्द के द्वारा उनका पृथक् ग्रहण किया गया है। यहाँ जीव का स्वरूप कथन ही अभीष्ट होने से उसके असाधारण भावों द्वारा ही बतलाया गया है।

राजवार्तिक में सूत्रोक्त 'च' शब्द से अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्व, असर्वगतत्व और अनादि-सन्तति-बन्धन-बद्धत्व आदि का भी ग्रहण करने का निर्देश किया है।

आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध पारिणामिक भाव

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, ये तीन आत्मा के असाधारण पारिणामिक भाव हैं, क्योंकि ये भाव आत्मा (जीव) के सिवाय अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं होते। उपर्युक्त तीनों भावों को दो प्रकार के पारिणामिक भावों में विभक्त किया गया है-शुद्ध पारिणामिक भाव और अशुद्ध पारिणामिक भाव।[१]

शुद्ध पारिणामिक भाव-शुद्ध द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय की अपेक्षा से शुद्ध पारिणामिक भाव एकमात्र जीवत्व ही है; क्योंकि यह शुद्ध आत्मद्रव्य का चैतन्य रूप परिणाम है। सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि यह शुद्ध आत्मा का परिणाम (परिणमन-पर्याय-परिवर्तन) है। समयसार में भी जीवत्व का यही स्वरूप प्ररूपित किया है कि आत्मद्रव्य के हेतुभूत चैतन्य मात्र के भाव धारणरूपा शक्ति जीवत्व शक्ति है। द्रव्यसंग्रह में कहा गया है-शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व अविनश्वर रूप से शुद्ध द्रव्याश्रित होने से शुद्ध द्रव्यार्थिक संज्ञक शुद्ध पारिणामिक भाव कहलाता है। शुद्ध पारिणामिक भाव अविनाशी है, यह मुक्तात्मा में पाया जाता है।[२]

अशुद्ध पारिणामिक भाव-अशुद्ध पारिणामिक भाव पर्यायजन्य (परिणमन-आश्रित) होने से विनाशशील होता है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशुद्ध

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र २/७ विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. ५०
   (ख) सर्वार्थसिद्धि २/७
   (ग) नियमसार (ता. वृ.) ४१
   (घ) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन), पृ. १२७

२. (क) चैतन्यं जीवशब्देनाभिधीयते तच्चानादिद्रव्य-भवन-निमित्तत्वात् पारिणामिकत्वम्।
   -तत्त्वार्थवार्तिक २/७/६
   (ख) आत्मद्रव्य-हेतुभूत-चैतन्यमात्रभाव-धारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः।
   -समयसार (आ. ख्या.)
   (ग) तत्र शुद्ध-चैतन्यरूप जीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्याश्रितत्वाच्छुद्ध पारिणामिकभावो भण्यते।
   -द्रव्यसंग्रह १३

पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है–जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। जीवत्व का व्युत्पत्त्यर्थ होता है–जो दश प्रकार के प्राणों से जीता है, जीता था और जीएगा। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जीवत्व कर्मजनित दशविध-प्राणरूप होने से नश्वर एवं अशुद्ध पारिणामिक भाव है। तीनों अशुद्ध पारिणामिक भाव (अशुद्ध) व्यवहार नय की अपेक्षा से संसारी जीव के होते हैं। 'धवला' में कहा गया है–जीवत्व रूप (अशुद्ध) पारिणामिक भाव प्राणों को धारण करने की अपेक्षा से होने वाला अयोगी केवली गुणस्थान से आगे नहीं पाया जाता। सिद्धों के कारणभूत अष्ट कर्मों का अभाव है। अतः मुक्त जीव में एक भी अशुद्ध पारिणामिक भाव नहीं होता है।[१]

औदयिक आदि पांच भावों के दो-दो भेद और प्रभेद

जीव की विभिन्न अवस्थाओं को बताने वाले पांच या छह भावों की व्याख्या करने के बाद अब अनुयोगद्वार सूत्र में औदयिक आदि पांचों भावों की उत्पत्ति को लेकर दो अथवा अनेक भेद बताए गए हैं, उन्हें भी जान लेना चाहिए।

(१) औदयिक भाव के मुख्य दो भेद हैं–उदय और उदय-निष्पन्न। आठ कर्मप्रकृतियों का शान्तावस्था (सत्तावस्था) का परित्याग करके उदीरणावलिका का अतिक्रमण कर अपने-अपने स्वरूप के अनुसार विपाक-फलानुभव कराना उदय है, उदय जिसका कारण है, वह भाव औदयिक है तथा कर्मों के उदय द्वारा निष्पन्न हुआ जीव का स्वभाव उदय निष्पन्न है।

फिर उदय-निष्पन्न के दो भेद हैं–जीवविषयक और अजीवविषयक। उनमें से नरकगति आदि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए नारकत्व आदि पर्याय के परिणाम को जीवविषयक औदयिक भाव कहते हैं।

जीवोदयनिष्पन्न औदयिक भाव के अनेक भेद हैं। यथा–नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व, पृथ्वीकायत्व, अप्कायत्व, तैजस्कायत्व, वायुकायत्व, वनस्पतिकायत्व, त्रसकायत्व, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी, स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, मिथ्यादृष्टित्व, अविरतित्व, अज्ञानित्व, आहारकत्व, छद्मस्थ भाव, सयोगित्व और संसारावस्था आदि ये सभी भाव जीव के कर्मों के उदय से निष्पन्न होने के कारण जीवोदयनिष्पन्न कहलाते हैं।

---

१. (क) द्रव्यसंग्रह टीका १३,
(ख) जैनदर्शन में आत्मविचार, पृ. १२८
(ग) धवला १४/५/६/१६

अजीवोदयनिष्पन्न का अर्थ है–जीव द्वारा ग्रहण किये गये औदारिक आदि शरीर में कर्म के उदय से उत्पन्न हुए वर्णादि-परिणाम अजीवोदयनिष्पन्न औदयिक भाव हैं। जिसका स्पष्ट आशय यह है कि औदारिक आदि शरीरयोग्य पुद्गलों का उस-उस शरीररूप में परिणमन तथा शरीर में भी वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरूप परिणमन, यह सब कर्मोदय के बिना नहीं होता है, इसलिए ये अजीवोदयनिष्पन्न औदयिक भाव कहलाते हैं।[१]

(२) औपशमिक भाव के दो भेद हैं–उपशम और उपशम-निष्पन्न। उनमें से **उपशम** कहते हैं–भस्म से आच्छादित आग की तरह कर्म की सर्वथा अनुदयावस्था को, अर्थात्–प्रदेश से भी जिसरे उदय का अभाव हो, उसको। आशय यह है कि कर्म को ऐसी स्थिति में स्थापित कर देना कि वह रस से अथवा प्रदेश से भी अपने विपाक का वेदन न करा सके, यह उपशम है। ऐसा उपशम सर्वोपशम है, जो मोहनीय कर्म का ही होता है, अन्य कर्मों का नहीं। **उपशमनिष्पन्न** कहते हैं–कर्म के सर्वथा उपशम द्वारा उत्पन्न जीवस्वभाव को। जो क्रोधादि कषायों के उदय का सर्वथा अभाव होने से उसके फलरूप में उत्पन्न परमशान्त-अवस्थारूप जीव का परिणाम-विशेष है। कर्मग्रन्थ के अनुसार ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों में से उपशमभाव मोहनीय कर्म में ही प्राप्त होता है; अन्य कर्मों में नहीं; क्योंकि मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम होने से जैसे उपशम भाव का सम्यक्त्व और उपशम-भावरूपयथाख्यातचारित्र होता है, उसी प्रकार से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का उपशम होने से केवलज्ञानादि गुण उत्पन्न ही नहीं होते हैं। उपशम के दो प्रकार हैं–देशोपशम और सर्वोपशम। यहाँ उपशम शब्द से सर्वोपशम समझना चाहिए, देशोपशम नहीं; क्योंकि देशोपशम तो आठों ही कर्मों का होता है, जो कार्यकारी नहीं है।

यह औपशमिक भाव अनेक प्रकार का है। यथा–उपशान्तवेद, उपशान्तक्रोध, उपशान्तमान, उपशान्तमाया, उपशान्तलोभ, उपशान्त दर्शनमोहनीय, उपशान्त चारित्र-मोहनीय आदि।[२]

---

१. (क) उदइए दुविहे पन्नत्ते, तंजहा–उदइए उदयनिप्फन्ने य।
(ख) उदइए अट्ठण्हं कम्मपगडीणमुदए, से तं उदइए।
(ग) णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे कोहकसाई जाव लोहकसाई, इत्थीवेदए पुरिसवेदए नपुंसगवेदए, कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे मिच्छादिट्ठी, अविरए ..... अण्णाणी ..... असिद्धे। –अनुयोगद्वारसूत्र २३४/२३७

२. (क) उवसमिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–उवसमे अ, उपसमनिप्फण्णे अ।
उवसमिया सम्मत्तलद्धी उवसमिआ चारित्रलद्धी। –अनुयोगद्वार सूत्र २३९, २४१
(ख) सव्वुवसमणा मोहस्सेव। –कम्मपयडी (उपशमना प्रकरण)
(ग) पंचसंग्रह भा. २ विवेचन , पृ. १३

(३) **क्षायिक भाव** के भी दो भेद किये गए हैं–(१) क्षय और (२) क्षयनिष्पन्न। कर्म के सर्वथा अभाव को क्षय कहते हैं और यही क्षयभाव क्षायिक भाव है। कर्मों के सर्वथा अभाव होने के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ जीव का परिणाम-विशेष क्षयनिष्पन्न कहलाता है। यथा–केवलज्ञानित्व, केवलदर्शनित्व, क्षीणमतिज्ञानावरणत्व, क्षीणश्रुतज्ञानावरणत्व, क्षीण-अवधिज्ञानावरणत्व, क्षीण-मनःपर्यायज्ञानावरणत्व यावत् क्षीण वीर्यान्तरायत्व और मुक्तत्व आदि। ये सभी भाव कर्मावरण का नाश होने के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं, इस कारण ये क्षयनिष्पन्न कहलाते हैं।[1]

(४) **क्षायोपशमिक भाव** भी दो प्रकार का है–क्षयोपशम और क्षयोपशम निष्पन्न। उदय-प्राप्त कर्मांश के क्षये और अनुदयप्राप्त कर्मांश के विपाकाश्रयी उपशम को क्षयोपशम कहते हैं। यह क्षयोपशम चार घाति कर्मों का ही होता है, अघाति कर्मों का नहीं। क्षयोपशम ही क्षायोपशमिक है। तथा घातिकर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ मतिज्ञानादिलब्धिरूप आत्मा का जो परिणाम विशेष है उसे क्षयोपशम-निष्पन्न कहते हैं।

इसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव चारों घातिकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) में पाया जाता है; क्योंकि घातिकर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं। अतः उनका यथायोग्यरीति से सर्वोपशम या क्षयोपशम होने पर ज्ञानादि गुण प्रगट होते हैं। किन्तु अघातिकर्म आत्मा के किसी भी गुण का घात नहीं करते, जिससे उनका सर्वोपशम या क्षयोपशम भी नहीं होता। घातिकर्मों में भी केवल-ज्ञानावरण तथा केवलदर्शनावरणीय के रसोदय के निरोध का अभाव होने से, इन दो प्रकृतियों के सिवाय शेष घाति प्रकृतियों का क्षयोपशम समझना चाहिए।

यह क्षयोपशमनिष्पन्न[2] अनेक प्रकार का है। यथा–क्षायोपशमिक आभिनिबोधिकज्ञानलब्धि, श्रुतज्ञानलब्धि, अवधिज्ञानलब्धि, मनःपर्यायज्ञानलब्धि,

---

१. (क) खइए दुविहे पण्णत्ते तं.–खइए अ, खयनिप्फण्णे अ। ..... खीण केवलणाणावरणे, खीण केवलदंसणावरणे, खीण दंसणमोहणिज्जे खीण चरित्तमोहणिज्जे, खीणदाणंतराए-खीणलाभंतराए खीणभोगंतराए खीणउवभोगंतराए खीणवीरियंतराए।..... से तं खइए।

–अनुयोगद्वार सूत्र ४२, ४४

(ख) पंचसंग्रह भा. २, १ विवेचन

२. क्षयोपशम में उपशम शब्द के दो अर्थ अभिप्रेत हैं–(१) उदयप्राप्त कर्म का क्षय और सत्तागत कर्म को हीन शक्ति वाला करके ऐसी स्थिति में स्थित करना कि स्वरूप से

(शेष पृष्ठ ४९५ पर)

मति-अज्ञानलब्धि, श्रुत-अज्ञानलब्धि, विभंगज्ञानलब्धि, सम्यग्दर्शनलब्धि, क्षायोपशमिक सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धि[१], क्षायोपशमिक सामायिकलब्धि, क्षायोपशमिक छेदोपस्थापनीय लब्धि, क्षायोपशमिक परिहारविशुद्धि लब्धि, क्षायोपशमिक सूक्ष्म-सम्परायलब्धि, क्षायोपशमिक देशविरतिलब्धि, क्षायोपशमिक दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, वीर्यलब्धि[२], पण्डितवीर्यलब्धि, बालवीर्यलब्धि, बाल-पण्डित-वीर्यलब्धि, श्रोत्रेन्द्रियलब्धि, चक्षुरिन्द्रियलब्धि, घ्राणेन्द्रियलब्धि, रसनेन्द्रियलब्धि, स्पर्शनेन्द्रियलब्धि[३] इत्यादि।

ये सभी भाव घातिकर्मों के क्षयोपशम भाव से निष्पन्न होने के कारण क्षयोपशम-निष्पन्न कहलाते हैं।[४]

(५) पारिणामिक भाव का अर्थ है-परिणमित होना। अवस्थित वस्तु का पूर्व अवस्था के त्याग करने के द्वारा, उत्तर अवस्था को कथंचित् प्राप्त होना। अर्थात्-अपने मूल स्वभाव को छोड़े बिना पूर्व-अवस्था के त्यागपूर्वक उत्तर-अवस्था को प्राप्त करना परिणाम कहलाता है और परिणाम को ही पारिणामिक भाव

(पृष्ठ ४९४ का शेष)

फल न दे सके। (२) उदय प्राप्त अंश का क्षय और उदय-अप्राप्त अंश को परिणामानुसार हीन शक्ति वाला करना उपशम है। पहला अर्थ मोहनीय कर्म में और दूसरा शेष तीन घातिकर्मों में घटित होता है। अघातिकर्म किसी गुण को आच्छादित नहीं करते, इससे उनका क्षयोपशम नहीं होता। वे तो अधिक रस और अधिक स्थिति वाले हों, तभी अपना कार्य कर सकते हैं। -पंचसंग्रह भा. २, पृ. १४

१. मिथ्यात्व का उदय न होने से क्षयोपशम को सम्यग् मिथ्यादर्शनलब्धि में गिना है।

२. मिथ्यात्वी के वीर्य-व्यापार को बालवीर्य, सम्यक्त्वी और देशविरति के वीर्य व्यापार को बालपण्डितवीर्य और सर्वविरति के वीर्य व्यापार को पण्डित वीर्य कहा जाता है। सामान्यतः सभी लब्धियों का सामान्य से वीर्यलब्धि में समावेश हो जाता है।

३. श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि आदि ५ लब्धियों का मतिज्ञान लब्धि में समावेश हो जाता है। -पंचसंग्रह २. पृ. १५

४. (क) खओवसमिए दुविहे पण्णत्ते, तं. खओवसमिए य, खओवसय-णिप्फण्णे य। खओवसमिआ आभिणिबोहियणाणलद्धी, जाव खओ. मणपज्जवणाणलद्धी, खओवसमिआ मइ-अण्णाणलद्धी, ख. सुअ. अ. लद्धी, ख. विभंगणाणलद्धी, ख. चक्खुदंसणलद्धी जाव ओहीदंसणलद्धी एवं सम्मदंसणलद्धी, ख. सामाइयचरित्तलद्धी, चरित्ताचरित्तलद्धी, ख. दाणलद्धी एवं लाभ. भोग. उपभोग ख, वीरियलद्धी। से तं. खओ.। -अनु. २४२, २४७

कहते हैं। पारिणामिक भाव का प्रयोजन द्रव्य का स्वरूप लाभमात्र है। इसमें कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं होती है।

पारिणामिकभाव के मुख्य दो भेद हैं–सादि, अनादि। घी, गुड़, चावल, घट-पट आदि पदार्थों की नई-पुरानी आदि अवस्थाएँ तथा वर्षधर-पर्वत, भवन, विमान, कूट और रत्नप्रभा नरकभूमि आदि पृथ्वियों की पुद्गलों के मिलने-बिखरने से होने वाली अवस्थाएँ तथा गन्धर्व-नगर, दिग्दाह, उल्कापात, धूमस, विद्युत्, आँधी, चन्द्र-परिवेध, सूर्य-परिवेध, चन्द्र-सूर्यग्रहण, इन्द्रधनुष इत्यादि नाना अवस्थाएँ सादि पारिणामिक भाव हैं। क्योंकि उस-उस प्रकार के परिणाम अमुक-अमुक समय होते हैं और उनका नाश होता है अथवा उनमें पुद्गलों के मिलने-बिखरने से हीनाधिक्य पर्याय परिवर्तन हुआ करते हैं।

लोकस्थिति, अलोकस्थिति, भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व, धर्मास्तिकायत्व इत्यादि रूप जो भाव हैं, वे अनादि पारिणामिक भाव हैं; क्योंकि उनके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सदैव अपने-अपने स्वरूप में ही रहते हैं।[१]

सान्निपातिक भाव : स्वरूप, प्रकार और कार्य

अनेक भावों के मिलने से निष्पन्न भाव को सान्निपातिक भाव कहते हैं। तात्पर्य यह है कि औदयिक आदि भावों के दो आदि के संयोग से उत्पन्न हुई, अवस्थाविशेष को सान्निपातिक भाव कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि इन पूर्वोक्त पांच भावों में से एक-एक भाव को मूलभाव तथा दो या दो से अधिक मिले हुए (संयुक्त) भावों को **सान्निपातिक भाव** समझना चाहिए। वस्तुतः सान्निपातिक भाव कोई स्वतंत्र भाव नहीं है; अपितु यह पांच भावों में से दो या दो से अधिक भावों के संयोग से होता है।

पांच भावों के कुल भेद त्रेपन

पांच भावों में से पूर्वोक्त प्रत्येक भाव के भेद संक्षेप में इस प्रकार हैं–

औपशमिक भाव के ५, क्षायोपशमिक भाव के १८, क्षायिक भाव के ९, औदयिक भाव के २१ और पारिणामिक भाव के ३ भेद हैं। यों कुल ५३ भेद हुए।

---

१. (क) परिणामिए दुविहे पण्णत्ते तं.–साइपरिणामिए य, अणाइपरिणामिए य। अणाइ परिणामिए, जीवत्थिकाए-भवसिद्धिआ अभवसिद्धिआ। से तं अणाइ परिणामिए। –अनुयोगद्वारसूत्र २४८, २५०

(ख) पंचसंग्रह भा. २ विवेचन, पृ. १५, १६

सान्निपातिक भाव के विविध संयोगी छब्बीस भेद

चूँकि सान्निपातिक भाव औपशमिक आदि पांच भावों में से दो, तीन, चार या पांच भावों के मिलने से होता है। इस अपेक्षा से दो भावों के मेल से होने वाला सान्निपातिक द्विक-संयोग, तीन भावों के मेल से होने वाला त्रिकसंयोग, चार भावों के मेल से होने वाला चतुस्संयोग और पांच भावों के मेल से होने वाला पंच-संयोग कहलाता है। इसका रेखाचित्र इस प्रकार है–

द्विक संयोग के दस भेद हैं–	त्रिक संयोग के दस भेद हैं–
१. औपशमिक + क्षायिक	१. औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक
२. औपशमिक + क्षायोपशमिक	२. औपशमिक + क्षायिक + औदयिक
३. औपशमिक + औदयिक	३. औपशमिक + क्षायिक + पारिणामिक
४. औपशमिक + पारिणामिक	४. औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक
५. क्षायिक + क्षायोपशमिक	५. औपशमिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक
६. क्षायिक + औदयिक	६. औपशमिक + औदयिक + पारिणामिक
७. क्षायिक + पारिणामिक	७. क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक
८. क्षायोपशमिक + औदमिक	८. क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक
९. क्षायोपशमिक + पारिणामिक	९. क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक
१०. औदयिक + पारिणामिक	१०. क्षायोपशमिक + पारिणामिक + औदयिक

चतु:संयोग के पांच भेद हैं–	पंचसंयोग का एक भेद–
१. औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक	औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक। इन पांचों के संयोग से निष्पन्न।
२. औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक	
३. औपशमिक + क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक	
४. औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक	
५. क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक	

इस प्रकार सान्निपातिक भाव के कुल १० + १० + ५ + १ = २६ भेद होते हैं।[१]

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४, गा. ६४, ६५, ६६, विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ. १९६ से २०४
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ४ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) पृ. ३३३ से ३४० तक
(ग) शुद्धभावा: पंचैवेते कर्मप्रकृतीनामुदय: शान्तावस्था- परित्यागेनोदीरणावलिकाम-तिक्रम्य उदयावलिकायामात्मीयरूपेण विपाक इत्यर्थ:। –स्थानांग वृत्ति स्था. ६

ये मुख्य भाव कितने-कितने किस-किस में प्राप्त होते हैं?

क्षायिक और पारिणामिक ये दो भाव सिद्ध (मुक्त) आत्मा में होते हैं। यथा–ज्ञानादि क्षायिक भाव और जीवत्व पारिणामिक भाव। क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक, ये तीनों भाव (त्रिक-संयोग) ही भवस्थ केवली (जीवन्मुक्त) में होते हैं। उनमें ज्ञानादि क्षायिक भाव हैं, मनुष्यगति और लेश्या औदयिक भाव है तथा पारिणामिक भाव जीवत्व है। क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, ये तीन भाव (त्रिकसंयोग) केवल छद्मस्थ जीवों में, वह भी समस्त छद्मस्थ जीवों में होते हैं, क्योंकि सभी छद्मस्थ जीवों में क्षायोपशमिक और औदयिक भाव होते ही हैं। **सभी** छद्मस्थ जीवों में भावेन्द्रिय अथवा मति-श्रुतज्ञान (सत् या असत्), ये क्षायोपशमिक भाव होते हैं। यही त्रिक-संयोग (तीनों भाव) जिस प्रकार सभी गतियों के मिथ्यात्वी जीवों में होता है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीवों में भी होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी और क्षायोपशमिक चारित्री तिर्यंचों और मनुष्यों में भी यही त्रिक-संयोग (तीनों भाव) होता है।

इन तीन भावों के अतिरिक्त अन्य भाव भी किन्हीं-किन्हीं छद्मस्थों में हो सकते हैं। जैसे कि–औपशमिक सम्यक्त्वी अथवा औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्र, उभय के धारक में पूर्वोक्त त्रिक-संयोग के अलावा औपशमिक भाव भी होता है। जो छद्मस्थ उपशम श्रेणी से रहित क्षायिक सम्यक्त्वयुक्त हैं, अथवा जो क्षायिक सम्यक्त्व-क्षायिक चारित्र धारक हैं; उनमें प्रस्तुत त्रिसंयोग के अतिरिक्त क्षायिक भाव भी होता है। औपशमिक सम्यक्त्व तो चारों गतियों के प्राणियों में सम्भव है, जबकि औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र के धारक केवल मनुष्य ही हो सकते हैं। इस प्रकार के इन दोनों वर्गों में औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, ये चार ही भाव हो सकते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व भी चारों गतियों के प्राणियों में सम्भव है। अतः देव, नारक और तिर्यंच, इन तीन गतियों के क्षायिक-सम्यक्त्व धारकों में तथा उपशम श्रेणी बिना के या ग्यारहवें गुणस्थान[१] सिवाय के क्षायिक सम्यक्त्वी छद्मस्थ मनुष्यों में तथा क्षायिक सम्यक्त्व चारित्र-धारक छद्मस्थ मानवों में क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, ये चार ही भाव होते हैं। जो जीव **क्षायिक** सम्यक्त्वी होने के साथ ही उपशमश्रेणीवर्ती (एकादशम गुणस्थानवर्ती)[२] **होता है**, उसमें एक जीव में पूर्वोक्त पांचों भाव हो सकते हैं। इस

---

१. नौवें दसवें **गुणस्थान में औपशमिक** चारित्र न मानने की अपेक्षा से।

२. ग्यारहवें **उपशान्तमोह गुणस्थान वाले को ही वस्तुतः औपशमिक चारित्र प्राप्त** होता है।

तरह सान्निपातिक भाव के १५ भेद चार गति के जीवों में पाये जाते हैं। शेष २० भेद असम्भव यानी शून्य समझने चाहिए।[१]

गुणस्थानों के साथ भावों की योजना

गोम्पटसार में गुणस्थानों की योजना पंचभावों के साथ इस प्रकार की गई है–

गुणस्थान		भाव
१. मिथ्यादृष्टि	–	औदयिक
२. सास्वादन	–	पारिणामिक
३. सम्यग्-मिथ्यादृष्टि	–	क्षायोपशमिक
४. अविरत-सम्यग्दृष्टि	–	औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक
५. विरताविरत	–	क्षायोपशमिक
६. प्रमत्त-संयत	–	क्षायोपशमिक
७. अप्रमत्त-संयत	–	क्षायोपशमिक
८. निवृत्तिबादर	–	उपशमश्रेणी हो तो औपशमिक क्षपक श्रेणी हो तो क्षायिक
९. अनिवृत्ति बादर	–	उपशम श्रेणी हो तो औपशमिक, क्षपक श्रेणी हो तो क्षायिक
१०. सूक्ष्म सम्पराय	–	उपशम श्रेणी हो तो औपशमिक, क्षपक श्रेणी हो तो क्षायिक
११. उपशान्तमोह	–	औपशमिक
१२. क्षीणमोह	–	क्षायिक
१३. सयोगी केवली	–	क्षायिक
१४. अयोगी केवली	–	क्षायिक

१. (क) चउ-चउगईसु मीसग-परिणाममुदएहिं चउसखइएहिं।
उपसम-जुएहिं वा चउ, केवलि-परिणाममुदयखइए॥ ७॥
खय-परिणामे सिद्धा, नराण पणजोगमुवसमसेढीए।
इय पन्नर-संनिवाइय-भेया, वीसं असंभाविणो॥ ६८॥
–कर्मग्रन्थ भा. ४, गा. ६७-६८ विवेचन

(ख) जैनदर्शन (न्यायविजयजी), पृ. ३१४

प्रथम गुणस्थान में दर्शनमोह का उदय भी, आंशिक क्षयोपशम भी

यद्यपि गुणस्थानों में ज्ञानावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम आदि होते हैं। किन्तु उनकी रचना का मौलिक आधार दर्शन-मोह और चारित्र-मोह के क्षयोपशम आदि ही प्रतीत होते हैं। प्रथम गुणस्थान का अधिकारी व्यक्ति मिथ्यादृष्टि होता है, उसके दर्शनमोह के उदय होने के कारण प्रथम गुणस्थान को औदयिक भाव माना है। किन्तु उक्त गुणस्थान में दर्शनमोह का उदय होने पर भी उसको दर्शनमोह का आंशिक क्षयोपशम भी होता है। इस क्षयोपशम की दृष्टि से समवायांग सूत्र में प्रथम गुणस्थान को विशुद्धिजनित क्षायोपशमिक भाव माना गया है। इस प्रकार विचार करने से दोनों में विरोध प्रतीत नहीं होता, किन्तु मुख्यता-गौणता का अन्तर अवश्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार पहले से लेकर १४ वें गुणस्थान तक में जो एक-एक भाव बताया है, वह मुख्यता की दृष्टि से बताया है, गौणता की दृष्टि से उनमें अन्य भाव भी हो सकते हैं।[१]

पांच भावों में से प्रत्येक कर्म में प्राप्त भाव का निर्देश

औपशमिक भाव ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों में से मोहनीय कर्म में ही प्राप्त होता है, अन्य कर्मों में नहीं। इसका कारण पहले बताया जा चुका है। क्षायोपशमिक भाव चारों घातिकर्मों में पाया जाता है, अघातिकर्मों में नहीं। इसका कारण भी पूर्व में कहा जा चुका है। उक्त दोनों भावों से शेष रहे क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक, ये तीनों भाव आठों ही कर्मों में पाये जाते हैं। वे इस प्रकार हैं–मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान के चरम समय में, शेष तीन घातिकर्मों का क्षय क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय में तथा अघाति कर्मों का अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय में आत्यन्तिक उच्छेद-सर्वथा क्षय होने से क्षायिक भाव आठों कर्मों में पाया जाता है। पारिणामिक भाव भी आठों कर्मों में इसलिए पाया जाता है कि वह आत्मप्रदेशों के साथ पानी और दूध की तरह एकाकाररूप से परिणमित होकर विद्यमान है और औदयिक भाव तो समस्त संसारी जीवों में आठों कर्मों का उदय होने से विद्यमान है ही। सारांश यह है–मोहनीय कर्म में औपशमिक आदि पांचों भाव सम्भव हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, इन तीन घातिकर्मों में औपशमिक भाव के सिवाय शेष चारों भाव पाये जाते हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम

---

१. (क) देखें, गोम्मटसार गा. ११ से १४ तक विवेचन सहित।
(ख) समवायांग वृत्ति १४/१ पत्र ३६
(ग) श्रमणोपासक के १० सितम्बर ९२ में प्रकाशित 'गुणस्थान की अवधारणा' लेख से, पृ. ३३

और गोत्र, इन चार अघातिकर्मों में क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक, ये तीन भाव ही सम्भव है।[१]

पांच भावों की प्ररूपणा क्यों और प्रेरणा क्या?

हमारे जीवन में सतत् आध्यात्मिक स्तर पर स्वतंत्रता और परतंत्रता का संघर्ष जारी रहता है। पांच भावों में से एक भाव है–पारिणामिक भाव, जो जीव (आत्मा) को सर्वथा स्वतंत्र बनाये रखने के लिए अहर्निश प्रयत्नशील है। इसलिए वह भाव आत्मिक स्वातंत्र्य के लिए सतत संघर्ष करता रहता है, वह एक क्षण के लिए प्रमाद नहीं करता। वह अन्तरतम में जागरूक रहकर प्रतिक्षण, प्रतिसमय स्वतंत्रता की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित करने के लिए तत्पर रहता है, किन्तु दूसरा एक भाव है–औदयिकभाव, जो कर्मोदय से निष्पन्न होने के कारण आत्मा की इस स्वतंत्रता को बाधित करता रहता है। वह जीव को परतंत्र बनाये रखने का अनवरत प्रयत्न करता रहता है। अतः पारिणामिक भाव और औदयिक भाव, इन दोनों में सतत संघर्ष चलता रहता है। प्रमादवश जीव औदयिक भाव से प्रभावित होकर, पारिणामिक भाव से हट कर बार-बार औदयिकभाव में आता है, वापस जीवत्वरूप शुद्ध पारिणामिक भाव में आता है। इस प्रकार इन दोनों भावों की रस्साकसी चलती रहती है। इस संघर्ष में जीव का अखण्ड चैतन्य भाव खण्डित हो जाता है। उस अखण्डचेतना के तीन रूप बन जाते हैं–(१) कर्मचेतना, (२) कर्मफलचेतना और (३) ज्ञानचेतना। हमारी ज्ञानचेतना अपने दोनों प्रतिपक्षियों में से कभी कर्मचेतना के साथ और कभी कर्म-फलचेतना के साथ मिल जाती है, समझौता कर लेती है,[२] परभाव को स्व-भाव मानकर चलती है।

अतः प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि केवल पारिणामिक भाव के माध्यम से ज्ञानचेतना में सतत जागरूक एवं लीन रहकर कर्मबन्धन में डालने वाली पारतंत्र्यकारिणी, अखण्ड चेतना को खण्डित करने वाली तथा औदयिक भावों की सहयोगिनी, इन दोनों चेतनाओं को पास में न फटकने दे, इन दोनों चेतनाओं (कर्मचेतना और कर्मफलचेतना) को कमजोर कर दे ताकि वे न तो ज्ञानचेतना को दबा सकें और न ही जीव पर हावी हों। औदयिक भाव से दूर रहने के लिए कर्मबन्ध से सतत सावधान रहना नितान्त आवश्यक है।

---

१. (क) मोहस्सेव उवसमो, खओवसमो चउण्ह घाईणं।
खय-परिणामिय-उदया, अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं॥ –पंचसंग्रह भा. ३, गा. २५
(ख) पंचसंग्रह भा. ३, गा. २५ का विवेचन, पृ. ९१-९२

२. प्रेक्षाध्यान (मासिक) मार्च १९९३ के अंक से भावांशग्रहण

कर्ममुक्ति की ओर बढ़ने के लिए औपशमिकादि तीन भावों को अपनाओ

संसार के अधिकांश जीव औदयिक भाव के चक्कर में फंसकर अपनी स्वतंत्रता का स्वयं हनन करते रहे हैं। ऐसे जीव अनादिकाल से कर्मबन्ध की जंजीरों से जकड़े हुए हैं और आगे भी जकड़े रहते हैं, कभी उससे छूटने का या कम से कम अशुभकर्मों से दूर रहने का भी प्रयत्न नहीं करते। वे यथास्थिति सन्तोष मानकर भाग्य भरोसे या भगवान भरोसे हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहते हैं। वे प्रायः औदयिक भाव में ही निमग्न रहते हैं। परन्तु आत्मार्थी जीव औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों की ओर क्रमशः बढ़ने का पुरुषार्थ करते हैं। इस कारण वे अहर्निश व्याकुलता, अशान्ति और विषमता में निमग्न न रहकर समता और शान्ति के सरोवर में डूबे रहते हैं। यद्यपि औपशमिक भावों में जितनी देर वह रहता है, उतनी देर तक उसके परिणाम शुद्ध और निर्मल रहते हैं तथा क्षायोपशमिक भावों में परिणामों की निर्मलता एवं शुद्धता का उतार-चढ़ाव रहता है, कर्म का कुछ क्षय और कुछ उपशम रहता है, किन्तु क्षायिक भावों को पाकर घातिकर्मों से तथा बाद में अघातिकर्मों से भी सदा के लिए छुटकारा पा जाते हैं। अतः ज्ञानपूर्वक पारिणामिक भावों के साथ औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों में पुरुषार्थ किया जाए तो कर्मों के बन्ध से कर्ममुक्ति की ओर सरपट दौड़ना सुगम हो जाता है।

■■

गुणस्थानों में औपशमिक आदि भावों की प्ररूपणा का यंत्र

क्रम संख्या	गुणस्थान नाम	एक जीव-आश्रित कुल मूलभाव ५	सर्व-जीव आश्रित कुल मूलभाव ५	औपशमिक २	क्षायिक ९	क्षायोपशमिक १८	औदयिक २१	पारिणामिक ३	कुल उत्तरभेद ५३
१.	मिथ्यात्व	३	३	०	०	१०	२१	३	३४
२.	सास्वादन	३	३	०	०	१०	२०	२	३२
३.	मिश्र	३	३	०	०	१२	१९	२	३३
४.	अविरति	३/४	५	१	१	१२	१९	२	३५
५.	देशविरति	३/४	५	१	१	१३	१७	२	३४
६.	प्रमत्तसंयत	३/४	५	१	१	१४	१५	२	३३
७.	अप्रमत्तसंयत	३/४	५	१	१	१४	१२	२	३०
८.	अपूर्वकरण	४	५	२	१	१३	१०	२	२८
९.	अनिवृत्तिकरण	४/५	५	२	१	१३	१०	२	२८
१०.	सूक्ष्म सम्पराय	४/५	५	२	१	१३	४	२	२२
११.	उपशान्तमोह	४/५	५	२	१	१२	३	२	२०
१२.	क्षीणमोह	४	४	०	२	१२	३	२	१९
१३.	सयोगिकेवली	३	३	०	९	०	३	१	१३
१४.	अयोगिकेवली	३	३	०	९	०	२	१	१२[१]

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ परिशिष्ट (मरुधरकेसरीजी), पृ. ३५०

१९

ऊर्ध्वारोहण के दो मार्ग : उपशमन और क्षपण

दो प्रकार के पर्वतारोही के तुल्य : दो प्रकार के श्रेणी-आरोहक

पर्वत के शिखर पर चढ़ने वाले यात्री दो प्रकार के होते हैं। कुछ यात्री ऐसे होते हैं, जो पर्वतारोहण करते समय आने वाले तूफानों, बवण्डरों, हवाओं तथा थकान, निद्रा, आलस्य, अनुत्साह आदि को शान्त करते हुए आगे बढ़ते हैं। कई बार तो ऊपर चढ़ते-चढ़ते उनको इतनी थकान आ जाती है कि वे पस्तहिम्मत होकर वहीं ठहर जाते हैं, फिर तरोताजा होकर चढ़ते हैं, और फिर थकान या अतिश्रम से अशक्त होकर बैठ जाते हैं। कई बार कई पर्वत श्रेणियाँ पार करने के बाद उनका पैर फिसल जाता है, और वे लुढ़कते-लुढ़कते चौथी श्रेणी तक आ जाते हैं, कई-कई तो ऐसे फिसलते हैं कि तीसरी, दूसरी तक आकर रुकते हैं, कई तो ठेठ तलहटी की प्रथम श्रेणी पर आकर रुकते हैं। उन पर्वतारोहियों की दशा देखते ही बनती है।

दूसरे प्रकार के पर्वतारोही मजबूत दिल वाले, अति-उत्साही, दृढ़ पराक्रमी और सशक्त होते हैं। पर्वतारोहण करते समय बीच में थकान का नाम नहीं लेते, भोजन, विश्राम और निद्रा की भी वे परवाह नहीं करते । इनके लिए तो उनके मन में विचार तक नहीं आता। जैसे एक आविष्कर्ता वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में बैठा-बैठा अहर्निश जागरूक और उत्साहयुक्त होकर अपने आविष्कार के प्रयोग में इतना तल्लीन-तन्मय हो जाता है कि नींद, भूख, थकान, अशक्ति, विश्राम, भोजन आदि सबको भूल जाता है, इन सबकी जरा भी चिन्ता नहीं करता, एकमात्र अपने प्रयोग में जुटा रहता है। इसी प्रकार वह दृढ़ मोक्ष पर्वतारोही अपने मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करता हुआ आगे से आगे बढ़ता हुआ, अन्तिम श्रेणी पर चढ़ जाता है, जहाँ से वापस लौटने का नाम नहीं लेता, वहाँ से वह मोक्ष के अन्तिम

शिखर पर पहुँच कर ही विश्राम लेता है। वह इतना बाहोश और उत्साही होकर चढ़ता है कि कहीं भी पैर फिसलने का काम नहीं, कहीं भी ठिठकने-रुकने का नाम नहीं। केवल मोक्ष पर्वत-शिखरारोहण ही उसका एकमात्र लक्ष्य होता है, लक्ष्य की दिशा में वह बीच की श्रेणियों को ८वीं श्रेणी से ही सर करता हुआ १०वीं श्रेणी से बारहवीं श्रेणी पर लंका-प्रापक वीर हनुमान की तरह छलांग लगा लेता है।

मोक्ष-शिखर पर पहुँचने के लिए दो प्रकार के श्रेणी आरोहण

यही बात मोक्ष की ओर ऊर्ध्वारोहण करने वाले दो प्रकार की श्रेणी के आरोहकों (श्रेणी के सहारे चढ़ने वाले दो ऊर्ध्वारोहकों) के विषय में कही जा सकती है। पहले प्रकार के श्रेणी-आरोहक उपशम श्रेणी वाले कहलाते हैं और दूसरे प्रकार के श्रेणी-आरोहक कहलाते हैं-क्षपक श्रेणी वाले। उपशम श्रेणी वाले पहली श्रेणी से ही सुस्त होकर चलते हैं। वे बीच-बीच में आने वाले मोहकर्म के तूफानों को दबाते-शान्त करते हुए आगे बढ़ते हैं। बीच-बीच में विश्रान्ति लेते हैं, फिर ताजा होकर मोह की व्याधि को दबाते-उपशान्त करते हुए आगे बढ़ते हैं। बीच-बीच में रुकते हैं, मोहकर्म के विभिन्न सैनिकों को शान्त करते हैं। फिर उत्साहित एवं सशक्त होकर आगे की श्रेणी पर चढ़ने के लिए पराक्रम करते हैं। उपशम श्रेणी पर चढ़ने के अभ्यासी का मार्ग सातवें गुणस्थान से आगे फट जाता है। और वह मोहकर्म के विविध सैनिकों का उपशमन (दमन) करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँच जाता है।

उपशम श्रेणी आरोहण का अभ्यासक्रम

ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचने से पहले वह संसारयात्री सातवें गुणस्थान तक किस क्रम से मोहकर्म के सैनिकों का उपशमन-दमन करता हुआ चलता है? यह कर्मग्रन्थ में बताया है-वह पहले अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम करता है, जो उसकी बुद्धि, स्मृति, ज्ञान एवं आत्मविद्या को कुण्ठित, आवृत एवं विमूढ़ कर देता है और संसार-परिभ्रमण कराता है। तदनन्तर दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करता है, फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय और पुरुषवेद का उपशम करता है। उसके बाद एक-एक संज्वलन-कषाय का अन्तर देकर दो-दो सदृश कषायों का एक साथ उपशम करता है। अर्थात्-अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम करके संज्वलन-क्रोध का उपशम करता है, फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम करके संज्वलन-मान का उपशम करता है, तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम करके संज्वलन-माया का

उपशम करता है। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करके संज्वलन-लोभ का उपशम करता है।[१]

उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी के आरोहकों में अन्तर

इस प्रकार उपशम श्रेणी वाला संसार यात्री क्रमशः आगे बढ़ता है, बीच-बीच में विश्राम लेता है, विघ्न-बाधाओं को शान्त करता हुआ आगे बढ़ता है, जबकि क्षपक श्रेणी वाला संसारयात्री मोहकर्मों की चाल को सर्वथा निर्मूलन करता हुआ आगे बढ़ता है। क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके मोक्षशिखर पर पहुँचने वाले संसार यात्री का विशेष वर्णन हम आगे करेंगे।

दोनों श्रेणियों का दो प्रकार का कार्य और कदम

मुख्य रूप से दोनों प्रकार के श्रेणी-आरोहकों का मार्ग सातवें गुणस्थान से आगे फट जाता है। अर्थात्-यहाँ से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं-एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी में मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियों का उपशम किया जाता है, जबकि क्षपक श्रेणी में मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियों को मूल से नष्ट (क्षय) किया जाता है। उपशम श्रेणी में तो उक्त प्रकृतियों के उदय को शान्त कर दिया जाता है, प्रकृतियों की सत्ता तो बनी रहती है, वे सिर्फ अन्तर्मुहूर्त के लिए अपना फल आदि नहीं दे सकतीं; जबकि क्षपक श्रेणी में तो उन प्रकृतियों की सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है, जिससे उनके पुनः उदय होने का भय नहीं रहता। यही कारण है कि उपशम श्रेणी में तो पतन का भय बना रहता है, जबकि क्षपक श्रेणी में पतन का भय बिलकुल नहीं रहता । किन्तु दोनों ही श्रेणियों में मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियों का सर्वथा उपशमन या सर्वथा क्षय किया जाता है।

उपशम श्रेणी द्वारा ऊर्ध्वारोहण का मार्ग

उपशमश्रेणी का स्वरूप, प्रारम्भ और पतनक्रम

अब हम पहले उपशमश्रेणी का स्वरूप और उसके आरोहण की पूर्वभूमिका तथा आरोहण के क्रम के सम्बन्ध में प्रतिपादन करते हैं।

---

१. (क) अण-दंस-नपुंसित्थी-वेयछक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ॥ ९८॥ -कर्मग्रन्थ भा. ५
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ गा. ९८ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री), पृ. ३१३
(ग) तुलना करें-अण-दंस-नपुंसित्थी-वेय-छक्कं च पुरिसवेयं च ॥
दो दो एगंतरिए , सरिसे सरिसं उवसमेइ॥ -आवश्यक निर्युक्ति, गा. ११६

जिन परिणामों द्वारा आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशमन करता है, ऐसे उत्तरोत्तर वृद्धिंगत परिणामों की धारा को उपशम श्रेणी कहते हैं। इस उपशम श्रेणी का प्रारम्भक अप्रमत्तसंयत होता है और उपशमश्रेणी से गिरने वाला अप्रमत्तसंयत, प्रमत्तसंयत, देशविरत या अविरत में से कोई भी हो सकता है। आशय यह है कि उपशम श्रेणी से प्रतिपतित होने वाला क्रमशः चतुर्थ गुणस्थान तक आता है और वहाँ से गिरे तो दूसरे और फिर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त कर लेता है।[१]

उपशम श्रेणी का प्रस्थान चौथे गुणस्थान से या सप्तम गुणस्थान से?

उपशम श्रेणी के दो हिस्से हैं–पहला है–उपशम भाव का सम्यक्त्व और दूसरा है–उपशम भाव का चारित्र। इनमें से चारित्रमोहनीय कर्म का उपशमन करने से पूर्व उपशम भाव का सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में ही प्राप्त होता है; क्योंकि दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क (चार), इन सात प्रकृतियों को सातवें गुणस्थान में ही उपशान्त किया जाता है। इस कारण उपशमश्रेणी का प्रस्थापक (प्रस्थान-यात्री) सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयत ही है। कतिपय आचार्यों का मत है कि अविरत-सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत या अप्रमत्त-संयत, इनमें से किसी भी गुणस्थान वाला अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का उपशम करता है, तथा दर्शनत्रिक (दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ) आदि को संयमित करने वाला अप्रमत्तसंयत ही उपशमित करता है। अतः इसमें सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी-कषाय-चतुष्क को उपशान्त किया जाता है तथा दर्शनत्रिक का उपशमन तो संयमी ही करता है। इस अभिप्रायानुसार उपशमश्रेणी का प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान से माना जाना चाहिए।[२]

उपशमश्रेणी प्रस्थापक द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायोपशम किस क्रम से?

उपशमश्रेणी का आरोहक किस प्रकार किस क्रम से मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियों का उपशमन करता है? और उसमें कैसे-कैसे सफलता-विफलता के चढ़ाव-उतार आते हैं? इस उपशम यात्रा का वर्णन कर्मशास्त्र में इस प्रकार किया गया है।

यथाप्रवृत्तकरण का कार्य

सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशमन करने के लिए चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी एक गुणस्थानवर्ती संसारयात्री जीव यथा-प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम के तीन करण[३] करता है।

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. ३७१
२. पंचम कर्मग्रन्थ विवेचन (प. कैलाशचन्द्र जी), पृ० ३७२
३. **'करण'** परिणाम को कहते हैं।

'यथाप्रवृत्तकरण' में प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी (आत्म) विशुद्धि होती है। जिसके कारण शुभ-प्रकृतियों में अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृतियों में अनुभाग की हानि (कमी) होती है, किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी या गुण-संक्रमण नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नहीं होते। यथाप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त का है।

अपूर्वकरण का कार्य

यथाप्रवृत्तकरण का अन्तर्मुहूर्तकाल समाप्त होने पर दूसरा **'अपूर्वकरण'** होता है। इस करण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रम और अपूर्वस्थितिबन्ध ये पांचों कार्य होते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय में कर्मों की जो स्थिति होती है, उसके अन्तिम समय में स्थितिघात के द्वारा वह संख्यातगुणी कम कर दी जाती है। रसघात के द्वारा अशुभ प्रकृतियों का रस क्रमशः क्षीण कर दिया जाता है। गुणश्रेणी[१] रचना में प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में से प्रतिसमय कुछ दलिक ले-लेकर उदयावली के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में उनका निक्षेप कर दिया जाता है। दलिकों का निक्षेप इस प्रकार किया जाता है कि पहले समय में जो दलिक लिये जाते हैं, उनमें से सबसे कम दलिक प्रथम समय में स्थापित किये जाते हैं। उससे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समय में, उससे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समय में स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अन्तिम समय-पर्यन्त असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे अधिक दलिकों का निक्षेप किया जाता है। दूसरे आदि समयों में भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है।

ग्रहण किये जाने वाले कर्मदलिक थोड़े-से होते हैं। तत्पश्चात् प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण किया जाता है और उन दलिकों का निक्षेप भी अविशिष्ट समयों में ही होता है। अन्तर्मुहूर्तकाल से ऊपर समयों में निक्षेप नहीं किया जाता है। इसी दृष्टि और क्रम को यहाँ भी समझ लेना चाहिए कि प्रथम समय में गृहीत दलिक अल्प होते हैं। तदनन्तर दूसरे आदि समयों में वे असंख्यातगुणे होते हैं और उन सबकी रचना अन्तर्मुहूर्तकाल-प्रमाण समयों में होती है। काल का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त से आगे कथमपि नहीं बढ़ता है।

---

१. गुणश्रेणि का विशद् स्वरूप जानने के लिए देखें-कर्मग्रन्थ भा. ५ की गा. ८२, ८३ का विवेचन

गुण-संक्रम के द्वारा अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनन्तानुबन्धी आदि अशुभ प्रकृतियों के थोड़े-से दलिकों का अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है। और उसके पश्चात् प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकों का अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है तथा अपूर्वकरण के प्रथम समय से ही पूर्वोक्त पांच कार्य एक साथ होने लगते हैं।

अपूर्वकरण का काल समाप्त होने पर तीसरा '**अनिवृत्तिकरण**' होता है। इसमें भी प्रथम समय से ही पूर्वोक्त पांच कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। उसमें से संख्यातभाग व्यतीत हो जाने पर जब एक भाग बाकी रहता है, तो अनन्तानुबन्धी कषाय के एक आवली प्रमाण नीचे के निषेकों को छोड़कर बाकी निषेकों का उसी तरह अन्तरकरण किया जाता है, जैसे कि पहले मिथ्यात्व[१] का बतलाया है। जिन अन्तर्मुहूर्तप्रमाण दलिकों का अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहाँ से उठा कर बंधने वाली अन्य प्रकृतियों में स्थापित कर दिया जाता है। अन्तरकरण के प्रारम्भ होने पर, दूसरे समय में अनन्तानुबन्धी कषाय के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों का उपशम किया जाता है, पहले समय में थोड़े दलिकों का उपशम किया जाता है, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम किया जाता है, तीसरे समय में उससे भी असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम किया जाता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक इसी तरह असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकों का प्रतिसमय उपशम किया जाता है। फलतः इतने समय में समग्र अनन्तानुबन्धी कषाय का पूर्णतया उपशम हो जाता है और वह उपशम इतना सुदृढ़ होता है कि उदय, उदीरणा, निधत्ति आदि करणों के अयोग्य हो जाता है। जिस प्रकार धूल पर पानी छींट-छींट कर उसे धुरमुच से कूट देने पर वह (धूल) दब-जम जाती है, फिर वह हवा आदि से उड़ नहीं सकती; इसी प्रकार कर्मरज भी विशुद्धि रूपी जल से सींच-सींच कर अनिवृत्तिकरणरूपी धुरमुच से कूट दिये जाने पर दब (शान्त हो) जाती है, फिर वह उदय, उदीरणा और निधत्ति आदि नहीं कर सकता। यही अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम है।[२]

---

१. जैसा कि मिथ्यात्व का अन्तरकरण इसी भाग की गा. १० में बताया है।

२. कई आचार्य अनन्तानुबन्धी कषाय का '**उपशम**' न मानकर '**विसंयोजन**' मानते हैं। जैसा कि कर्मप्रकृति (उपशमकरण) में लिखा है-
चउगइया पज्जत्ता तिन्नि वि संजोयणा वियोजंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा॥ ३१॥
अर्थात्-चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारों गति के पर्याप्त जीव तीन करणों के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करते हैं। किन्तु वहाँ न तो अन्तरकरण होता है, और न अनन्तानुबन्धी का उपशम ही।

अनन्तानुबन्धी-कषायचतुष्क का उपशम करने के पश्चात् दर्शनमोहनीय-त्रिक (मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्वमोहनीय) प्रकृति का उपशम करता है। इनमें से मिथ्यात्व का उपशम तो मिथ्यादृष्टि और वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि करते हैं, किन्तु सम्यग्-मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय का उपशम वेदक-सम्यग्दृष्टि ही करता है। मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है, तब मिथ्यात्व का उपशम करता है। किन्तु उपशम श्रेणी में द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व ही उपयोगी होती है, प्रथमोपशम-सम्यक्त्व नहीं, क्योंकि इसमें दर्शनत्रिक का पूर्णतया उपशम होता है। इसीलिये यहाँ दर्शनत्रिक का उपशम वेदक सम्यग्दृष्टि ही करता है और उसके उपशम का भी वही पूर्वोक्त क्रम है, अर्थात्- वह क्रमानुसार तीन करण आदि करता है।[१]

चारित्रमोह के सर्वांगीण उपशम का क्रम

सर्वप्रथम तीन करण-इस प्रकार दर्शनत्रिक का उपशम करके चारित्रमोहनीय का उपशम करने के लिये पुनः यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों की प्रक्रिया को अपनाता है। इन तीन करणों का स्वरूप तो पूर्ववत् ही जानना चाहिये। इतना विशेष है कि यहाँ सातवें गुणस्थान में यथाप्रवृत्तकरण होता है, आठवें अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में अपूर्वकरण होता है और नौवें अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान में अनिवृत्तिकरण होता है। यहाँ भी स्थितिघात आदि कार्य होते हैं। इतनी विशेषता है कि चौथे से सातवें गुणस्थान तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं, उनमें उसी प्रकृति का गुणसंक्रम होता है, जिसके सम्बन्ध में वे परिणाम होते हैं, किन्तु अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में समस्त अशुभ-प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है।

अपूर्वकरण के काल में से संख्यातवाँ भाग बीत जाने पर निद्रा और प्रचला (निद्राद्विक) का बन्ध-विच्छेद होता है। उसके पश्चात् और भी काल बीतने पर सुरद्विक, पंचेन्द्रिय जाति इत्यादि तीस प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद होता है। तथा अन्तिम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बन्ध-विच्छेद होता है। तदनन्तर अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान होता है। उसमें भी पूर्ववत् स्थितिघात आदि कार्य होते हैं।

अन्तरकरण के नियम

अनिवृत्तिकरण के काल में से संख्यात भाग व्यतीत हो जाने पर चारित्रमोह की २१ प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है।[२] जिन कर्मों का उस समय बन्ध और उदय

१. पंचम कर्मग्रन्थ, गा. ९८ विवेचन, (पं. कैलाशचन्द्र जी जैन), पृ. ३१३ से ३१६ तक
२. (क) आवश्यक निर्युक्ति गा. ११६, की टीका के तथा विशेषावश्यक भाष्य गा.

(शेष पृष्ठ ५११ पर)

होता है, उसके अन्तरकरण-सम्बन्धी दलिकों को प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति में क्षेपण करता है। जैसे-पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाला पुरुषवेद का। जिन कर्मों का उस समय उदय ही होता है, बन्ध नहीं, उनके अन्तरकरण-सम्बन्धी दलिकों को प्रथम स्थिति में ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थिति में नहीं। जैसे-स्त्रीवेद के उदय से श्रेणी चढ़ने वाला स्त्रीवेद का। जिन कर्मों का उदय नहीं होता, अपितु उस समय केवल बन्ध ही होता है, उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों का द्वितीय स्थिति में ही क्षेपण करता है, प्रथम स्थिति में नहीं। जैसे-संज्वलन क्रोध के

(पृष्ठ ५१० का शेष)

१२८८ के अनुसार यह क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले जीवों की अपेक्षा से बताया गया है। यदि स्त्रीवेद के उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले नपुंसकवेद का उपशम करता है, फिर क्रमशः पुरुषवेद, हास्यादिषट्क और स्त्रीवेद का उपशम करता है। नपुंसकवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाला जीव पहले स्त्रीवेद का उपशम करता है, तत्पश्चात् क्रमशः पुरुषवेद, हास्यादिषट्क और नपुंसकवेद का उपशम करता है। निष्कर्ष यह है कि जिस वेद के उदय से जीव श्रेणि पर चढ़ता है, उस वेद का उपशम सबसे अन्त में करता है, जैसा कि विशेषावश्यकभाष्य में कहा है-

तत्तो य दंसणतिगं तओ अणुइण्णं जहन्नयर-वेयं।
तत्तो वीयं छक्कं तओ य वेयं सव्वमुदित्रं॥ १२८८॥

अर्थात्-अनन्तानुबन्धी की उपशमना के पश्चात् दर्शन (मोह) त्रिक का उपशम करता है। तदनन्तर अनुदीर्ण दो वेदों में से जो वेद हीन होता है, उसका उपशम करता है, तत्पश्चात् दूसरे वेद का उपशम करता है। उसके पश्चात् हास्यादिषट्क का और अन्त में जिस वेद का उदय होता है, उसका उपशम करता है।

(ख) कर्मप्रकृति गा. ६५ (उपशमना प्रकरण) में इस क्रम को इस प्रकार बताया गया है-यदि स्त्री उपशम श्रेणि पर चढ़ती है तो पहले नपुंसकवेद का उपशम करती है, तत्पश्चात् चरम समय मात्र उदयस्थिति को छोड़कर स्त्रीवेद के शेष सभी दलिकों का उपशम करती है। तदनन्तर, अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि ७ प्रकृतियों का उपशम करती है। तथा यदि नपुंसक उपशम श्रेणी पर चढ़ता है तो एक उदयस्थिति को छोड़कर शेष नपुंसकवेद तथा स्त्रीवेद का एक साथ उपशम करता है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि ७ प्रकृतियों का उपशम करता है। देखें यह गाथा-

उदयं वज्जिय इत्थी इत्थिं समयइ अवेयगा सत्त ।
तह वरिसवरो वरिसवरित्थिं समगं कमारद्धे॥ ६५॥

(ग) लब्धिसार गा. ३६१, ३६२ में कर्मग्रन्थ के अनुरूप ही प्ररूपणा है।

उदय से श्रेणी चढ़ने वाला शेष संज्वलन कषायों का। किन्तु जिन कर्मों का न तो बन्ध ही होता है, न उदय ही होता है, उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों का अन्य प्रकृतियों में क्षेपण करता है। जैसे- द्वितीय और तृतीय कषाय का।

इस चतुर्भंगी का स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

(१) जिन कर्मों का उस समय बन्ध और उदय होता है, उनके दलिकों की प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति में क्षेपण किया जाता है।

(२) जिन कर्मों का उस समय उदय ही होता है, उनको प्रथम स्थिति में ही क्षेपण किया जाता है।

(३) जिन कर्मों का उस समय बन्ध ही होता है, उनके दलिकों को द्वितीय स्थिति में क्षेपण किया जाता है।

(४) जिन कर्मों का न तो उदय होता है और न बन्ध, उनके दलिकों को अन्य प्रकृतियों में क्षेपण किया जाता है।[१]

क्रमशः नोकषायों और कषायों के उपशमन की क्रमप्ररूपणा

अन्तरकरण करके नपुंसकवेद का उपशम करता है, उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का उपशम और उसके हास्यादिषट्क उपशम होते ही पुरुषवेद के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है।

हास्यादिषट्क की उपशमना के अनन्तर समय कम दो आवलिकामात्र में सकल पुरुषवेद का उपशम करता है। जिस समय में हास्यादिषट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। जब संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक आवलिका काल शेष रह जाता है, तो संज्वलन क्रोध के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण, क्रोध का उपशम हो जाता है। उस समय संज्वलन क्रोध की प्रथम परिस्थितिगत एक आवलिका को और ऊपर की स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका काल में संज्वलन क्रोध का उपशम हो जाता है।

जिस समय संज्वलन क्रोध के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन मान की द्वितीय स्थिति से दलिकों को ले-

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ , गा. ९८ पर विवेचन (पं. कैलाशचन्द्र जी), पृ. ३१७, ३१८

लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करने के प्रथम समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मान का एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन मान की प्रथम स्थिति में समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान के दलिकों का संज्वलन-मान में प्रक्षेप नहीं किया जाता, किन्तु संज्वलन माया आदि में किया जाता है। एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन मान के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो जाता है।[१] उस समय में संज्वलन मान की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और एक समय कम दो आवलिका में बांधे गए ऊपर की स्थितिगत कर्मदलिकों को छोड़कर शेष दलिकों का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिका में संज्वलन मान का उपशम करता है।

जिस समय संज्वलन मान के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है और उसी समय से लेकर तीनों माया का एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन माया की प्रथम स्थिति में समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिकों का संज्वलन माया में प्रक्षेप नहीं करता, किन्तु संज्वलन-लोभ में प्रक्षेप करता है। एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन माया के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो जाता है। उस समय संज्वलन माया की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और समय कम दो आवलिका में बांधे गए ऊपर के स्थितिगत दलिकों को छोड़कर शेष का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिका में संज्वलन माया का उपशम करता है।

जब संज्वलन माया के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन लोभ की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है। लोभ का जितना वेदन-काल होता है, उसके तीन भाग करके उनमें से दो भाग प्रमाण प्रथम स्थिति का काल रहता है। प्रथम विभाग में पूर्व स्पर्द्धकों से दलिकों को लेकर अपूर्व स्पर्द्धक करता है। अर्थात्- पहले के स्पर्द्धकों से दलिकों को ले-लेकर उन्हें अत्यन्त रसहीन कर देता है। द्वितीय

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ, उपशम श्रेणिद्वार व्याख्या (पं. कैलाशचन्द्र जी), पृ. ३१८ से ३२० तक

त्रिभाग में पूर्वस्पर्द्धकों और अपूर्व स्पर्द्धकों से दलिकों को लेकर अनन्त कृष्टि करता है। अर्थात्- उनमें अनन्तगुणा हीन रस करके उन्हें अन्तराल से स्थापित कर देता है। कृष्टिकरण के काल से अन्त समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करता है। उसी समय में संज्वलन लोभ के बन्ध का विच्छेद हो जाता है। और बादर संज्वलन लोभ के उदय और उदीरणा का भी विच्छेद हो जाता है। इसके साथ ही नौवें गुणस्थान का अन्त हो जाता है। उसके बाद दसवाँ सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान होता है। सूक्ष्म सम्प्राय का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आने पर ऊपर की स्थिति से कुछ कृष्टियों को लेकर सूक्ष्म सम्पराय के काल के बराबर प्रथम स्थिति को करता है और एक समय कम दो आवलिका में बंधे हुए शेष दलिकों का उपशम करता है। सूक्ष्म-सम्पराय के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ का उपशम हो जाता है। उसी समय में ज्ञानावरणीय की पांच, दर्शनावरणीय की चार, अन्तराय की पांच और यश:कीर्ति तथा उच्चगोत्र, इन प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अनन्तर समय में ग्यारहवाँ उपशान्तकषाय गुणस्थान आ जाता है। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की २८ ही प्रकृतियों का उपशम रहता है।[१]

कुछ शंकाएँ : कुछ समाधान

यहाँ एक शंका उपस्थित होती है-एक ओर तो यह विधान है कि सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव ही उपशमश्रेणी[२] का प्रारम्भ करता है, दूसरी ओर यह विधान

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ, उपशम श्रेणिद्वार व्याख्या (पं. कैलाशचन्द्र जी जैन) से साभार उद्धृत, पृ. ३२१, ३२२

२. (क) अन्नयरो पडिवज्जइ दंसण-समणम्मि उ नियट्टी॥-(विशेषावश्यक भाष्य गा. १२९१) अर्थात्-अन्य आचार्यों का कहना है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत में से कोई भी एक उपशम श्रेणी चढ़ता है।

इस मतभेद का कारण यह प्रतीत होता है कि जिन्होंने दर्शनमोहनीय के उपशम (द्वितीय उपशम-सम्यक्त्व के प्रारम्भ) से ही उपशम श्रेणि का प्रारम्भ माना है, वे चौथे आदि गुणस्थानवर्ती जीवों को उपशम श्रेणि का प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व चौथे आदि गुणस्थानों में ही प्राप्त किया जाता है, किन्तु जो चारित्र मोहनीय के उपशम से (या उपशमचारित्र के लिये किये गए प्रयत्न से) उपशम श्रेणि का प्रारम्भ मानते हैं, वे सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव को ही उपशम श्रेणि का प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि सप्तम गुणस्थान में ही यथाप्रवृत्तकरण होता है। अधिक कर्मशास्त्री इसी मत को प्रामाणिक मानते हैं।

-सं.

(ख) पंचम कर्मग्रन्थ उपशम श्रेणि-द्वार , (पं. कैलाशचन्द्र जी) से साभार उद्धृत पृ.३२० से ३२४

कि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, मिथ्यात्व और सम्यग्-मिथ्यात्व का उपशम करने पर सप्तम गुणस्थान होता है, क्योंकि उनका उदय हो तो सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।[१] ऐसी स्थिति में उपशमश्रेणी में पुनः उनका (अनन्तानुबन्धी आदि का) उपशम बतलाने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि वेदक सम्यक्त्व, देशचारित्र और सकलचारित्र की प्राप्ति उक्त प्रकृतियों के क्षयोपशम से होती है और वेदक-सम्यक्त्वपूर्वक ही उपशमश्रेणी में उपशम-सम्यक्त्व होता है। अतः उपशमश्रेणी का प्रारम्भ करने से पहले उक्त प्रकृतियों का क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम।

फिर भी शंका होती है कि उदय में आए हुए कर्मदलिकों का क्षय और सत्ता में विद्यमान (अनुदित) कर्मदलिकों का उपशम होने पर क्षयोपशम होता है, फिर क्षयोपशम और उपशम में क्या अन्तर रहा?

इसका समाधान है-क्षयोपशम में घातक कर्मों का प्रदेशोदय रहता है, जबकि उपशम में उनका किसी भी तरह का उदय नहीं होता। यही क्षयोपशम और उपशम में अन्तर है।

एक शंका यह होती है कि यदि क्षयोपशम के होने पर भी अनन्तानुबन्धी कषाय आदि का प्रदेशोदय होता है, तो सम्यक्त्व आदि का घात क्यों नहीं होता?

समाधान यह है- उदय दो प्रकार का होता है- एक विपाकोदय (फलोदय) और दूसरा प्रदेशोदय। विपाकोदय होने से गुण का घात होता है, किन्तु प्रदेशोदय से नहीं, क्योंकि वह अत्यन्त मन्द होता है।[१]

अतः क्षयोपशम और उपशम में अन्तर होने के कारण उपशमश्रेणी में अनन्तानुबन्धी आदि का उपशम किया जाता है।

उपशम श्रेणी में मोहनीय कर्म की सर्वप्रकृतियों का उपशम : लाभ-हानि

निष्कर्ष यह है कि उपशमश्रेणी में मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का पूरी तरह से उपशम किया जाता है। उपशम कर देने पर भी उन कर्मों का अस्तित्व (सत्ता) तो बना ही रहता है। जैसे- गंदले पानी से भरे हुए घड़े में फिटकरी आदि

---

१. देखें भगवती सूत्र में-
एवं खलु गोयमा! मए दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं पएसकम्मे य अणुभावकम्मे य।
तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ। तत्थ णं जं तं अणुभावकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ, अत्थेगइयं नो वेएइ।
-भगवती. विशेषा.भाष्य कोट्याचार्य टीका, पृ. ३८२ में उद्धृत।

डाल देने से, पानी के साथ मिली हुई गंदगी उसके तल में बैठ जाती है। पानी (ऊपर से) निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गंदगी ज्यों की त्यों मौजूद रहती है। उसी तरह उपशमश्रेणी में जीव के परिणामों को कलुषित करने वाला प्रधान मोहनीय कर्म शान्त कर दिया जाता है। अपूर्वकरण वगैरह परिणाम ज्यों-ज्यों ऊँचे उठते जाते हैं, त्यों-त्यों मोहनीय रूपी धूलि के कण-स्वरूप उसकी उत्तर-प्रकृतियाँ एक के बाद एक शान्त होती चली जाती है। इस प्रकार उपशमित की गई प्रकृतियों में न तो स्थिति और अनुभाग (रस) को घटाया जा सकता है और न ही उन्हें बढ़ाया जा सकता है, और न उनका उदय या उदीरणा हो सकती है और न ही उन्हें अन्य प्रकृति के रूप में संक्रमित किया जा सकता है। उपशम करने के ये ही कुछ लाभ हैं। मगर उपशम तो केवल अन्तर्मुहूर्त काल के लिये किया जाता है।

उपशम श्रेणी के पश्चात् शान्त कषाय, पुनः उत्तेजित और पतन

अतः दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का उपशम करके जीव जब ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचता है, तब कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात्, शान्त हुए कषाय पुनः उसी तरह उठ खड़े होते हैं, जैसे-शहर में उपद्रव करने वाले गुंडे या अराजक तत्व पुलिसबल को आते देख इधर-उधर छिप जाते हैं और उसके जाते ही पुनः उपद्रव मचाने लगते हैं। फलतः वह जीव जिस क्रम से ऊपर चढ़ा था, उसी क्रम से नीचे उतरना शुरू कर देता है। और ज्यों-ज्यों नीचे उतरता जाता है, त्यों-त्यों चढ़ते समय जिस-जिस गुणस्थान में जिन-जिन प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद किया था, उस-उस गुणस्थान में आने पर वे प्रकृतियाँ पुनः बंधने लगती हैं। उतरते-उतरते वह सातवें या छठे गुणस्थान में ठहरता है यदि वहाँ भी स्वयं को नहीं संभाल पाता है, तो पांचवें और चौथे गुणस्थान में आ पहुँचता है। यदि अनन्तानुबन्धी का उदय आ जाता है, तो सास्वादन सम्यग्दृष्टि[१] होकर पुनः मिथ्यात्व में पहुँच जाता है।[२] इस प्रकार सब किया कराया चौपट हो जाता है।

---

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ, उपशम श्रेणिद्वार, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से साभार उद्धृत, पृ. ३२४, ३२५

२. (क) अन्यत्राऽप्युक्तम्-
उवसंतं कम्मं जं न तओ कढेइ न देइ उदए वि।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उ क्खड्ढए तं तु॥
-कर्मग्रन्थ भा. ५ स्वो.टी. पृ. १३१

(शेष पृष्ठ ५१७ पर)

किन्तु इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है कि यदि पतनोन्मुखी उपशमश्रेणी आरोहक फिसलते-फिसलते छठे गुणस्थान में आकर संभल जाता है तो पुनः उपशम श्रेणी चढ़ सकता है, क्योंकि कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि कर्मशास्त्रों में एक भव में दो बार उपशम-श्रेणी-आरोहण का उल्लेख पाया जाता है। परन्तु जो जीव दो बार उपशमश्रेणी चढ़ता है, वह जीव उसी भव में क्षपकश्रेणी नहीं चढ़ सकता। इसके विपरीत जो एक बार उपशमश्रेणी चढ़ता है, वह दूसरी बार क्षपकश्रेणी भी चढ़ सकता है। यह कर्मग्रान्थिकों का मत है। सैद्धान्तिकों के मतानुसार तो एक जीव एक भव में एक ही श्रेणी चढ़ सकता है।[१]

इस प्रकार उपशम श्रेणी का क्रम, स्वरूप और कार्य तथा सफलता-विफलता का उल्लेख जानना चाहिए।

(पृष्ठ ५१६ का शेष)

(ख) उवसामं उवणीया, गुणमहया जिणचरित्त-सरिसं पि।
पडिवायंति कसाया, किं पुण सेसे सरागत्थे॥ ११८॥ -आवश्यक निर्युक्ति
अर्थात्-गुणवान् पुरुष के द्वारा उपशान्त किये हुए कषाय जिन भगवान् के सदृश चारित्र वाले व्यक्ति का भी पतन करा देती है, फिर अन्य सरागी पुरुषों का तो कहना ही क्या?

(ग) पज्जवसाणे सो वा होइ पमत्तो अविरओ वा॥ -विशेषा. भाष्य, गा. १२९०
टीका-'पज्जवसाणे' तस्याः प्रतिपतन् स वा भवेत् अप्रमत्तसंयतो वा, स्यात् प्रमत्तो वा, अविरति सम्यग्दृष्टिर्वा, 'वा' शब्दात् सम्यक्त्वमपि जह्यात्।
श्रेणि से गिरकर अप्रमत्त-संयत, प्रमत्तसंयत (देशविरत) या अविरत सम्यग्दृष्टि हो जाता है। 'वा' शब्द से सम्यक्त्व को भी छोड़ सकता है।

(घ) बृहद्वृत्ति के अनुसार-श्रेणि की समाप्ति पर वहाँ से लौटते हुए जीव सातवें या छठे गुणस्थान में आकर ठहरता है। यदि वह काल कर जाता है, तो मरकर अविरत सम्यग्दृष्टि देव होता है। कर्मशास्त्रियों के मतानुसार श्रेणि से गिरकर जीव पहले गुणस्थान तक भी जाता है। -विशे. भाष्य, वृहद्वृत्ति का भावानुवाद

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ, उपशम श्रेणि द्वार, व्याख्या (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. ३२६ से ३२८

(ख) विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार-उपशम श्रेणि से गिरकर मनुष्य उस भव में मोक्ष नहीं जा सकता और कोई-कोई तो अधिक से अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल-परावर्त काल तक संसार में भ्रमण करते हैं। कहा भी है-
तम्मि भवे निव्वाणे न लभइ उक्कोसओ व संसारं।
पोग्गल-परियट्टद्धं देसूणं कोइ हिंडेज्जा॥ १३१५॥ -वि. भाष्य

(शेष पृष्ठ ५१८ पर)

क्षपक श्रेणी द्वारा ऊर्ध्वारोहण का मार्ग

उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी के कार्य और फल में अन्तर

यद्यपि उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी इन दोनों के द्वारा ऊर्ध्वारोहण करने वाले मोहनीय कर्म के उपशम और क्षय करने के लिए अग्रसर होते हैं, किन्तु उपशमश्रेणी में तो मोहकर्म की प्रकृतियों के उदय को शान्त किया जाता है, मगर प्रकृतियों की सत्ता बनी रहती है, केवल अन्तर्मुहूर्त भर के लिए वे अपना फल नहीं दे पातीं। किन्तु क्षपकश्रेणी में तो उन प्रकृतियों की सत्ता ही निर्मूल (नष्ट) कर दी जाती है, जिससे उनके पुनः उदय में आने की भीति ही नहीं रहती। यही कारण है कि क्षपकश्रेणी में साधक का पतन नहीं होता। उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों का केन्द्र बिन्दु या निशाना मोहनीय कर्म है, किन्तु उपशमश्रेणी में मोहनीय कर्म का उपशम होने से पुनः उसका उदय हो जाता है, जिससे पतन होने पर इतनी सब की हुई पारिणामिक शुद्धि और ऊर्ध्वारोहण की मेहनत व्यर्थ हो जाती है। यद्यपि कर्मशास्त्रियों के अनुसार दूसरी बार वह जीव क्षपकश्रेणी पर चढ़ सकता है, बशर्ते कि वह छठे गुणस्थान में आकर संभल जाए, इतना आशास्पद आश्वासन है। किन्तु क्षपकश्रेणी में मोहनीय कर्म का समूल क्षय होने से पुनः उदय नहीं होता और उदय न होने से पतन भी नहीं होता, वह पारिणामिक शुद्धि और ऊर्ध्वारोहण की मेहनत व्यर्थ नहीं जाती, अपितु पारिणामिक शुद्धि पूर्ण होने से आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है, केवलज्ञानी हो जाती है। उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी में दूसरा अन्तर यह है कि उपशमश्रेणी में केवल मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का ही उपशम होता है, जबकि क्षपकश्रेणी में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों

(पृष्ठ ५१७ का शेष)

(ग) जो दुवे वारे उवसम-सेढिं पडिवज्जइ, तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि। जो इक्कंसि उवसग सेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्ज त्ति।

–सप्ततिका चूर्णि, पंचम कर्मग्रन्थ टीका पृ. १३२

(घ) अद्धाखये पडंतो अधापवत्तो त्ति पडदि हु कमेण। सुज्झंतो आरोहदि पडदि हु सो संकिलिस्संतो॥ ३११॥ जीव उपशम श्रेणि में अधःकरण पर्यन्त तो क्रम से गिरता है। उसके बाद यदि पुनः विशुद्ध परिणाम होते हैं, तो पुनः ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है। यदि संक्लेश परिणाम होते हैं तो नीचे के गुणस्थानों में आता है।

(ङ) एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।

–कर्मप्रकृति गा. ६४ पंच-संग्रह (उपशम) गा. ९३

के साथ-साथ नामकर्म की कुछ प्रकृतियों व ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों का भी क्षय होता है।[१]

क्षपकश्रेणी में क्षय होने वाली ६३ प्रकृतियाँ

क्षपकश्रेणी में जिन प्रकृतियों का क्षय किया जाता है, उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं-अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, मनुष्यायु के सिवाय बाकी की तीन आयु, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति), स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राएँ, उद्योतनाम, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादिषट्नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलन-कषाय, निद्राद्वय (निद्रा और प्रचला), पांच अन्तराय, चार दर्शनावरण और पांच ज्ञानावरण; इन ६३ कर्मप्रकृतियों का क्षपकश्रेणीवर्ती जीव क्षय करता है और केवलज्ञानी होता है।[२]

क्षपकश्रेणी में प्रकृतियों के क्षय का क्रम

क्षपकश्रेणी में मोहनीय कर्म आदि प्रकृतियों के क्षय (क्षपण) का क्रम इस प्रकार है- आठ वर्ष से अधिक आयु वाला उत्तम संहनन का धारक, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करता है।[३] सर्वप्रथम वह अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का एक साथ क्षय करता है और उसके शेष अनन्तवें

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ क्षपक श्रेणिद्वार, (मरुधरकेसरी जी) पृ. ३८८, ३८९

२. (क) अण-मिच्छ-मीस-सम्मं, ति आऊ-इग-विगल-थीण-तिगुज्जोवं।
तिरि-नरय-थावर-दुगं, साहारायव-अइ नपुत्थीए॥ ९९॥
छग-पुं-संजलणा-दो-निद्द-विग्घ-वरणक्खए नाणी।

(ख) तुलना करें-अण-मिच्छ-मीस-सम्मं, अट्ठ नपुंसित्थि-वेय-छक्कं च।
पुमवेयं च खवेइ कोहाइए य संजलणो॥ २१॥
गइ अणुपुव्वि दो दो जाती नामं च जाव चउरिंदी।
आयावं उज्जोयं, थावरनामं च सुहुमं च॥ १२२॥
साहारमपज्जत्तं निद्दानिद्दं च पयल-पयलं च।
थीणं खवेई ताहे अवसेसं जं च अट्ठण्हं॥ १२३॥

३. (क) पंचम कर्मग्रन्थ, क्षपक श्रेणिद्वार, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. ३२८, ३२९, ३३०

(ख) पडिवत्तीए अविरय-देस-पमत्तापमत्त-विरयाणं।
अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो॥ १३२१॥ -विशेषावश्यक भाष्य

(शेष पृष्ठ ५२० पर)

भाग को मिथ्यात्व में स्थापन करता है। मिथ्यात्व और उस अंश का एक साथ क्षय करता है। उसके पश्चात् इस प्रकार क्रमशः सम्यग् और सम्यक्त्व-मोहनीय प्रकृतियों का क्षय करता है।

जब सम्यग्-मिथ्यात्व की स्थिति एक आवलिकामात्र बाकी रह जाती है, तब सम्यक्त्व-मोहनीय की स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी रहती है। उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण (काल) खण्ड-खण्ड कर-करके खपाता है। जब उसके अन्तिम खण्ड को खपाता है, तब उस क्षपक को कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरण के काल में यदि कोई जीव मरता है, तो वह चारों गतियों में से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है।

यदि क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ[१] बद्धायु जीव करता है तो अनन्तानुबन्धी के क्षय के पश्चात् उसका मरण होना सम्भव है। उस अवस्था में मिथ्यात्व का उदय होने पर वह जीव पुनः अनन्तानुबन्धी का बन्ध करता है। क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में नियम से अनन्तानुबन्धी का बन्ध होता है। किन्तु मिथ्यात्व के क्षय हो जाने पर पुनः अनन्तानुबन्धी का बन्ध नहीं होता। बद्धायु होने पर भी यदि उस समय मरण (काल) नहीं करता है, तो अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोह का क्षपण करने के बाद वह वहीं ठहर जाता है; चारित्रमोहनीय के क्षपण करने का प्रयत्न नहीं करता है। यदि अबद्धायु होता है तो उस श्रेणि को समाप्त (पार) करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, और फिर मुक्त हो जाता है। अतः अबद्धायुष्क सकल श्रेणि को समाप्त (पार) करने वाले मनुष्य के तीन आयु-देवायु, मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु का अभाव तो स्वतः ही हो जाता है तथा पूर्वोक्त क्रम से अनन्तानुबन्धी आदि चार तथा दर्शनत्रिक का क्षय चौथे आदि चार गुणस्थानों में कर देता है।

(पृष्ठ ५१९ का शेष)

(ग) दिगम्बर परम्परा में चारित्रमोहनीय के क्षपण से ही क्षपक श्रेणि मानी गई है, जैसा कि उपशम श्रेणि का आरोहक सप्तम गुणस्थानवर्ती माना गया था, वैसा ही क्षपक श्रेणि आरोहक को भी मानना। क्योंकि चारित्रमोहनीय के क्षपण से ही क्षपक श्रेणि मानी जाती है।

(घ) पढम कसाए समयं खवेइ अंतोमहुत्तमेत्तेणं।
तत्तो च्चिय मिच्छत्तं तओ य मीसं त सम्मं॥ १३२२॥ —विशेषावश्यक भाष्य

१. बद्धाउ-पडिवन्नो पढम-कसायक्खए जइ मरेज्ज।
तो मिच्छतोदयओ विणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि॥ १३२३॥ —विशेषा. भाष्य
बद्धाऊ-पडिवन्नो नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ।
इयरोऽणुवरओ च्चिय सयलं सेढिं समाणेइ॥ १३३३॥ —विशेषा. भाष्य

इस प्रकार दर्शनमोहक्षपण के सन्दर्भ में दर्शनमोहसप्तक का क्षय करने के पश्चात् चारित्रमोहनीय का क्षय (क्षपण) करने के लिए यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है। तीन करणों का स्थान, क्रम कार्य और फल का वर्णन उपशम श्रेणि के निरूपण के सन्दर्भ में कर आए हैं। परन्तु यहाँ (चारित्रमोह) क्षपक श्रेणि के सन्दर्भ में अपूर्वकरण में स्थितिघात आदि के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय की ८ प्रकृतियों का इस प्रकार क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उनकी स्थिति पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग बीत जाने पर स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकद्विक, तिर्यञ्चद्विक, एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय-त्रिक (ये चार जातियाँ) स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण ; इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति उद्वलना-संक्रमण के द्वारा उद्वलना होने पर पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। उसके बाद गुण संक्रमण के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों में उनका प्रक्षेप कर-करके उन्हें बिलकुल क्षीण कर दिया जाता है।[१]

यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय का प्रारम्भ पहले ही कर दिया जाता है, तथापि अभी तक क्षीण नहीं हो पाते हैं, अन्तराल में ही पूर्वोक्त सोलह कषायों (षोडश प्रकृतियों) का क्षपण किया जाता है। उनके क्षय के पश्चात् उन आठ कषायों का भी अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय कर देता है। तत्पश्चात् नौ

---

१. दर्शनमोह-क्षपण के सम्बन्ध में 'लब्धिसार' (गा. ११०, १११) में लिखा है-कर्मभूमि का मनुष्य, तीर्थंकर, केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भ करता है। अधःकरण के प्रथम समय से लेकर जब तक मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्रमोहनीय द्रव्य सम्यक्त्व-प्रकृतिरूप संक्रमण करता है, तब तक के अन्तर्मुहूर्त-काल को दर्शनमोह के क्षपण का **प्रारम्भक काल** कहा जाता है।और उस प्रारम्भक-काल के अनन्तर समय से लेकर क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के प्रथम समय तक का काल **निष्ठापक** कहा जाता है। सो निष्ठापक तो जहाँ प्रारम्भ किया था, वहीं अथवा सौधर्मादि स्वर्गों में, या भोगभूमि में, अथवा घर्मा (घम्मा) नामक प्रथम नरकभूमि में होता है; क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य (कृतकरण) वेदक-सम्यग्दृष्टि मरण करके चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है। वह नियम है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अधिक से अधिक चौथे भव में नियम से मोक्ष चला जाता है। कृतकृत्य वेदक का काल अन्तर्मुहूर्त है। उस अन्तर्मुहूर्त में यदि मरण हो तो गोम्मटसार कर्मकाण्ड (५६२ गा.)के अनुसार- उसके प्रथम भाग में मरने पर देवगति में, दूसरे भाग में मरने पर देवगति और मनुष्यगति में, तथा तीसरे भाग में मरने पर देव-मनुष्य-तिर्यञ्चगति में और चौथे भाग में मरने पर चारों गतियों में कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्वी उत्पन्न होता है।

नोकषाय और चार संज्वलन कषायों में अन्तकरण करता है।[१] फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादिषट्क, इन नोकषायों का क्षपण करता है। तदनन्तर पुरुषवेद के तीन खण्ड करके दो खण्डों का एक साथ क्षपण करता है; और तीसरे खण्ड को संज्वलन क्रोध में मिला देता है। यह क्रम पुरुषवेद के उदय से (क्षपक-) श्रेणि-आरोहण करने वाले के लिये है। यदि स्त्री क्षपक श्रेणी पर आरोहण करती है तो पहले नपुंसकवेद का क्षपण करती है। उसके पश्चात् क्रमशः पुरुषवेद, ६ नोकषाय एवं स्त्रीवेद का क्षपण करती है। यदि नपुंसक श्रेणी-आरोहण करता है तो वह पहले स्त्रीवेद का, तदनन्तर पुरुषवेद, छह नोकषाय तथा अन्त में नपुंसकवेद का क्षपण करता है।[२] निष्कर्ष यह है कि जिस वेद के उदय से श्रेणि चढ़ता है, उसका क्षपण सबसे अन्त में होता है।

वेदत्रय के क्षपण के बाद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षपण उक्त प्रकार से करता है। अर्थात् संज्वलन क्रोध के तीन खण्ड करके दो खण्डों का तो एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्ड को संज्वलन मान में मिला देता है। इस प्रकार संज्वलन मान के तीन खण्ड करके दो खण्डों का एक साथ क्षय कर मान के तीसरे खण्ड को संज्वलन माया में मिला देता है। इसी प्रकार की प्रक्रिया से माया के तीसरे खण्ड को लोभ में मिला देता है। प्रत्येक के क्षपण करने का काल अन्तर्मुहूर्त है और श्रेणिकाल अन्तर्मुहूर्त है, किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त बड़ा है।

तदनन्तर संज्वलन लोभ के तीन खण्ड करके दो खण्डों का तो एक साथ क्षपण करता है, किन्तु तीसरे खण्ड के संख्यात खण्ड करके चरम खण्ड के सिवाय शेष खण्डों को भिन्न-भिन्न समय में खपाता है। फिर उस चरम खण्ड के भी असंख्यात खण्ड करके उन्हें दसवें गुणस्थान में भिन्न-भिन्न समय में खपाता है। इस प्रकार लोभकषाय का पूर्णतया क्षय होने पर अनन्तर समय में ही **क्षीणकषाय** हो जाता है।[३]

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ, क्षपक श्रेणिद्वार व्याख्या (मरुधरकेसरी जी), पृ. ३९१ से ३९३

२. किसी किसी का मत है कि क्षपकश्रेणि-आरोहक पहले १६ कषाय-प्रकृतियों के ही क्षय का प्रारम्भ करता है और उनके मध्य में ८ कषायों का क्षय करता है। तत्पश्चात् १६ प्रकृतियों का क्षय करता है।

३. (क) गो. कर्मकाण्ड में मतान्तर का उल्लेख-

णत्थि अणं उवसमणे खवगापुव्वं खवित्तु अट्ठ य।
पच्छा सोलादीणं खवणं, इदि केइ णिद्दिट्ठं॥ ३९१॥

(शेष पृष्ठ ५२३ पर)

क्षीणकषाय गुणस्थान के काल के संख्यात भागों में से एक भाग काल बाकी रहने तक मोहनीय कर्म के सिवाय शेष कर्मों में स्थितिघात वगैरह पूर्ववत् होते हैं। उसमें पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण , पांच अन्तराय और दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति को क्षीणकषाय के काल के बराबर करता है। किन्तु निद्राद्विक की स्थिति को एक समय कम करता है। इनकी स्थिति के बराबर होते ही इनमें स्थितिघात आदि (पंचविध) कार्य होने बन्द हो जाते हैं किन्तु शेष प्रकृतियों के ये होते रहते हैं। क्षीण कषाय के उपान्त समय में निद्राद्विक का क्षय करता है। और शेष चौदह प्रकृतियों का अन्तिम में क्षय करता है। तत्पश्चात् उसके अनन्तर समय में वह सयोगिकेवली हो जाता है।[१]

(पृष्ठ ५२२ का शेष)

अर्थात्-उपशम श्रेणि में अनन्तानुबन्धी की सत्ता (सत्व) नहीं होती, और क्षपक अनिवृत्तिकरण पहले ८ कषायों का क्षपण करके पश्चात् १६ आदि प्रकृतियों का क्षपण करता है; ऐसा कोई कहते हैं।

(ख) पंचसंग्रह के अनुसार-स्त्रीवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने पर पहले नपुंसकवेद का क्षय होता है, फिर स्त्रीवेद का और तदनन्तर पुरुषवेद व हास्यादि छह का क्षय होता है। नपुंसकवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने पर नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का एक साथ क्षय होता है। उसके बाद पुरुषवेद और हास्यादिषट्क का क्षय होता है। देखें वह गाथा-

इत्थी-उदए नपुंसं इत्थीवेयं च सत्तगं च कमा।
अपुमोदयंमि जुगवं नपुंस-इत्थी पुणो सत्त॥ -पंचसंग्रह गा. ३४६

(ग) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ३८८ में भी यही क्रम बताया है।

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ, क्षपक श्रेणिद्वार व्याख्या (मरुधरकेसरीजी), पृ. ३९३, ३९४

(ख) देखें-विशेषावश्यक भाष्य में इस क्रम का चित्रण-

दंसण-मोह-खवणे णियट्टि-अणियट्टि बायरो परओ।
जाव उ सेसो संजलणलोभमसंखेज्ज भागोत्ति॥ १३३८॥
तदसंखिज्जइ भागं समए समए खवेइ एक्केक्कं।
तत्थइ सुहुमरागो लोभाणू जावमेक्को वि॥ १३३९॥
खीणे खवगनियंठो वीसमए मोहसागरं तरिउं।
अंतोमुहुत्तमुदहिं तरिउं थाहे जहा पुरिसो॥ १३४०॥
छउमत्थकाल-दुचरिमसमए निद्दं खवेइ पयलं च।
चरिमे केवललाभो खीणावरणान्तरायस्स॥ १३४१॥

(शेष पृष्ठ ५२४ पर)

सयोगिकेवली अवस्था की स्थिति तथा केवली भगवान् का कार्य

यह सयोगिकेवली अवस्था जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: कुछ कम एक पूर्वकोटि काल की होती है। इस कालावधि में केवली भगवान् स्व-पर-कल्याणार्थ

(पृष्ठ ५२३ का शेष)

(ग) मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्॥ -तत्त्वार्थ सूत्र १०/२

(घ) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ३३५ से ३३७ तक में क्षपक श्रेणि का क्रम विधान इस प्रकार है- असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत मनुष्य पहले ही की तरह अध:करण (यथाप्रवृत्तकरण), अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का एक साथ विसंयोजन करता है, अर्थात् -उन्हें १२ कषाय और नौ नोकषायरूप परिणमाता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके **दर्शनमोह का क्षपण** करने के लिए पुन: करणत्रय करता है। अनिवृत्तिकरण के काल में जब एक भाग काल बाकी रह जाता है और बहुभाग बीत जाता है, तब क्रमश: मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतियों का क्षपण करता है। और इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके पश्चात् **चारित्रमोह का क्षपण** करने के लिए क्षपकश्रेणि चढ़ता है। सर्वप्रथम सातवें गुणस्थान में अध:करण करता है। तत्पश्चात् आठवें गुणस्थान में पहुँच कर पूर्ववत् स्थितिघात, रसघात आदि कार्य करता है। फिर नौवें गुणस्थान में पहुंच कर नामकर्म की १३ और दर्शनावरण की ३, इस प्रकार १६ प्रकृतियों का क्षपण करता है। उसके बाद उसी गुणस्थान में क्रमश: ८ कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान, और संज्वलन-माया का क्षपण करता है। फिर दसवें से सीधा एकदम बारहवें गुणस्थान में पहुँच कर १६ प्रकृतियों का क्षपण करता है। तदनन्तर सयोगिकेवली होकर चौदहवें गुणस्थान में चला जाता है, और उसके उपान्त समय में ७२ प्रकृतियों का और अन्तिम समय में १३ प्रकृतियों का क्षपण करके अयोगि केवली मुक्त हो जाता है। -पंचम कर्मग्रन्थ (पं. कैलाशचन्द्र जी) पृ. ३३९ पर उद्धृत

(ङ) **क्षपक श्रेणि-आरोहक कौन हो सकते हैं?** इस सम्बन्ध में गोम्मटसार कर्मकाण्ड में बताया है कि नरकायु, तिर्यञ्चायु और देवायु इन तीनों की सत्ता के रहते क्षपकश्रेणि नहीं होती। नरकायु की सत्ता (सत्व) रहते देशविरत नहीं होते, तिर्यंचायु की सत्ता में महाव्रत नहीं होता और देवायु की सत्ता में क्षपक श्रेणि नहीं होती। अत: क्षपकश्रेणि का आरोहक मनुष्य ही होता है-वह चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थान में से किसी एक गुणस्थान वाला। क्षपक श्रेणि के आरोहक मनुष्य (नर नारी) के नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु की सत्ता नहीं होती है। -पंचम कर्मग्रन्थ परिशिष्ट पृ. ४५२

भव्य जीवों को प्रतिबोध, देशना तथा विहार, प्रचार आदि करते हैं। यदि उनके वेदनीयादि अघातिकर्मों की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है तो उनके समीकरण के लिये; यानी आयुकर्म की स्थिति के बराबर वेदनीयादि तीन अघाति कर्मों की स्थिति को करने के लिये समुद्घात करते हैं, जिसे जैनदर्शन में केवलि-समुद्घात कहते हैं। और उसके पश्चात् योग का निरोध करने के लिये उपक्रम करते हैं। यदि आयुकर्म के बराबर ही वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति हो तो समुद्घात नहीं करते हैं।[१]

योग निरोध का क्रम

योग के निरोध का क्रम इस प्रकार है- सबसे पहले बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग को रोकते हैं। तत्पश्चात् बादर वचनयोग को रोकते हैं। उसके बाद सूक्ष्म काययोग के द्वारा बादर काययोग को रोकते हैं। फिर सूक्ष्म मनोयोग को, और सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। इस प्रकार बादर, सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग और बादर काययोग को रोकने के बाद सूक्ष्म काययोग को रोकने के लिए सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाती ध्यान करते हैं। उस ध्यान में स्थितिघात आदि के द्वारा सयोगि-अवस्था के अन्तिम समय पर्यन्त आयुकर्म के सिवाय शेष कर्मों का अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से सब कर्मों की स्थिति अयोगि-अवस्था के काल के बराबर हो जाती है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि अयोगि-अवस्था में जिन कर्मों का उदय नहीं होता, उनकी स्थिति एक समय कम होती है।

सयोगि से अयोगि केवली होने के लिए अवशिष्ट प्रकृतियों के क्षय का पुरुषार्थ

सयोगि-केवली गुणस्थान के अन्तिम समय में साता या असाता वेदनीय में से कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिक अंगोपांग, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ-अशुभ-विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर , अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर और निर्माण, इन ३० प्रकृतियों के उदय और उदीरणा का सदा-सदा के लिए विच्छेद हो जाता है और उसके अनन्तर समय में अयोगि-केवली हो जाते हैं।[२]

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ, गा. ९९-१०० क्षपक श्रेणिद्वार-व्याख्या (मरुधरकेसरीजी), पृ. ३९४

२. (क) वही, क्षपक श्रेणी के सदर्भ में व्याख्या (मरुधरकेसरी), पृ. ३९४-३९५

(शेष पृष्ठ ५२६ पर)

२०

ऋणानुबन्ध : स्वरूप, कारण और निवारण

दीर्घमार्ग-यात्री के समान दीर्घसंसार-यात्री को भी कटु-मधुर अनुभव

प्राचीन काल में अधिकांश यात्रीगण लम्बी यात्रा करने के लिये पैदल यात्रा करते थे। बीच-बीच में वे पड़ाव डालते हुए चलते थे और रात्रिविश्राम करके दूसरे दिन सुबह अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देते थे। इस प्रकार जहाँ-जहाँ वे पड़ाव डालते थे, उस गाँव के लोग सज्जन होते तो उनका स्वागत करते थे, आहार-पानी से तथा आवासीय सुविधा देकर उनकी सेवा करते थे। इसके विपरीत यदि पड़ाव वाले गाँव के लोग दुर्जन होते या दुष्ट, उद्दण्ड या अपराधी प्रकृति के होते तो उन्हें लूट लेते, या आगे खदेड़ देते अथवा आहार-पानी देना तो दूर रहा, उन्हें अपने गाँव में ठहरने के लिये स्थान भी नहीं देते थे। अथवा लड़ाई-झगड़ा या बकझक करके उनके साथ दुर्व्यवहार करते थे। यात्रीगण भी आवेश और रोष में आकर उनके साथ गाली-गलौज या मारपीट तक करने पर उतारू हो जाते थे। इस प्रकार सुदूर मंजिल तक यात्रा में कई यात्रियों को कई कड़वे-मीठे अनुभव होते थे।

उनमें से कुछ यात्रीगण इस प्रकार के भी होते थे, कि वे यात्रा के दौरान जिस स्थान पर पड़ाव डालते, वहाँ जैसी-जैसी रहने-खाने की सुविधा-असुविधा मिलती, उसके अनुसार अपने आप को समभाव- पूर्वक एडजस्ट कर लेते। अगर उस पड़ाव वाले स्थान के लोग खराब प्रकृति के झगड़ालू होते तो भी वे उनके प्रति मधुरता से, प्रेम से, आत्मीयता से उन्हें अपना बना लेते और अपने भाग्यानुसार सुख-दुःख की प्राप्ति मानकर अपनी लम्बी यात्रा पूर्ण करते थे।

ठीक यही बात संसारयात्रियों के लिये कही जा सकती है। वे भी इसी तरह अपने-अपने कर्मानुसार एक गति से दूसरी गति में, एक योनि से दूसरी योनि में और एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक में तथा पंचेन्द्रियों में कभी देव, मनुष्य, तिर्यंच या नारक बनकर अपनी यात्रा करते रहते हैं। सांसारिक जीव-यात्रियों को भी गतियों और

उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि दोनों की मोक्ष की ओर दौड़

इस प्रकार उपशम श्रेणि और क्षपकश्रेणि दोनों के माध्यम से मोक्ष की ओर मुमुक्षु साधक की दौड़ शुरू होती है; परन्तु उपशम श्रेणि के सहारे आरोहण करने वाले धावक मोहकर्म की प्रकृतियों के तूफानों को क्रमशः दबाते-उपशम करते हुए दौड़ लगाते हैं, फलतः वे प्रकृतियाँ पुनः निमित्त पाकर उफन जाती हैं, और साधक के कदमों को डगमगा कर स्खलित कर देती हैं, नीचे गिरा देती हैं। फिर भी यदि वह आगे जाकर संभल जाता है तो पुनः क्षपक श्रेणी के सहारे दौड़ लगाकर मोक्ष के शिखर पर पहुँच जाता है, जबकि क्षपक श्रेणि के सहारे सीधी दौड़ लगाने वाले साधक मोक्ष के शिखर पर पहुँच कर ही विश्राम लेते हैं। वे मोहकर्म की तूफानी प्रकृतियों को सर्वथा नष्ट करने के साथ शेष तीन घातिकर्मों और फिर अघाति कर्मों का भी सर्वथा क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं।

■■

(पृष्ठ ५२६ का शेष)

(ख) तेरह प्रकृतियों का क्षय मानने वालों की युक्ति यह है कि तद्भवमोक्षगामी के अन्तिम समय में आनुपूर्वी सहित १३ प्रकृतियों की सत्ता उत्कृष्टरूप से रहती है। किन्तु जघन्य से तीर्थंकरनाम प्रकृति के सिवाय १२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इसका कारण यह है कि मनुष्यगति के साथ उदय को प्राप्त होने वाली भवविपाकी मनुष्यायु, क्षेत्रविपाकी मनुष्यानुपूर्वी, जीवविपाकी शेष नौ प्रकृतियों तथा साता-असाता वेदनीय में से कोई एक, उच्चगोत्र, ये १३ प्रकृतियाँ तद्भव-मोक्षगामी के अन्तिम समय में क्षय को प्राप्त होती हैं। द्विचरम समय में नष्ट नहीं होतीं। अतएव तद्भव मोक्षगामी जीव के अन्तिम समय में उत्कृष्ट १३ प्रकृतियों की और जघन्य १२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।-पंचम कर्मग्रन्थ परिशिष्ट (क्षपक श्रेणि) पृ. ४५३, ४५४

(ग) गोम्मटसार (क.) गा. ३४१ में ऐसा ही लिखा है-"**उदयगबार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा।**'-अर्थात्-उदयगत १२ प्रकृतियाँ और एक मनुष्यानुपूर्वी, ये १३ प्रकृतियाँ अयोगि केवली के अन्तिम समय में अपनी सत्ता से छूटती हैं।

२०

ऋणानुबन्ध : स्वरूप, कारण और निवारण

दीर्घमार्ग-यात्री के समान दीर्घसंसार-यात्री को भी कटु-मधुर अनुभव

प्राचीन काल में अधिकांश यात्रीगण लम्बी यात्रा करने के लिये पैदल यात्रा करते थे। बीच-बीच में वे पड़ाव डालते हुए चलते थे और रात्रिविश्राम करके दूसरे दिन सुबह अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देते थे। इस प्रकार जहाँ-जहाँ वे पड़ाव डालते थे, उस गाँव के लोग सज्जन होते तो उनका स्वागत करते थे, आहार-पानी से तथा आवासीय सुविधा देकर उनकी सेवा करते थे। इसके विपरीत यदि पड़ाव वाले गाँव के लोग दुर्जन होते या दुष्ट, उद्दण्ड या अपराधी प्रकृति के होते तो उन्हें लूट लेते, या आगे खदेड़ देते अथवा आहार-पानी देना तो दूर रहा, उन्हें अपने गाँव में ठहरने के लिये स्थान भी नहीं देते थे। अथवा लड़ाई-झगड़ा या बकझक करके उनके साथ दुर्व्यवहार करते थे। यात्रीगण भी आवेश और रोष में आकर उनके साथ गाली-गलौज या मारपीट तक करने पर उतारू हो जाते थे। इस प्रकार सुदूर मंजिल तक यात्रा में कई यात्रियों को कई कड़वे-मीठे अनुभव होते थे।

उनमें से कुछ यात्रीगण इस प्रकार के भी होते थे, कि वे यात्रा के दौरान जिस स्थान पर पड़ाव डालते, वहाँ जैसी-जैसी रहने-खाने की सुविधा-असुविधा मिलती, उसके अनुसार अपने आप को समभाव- पूर्वक एडजस्ट कर लेते। अगर उस पड़ाव वाले स्थान के लोग खराब प्रकृति के झगड़ालू होते तो भी वे उनके प्रति मधुरता से, प्रेम से, आत्मीयता से उन्हें अपना बना लेते और अपने भाग्यानुसार सुख-दुःख की प्राप्ति मानकर अपनी लम्बी यात्रा पूर्ण करते थे।

ठीक यही बात संसारयात्रियों के लिये कही जा सकती है। वे भी इसी तरह अपने-अपने कर्मानुसार एक गति से दूसरी गति में, एक योनि से दूसरी योनि में और एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक में तथा पंचेन्द्रियों में कभी देव, मनुष्य, तिर्यंच या नारक बनकर अपनी यात्रा करते रहते हैं। सांसारिक जीव-यात्रियों को भी गतियों और

योनियों के उन पड़ावों में अपने-अपने पूर्वजन्म-बद्ध कर्मों के फलस्वरूप अच्छे या बुरे जीवों या व्यक्तियों से वास्ता पड़ता है। वहाँ फिर वह जीव अपनी प्रकृति के अनुसार प्रत्येक जन्म में सम्बद्ध व्यक्तियों (परिवार, समाज आदि) के साथ अच्छा या बुरा व्यवहार करके पुनः शुभ-अशुभ कर्मबन्ध करता रहता है। तत्फलस्वरूप उसका भी अपने बन्धानुरूप अच्छे-बुरे व्यक्तियों से सम्बन्ध जुड़ता है। इस बन्ध-परम्परा की यात्रा काफी लम्बी चलती है। इस बन्ध-परम्परा को ही वैदिक धर्मपरम्परा में 'ऋणानुबन्ध' संज्ञा दी गई है।[१]

ऋणानुबन्ध या बन्धपरम्परा का कारण और स्वरूप

इस जन्म-जन्म की यात्रा के दरम्यान एक जीव अनेकानेक अन्य जीवों के साथ परिचय और सम्पर्क में आता है। पूर्वबद्ध कर्मबन्धानुसार वह जब उस उस भव में उन अनुकूल-प्रतिकूल प्रकृति वाले तथा इष्ट-अनिष्ट संयोगों और परिस्थितियों वाले जीवों के सम्पर्क में आता है, जुड़ता है, तब उनके प्रति द्वेष के तीव्र या मन्द भाव लाकर परस्पर कर्मों से बद्ध होता जाता है। रागद्वेष की इस शृंखला का ही दूसरा नाम ऋणानुबन्ध है, इसे हम शुभाशुभबन्ध की परम्परा भी कह सकते हैं।

ऋणानुबन्ध नाम की सार्थकता

ऋण का अर्थ है- कर्ज, और अनुबन्ध का अर्थ है- उसका अनुसरण करने वाला-तदनरूप फल देने वाला बंध। राग से शुभबन्ध होता है और द्वेष से अशुभबन्ध। शुभबन्ध जब उदय में आता है तो उसका फल मधुर होता है जबकि अशुभबन्ध का कटु। इस प्रकार जन्म-जन्म में अन्य जीवों के साथ बार-बार होने वाले शुभ-अशुभ अध्यवसायों-परिणामों के कारण वह ऋणानुबन्ध (बन्ध-परम्परा) उत्तरोत्तर दृढ़ होती जाती है।

वह पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मबन्ध ही एक प्रकार का ऋण है, वह जिसका जिसके साथ पूर्वजन्म या जन्मों में बँधा है, उसका फलभोग अगले जन्म या जन्मों में उदय में आकर उसी जीव के निमित्त से होता है। अर्थात्-उस पूर्वबद्ध शुभ-अशुभ ऋण (कर्ज) को उतारने या वसूल करने के लिए वह जीव ऋणानुबन्धी जीवों के साथ सांसारिक सम्बन्धों से जुड़ता है। कोई माता-पिता बनते हैं, कोई पति-पत्नी, तो कोई भाई-भाभी, कोई भाई-बहन, कोई सास-बहू, कोई ननद-भौजाई, कोई चाचा-चाची, कोई मामा-मामी, कोई मौसी-भानजी, तो कोई देवरानी-जिठानी बनते हैं।

---

१. देखें-कल्याण (मासिक) (गीता प्रेस, गोरखपुर) अप्रेल १९९० अंक में प्रकाशित 'ऋणानुबन्ध' लेख

इसी प्रकार कोई शत्रु-मित्र, ग्राहक-व्यापारी, पिता-पुत्र, भाई-भाई आदि अनेक रिश्तों-सम्बन्धों के रूप में आकर एक परिवार, कुटुम्ब, नगर-ग्राम, जाति, सम्प्रदाय, धर्म, समाज, संस्था, या राष्ट्र में जुड़ जाते हैं। कई लोग इस मेले-मिलन को आश्चर्य की दृष्टि से देखते हैं। उनको अधिक आश्चर्य तो तब होता है, जब वे किसी धर्मात्मा, नीति-न्यायपरायण, परोपकारी पिता के यहाँ क्रूर, उद्दण्ड, अविनीत, उड़ाऊ या दुर्व्यसनी पुत्र का जन्म देखते हैं, अथवा इसके विपरीत बिलकुल अनपढ़, गँवार और रूढ़िग्रस्त ग्रामीण पिता के यहाँ विद्वान्, सदाचारी, विचारक, धर्मात्मा पुत्र का जन्म देखते हैं। सच पूछें तो उसके पीछे पूर्वजन्मकृत ऋणानुबन्ध का सिद्धान्त ही कारण है। ऋणानुबन्ध के सिद्धान्त पर से यह भी स्पष्टतः समझ में आ जाएगा कि अमुक जीव के प्रति अनुराग या आसक्ति और अमुक व्यक्ति के प्रति अरुचि या घृणा तथा अमुक व्यक्ति के संयोग और अमुक के प्रति वियोग, अमुक व्यक्ति के साथ सम्बन्ध से सुख या दुःख क्यों होता है या क्यों हुआ?[१]

ऋणानुबन्ध कैसे कैसे चुकता है, कैसे बंधता है?

मान लीजिए, एक जीव ऐसा है, जिसके एक भव का आयुष्य पूरा होने पर उस भव में जिन-जिन जीवों से सम्बन्ध ऋणानुबन्ध रूप में जुड़ा है, उसके उदय में आने पर ही फलरूप में ऋण चुकाने से पहले ही उसे अधूरा छोड़कर शरीर-त्याग करके परलोक चला जाता है; क्योंकि मृत्यु का आगमन तो निश्चित है, किन्तु कब आएगी, यह अनियत है। ऐसी स्थिति में उस मृत जीव ने जो भी नया गतिनामकर्म बांधा होगा, उसी योनि में वह उस कर्म के उदय से जन्म लेता है। उस अगले जन्म में पूर्व ऋणानुबन्ध चुकाने के लिये उन-उन जीवों के साथ उसका संयोग या समागम होता है और पूर्वबद्ध कर्म के उदय में आने पर उसका फल भोगता है। इस प्रकार जो पुराना ऋण था, वह भरपाई हो जाता है। साथ ही कर्मफल भोगते समय उन सम्बद्ध जीवों के प्रति प्रीति-अप्रीति, रागद्वेष, मोह-घृणा आदि परिणामों के कारण नये कर्मबन्ध का नया ऋण बंध जाता है। फिर आयुष्यकर्म के क्षय के साथ ही शरीर-त्याग होता है, और पुनः उपर्युक्त नियमानुसार वह जीव नया शरीर धारण करता है। जब तक ऋणानुबन्ध (बन्धपरम्परा) सत्ता में होता है, तब तक यह जन्म-मरण का चक्र अविरत चलता रहता है। पूर्वबद्धकर्म (ऋणानुबन्ध) का ऋण जब पूरा चुकता हो जाता है, उसका अंशमात्र भी शेष नहीं रहता, तभी संसार के बन्धन से वह जीव छूटता है और मुक्त होकर अनन्तज्ञान-दर्शन-अव्याबाधसुख और अनन्त आत्मशक्ति से सम्पन्न, केवल शान्त स्थिति में सदाकाल के लिए रहता है।

---

१. आध्यात्मिक निबन्धों में से ऋणानुबन्ध प्रकरण, (भोगीभाई गि. शेठ) पृ० ९०

इस पर से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि संसार के जितने भी वर्तमान में शुभ या अशुभ मित्र-शत्रु या माता-पुत्र आदि सम्बन्ध जुड़ते हैं, वे पहली बार ही जुड़े हैं, ऐसा नहीं होता; क्योंकि उस भव से पूर्व भव या भवों में उस प्रकार के शुभ-अशुभ सम्बन्ध बने ही हैं। परन्तु पूर्वबद्ध कर्मऋणानुबन्ध के कारण माता-पुत्र, पति-पत्नी आदि सम्बन्ध बनते हैं राग-द्वेष की प्रबल घनिष्ठता के कारण ही।

शुभ ऋणानुबन्ध की कुछ विशेषताएँ

परन्तु शुभ ऋणानुबन्ध की कुछ विशेषताएँ हैं। यदि कोई जीव अन्य जीव या जीवों के साथ संसार-व्यवहार में अनेक भवों तक अपने शुभ भाव सुरक्षित रखकर शुभ ऋणानुबन्ध बांधता रहे तो व्यवहार से तो उस प्रथम जीव को दूसरे जीवों द्वारा सहायता, सहयोग, वात्सल्य, स्नेह, सुविधा आदि सांसारिक लाभ तो मिलते ही हैं, किन्तु तदुपरांत एक महान् लाभ यह है कि जब प्रथम जीव तथा अन्य जीवों में से कोई एक व्यक्ति परमार्थधर्म में रुचिवाला होकर ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म की उच्च आराधना-साधना के द्वारा आत्मज्ञान और उच्च आत्मदशा प्राप्त कर लेता है, तब वह अन्य शुभ ऋणानुबन्धी व्यक्ति या व्यक्तियों को अध्यात्ममार्ग की ओर आकर्षित करके उसे आत्मज्ञान प्राप्त कराने में तथा आत्मदशा के विकास में सहायक होकर उच्चपद की ओर ले जाता है।[१] इस प्रकार बहुधा व्यवहार का ऋण परमार्थ द्वारा चुका दिया जाता है। इस दृष्टि से अनेक भवों का शुभ ऋणानुबन्ध कितना श्रेयस्कर हो सकता है? जैसे- बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि और राजीमती के जीव का उस भव सहित नौ भवों का शुभ ऋणानुबन्ध था। उससे पूर्व आठ भवों तक लगातार दोनों का शुभ ऋणानुबन्ध सांसारिक व्यवहारयुक्त रहा। नौवें भव में भगवान् अरिष्टनेमि ने उस शुभ ऋणानुबन्ध को परमार्थदृष्टि से चुकाने हेतु स्वयं रत्नत्रयरूप अध्यात्ममार्ग अपना कर राजीमती को भी उसी परमार्थमार्ग में आकर्षित किया और साथ ही अपने लघुभ्राता रथनेमि को भी। अन्ततः दोनों को सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनाने में वे सहायक बने।[२]

व्यवहार से एक भव परिमित सुख का लाभ, परमार्थ से सिद्धलाभ

व्यवहार से कर्मबन्ध ऋण चुकाने में अधिक से अधिक एक **भव परिमित** सांसारिक सुख का लाभ मिलता है, जबकि परमार्थ से इस ऋण को **चुकाने में संसार-**

---

१. आध्यात्मिक निबन्धों में से ऋणानुबन्ध प्रकरण (भोगीभाई गि. शेठ) से साभार अनूदित

२. देखें-तीर्थंकर अरिष्टनेमि : एक अनुशीलन (आचार्य देवेन्द्र मुनि जी)

परिभ्रमण का काल एकदम घट जाने के साथ ही आत्मकल्याण और आत्मश्रेय का अपूर्व लाभ प्राप्त होता है और अन्त में, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का लाभ भी कम नहीं है।

शुभ ऋणानुबन्ध से व्यवहार की अपेक्षा परमार्थ में विशेष लाभ

जिस प्रकार व्यवहार में जीव शुभ ऋणानुबन्ध के उदय से संसार के पारिवारिक सम्बन्धों से या मित्रादि सम्बन्धों से बंधता है, और परस्पर प्रीतिवश अनुकूल रहता है, उस प्रकार परमार्थ में अध्यात्ममार्ग की रुचि वाले साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका या अन्य सत्संगी, मुमुक्षु या जिज्ञासु के रूप में ऋणानुबन्ध के उदय से परस्पर वात्सल्यभाव से जुड़ते हैं और परस्पर क्षितैषी बनकर धर्माराधन करते हैं। इसी प्रकार गुरु-शिष्य का या धर्माचार्य एवं उनके अनुयायियों का सम्बन्ध भी शुभ ऋणानुबन्ध के उदय (फल) रूप है।[1]

अमुक व्यक्ति के प्रति ही अमुक का आकर्षण, शुभ ऋणानुबन्ध के कारण

इस पर से यह भी परिलक्षित होता है कि विभिन्न ज्ञानी पुरुषों के रहते तथा उनके उच्चकोटि के सुन्दर भाववाही वचन-प्रवचन होते हुए भी अमुक व्यक्ति उनके प्रति आकर्षित नहीं होते, न ही उन्हें गुरु रूप में स्वीकारते हैं। वे अमुक ज्ञानी पुरुष के प्रति आकर्षित होते हैं, उन्हीं की भक्ति करते हैं, इसके पीछे भी पूर्वबद्ध शुभ ऋणानुबन्ध का उदय कारण है। क्योंकि दूसरों के प्रति वैसे शुभ ऋण के बन्ध का अभाव है। जिसके साथ शुभ ऋणानुबन्ध का सम्बन्ध हो, और वह उदय में हो, उसके प्रति ही जीव का आकर्षण होता है। यही नियम सर्वत्र अबाधित रूप से प्रचलित है। जैसे- पूर्व शुभ ऋणानुबन्ध से आकर्षित होकर गौतम स्वामी के उपदेश से प्रतिबुद्ध एवं विरक्त होकर एक कृषक मुनि बना और उनके साथ भगवान् महावीर के समवसरण में प्रवेश करते ही पूर्व अशुभ ऋणानुबन्ध के कारण भगवान् महावीर को देखते ही वह भड़क उठा और वेश छोड़कर वापस लौट गया।[2]

एक ही भव में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के ऋणानुबन्ध का उदय

ऐसा भी एकान्त रूप से सम्भव नहीं होता कि जीव का किसी एक भव में आयुष्य के अन्त तक दूसरे जीवों के साथ लगातार शुभ या अशुभ भाव रहें। इस कारण एकान्त शुभ या एकान्त अशुभ ऋण का बन्ध नहीं होता। जैसे- भगवान्

---

१. आध्यात्मिक निबन्धों में से ऋणानुबन्ध प्रकरण (भोगीभाई गि. शेठ) से भावांश ग्रहण, पृ० ९१

२. देखें-भगवान् महावीर : एक अनुशीलन (आचार्य देवेन्द्र मुनि)

महावीर के पास दीक्षित होने के बाद ६ वर्ष तक गोशालक का पूर्व शुभ ऋणानुबन्धवश अच्छा व्यवहार रहा, परन्तु बाद में अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय में आने पर वही गोशालक उनका कट्टर विरोधी बन गया। अतः किसी अकेले शुभ या अशुभ ऋण का बन्ध नहीं होता। फिर भी अनेक भवों का काल व्यतीत होने पर एकान्त शुभ या एकान्त अशुभ ऋण का बन्ध होना सम्भव होता है। जैसे- भावी तीर्थंकर और उनके माता-पिता के बीच अकेले शुभ ऋणानुबन्ध का उदय, तथैव वासुदेव और प्रतिवासुदेव के बीच होने वाला अकेले अशुभ ऋणानुबन्ध का उदय।

ऋणानुबन्ध निकाचित होने पर तीव्रता से कार्यान्वित होता है

इतना अवश्य है कि किसी एक भव में जीवन-पर्यन्त अधिकांश रूप से अधिक प्रमाण में सम्बन्धों के साथ शुभ या अशुभ भाव रहे हों तो तदनुसार बहुलता की अपेक्षा शुभ या अशुभ दोनों में से किसी एक ऋणानुबन्ध में उसकी गणना होती है। ऐसे अनेक भवों में शुभ या अशुभ ऋणानुबन्ध का संचय होता जाता है। और वह ऋणरूप बन्ध निकाचित होने से प्रबल हो जाता है; इस कारण उसका उदय अत्यन्त तीव्रता से शुभ या अशुभ फल के रूप में कार्यान्वित होता है।

ऋणानुबन्ध से मुक्ति : एक ही भव में दुष्कर

इस सम्बन्ध में यह जानना भी आवश्यक है कि पूर्वभव या भवों में बंधा हुआ ऋण (कर्मबन्ध), उससे बाद के चाहे जिस भव में चुकाने के लिए सांसारिक सम्बन्ध-समागम में आने पर भी पूर्णतया उदय में आए बिना उक्त ऋण से छुटकारा नहीं होता। जिस ऋणानुबन्ध रूप कर्म का अबाधाकाल पूर्ण न हुआ हो, वह कर्म उदय में आने योग्य न होने से, उसका उदय भविष्य में होने वाला होने से वह बद्धकर्म या ऋणरूप कर्मबन्ध सत्ता में पड़ा रहता है। फिर वर्तमान भव में ऋण चुकता करते समय भी उन सम्बन्धों के साथ फिर शुभाशुभ रागद्वेष रूप परिणाम होने से जो नया बन्ध पड़ता है, वह पूर्व के ऋणानुबन्ध के साथ जुड़ जाता है। आशय यह है कि किसी अपवाद के सिवाय बंधे हुए समस्त कर्म-ऋण से एक भव में पूर्णतया उदय में आकर छुटकारा होना दुष्कर है। ऋणमुक्त तभी हुआ जा सकता है, जब नया बन्ध न पड़े। कई भवों की धर्मसाधना के पश्चात् अन्तिम भव में ऐसा होता है; यानी ऋणमुक्त हो सकता है।[१] जैसे सोमल ब्राह्मण से गजसुकुमाल के जीव का निकाचित ऋणानुबन्ध ९९ लाख भवों के पश्चात् पूर्णतया उदय में आया और गजसुकुमालमुनि की प्रबल धर्माराधना-भेदविज्ञान साधना के कारण शीघ्र ही उनकी ऋणमुक्ति हो गई।

---

१. ऋणानुबन्ध (भोगीभाई गि. शेठ), भावग्रहण, पृ. १० से १२

अगर गजसुकुमाल मुनि सोमल ब्राह्मण के प्रति जरा भी रोष, द्वेष या क्लेश करते तो उनका अशुभ ऋणानुबन्ध और अधिक प्रबल हो जाता।

अधिक शुभ ऋणानुबन्धी भवों की बड़ी संख्या लाभदायी, किन्तु अशुभ की संख्या पीड़ाकारी

अधिक शुभ ऋणानुबन्धी भवों की बड़ी संख्या व्यवहार में अत्यन्त लाभदायी तथा अनुकूल होती है, इससे भी अधिक उपकारी और भवबन्धन तोड़ने में लाभदायी बनता है- ऋणानुबन्ध का ऋण चुकाते समय परमार्थ दृष्टि का योग, जो कि आत्मदशा की उत्कृष्टता शीघ्रता से लाने में उपकारक होता है। इसके विपरीत अधिक अशुभ ऋणानुबन्धी भवसंख्या अत्यन्त पीड़ाकारी तथा आधि-व्याधि-उपाधि से युक्त होने से प्रायः दुःखदायक सिद्ध होती है। अनन्तज्ञानी भगवान् महावीर को अन्तिम भव में पूर्वबद्ध दीर्घकालिक अधिक भवसंख्या का अशुभ ऋणानुबन्ध चुकाना पड़ा था, नाना कठोर परीषहों और उपसर्गों के रूप में। सामान्यतया ऋणानुबन्ध के बल का बड़ा संचय मुख्यतया शुभ हो तो मोक्ष होने से पहले के और अशुभ हो तो नरकगति में जाने से पहले के पच्चीस भवों में होता है। उसके अतिरिक्त न्यूनाधिक बल वाला ऋणानुबन्ध-संचय तो प्रत्येक भव में होता रहता है और प्रायः उदय में आने पर उसका फल भी भोगा जाता है।

भवों की संख्या अधिक हो तो बल और फल भी अधिक, संख्या कम हो तो दोनों कम

भव-भव में सांसारिक सम्बन्ध ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों शुभाशुभ परिणामानुसार शुभाशुभ ऋणानुबन्ध का जत्था बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे उस-उस प्रकार के भवों की संख्या अधिक होती रहती है, वैसे-वैसे उसका बल और फल अधिक तथा जैसे-जैसे उस-उस प्रकार के भवों की संख्या कम होती है तो तदनुसार उसका बल और फल कम होता है। उत्कृष्ट लाभ या हानि अधिकतम शुभाशुभ ऋणानुबन्धी अनेक भवों की संख्या पर निर्भर है, जबकि कनिष्ठ लाभ या हानि निर्भर है न्यूनतम शुभाशुभ ऋणानुबंन्धी अल्पभवसंख्या पर।

ऋणानुबन्ध की शक्ति का संचय सबसे अधिक होता है- मनुष्यभव में, और सबसे कम होता है- तिर्यञ्चभव में।

प्रत्येक गति के जीव तथा एक गति के जीव का अन्य गति के जीव के साथ ऋणानुबन्ध के अनुसार सम्बन्ध

चारों गतियों के जीवों में से प्रत्येक गति के जीव पूर्वभव या भवों में जिन शुभाशुभ ऋणानुबन्ध से बंधे हुए होते हैं, वे अगले भव या भवों में उक्त ऋण चुकाने

या चुकने हेतु परस्पर सम्बन्ध या समागम से जुड़ते हैं, तदुपरान्त एक गति के जीव के साथ अन्य गति के जीव के ऋणानुबन्ध का विशेष प्रकार का उदय होने पर भी वे भी अपना-अपना ऋण चुकाते हैं या चुकते हैं।[१]

मनुष्य-मनुष्य के बीच ऋणानुबन्ध का उदय

मनुष्यमात्र का जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन प्रायः शुभाशुभ ऋणानुबन्ध के उदय से व्यतीत होता है। शुभाशुभ ऋणानुबन्ध के अनुसार माता-पिता के यहाँ जन्म होता है, तथा वैसे ही भाई-बहन, पति-पत्नी, मामा-मौसी, संतान, या अन्य रिश्ते-नाते आदि या सेठ-नौकर आदि सम्बन्ध जुड़ते हैं, वे सब या तो ऋण चुकाने हेतु होते हैं, या फिर ऋण वसूलने हेतु होते हैं। उन सभी सम्बन्धों का अच्छा-बुरा स्पष्ट अनुभव सभी को होता है और तदनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुःख का वेदन भी होता है। ऋणानुबन्ध का शुभ उदय होने पर संतोष और सुख का तथा अशुभ उदय होने पर दुःख और अशान्ति का अनुभव होता है। कई बार अशुभ उदय की दीर्घकालिक स्थिति के साथ तीव्रता और घनिष्ठता इतनी बड़ी और प्रबल होती है कि उसका वेदन करते हुए जीव बहुत ही बेचैन हो उठता है, परेशानी भोगता है। व्यवहार दृष्टि से छूटने का उपाय होने पर भी उदयाधीन एवं निरुपाय होने से उस दुःख को बरबस भोगना ही पड़ता है।[२]

शुभ ऋणानुबन्ध का उदय–भटिंडा जैन समाज के प्रधान वयोवृद्ध सुश्रावक श्री कुन्दनलाल जी जैन सुसंस्कारी, सदाचारी, सेवाभावी और दृढ़निश्चयी थे। उनके तीन पुत्र हैं, तीनों आज्ञाकारी, विनीत और सुशील हैं। उनकी पत्नी भी धर्मानुरागी, पतिपरायणा और तपत्याग में अनुरक्त श्राविका थी। पतिपत्नी दोनों धर्मपरायण, दानशील और समाजसेवा में यथाशक्ति अपने धन का सदुपयोग करते थे। पूर्वजन्म के शुभ ऋणानुबन्ध के कारण उन्हें ऐसे परिवार का सुयोग मिला। तीनों पुत्रों की शादी उन्होंने बड़ी सादगी से की। तीनों पुत्रवधुएँ बहुत ही शिष्ट, सुशील और आज्ञाकारिणी मिलीं। व्यापार में आर्थिक उन्नति के साथ-साथ समाजसेवा में रुचि के कारण उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी काफी बढ़ गई थी। लाला कुन्दनलाल जी ने अपनी प्रौढ़ावस्था में ही परिग्रह-परिमाणव्रत अंगीकार करके अल्पपरिग्रह का आदर्श उपस्थित कर दिया था। फिर एक बार जब वे सन् १९७१ के चातुर्मासकाल में ही हृदयरोगग्रस्त हो गए थे, तभी स्वयं को अस्वस्थ तथा जीवन का सन्ध्याकाल जानकर

---

१. ऋणानुबन्ध (भोगीभाई गि. शेठ) से, पृ० १४, १६
२. ऋणानुबन्ध (भोगीभाई नि. शेठ) पृ० ३८

आपने विमल मुनि जी के समक्ष प्रार्थना की–'मुनिवर! जैन समाज का मुझ पर अपार ऋण है। मैंने अपने जीवन में जो शान्ति और प्रतिष्ठा अर्जित की है, वह जैन समाज की बदौलत ही हुई है। साथ ही आप श्री की प्रेरणा से संघ ने मुझ पर सेवा का भार डाल कर अनुगृहीत किया, उसके लिये आभारी हूँ। मेरी प्रार्थना है कि आप अपनी प्रेरणा के अनुरूप जैन समाज की सेवा की मेरी इच्छा पूर्ण करें।' उसी समय लालाजी ने अपने सुयोग्य पुत्रों को बुलाकर कहा – 'पुत्रो! मैं गुरुदेव के समक्ष तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि जैन समाज की सेवा करके मेरी इच्छा पूर्ण करो।' उसी समय उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री टेकचंद जी ने हाथ जोड़कर कहा– 'पूज्य पिताजी! हमारे पास जो कुछ भी है, वह गुरुओं और आपकी कृपा का सुफल है। इसलिए आपकी आज्ञा शिरोधार्य होगी । आप आज्ञा दीजिए।' लालाजी ने अपनी उत्कृष्ट भावना प्रदर्शित करते हुए कहा–'बेटा! तुम तीनों पुत्र एक-एक लाख रुपये दो ताकि यहाँ पर जो सामाजिक आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति की जा सके। उदाहरणार्थ– महिलाओं के लिए पौषधशाला, कन्या-पाठशाला, अतिथियों के लिये धर्मशाला आदि आवश्यकताओं को पूरा करना जरुरी है।' पिता ने जिस समाज-वात्सल्य से प्रेरित होकर पुत्रों को आदेश दिया, पुत्रों ने उससे भी बढ़कर पितृभक्ति का सबूत पेश किया। लालाजी के पुत्रों ने उक्त तीनों आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये १२०० गज जमीन खरीद ली और तीन लाख रुपयों का दान लिखा दिया। यह सर्वोत्तम दान भटिंडा के लिए ही नहीं, समस्त जैनसमाज के लिये अनुकरणीय बन गया।[१]

यह है, शुभऋणानुबन्ध के उदय के फलस्वरूप शुभ, सुखद और सन्तोषजनक परिणामों का अनुभव ! पूर्वबद्ध शुभ ऋणानुबन्ध के कारण उनके परिवार में परस्पर अनुकूल रहने की वृत्ति रही, सभी एक दूसरे के प्रति आत्मीयतापूर्ण व्यवहार रखते थे। सम्पर्क में आने वाले मनुष्यों के साथ भी उसके सम्बन्ध अच्छे थे।

मनुष्य-मनुष्य का अशुभ ऋणानुबन्ध के कारण अशुभ उदय– ज्ञानी वीतराग महापुरुषों ने इस संसार को जन्ममरण-रोग-शोक-संतापादि अनेक दुःखों से पीड़ित कहा है। उसमें जो भी अल्प सुख का वेदन होता है, उसे शुभ ऋणानुबन्ध का उदय समझिए। परन्तु शुभ उदय के उदाहरण संसार अत्यन्त अल्पसंख्या में मिलते हैं। अधिकांश लोगों के जीवन में तो अशुभोदय के कारण दुःख, कलह-क्लेश, वैर-विरोध, आदि का पद-पद पर अनुभव होता है। हम अपनी खुली आँखों और सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो अनेक परिवारों में इस अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय का ही अट्टहास होता रहता है।

---

१. सुधर्मा (मासिक) ता० १५/३/७२

एक सच्ची घटना परमार्थ (मासिक पत्र) में पढ़ी थी। कलकत्ता में एक छोटे-से मकान में भाई-बहन कई वर्षों से रहते थे। मेहनत-मजदूरी करके वे गुजारा चलाते थे। एक दिन देर रात को एक अजनबी पंजाबी व्यापारी आकर दीनतापूर्वक उक्त भाई से रात्रिनिवास करने देने के लिए अनुनय-विनय करने लगा। पहले तो भाई ने बहुत टालमटूल किया, परन्तु उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा तो भाई ने उसे एक छोटी-सी कोठरी में सोने को स्थान दे दिया। वह कुछ देर व्यापार तथा अपने पास माल खरीदने के लिए लाई हुई अर्थराशि की बात करने लगा। फिर गाढ़ निद्रा में सो गया। मकान वाले भाई की बहन के मन में पाप जगा। अजनबी मुसाफिर के अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय से बहन ने उसकी गर्दन पर छुरा फेरकर मार डाला। थोड़ी ही देर में वह छटपटाकर मर गया। बहन ने उसकी जेब में से नोटों की गड्डी निकाली और सोये हुए भाई को जगाती हुई कहने लगी- 'भाई-भाई! यह देखो दस हजार के नोटों का बंडल।' भाई ने पूछताछ की तो उसने सारी घटना कह सुनाई। भाई को विश्वासघात और हत्या के दुहरे पाप के विषय में जानकर बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने बहन को बहुत डांटा। परन्तु बहन की ममतापूर्ण बातों से बहक कर उसने नोटों का बंडल रख लिया। उस मकान के पास ही कचरे का ढेर पड़ा रहता था। वहीं एक गड्ढा खोद कर भाई-बहन दोनों ने उस लाश को गड्ढे में दबा दिया। ऊपर मिट्टी व कचरा डाल कर जमीन बराबर कर दी। बात आई गई हो गई। उन रुपयों से सराफे की दूकान खोल ली। व्यापार में काफी धन कमाया। बहन तो कुछ दिनों बाद ही चल बसी। भाई ने अपनी शादी कर ली। दो वर्ष बाद एक लड़का हुआ। धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। नौजवान होने पर उसकी शादी कर दी। परन्तु शादी के दूसरे दिन से ही उक्त भाई के अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय में आने पर वह लड़का बीमार रहने लगा। डॉक्टरों, वैद्यों, हकीमों सबका इलाज करवा लिया। बीमारी मिटने का नाम ही नहीं लेती थी। इलाज में पैसा पानी की तरह बहाया जा रहा था, किन्तु रोग घटने के बजाय बढ़ता ही जा रहा था।

एक दिन सन्ध्या समय उसका पिता लड़के की रुग्णशय्या पर सिरहाने की ओर बैठकर उसका मस्तक सहलाते हुए पूछने लगा-'बेटा! अब कैसे हो ?' वह बोला- 'पिताजी! अब मैं ठीक नहीं होऊंगा।' पिता बोला-"ऐसी क्या बात है? तू चिन्ता मत कर, ठीक हो जाएगा।" पुत्र-"पिताजी! अब आपके पास कितने रुपये बचे हैं? पिता-"बेटा! खर्च की क्या चिन्ता करता है, मैं कर्ज करके भी तेरा इलाज कराऊँगा, ठीक कैसे नहीं होगा तू?" लड़के ने अपनी आवाज बदलते हुए कहा-"पिताजी! क्या आप उस पंजाबी को जानते हैं, जो आपके यहाँ एक रात ठहरा था?" पिता बोला-"तुझे क्या पता, उस पंजाबी का?" लड़के ने कहा-"वह पंजाबी मैं ही हूँ।

मुझे आपकी बहन ने मार डाला था। मर कर मैं ही आपके पुत्र रूप में जन्मा हूँ।'' पिता ने पहले तो कहा-''क्या बहकी-बहकी बातें कर रहा है तू?'' परन्तु उस लड़के ने जब बार-बार वही बात दोहराई तो पिता के मस्तिष्क में उस पंजाबी की हत्या की बात चलचित्र की तरह घूम गई । फिर दबी जबान से पूछा-''कितने रुपये बचे हैं? यह बात तू क्यों पूछ रहा है?'' लड़का बोला-''बस जिस दिन सारी रकम समाप्त हो जाएगी, उस दिन मैं इस दुनिया से चला जाऊंगा।'' ''पर यह बात तो बता-तेरे पीछे जो यह बहू आई है, उसने क्या पाप किया था, जो इसको असमय में विधवा होना पड़ेगा?'' लड़के ने कहा-''इसी ने तो सारे पापड़ बेले थे। मुझे मारने का काम इसी ने ही किया था। उस पाप का फल अब यह भोगेगी और रिब रिब कर मरेगी।'' पिता सुनकर गहरे चिन्तन में डूब गया। पश्चात्ताप करने लगा। पर अब पश्चात्ताप से क्या होना था? अशुभ ऋणानुबन्ध उदय में आ गया था। जिस दिन वह रकम, जो पंजाबी को मार कर हस्तगत की थी, खत्म हुई, उसी दिन वह लड़का चल बसा। पिता पहले की तरह दीन-हीन-निर्धन अवस्था में आ गया । उसकी पूर्वभव की बहन, जो अब पुत्रवधू बनकर आई थी, गलित कुष्ट रोग से ग्रस्त होकर रिब-रिब कर मर गई ।

भाई ने इस रोमहर्षक घटना से विरक्त होकर काशी जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

यह था, अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय का फल! अशुभ-ऋणानुबन्ध के फलस्वरूप उक्त पंजाबी मुसाफिर से सम्बन्ध हुआ, लोभवश नया अशुभबन्ध हुआ। उस अशुभ के उदय में आने पर जो पंजाबी पुत्र बनकर अपना ऋण वसूलने आया था, उसका मर्मान्तक वियोग हुआ, सारा धन उसके इलाज में स्वाहा हो गया। अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय में आने से बहन को पुत्रवधू के रूप में ऋण चुकाना पड़ा, वैधव्य और दु:साध्य रोग की पीड़ा से संतप्त होकर अन्ततः इस दुनिया से कूच कर गई।[१]

इसी प्रकार परिवार में सास-बहू, ननद-भौजाई, देवरानी-जिठानी, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, भाई-बहन, भाई-भाई आदि के बीच पूर्वबद्ध अशुभ ऋणानुबन्ध का उदय होने पर अनबन, मनो-मालिन्य, क्लेश-कलह आदि हो जाते हैं, समाज और राष्ट्र में भी दूसरे समाज (जाति, कौम, सम्प्रदाय, पक्ष आदि) और राष्ट्रों के साथ परस्पर संघर्ष, द्वेष, वैर, विरोध एवं युद्ध तक की नौबत आ जाती है, जिसमें हजारों लाखों निर्दोष व्यक्ति मारे जाते हैं। एक ऋणानुबन्ध के उदय के साथ

---

१. परमार्थ (गुजराती मासिक पत्रिका) से संक्षिप्त

दूसरे नये कर्मों का ऋणानुबन्ध हो जाता है और भविष्य में उसका कटुफल भोगना पड़ता है।

कई माता-पिता स्वभाव के अच्छे होते हैं, किन्तु पूर्वकृत अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय के कारण उनके लड़के उनका अपमान करते हैं, उनकी सेवा नहीं करते, उन्हें घर से निकाल देते हैं। उन्हें गालियाँ देते हैं। समाज में उन्हें बदनाम करते हैं। यह सब पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्ध का उदय है। उनके पुत्र पूर्वजन्म का ऋण चुकते हैं और नया अशुभ ऋणानुबन्ध करते हैं।

मनुष्य का तिर्यञ्च के साथ शुभ-अशुभ ऋणानुबन्ध का उदय

मनुष्य का संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों के साथ ऋणानुबन्ध का शुभ या अशुभ उदय देखा जाता है। शुभ उदय के समय कुत्ता, घोड़ा, हाथी इत्यादि पशुओं का अपने मालिक के साथ इतना प्रबल राग होता है कि वे अपने मालिक के या मालिक के परिवार के लिए संकट के समय प्राण होमने को तैयार हो जाते हैं। जोधपुर के रातानाडा मौहल्ले के एक वफादार कुत्ते के सम्बन्ध में सुनते हैं कि वह इतना वफादार कुत्ता था कि मालिक ने अपने एक रिश्तेदार को कर्ज चुकाने हेतु वह कुत्ता दे दिया। मालिक के कहने पर वह कुत्ता उस व्यक्ति के साथ चला गया। उसके घर की चौकसी वह कुत्ता बहुत मनोयोगपूर्वक करता था। एक दिन इस नये मालिक के घर में रात को चोर घुस आए। चोरी करके बहुत-सा माल गठड़ी बांध कर ले गए। कुत्ते ने चुपचाप यह देख लिया और उन चोरों के पीछे चुपचाप गया। चोरों ने जहाँ गड्ढा खोद कर धन की गठड़ी गाड़ी, वह स्थान देख कर वह अपने दूसरे मालिक के पास लौट आया। सबेरे उक्त मालिक को पता लगा कि बहुत-सा माल चोरी हो गया है। कुत्ता उक्त मालिक की धोती को मुँह से खींच कर चलने का इशारा करने लगा। मालिक समझदार था। वह कुत्ते के पीछे-पीछे चलता रहा। जहाँ चोरों ने धन गाड़ा था, वहाँ पहुँच कर कुत्ते ने मुँह से खोदने का इशारा किया। मालिक ने वह गड्ढा खोदा तो उसे अपने यहाँ से चुराया हुआ सारा धन मिल गया। मालिक उक्त कुत्ते पर बहुत प्रसन्न हुआ और एक चिट्ठी उस कुत्ते के पुराने मालिक के नाम लिखी - "आपके दिये हुए वफादार कुत्ते ने मेरा चोरी में गया हुआ धन वापिस प्राप्त करा दिया । अत: मेरा कर्ज भर पाया है। मैं खुशी से इसे आपकी सेवा में भेज रहा हूँ।" यह चिट्ठी कुत्ते के गले में बांध दी और उसे कहा-"बेटे! तुम अपने पुराने मालिक के पास जाओ । मैं तुम्हारी सेवा से बहुत सन्तुष्ट हूँ।" कुत्ता खुशी से उछलता हुआ अपने पुराने मालिक के पास पहुँचा तो उसने कुत्ते को यों बीच में ही नये मालिक को छोड़कर आये हुए देख अत्यन्त क्रुद्ध होकर लाठी का जोर से प्रहार किया। प्रहार इतना तीव्र था कि कुत्ते ने वहीं चीखकर दम तोड़ दिया। पुराने मालिक ने उसके गले

में बंधी हुई चिट्ठी खोलकर देखी, और उसमें लिखी इबारत पढ़ी तो सिर पीट लिया-"हाय! मैंने कैसा अनर्थ कर डाला! एक वफादार और निर्दोष कुत्ते को मार डाला!" किन्तु अब पछताना व्यर्थ था। कहते हैं-उस मालिक ने उसी रातानाडा तालाब की पाल पर अपने वफादार कुत्ते का स्मारक बनाया, जो आज भी उसकी वफादारी की स्मृति करा देता है।[१]

यह था मनुष्य के पूर्वशुभ ऋणानुबन्ध के उदय के फलस्वरूप वफादार कुत्ते का सम्बन्ध जुड़ना, किन्तु मनुष्य के द्वारा अविवेक के कारण अशुभ ऋणानुबन्ध का बांधना। मनुष्य के द्वारा मनुष्यभव में दूसरे मनुष्य के प्रति अन्याय अनीति से अशुभ ऋणानुबन्ध बांध लेने के पश्चात् आगामी भव में उसके उदय में आने पर उस ऋण को ऊंट बनकर चुकाने का एक उदाहरण-

तेमाजी और रामाजी दो भाई थे। दोनों खेती करते थे। पहले तो दोनों का एक ही खेत था। दोनों भाई और दोनों के पारिवारिक जन साथ-साथ रहते थे। किन्तु एक दिन दोनों भाइयों में किसी छोटी-सी बात को लेकर अनबन हो गई। दोनों ने खेत का बंटवारा कर लिया। बड़े भाई ने छोटे भाई के साथ चालाकी करके अपने हिस्से में अधिक उपजाऊ और अच्छा खेत रख लिया और छोटे भाई को कम उपजाऊ और साधारण-सा खेत दे दिया। छोटे भाई की पत्नी ने जब अपने पति को क्षुब्ध होकर समझाया तो उसने कहा- "बड़ा भाई पिता तुल्य होता है। हमें उनके साथ झगड़ा नहीं करना है। जैसा हमारे भाग्य में था, वैसा हमें मिल गया।" इस प्रकार छोटे भाई ने बड़े भाई द्वारा किए हुए अन्याय और पक्षपात को सह लिया, किन्तु बड़े भाई का रवैया नहीं बदला। बड़े भाई की पत्नी का स्वभाव अच्छा था, उसने पति को बहुत समझाया, फिर भी वह न माना।

इस अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय में आने पर मरकर वह एक राजा की पशुशाला में ऊंट बना। उसकी पत्नी अपने शुभ अध्यवसाय से शुभ ऋणानुबन्ध के उदय के कारण मर कर उसी राजा की पुत्री बनी। राजकुमारी अपनी पशुशाला में छोटे-से ऊंट-शिशु के साथ खेलती-कूदती, उसके सिर पर हाथ फिराती, अपने हाथ से घास खिलाती, नीम की पत्तियां खिलाती।

राजा ने अपनी पुत्री का ऊँट शिशु के साथ परस्पर आत्मीय भाव देखकर निश्चय कर लिया कि राजकुमारी को विवाह में दहेज के रूप में यह ऊँट भी देगा।

युवावस्था आने पर राजकुमारी का विवाह पूर्वऋणानुबन्ध के उदय के फलस्वरूप उसके पूर्वभव के देवर, किन्तु वर्तमान में एक राजकुमार के साथ हुआ।

---

१. जोधपुर के प्राचीन श्रावकों से सुनी हुई घटना ।

दहेज में राजकुमारी को अन्य सामान के साथ उसके पिता (राजा) ने वह ऊँट भी दिया, जो अब जवान हो चुका था।

राजकुमारी अपने पति के साथ उसी सुन्दर-सुसज्जित ऊंट पर बैठकर अपने पीहर से ससुराल को विदा हुई। अनेक बाराती, नौकर-चाकर आदि भी साथ में थे। कई मंजिल चलने के बाद एक दिन दोपहर को धूप में तेजी आ जाने से बारात ने गाँव के बाहर आम्रकुंज में पड़ाव डाला। वहीं एक कुंआ था, पानी की सुविधा थी। अत: कुछ बाराती भोजन बनाने में लगे, कुछ आराम और गपशप करने लगे। वर-वधू को आम्रकुंज के नीचे बिठा दिया गया। वर का बैठे-बैठे मन नहीं लगा तो वह बारातियों में जा मिला। अकेली वधू आम्रकुंज की ओर टकटकी लगाकर देखने लगी। उसे वह आम्रकुंज, कुंआ और खेत अत्यन्त परिचित प्रतीत हुए। ऊहापोह करते-करते उसे अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। जिसके कारण पिछले जन्म की समग्र घटनाएँ चलचित्र की भांति आँखों के समक्ष तैरने लगीं।

उसने दूर से आती हुई एक अधेड़ महिला को देखकर पहचान लिया कि यह मेरी पूर्वजन्म की देवरानी है और इसके पास में खड़ा हुआ लड़का उसका पुत्र गोर्धन है। फिर राजकुमारी ने उस महिला को संकेत से अपने पास बुलाया। उसके पास आने पर प्रेम से अपने पास बिठा कर उस महिला का, उसके पति का, उसके जेठ-जेठानी आदि का आद्योपान्त परिचय दिया। उस महिला ने जब सारा वृत्तान्त सुना तो आश्चर्य से आँखें फटी-सी रह गईं। उसने जब यह जाना कि यह राजकुमारी मेरी पूर्व-जन्म की जेठानी है, तब अन्याय एवं पक्षपात करने में प्रवीण अपने भूतपूर्व जेठजी के विषय में पूछा तो राजकुमारी ने पास ही बैठे हुए ऊँट की ओर इशारा करते हुए कहा-तुम्हारे जेठजी को अपने छोटे भाई के साथ कपट, झूठ, गेहूँ की चोरी और ईर्ष्या आदि के कारण अशुभ ऋणानुबंध के उदय के फलस्वरूप ऊँट की योनि मिली है। अब ये अपने छोटे भाई (जो अब राजकुमार है) का ऋण चुकाने के लिए जीवनभर उसका बोझा ढोते रहेंगे। उसकी सवारी के काम आते रहेंगे। मैं इन्हें मुक्त कराना चाहती हूँ, लेकिन कर्ज चुकाये बिना ये हर्गिज मुक्त नहीं होंगे। राजकुमारी ने फिर अपने पूर्वजन्म की देवरानी (उक्त महिला) को अपने गले का स्वर्णहार देते हुए कहा-"मेरे सिर पर भी चोरी से ये जो अन्न लाते थे, उसे खाने के कारण जो कर्ज चढ़ा है, उसके बदले यह हार रख लो।"

दोनों महिलाओं की ये सारी बातें पास में बैठा ऊँट भी सुन-समझ रहा था। जातिस्मरणज्ञान हो जाने से उसे भी अपने पूर्वजन्मकृत पापों का ज्ञान हो गया। अत: उसने मन ही मन ठान लिया कि "मेरा छोटा भाई और मेरी पत्नी मुझ पर सवारी करें, इस अपमान को मैं नहीं सहूँगा। मुझ पर वे बैठेंगे तो मैं उठूँगा व चलूँगा भी नहीं।"

भोजन से निवृत्त होकर ज्यों ही राजकुमारी और उसका पति ऊँट पर सवार हुए और राजकुमार ने ऊँट को उठने का संकेत दिया। काफी प्रयास के बाद भी जब ऊँट न उठा और मार खाता रहा, तब एक बार तो दोनों उतर पड़े। राजकुमार दूर हट गया तो राजकुमारी ने प्यार से ऊँट की गर्दन पर कोमल हाथ फिराया, फिर कान के पास मुँह ले जाकर स्नेहपूर्ण शब्दों में समझाया-"पिछला कर्जा चुकाये बिना छुटकारा नहीं होगा। मरने से कर्ज नहीं उतरेगा, ऐसी जिद करके मरने से तो तुम्हें कुगति मिलेगी, कर्जा तो फिर भी चुकाना पड़ेगा। अतः इस समय पिछले सम्बन्धों को भूलकर तुम उठो, अपने पर चढ़े हुए कर्ज को हंसकर चुकाओ।" राजकुमारी के प्रेमपूर्ण एवं युक्ति-संगत शब्दों का ऊँट पर अचूक प्रभाव पड़ा। तभी राजकुमार को उसने ऊँट पर बैठने का संकेत किया और स्वयं भी बैठी। अब ऊँट जरा-से संकेत से खड़ा हो गया और चलने लगा। ऊँट भी सोचता जाता था कि कर्ज तो चुकाना ही पड़ेगा।[१]

यह है-मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के साथ बांधे हुए अशुभऋणानुबन्ध के फल स्वरूप ऊँट बनकर ऋण चुकाने का ज्वलन्त उदाहरण!

बैल बनकर ऋण चुकाना पड़ा-अभावपीड़ित पं. जगन्नाथ ने सब ओर से हार-थककर सेठ हीरालाल के अनाज के गोदाम से अनाज चुराकर लाने का निश्चय किया। एक दिन जब सेठ के भवन में उनके सिवाय और कोई नहीं था, तब मौका देखकर दीवार फांदकर वह घर में प्रविष्ट हुआ। ज्यों ही गोदाम की ओर बढ़ने लगा, त्यों ही सेठ हीरालाल की खांसने की लगातार आवाज सुनकर बैलों के बंधने के स्थान के पास पड़ी लोहे की कोठी के पीछे दुबक कर बैठ गया। तभी उसके कान में आवाज आई। सेठ का कालिया बैल धौलिये बैल से कह रहा था-भाई धौलिया ! इस सेठ का पिछले जन्म का जो कर्जा था, उसे चुकाने के लिए ही मैं बैल बना था और इसकी सेवा करता रहा। वह कर्जा दो दिन के बाद चुक जाएगा और मैं शरीर छोड़ कर चला जाऊँगा। इस पर धौलिया ने कहा-तुम्हारा कर्ज तो चुक जाएगा, पर मुझ पर पांच हजार का ऋण है। पूर्वजन्म में इस सेठ के सीधेपन का लाभ उठा कर मैंने इसे बहुत ठगा। उस अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय के कारण मैं इसके यहाँ बैल बना। मेरा कर्जा एक उपाय से उतर सकता है। वह यह कि पिछले जन्म में राजा एक व्यापारी था और राजा का हाथी था-दलाल। राजा दानी और उदारहृदय था। एक बार व्यापार में उसे रुपयों की आवश्यकता पड़ी तो उस दलाल के मारफत उसने ५ हजार

---

१. 'दो आँसू' (उपाध्याय केवलमुनिजी) में 'ऋण' शीर्षक कथा का सार-संक्षेप, पृ. ६२ से ७७ तक

रुपये मुझ से उधार लिये। संयोगवश पांच दिन तक ज्वरग्रस्त रहकर वह उसी ज्वर अवस्था में चल बसा। इस दलाल ने मेरे रुपये तो नहीं खाये, परन्तु सेठ के बहुत-से रुपये खा गया। अब उसी ऋण को वह हाथी बनकर चुका रहा है। यदि किसी तरह से राजा अपने हाथी का मुकाबला करा दे और शर्त रखी जाए पाँच हजार रुपये की, तो मैं अवश्य जीत जाऊँगा। सेठ को रुपये मिल जाएँगे और मैं ऋणमुक्त हो जाऊँगा। राजा और सेठ दोनों से मेरा लेन-देन चुकता हो जाएगा। यह बात है तो कठिन, परन्तु यह हो सके तो मैं भी ऋणमुक्त होकर इस बैल के शरीर से मुक्त हो जाऊँगा।

पं. जगन्नाथ बैलों की भाषा जानता था। उन दोनों बैलों की बातचीत सुनकर वह सोचने लगा–जब ठगी और कर्ज का ऐसा दुष्परिणाम है तो चोरी का नतीजा कितना भयंकर होगा? परन्तु परिवार का भूख से बिलखना और अभावग्रस्तता देखकर वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। सहसा एक विचार स्फुरित हुआ–"यह बात सेठ को बताई जाए तो ५ हजार का फायदा होने पर पांच सौ रुपये तो मुझे पुरस्कार के रूप में दे ही देगा।" उसने सेठ हीरालाल से बात चलाई। पहले तो पण्डित जगन्नाथ की बातें सुनकर सेठ बौखला उठा। उसे जरा भी विश्वास नहीं हुआ किन्तु जब दोनों बैलों के परस्पर वार्तालाप का वृत्तान्त सुनाया और काले बैल की पण्डितजी के कहने के अनुसार तीसरे दिन मृत्यु हो गई, तब सेठ को विश्वास हुआ। अब सेठ के सामने यह समस्या थी कि राजा को अपने हाथी के साथ धौलिये बैल को लड़ाने के लिए कैसे राजी किया जाए? एक दिन अकस्मात् ही राजा हाथी पर बैठ कर सामने से आ रहा था, धौलिया बैल सेठ के भवन के बाहर खड़ा था। हाथी को देखते ही धौलिया ने हुंकार भरी और खुरों से जमीन कुरेदने लगा। राजा ने बैल की चेष्टा देखी तो सेठ से बोला–"सेठ! तुम्हारा बैल तो ऐसी हुंकार भर रहा है, मानो मेरे हाथी से लड़ने को उद्यत हो!" सेठ बोला–'यदि आज्ञा हो तो लड़ भी सकता है।' राजा ने भी तैश में आकर कहा–इतना घमंड हो तो हो जाय दोनों की मुठभेड़। सेठ के अनुरोध पर राजा ने ५०००/- की शर्त भी मंजूर कर ली कि जिसका पशु जीते उसे ५०००/- मिलें और हारे उसका पांच हजार गया। स्थान और समय भी निश्चित हो गया। राजमहल के विशाल प्रांगण में दोनों का आमना-सामना हुआ। हाथी बैल की ओर चिंघाड़ता हुआ उस पर झपटा। बैल ने अपने नुकीले सींग हाथी की कोमल सूंड़ में घुसेड़ दिये। अतः हाथी जोर से चिंघाड़ कर तुरंत मैदान छोड़कर भागा। जनता की ओर से आवाज उठी–बैल जीत गया। जननिर्णय के आधार पर सेठ हीरालाल को पाँच हजार रु. मिल गए। बैल के भी करारी चोट लगी थी। पर विजय की खुशी में वह साहसपूर्वक खड़ा रहा। ज्यों ही पण्डित जगन्नाथ आया। दूसरी बात भी सच्ची होने के कारण सेठ ने ५००/- रु. उसके हाथ में इनाम के तौर पर थमा दिये। पण्डित

ने वह रकम उधार रूप में ली और शीघ्र ही व्यवसाय करके वापस लौटा दी। धौलिया बैल अपने पूर्वजन्म का ऋण चुकता होने से उसी दिन मर गया।[१]

सच है, पूर्वजन्म का शुभ-अशुभ ऋण उदय में आने पर चुकाये बिना कोई चारा नहीं है।

मनुष्य और देव के बीच परस्पर ऋणानुबन्ध का उदय

कभी-कभी ऋणानुबन्ध ऐसे विचित्र, अतर्कित रूप से उदय में आता है, जबकि कोई एक मनुष्य देवगति के देव या देवी के साथ सीधे सांसारिक सम्बन्ध में न होने पर भी उसका ऋण देव या देवी द्वारा अदा किया जाता है। कर्म की विचित्रता का यह अद्भुत नमूना है। वह ऋण शुभ या अशुभ जैसा भी होता है, उसका अच्छा या बुरा फल मनुष्य को देव या देवी द्वारा भोगना पड़ता है। अनेक लोगों को इस प्रकार के देववर्ग द्वारा ऋण अदा करने की प्रतीति हुई होती है।

प्राचीन जैनकथाओं में अनेक कथाएँ ऐसी मिलती हैं कि जिसमें शुभ ऋणानुबन्ध के उदय होने पर देव या देवी भी सहायता करते हैं। मदनरेखा ने अपने पति युगबाहु को अन्तिम समय में अपने प्रति मोह और बड़े भाई के प्रति द्वेष करने से रोक कर चार मंगलमय उत्तम शरण की आराधना बताई थी। जिसके फलस्वरूप शुभभावों में मरकर वह देव बना और समय आने पर मदनरेखा की धर्माराधना-साधना में सहायता की।[२] गोभद्रसेठ का अपने पुत्र शालिभद्र पर इतना प्रेम था, जिसके कारण मरकर देव बनने पर शालिभद्र के लिए रत्न आदि से भरी पेटियाँ प्रतिदिन भेजता था। पूर्व शुभ ऋणानुबन्ध के फलस्वरूप उसे सांसारिक सुख-सुविधाओं की किसी प्रकार की कमी नहीं थी। आपने अपने अनुभव में जाना-सुना होगा कि देवलोक में गया हुआ कोई सम्बन्धित जीव स्वप्न में अथवा जागृत-अवस्था में अपने मूलदेह में अथवा पूर्वजन्म के देह में आकर अपने किसी सम्बन्धी के प्रति अनुरागवश कष्ट, विपत्ति या समस्या के समय परामर्श, सहयोग या निवारणोपाय करते या बताते थे। धन आदि के या स्वास्थ्यलाभ के लिए यथोचित मार्गदर्शन देते थे, बशर्ते कि उस व्यक्ति का शुभऋणानुबन्ध का उदय हो।[३]

एक व्यक्ति पर बीती हुई घटना लीजिए-मांगीलाल जब ५ वर्ष का था, तभी उसके माता-पिता असाध्य रोग से ग्रस्त होकर चल बसे। रह गया मांगीलाल अकेला

---

१. दो आँसू (उपाध्याय केवल मुनिजी) से सार संक्षेप पृ. ७८ से ९५ तक
२. (क) मदनरेखा (स्व. जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी म.) से भावांश ग्रहण
   (ख) जैन कथाएँ-उपाध्याय पुष्कर मुनि जी से भाव ग्रहण
३. (क) बीकानेर के व्याख्यान (स्व. जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी म.)
   (ख) ऋणानुबन्ध (भोगीभाई गि. शेठ), पृ. ६२

ही। उसे नानी अपने साथ अपने गाँव में ले आई। वहाँ दोनों मामा और नानी के पास मांगीलाल रहने लगा। नानी का प्यार मिला। धार्मिकवृत्ति की नानी ने मांगीलाल को शान्तिनाथ भगवान्, सिद्ध भगवान् और भगवान् महावीर का भजन सिखाया। जब तक उससे ये तीनों भजन नहीं सुन लेती थी, तब तक उसकी मिठाई खाने की जिद पूरी नहीं करती थी। अभी मांगीलाल १४ वर्ष का ही था कि भजन सुनते-सुनते एक दिन नानी ने शरीर त्याग दिया। नानी की प्यार भरी गोद छिन जाने से मांगीलाल को बहुत दुःख हुआ।

नानी के आँख मूंदते ही मांगीलाल के मिठाई खाने के शौक में बाधा पड़ने लगी। बड़ा मामा उसे डांट देता था। एक दिन बड़े मामा द्वारा असह्य कटु शब्द कहे जाने से वह मामा का घर छोड़कर वापस अपने गाँव में आ गया। पिछले नौ वर्षों में पिता का कच्चा मकान भी टूट-फूट गया था। उसे लीप-पोतकर किसी तरह ठीक किया। एक कमरे को साफ करके उसमें रहने लगा। गाँव के ही एक वणिक् ने मांगीलाल को गाँवों में फेरी करके सामान बेचने की सलाह दी। कुछ किराने का सामान अपने पास से दिया। माल बेचने के कुछ गुर सिखाये। मांगीलाल अब पीठ पर सामान लादकर गाँव-गाँव में घूम कर माल बेचता और शाम को वापस घर लौटता। अपने हाथ से भोजन बनाता और खा-पीकर सो जाता। कभी-कभी वापस लौटते समय रात हो जाती तो रास्ते में एक व्यक्ति मिलता, वह मांगीलाल से भजन सुनता, जो उसने बचपन में नानी से सीखे थे; उसे अपने गाँव तक पहुँचाता और मिठाई खिलाता था। उसने अपना नाम राममाली बताया। एक दिन मांगीलाल के अत्यन्त आग्रह के वश वह उसके घर तक आया और मांगीलाल ज्यों ही अपने घर में घुसा कि वह अन्तर्धान हो गया। मांगीलाल के मन में भय का भूत घुस गया कि यह कोई बला मेरे पीछे लग गई है। भय के मारे वह मूर्च्छित हो गया। सुबह गाँव का प्यारेलाल नामक एक युवक उसके पास आया, देखा तो भयंकर ज्वर ! वह वैद्य को लाया, दवा दी। इससे मांगीलाल को होश तो आ गया, किन्तु बुखार सात दिन तक उतरा नहीं। आठवें दिन प्यारेलाल जरूरी काम से दूसरे गाँव जाने का कहकर गया; किन्तु थोड़ी ही देर में प्यारेलाल जैसा ही एक व्यक्ति आया। मांगीलाल से प्यार से बातें करने लगा। खुलते-खुलते मांगीलाल ने राममाली से पहली भेंट से लेकर अब तक की सारी घटना सुनाई और पूछा–क्या भूत-प्रेत होते हैं? उसने कहा–होते हैं। पर मनुष्य उसके कारण डरता या मरता नहीं। तुझे भय न होता तो बीमार न पड़ता। फिर उस व्यक्ति ने कहा–"देव के आने के मुख्य तीन कारण हैं–(१) धर्मसाधना, तपस्या, (२) स्नेह या (३) द्वेष। अगर देव का तेरे प्रति द्वेष होता तो वह तुझे परेशान करता, दुःख देता, परन्तु उसने कभी तुझे परेशान नहीं किया; बल्कि तेरे

प्रति उसने स्नेहभाव ही रखा। ऐसा प्रेमी देव तेरी नानी के सिवाय कौन हो सकता है? वही धार्मिक वृत्ति वाली थी। देवगति में गई है। तेरे मुँह से भजन सुनती थी और तुझे मिठाई देती थी।"

अब मांगीलाल का डर निकल गया। उसने पूछा–"तो क्या वह राममाली मेरी नानी ही थी? क्या वह अनेक रूप बना सकती है?"

"क्यों नहीं, देवता के पास वैक्रिय शक्ति होती है।" "अगर मेरी नानी ही राममाली का रूप बनाकर आती थी, तो असली रूप में क्यों नहीं आती? नानी से तो मैं कदापि नहीं डरूँगा।" मांगीलाल ने कहा।

"तो दिल पक्का करके देख।" यों कहकर देवगति प्राप्त नानी ने पहले राममाली का, फिर अपना असली (भूतपूर्व) रूप बनाया। मांगीलाल प्रसन्न होकर नानी के चरणों में लोट गया। पहले तो उससे क्षमा मांगी, कहा–"नानीजी ! मैं आपसे कभी नहीं डरूँगा, मुझे दर्शन दिया करना और सुखी करना।" नानी देवता ने कहा–"बेटा, तू आज से सुबह शाम सामायिक करने का नियम ले। फिर जब भी तू मुझे बुलाना चाहे, एकान्त में बैठकर मेरे तीनों प्रिय भजन गाकर मुझे याद करना, मैं आ जाऊँगी। पर याद रखना–'मैं तेरे अतिरिक्त किसी को नहीं दिखाई दूँगी। दूसरी शर्त यह है कि तू मेरे आने की बात किसी से मत कहना। जिस दिन तूने यह बात किसी से कह दी तो फिर मैं कभी नहीं आऊँगी।'

मांगीलाल–"नानी माँ ! मैं इसे स्वीकार करता हूँ।" फिर नानी देवता से अपनी गरीबी मिटाने का अनुरोध करने पर उसने कहा–"तू सुबह अपने पिता की बही निकाल कर पंचों को दिखाना। उसमें लिखा होगा–"५०० सोने के और चाँदी के सिक्के पूर्व दिशा की दीवार में नींव में गड़े हैं।" पंचों को बही दिखा देने पर इतना धन कहाँ से मिला? पंच और सरकार सभी लफड़ों से तू बच जाएगा। तू सदा सुखी रह।" इतना कहकर नानी देवी अन्तर्धान हो गई। मांगीलाल ने पंचों को वह बही दिखाकर उसमें लिखे अनुसार वह धन निकाल लिया। अब उस धन से अपनी निजी दूकान लगा कर बैठ गया। दूकान अच्छी चलने लगी। थोड़े ही वर्षों में मांगीलाल मालामाल हो गया। एक दिन एक व्यक्ति ने अपनी सुन्दर कन्या भी उसके साथ ब्याह दी। उससे दो बच्चे भी हो गए। अब उसके दिन चैन से कटने लगे। सुख-सुविधा होने पर भी सामायिक और धर्मध्यान नहीं छोड़ा। एक बार मांगीलाल की पत्नी को भयंकर उदरशूल हो गया। दवा से कुछ भी लाभ नहीं हुआ। मांगीलाल ने भजन गाकर नानी देवता को याद किया। नानी ने आकर एक गुड़ की डली दी और पत्नी को खिलाते ही बीमारी ठीक हो जाने का आश्वासन दिया। वह गुड़ की डली खाते ही मांगीलाल की पत्नी ठीक हो गई। पर उसने यह जानने के लिए हठ पकड़ ली कि

"यह दवा देने वाला कौन था? कोई वैद्य हकीम तो था नहीं! फिर कौन था?" मांगीलाल ने पहले तो बहुत टाल-मटूल करने की कोशिश की परन्तु पत्नी के हठाग्रह के सामने आखिर झुकना ही पड़ा। नानी के देवता बनने और सहायता करने की बात कह दी। साथ ही मांगीलाल ने पत्नी को इस बात को किसी से कहने के लिए सख्त मनाही कर दी। फिर भी पत्नी मन ही मन डर गयी। कुछ दिनों बाद उसका बेटा बीमार पड़ा तो उसने नानी को बहुत याद करने पर भी वह नहीं गई। मांगीलाल समझ गया कि मेरा शुभ ऋणानुबन्ध नानी के साथ चुक गया। इसी कारण नानी नहीं आई; क्योंकि उसने कहा था कि मेरे आने की बात किसी से कहना मत। पत्नी से कहकर मैंने बहुत भूल की। फिर उसने नानी देवता से बहुत अनुनय-विनय की, मगर नानी का ऋण अदा हो गया था। अतः अब वह कैसे आती?[१]

सच है, जिन देवों या पितरों के साथ स्नेह होता है, तो वे देवी या देव किसी न किसी प्रकार से सेवा, सहयोग या सहायता देते हैं। कई बार गुरु भी देव बनकर शिष्य की जागृत अवस्था में सदेह आते हैं, दर्शन देते हैं, ज्ञानदान देते हैं। शिष्य को आध्यात्मिक उन्नति बढ़ाने में निमित्त बनते हैं। इस तथ्य की साक्षी है–श्री योगानन्द परमहंस की आत्मकथा में उनके गुरुदेव का देहविलय होने के बाद उनके गुरु के विषय में लिखा हुआ 'श्री युक्तेश्वर का पुनरुत्थान' नामक प्रकरण। यह कुछ ही वर्षों पहले बनी हुई सत्य घटना है।[२]

अशुभ ऋणानुबन्ध का उदय–शरीर छूटते समय जीव के मन में मोह, वासना या आसक्ति किसी सचेतन या अचेतन पदार्थों में रह गए हों तो मरकर वह देवगति में भवनपति या वाणव्यन्तर देवों में जन्म लेते हैं। पूर्व (मनुष्य) भव के मोह, वासना, आसक्ति तथा विविध कषायों के संस्कार उनके साथ ही जाते हैं, साथ ही अन्य जीवों के साथ हुए वैर-विरोध, ईर्ष्या, असहिष्णुता, द्वेष, प्रतिक्रिया आदि पूर्वबद्ध ऋणानुबन्ध के उदय से जागृत होते हैं। उसकी प्रतिक्रियास्वरूप देव या देवी बनकर भी पूर्वभव-सम्बन्धित मनुष्यगति के जीवों को हैरान करते हैं। विविध प्रकार से दुःख, पीड़ा या यातना देते हैं। कभी उसके शरीर में प्रविष्ट होकर दुःख देते हैं, रुलाते हैं, पीड़ित करते हैं, भयभीत करते हैं, भोज्यवस्तुओं में गंदगी डालकर भोजन नहीं करने देते। कभी शरीर पर प्रहार करते हैं। कभी पलंग, कुर्सी, टेबल आदि उछालते हैं। इस प्रकार अशुभ उदयानुसार वे देव या देवी ऋणानुबन्धी मनुष्य को

---

१. दो आंसू (उपाध्याय केवलमुनिजी) से सारसंक्षेप, पृ. १७६ से १९८
२. 'ऋणानुबन्ध' से भावांश ग्रहण, पृ. ६६

हैरान-परेशान करते हैं। जहाँ तक उक्त ऋण की अवधि पूरी नहीं होती, वहाँ तक ऐसा व्यवहार होता रहता है। ऐसी स्थिति को प्रेतबाधा, भूतबाधा या डाकिनी-शाकिनी आदि की बाधा अथवा ऊपरी चक्कर कहते हैं।

लोकव्यवहार में कहा जाता है–इसे सौत, सासु, देवरानी, जेठानी, नन्द या भाभी अथवा चाचा, ताऊ या बेटा आदि देव बनकर कष्ट देते हैं। परन्तु ये सब ऋणानुबन्ध (पूर्वकर्म) के अशुभ उदय हैं। अशुभ कर्म का उदय हो तो देव हो, मनुष्य हो, तिर्यञ्च हो; उसका ऋण चुकाने पर ही छुटकारा हो सकता है। ध्यान रहे कि मनुष्य और देव-देवी के ऋणानुबन्ध का उदय अत्यन्त अल्प प्रमाण में होता है।

अशुभ ऋणानुबन्ध की एक सच्ची घटना इस प्रकार है– एक बहन थी उसकी सासु मरकर देवी बनी थी। सासु स्वभाव से क्रूर थी और बहू के प्रति उसके अन्तर्मानस में द्वेष भाव था। जब सासु देवी बनी तो उसने बहू को कष्ट देना प्रारम्भ किया। बहूरानी घण्टों तक बेसुध रहती। उसके शरीर में अपार वेदना होती। वह देवी उसके शरीर में प्रविष्ट होकर उसे पछाड़ती। तीस वर्ष तक यह क्रम चलता रहा। जब अशुभ ऋणानुबन्ध के उदय की अवधि समाप्त हुई तब वह बहन स्वस्थ हो गई। यह अनुभवसिद्ध सत्य है। अशुभ ऋणानुबन्ध उदय के समय जप-तप की साधना की जाय तो वे कर्म यथाशीघ्र क्षीण किये जा सकते हैं। कष्ट या पीड़ा का अनुभव भी कम हो जाता है।

एक अन्य घटना लीजिए-पिता-पुत्री के अशुभ ऋणानुबन्ध की–भोगी भाई के एक स्नेही संबंधी के कमला नाम की एक पुत्री थी। उसकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं थी? पर उसका हृदय सरल था। वह सेवाभावी थी। किन्तु पिता का पुत्री के प्रति जो स्नेह होना चाहिए उसका अभाव था। वह बिना किसी कारण के पुत्री को उपालम्भ देता था। जब पिता रुग्ण हो गया तब उस पुत्री ने अग्लान भाव से पिता की सेवा शुश्रूषा की। पिता की मृत्यु हो गई। चौथे दिन कमला को इस प्रकार का आभास हुआ कि उसका पिता घर में चक्कर लगा रहा है। रात्रि के १२ बजे भयंकर रूप बनाकर वह पुत्री को डराने लगा। पुत्री नवकार महामन्त्र का जाप कर रही थी। इसलिए उसका जोर नहीं चला। अन्त में क्रुद्ध होकर उसने कहा–तू धर्म की शरण में चली गई है, इसलिए मेरा जोर नहीं चल रहा है। तीन माह तक उसने कष्ट दिये। लेकिन कमला नवकार मंत्र का जाप निष्ठापूर्वक करती रही। तीन माह के बाद उपद्रव शांत हो गया। दूसरे शब्दों में अशुभ ऋणानुबन्ध क्षमाप्त हो गया।

तिर्यंच और देव के बीच भी ऋणानुबन्ध का उदय

तिर्यंच और देव के बीच भी ऋणानुबन्ध का शुभ या अशुभ उदय होता है। इस प्रकार का उदय बहुत ही विरल होता है। सामान्यतया पशुओं और देव-देवी के बीच ऋणानुबन्ध के उदय का प्रसंग अनुभवगम्य न होने से जानने में नहीं आता। फिर भी पशुओं-पक्षियों के साथ देववर्ग का शुभाशुभ ऋणानुबन्ध उदय संभव है।

मनुष्य भव में कोई दो व्यक्ति साथ मिलकर बाह्य धर्माराधन करते हैं। उनमें से कोई एक व्यक्ति प्रथम देहत्याग करके देव बन जाता है, तो दूसरे अपने साथी को धर्म-निमित्त से सहायता करने के लिए वचनबद्ध होता है अथवा दो साथियों में से एक साथी मायाकपटपूर्वक बाह्य धर्माराधन उससे अधिक करता है और गुप्तता रखता है। फिर आयुष्य पूर्ण होने पर मायाकपट के फलस्वरूप मरकर वह पशु योनि या पक्षि योनि में जन्म लेता है। मगर दूसरा सरलतापूर्वक धर्माराधन करता हुआ आयुष्य पूर्ण होने पर देव बनता है।

देवयोनि में गया हुआ जीव वचनबद्ध होने से ऋणानुबन्ध के उदय में आते ही पशु योनि में पैदा हुए अपने साथी को अवधिज्ञान के बल से ढूँढ़ लेता है। उसे धर्मभाव की प्रेरणा करता है, धर्मभाव में दृढ़ता उत्पन्न कराता है। पूर्व (मनुष्य) भव के अपने शरीर की विकुर्वणा करके उससे अपना पूर्वसम्बन्ध बताकर धर्मवचन सुनाता है। फलतः पशुयोनि के जीव के अन्तर् में जागृति उत्पन्न होती है। वह अपने द्वारा सेवन किये हुए मायाकपट के लिए मन ही मन पश्चात्ताप करता है, दोषों के लिए क्षमायाचना करता है। इस प्रकार की आन्तरिक शुद्धि के फलस्वरूप वह भी पशु आयु पूर्ण करके देवगति में चला जाता है। कई प्रकार हैं, शुभ उदय के। यहाँ तो समझने के लिए यह रेखाचित्र प्रस्तुत किया है।

अशुभ उदय–किन्हीं दो जीवों में परस्पर दृढ़ वैर बन्ध हो गया हो, उन दोनों का दूसरी गति में एक दूसरे से सम्बन्ध में आने का योग हो, तब कर्म उदय में न आए, किन्तु जब वह उदय में आए तब एक देव और दूसरा तिर्यंच बनता है। ऐसी स्थिति में उस अशुभ ऋण को वसूलने का कार्य शुरू हो जाता है। वह देव तिर्यंच के जीव को नाना प्रकार से त्रास देता है, डराता है, मारता-पीटता है, आहारादि में विघ्न डालता है, उसे बेसुध कर डालता है, हिंस्र पशु का रूप धारण करके उसके अंगों का छेदन-भेदन करता है, उसे चोट पहुँचाता है। ये सब यातनाएँ बेचारे मूक पशु को अशुभ उदय के कारण परवश होकर सहनी पड़ती हैं। उसकी दयनीय दशा पर वैरी देव को जरा भी दया नहीं आती, प्रत्युत उसकी वेदना, चीख-पुकार, पीड़ा देखकर वह प्रसन्न होता है। वैर-परम्परा बढ़ा लेता है।[१]

---

१. 'ऋणानुबन्ध' पृ. ८३ से ८७ तक

नारकों और देवों के बीच ऋणानुबन्ध का उदय–इन दो गतियों के जीवों का परस्पर ऋणानुबन्ध छद्मस्थ जीवों के लिए अनुभवगम्य नहीं है, सर्वज्ञवचनगम्य है। परन्तु ऐसा होना कर्मों की विचित्रता के कारण असंभव नहीं है। परन्तु इस प्रकार की उदयस्थिति अत्यन्त अल्पप्रमाण में होती है। शास्त्रों में ऐसे कई दृष्टान्त मिलते हैं।

शुभउदय–श्रेणिक राजा की तरह कोई जीव सम्यग्दर्शन या आत्मज्ञान प्राप्त होने से पहले हिंसाजनक भाव या आचरण करके अथवा अज्ञानदशा में घोर अपराध की प्रवृत्ति करके नरकगति का बन्ध कर लेता है। बाद में किसी समर्थ ज्ञानी या भगवान् के प्राप्त होने पर उनके द्वारा दिया हुआ अपूर्व बोध अन्तर् में परिणत होता है, उसके जीवन का रूप अकस्मात् बदल जाता है। वह अपने दोषों के लिए सच्चे अन्तःकरण से पश्चात्तापपूर्वक क्षमायाचना करता है तथा उक्त परम-पुरुष के आश्रय से धैर्य, उत्साह और अप्रमादपूर्वक सत्य धर्म का आचरण करता है। तीर्थंकरप्रभु की आज्ञा का एकनिष्ठा से आराधन करता है। आत्मज्ञान का अपूर्व लाभ प्राप्त करता है। आत्मवीर्य के उत्तरोत्तर विशेष प्रकट होने से सतत आत्मोपयोग में रहकर अप्रमत्त संयत गुणस्थान में स्थित हो जाता है तथा तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लेता है।

आयुष्य की पूर्णता होते ही उस भावी तीर्थंकर को पूर्वबद्ध नरकगति में (श्रेणिक महाराज की तरह) जाना पड़ता है। परन्तु वहाँ भी वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने से नरकगति के दुःखों को शान्ति और समतापूर्वक भोगते हैं। दुःख देने वाले के प्रति बदला लेने की लेशमात्र प्रतीकार भावना नहीं होती, बल्कि उन दुःखों को ऋणानुबन्धोदयवश जानकर समभाव से सहने की निर्मल वृत्ति होती है। इस प्रकार ऋणानुबन्ध से बद्ध अशुभ कर्मों के उदय में आने पर वे सहज आत्मस्थिरता और आत्मशान्ति में रहकर उन कर्मों का क्षय कर डालते हैं। फिर भी कोई शुभ ऋणानुबन्धी देवगति के जीव को ऋण चुकाने का उदयगत सुअवसर आने पर वह देव भावी तीर्थंकर प्रभु की नारकीय जीवों के त्रास से रक्षण करने हेतु आते हैं और करते हैं। उस समय भावी तीर्थंकर स्वयं तो समताभाव में स्थित होकर ज्ञाताद्रष्टा रूप में रहते हैं।

कभी ऐसा भी होता है–किसी देव को अपने शुभ ऋणानुबन्ध के उदय से नरकगति में स्थित अपने मित्र को सहायता करने का अवसर आता है। तब वह देव नरकभूमि में जाकर अपने नारक-मित्र को धर्मवचनों का बोध देता है; उसे धर्मभाव में स्थिर करता है। इस बोध का अत्यन्त शुभ परिणाम उक्त नारक को मिलता है। वह नरक की क्षेत्रगत तथा नारकों के परस्पर वैर-स्मरणगत वेदना को समभाव से वेदन करने का पुरुषार्थ करता है। उसका फल महान् और शुभ होता है।

अशुभउदय–सूत्रकृतांग सूत्र में नरकविभक्ति के तथा उत्तराध्ययन सूत्र में मृगापुत्र द्वारा वर्णित नरक में परमाधामी (परमाधर्मी) देवों द्वारा दिये जाने वाले दुःखों से नारक जीवों के देवों द्वारा अशुभऋणानुबन्ध के उदयवश प्राप्त दुःखों के वर्णन को पढ़-सुनकर रोम-रोम कांप उठता है। ये परमाधामी देव चौथी नरक तक उनके साथ बंधे हुए वैरभाव उदय में आते ही, नीचे उतरकर नारकों को अपार दुःख देते हैं। वे देव उन्हें मारते हैं, उनकी चमड़ी उधेड़ देते हैं, अंग-अंग काट डालते हैं तथा अनेक प्रकार से शारीरिक पीड़ा उत्पन्न करके वे बहुत हर्षित होते हैं। ऐसे परमाधामी देव अम्ब, अम्बरीष, श्याम, सबल आदि भेद से १५ प्रकार के हैं। इसके उपरांत नारकीय जीवों के क्षेत्र वेदना, शीत-उष्ण-वायुस्पर्श-वेदना, पानी पीते समय तीक्ष्ण असिधार के समान तीव्र वेदना तथा अशुभ ऋणानुबन्ध के कारण वैर के उदय से परस्पर आघात-वेदना आदि दुःखों का वेदन होता है। परमाधामी देवों के सिवाय अन्य वेदनाएँ तो सातवीं नरकभूमि तक में तीव्रतर हैं।[१]

ऋणानुबन्ध के उदय में आने पर कर्मों की निर्जरा

कर्मविज्ञान की दृष्टि से ऋणानुबन्धों के आधार पर ही समस्त सांसारिक जीवों का संसार चलता है, टिकता है। यह बन्ध-परम्परा तब तक चलती है, जब तक ऋण का लेन-देन शेष रहता है। जमा-नामे (जमा-उधार) पासे बराबर हो जाते हैं, अर्थात् किंचित् मात्र भी कर्मरूपी ऋण नहीं रहता, तब जीव मुक्त हो जाता है।

ऋणानुबन्ध रागद्वेष की परिणति पर आधारित है और रागद्वेष के परिणाम निजस्वरूप के अज्ञान पर अवलम्बित हैं तथा इस अज्ञानान्धकार की निवृत्ति ज्ञानरूप प्रकाश से होती है। जब आत्मा में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, तभी अज्ञानान्धकार का निवारण हो जाता है। उक्त ज्ञान के दबे हुए प्रकाश के प्रकटीकरण का लाभ जिन्होंने अनन्तज्ञान-दर्शन की ज्योति प्रकट की है, उन आत्मज्ञानी-आत्मदर्शी भगवन्तों के पास से ही प्राप्त हो सकता है। आत्मस्वरूप को पूर्णतया उपलब्ध अनन्तज्ञानी पुरुषों का अथवा आत्मतत्त्व प्राप्त सत्पुरुषों के समागम का योग शुभ ऋणानुबन्ध के शुभ उदय से प्राप्त होता है, जिसे ज्ञानी पुरुष महान् पुण्य का उदय कहते हैं। इस प्रकार के शुभ ऋणानुबन्ध का संचय जन्म-जन्म में अच्छे सांसारिक सम्बन्ध सुरक्षित रखते रहने से तथा कम से कम उन भव-भव में सम्बन्धित जीवों के साथ सद्धर्म के प्रति प्रीति एवं श्रद्धा लाकर धर्माराधना करने-कराने से वह उत्पन्न होता है। इस प्रकार शुभ ऋणानुबन्ध-संचय का बल बढ़ जाने से वह उदय में आकर

---

१. ऋणानुबन्ध से सार-संक्षेप, पृ. ८३ से ८७ तक

सफल होता है। इसी नियमानुसार अशुभ ऋणानुबन्ध का संचय भव-भव में द्वेषयुक्त अशुभ सांसारिक सम्बन्ध जारी रखने से उत्पन्न होता है। उक्त संचय का बल बढ़ जाने पर वह उदय में आकर कटु फलरूप बनता है।

उत्कृष्ट शुभ ऋणानुबन्ध के बलसंचय के उदय से अत्यन्त उच्चतम आत्मदशा का पावन लाभ और तत्पश्चात् तमाम ऋण चुकता हो जाने पर जाज्वल्यमान ज्योतिस्वरूप परम देदीप्यमान मुक्ति के साथ पवित्र सम्बन्ध स्थापित होने का लाभ एवं अत्यन्त शाश्वत अव्याबाध सुख, आनन्द और शान्ति (निर्वाण) के उपभोग का अचिन्त्य योग अनायास ही मिल जाता है।

उत्कृष्ट अशुभ ऋणानुबन्ध के बल-संचय के उदय से अधिकांश सांसारिक दुःख, वेदना और विविध ताप (संताप) भोगने पड़ते हैं। फिर तो आत्मा स्वभाव से शुद्ध, पवित्र, निर्मल और अखण्ड ज्ञानरूप होने पर भी उत्तरोत्तर नीचे से नीचे उतरता जाता है। पापकर्मों का संचय और भार बढ़ने से उनके उदय में आने पर नरकगति के तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसी आत्माओं को फिर उच्च दशा प्राप्त करने में अत्यन्त दीर्घकाल व्यतीत करना पड़ता है।[१]

ऋणानुबन्ध का नियम अटल और अबाधित

ऋणानुबन्ध के इस वर्णन पर से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ऋणानुबन्ध का नियम और उसका फल अटल, अबाधित और अपरिवर्तनीय है। उससे भागा या छटका नहीं जा सकता और न ही वहाँ किसी की सिफारिश, मुलाहजा, लिहाज, धन या सत्ता की रियायत रिश्वत चल सकती है। जैसा-जैसा ऋण होता है, उसके अनुसार उदय में आने पर उसका वैसा-वैसा फलभोग करना पड़ता है। कर्मविज्ञान के शब्दों में कहें तो तीर्थंकर देवों का कथन है-'जिस रस (परिणाम) से बांधोगे, उसी रस से उसे भोगना पड़ेगा।' नरेन्द्र, सुरेन्द्र या नागेन्द्र भी इस ऋणानुबन्ध (शुभाशुभ कर्मबन्ध-परम्परा) के उदय के अनुसार फल को अफल करने में समर्थ नहीं हैं। ऋणानुबन्ध की ऐसी विचित्रता है कि वह चाहे जब, चाहे जिस घड़ी में, चाहे जिस क्षेत्र में, चाहे जैसे संयोगों में, चाहे जैसे सम्बन्ध हों, रात या दिन देखें बिना, जाति-पांति का विचार किये बिना, उच्च-नीच के भेद को लक्ष्य में लिये बिना उदय में आ जाता है। ऋणानुबन्ध के उदय के कतिपय विचित्र प्रसंग देखे जाते हैं कि वे नीति-धर्म की मर्यादाओं, आचारसंहिताओं के मूल को उखाड़ने वाले तथा सामाजिक एवं कौटुम्बिक नियम-विधानों के दुर्ग को भी तोड़ने वाले सिद्ध होते हैं।

---

१. ऋणानुबन्ध से साभार अनूदित, पृ. ८७ से ९३ तक।

अतीत में ऐसे अनेक प्रसंग बने हैं, जिनका वर्णन जैन कथानुयोग में अत्यन्त स्पष्टरूप से मिलता है। वर्तमान में ऐसे प्रसंग प्रायः घर-घर में और परिवार-परिवार में बनते देखे जा सकते हैं; भविष्य में भी बनेंगे, क्योंकि सर्व वैभाविक भाव अनादि-अनन्त हैं।[१]

ऋणानुबन्ध के नियमों को जानने से बद्धकर्मों का निरोध और क्षय आसान

ऋणानुबन्ध के नियम और उदय का ज्ञान जीव को सतत स्मरण रहे और उसे उपयोग में लिया जाए तो वह आत्मा के लिए अत्यन्त हितकर और उपकारक हो सकता है। वह ज्ञान दुःख के गहरे गर्त में पड़े हुए जीव को उस दुःख की खाई में डालने वाले द्वेष, वैर-विरोध, कलह, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, छल, निन्दा, ठगी, लोभ, काम, क्रोध, हिंसा, असत्य, चोरी, ममता-मूर्च्छा, आसक्ति आदि अशुभभावों से (तथा उनको लेकर होने वाली अशुभ प्रवृत्तियों से) रोकने तथा उन्हें मन्द करने वाला या उन पर नियंत्रण करने वाला अथवा उनसे वापस लौटाने वाला या उनसे बचाने वाला बनता है। तदुपरान्त क्षमा, मृदुता, सरलता, सत्यता, समता, दया, सहिष्णुता, पवित्रता, संयम, मौन, अप्रतीकार, अविरोध, अप्रमत्तता आदि गुण प्रकट करके आत्मा में चारित्रदशा विकसित करके अधिकाधिक उच्च पद पर ले जाता है।

उदाहरणों पर मनन करके स्थिरबुद्धि बनें

जैसे गजसुकुमाल मुनि का सोमल विप्र के साथ ९९ लाख भव पूर्व का अशुभ ऋणानुबन्ध था, उसके उदय में आने पर सोमल द्वारा दिये गए मारणान्तिक उपसर्ग (कष्ट) को समभाव से सहकर, वे सर्वकर्म-बन्धनों को काटकर मुक्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गए।

इस प्रकार अशुभ ऋणानुबन्ध के समय विरोधी द्वारा जो भी उपसर्ग, कष्ट या सन्ताप आए, उसे समभाव से सह लेने में ही आत्मा को शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है।

ऋणानुबन्ध के नियमों को जानने से लाभ

ऋणानुबन्ध के नियमों को जो जान समझ लेता है, उनको यथार्थ रूप से उपयोग में लेता है; उसे स्वपर से सम्बन्धित ऋणानुबन्ध के उदय की चाहे जितनी विकटता या विचित्रता हो, तो भी आश्चर्य नहीं होता। उसकी चित्तवृत्ति सम्यक् देवाधिदेव, (आत्मा-परमात्मा), सद्गुरु एवं सद्धर्म से जरा भी विचलित या स्खलित नहीं होती।

---

१. ऋणानुबन्ध से साभार अनूदित, पृ. ९२, ९६

कर्म सिद्धान्त पर उसकी अटल आस्था रहती है। वह स्थिर और शान्त रहती है, क्योंकि उसकी दृढ़ श्रद्धा होती है।

जिस प्रकार के ऋणानुबन्ध का उदय होता है, उस प्रकार का फल मिलता है।[१] उसमें कुछ भी परिवर्तन (उदय में आने पर) नहीं होता। (प्रत्येक जीव या पदार्थ के साथ शुभाशुभ ऋणानुबन्ध होने से पहले ही) राग या द्वेष के भाव जुड़े बिना समभाव में अवस्थित दशा में रहने, उसके निश्चयरूप पुरुषार्थ में सफलता प्राप्त होती और क्रमशः वह (प्रत्येक प्रसंग या प्रवृत्ति में) ज्ञाता-द्रष्टारूप रहने में समर्थ होता है।

इस सिद्धान्त का दृढ़ आलम्बन लेने के पश्चात् उसके अन्तर् में ऐसे भाव नहीं उठते कि 'इसके लिए ऐसा नहीं होता तो अच्छा रहता, क्योंकि उससे चिन्तामुक्त रहा जा सकता था' अथवा 'इसके लिए इतना इस प्रकार हुआ, वह ठीक हुआ, क्योंकि उससे कितनी ही सुविधाएँ अनायास ही प्राप्त हो गईं इत्यादि प्रकार के व्यवहार दृष्टि से उत्पन्न होने वाले भाव या विकल्प (शुभाशुभ-इष्टानिष्ट निमित्तों के विकल्प) अनेक प्रकार के (कर्म-सिद्धान्त के) नियमों के ज्ञान से और उसके जागृतिपूर्वक उपयोग से उपशान्त होते जाते हैं। अर्थात्-इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग के प्रसंग पर समभाव रखने से उसे शान्ति प्राप्त होती है, कषाय उपशान्त हो जाते हैं। यत्र-तत्र राग-द्वेष से दूर रहने का जो बोध किया है, उक्त नियम का पालन तथा अभ्यास करने से राग-द्वेष कम होकर क्षीण होने लगते हैं। वह शुद्ध आत्मा को सम्मुख रखकर चलता है। इसलिए आत्मा को पुनः बन्धन में डालने की उसकी वृत्ति नहीं होती।

सर्वज्ञानी भगवन्तों का सतत् इसी प्रकार का पुरुषार्थ होता है। वे अटल सिद्धान्त के ज्ञानबल से, विशेष रूप से विषम संयोग या प्रतिकूल परिस्थिति हो तो भी स्वस्थ, शान्त, धीर-गम्भीर और मौन होते जाते हैं और अन्तरंग में अगाध संयम रखकर शीघ्र ही उच्च आत्मदशा में पहुँच कर स्वरूपस्थ हो जाते हैं।[२]

ऐसे ज्ञानी वीतराग भगवन्तों के पवित्र चरणचिह्नों पर चलकर तथा ऋणानुबन्ध के अटल अबाधित नियमों को जानकर श्रद्धा सहित उपयोग में लेकर जो भी संसारी जीव चलते हैं, वे मन-वचन-काया के योगों को राग-द्वेष-मुक्त रखने तथा उन पर संयम रखने का अभ्यास करके शुद्ध आत्मस्वरूप में-परमात्मपद में स्थित हो सकते हैं।

---

१. (क) जहा कडं कम्म, तहासि भारे। -सूत्रकृतांग १/५/१/२६
सव्वे सयकम्मकप्पिया। -सूत्रकृतांग, १/२/३/१८
(ख) जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।-सूत्रकृतांग १/५/२/२३

२. 'ऋणानुबन्ध' से साभार अनूदित पृ. ९७ से ९९ तक

ऋणानुबन्ध के अशुभ उदय को अप्रभावी, शान्त और क्षीण करने के उपाय

जिस व्यक्ति की इतनी उच्चभूमिका न हो, वह अशुभ ऋणानुबन्ध के अशुभ उदय होने पर अनिष्ट फल प्राप्त होने पर शान्ति, समता, धैर्य पूर्वक सहन करे। आत्मचिन्तन, कर्मसिद्धान्त-चिन्तन या आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय आदि करे। इष्टवियोग तथा अनिष्टयोग में होने वाले निमित्तों पर दोषारोपण न करे, केवल अपने आत्म-उपादान का ही विचार करे। ऐसा करने से नये ऋणानुबन्धी कर्मों का आना (आस्रव) रुक जायेगा।[१]

यदि इतना न हो सके तो आर्त्तध्यान न करे, रौद्रध्यान तो किसी भी हालत में न करे। धर्मध्यान में स्थिर रहे। अपनी प्रज्ञा को आत्मसमाधि में स्थिर रखने का प्रयास एवं अभ्यास करे।

धर्मध्यान के चार रूप हैं-(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और रूपातीत। इन चारों में से पहले आदि तीन ध्यानों का आलम्बन ले। पिण्डस्थ के द्वारा अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव निर्जीव पदार्थों की विनश्वरता, अनित्यता, राग-द्वेषकर्तृत्व, अहंकार-ममकार आदि का फिर शुद्ध आत्मा का एवं उसके साथ परभावों तथा वैभाविक भावों का क्या और किस कारण से सम्बन्ध है? इस प्रकार का तथा अन्त में भेदविज्ञान का दृढ़ चिन्तन-एकाग्रतापूर्वक ध्यान करे।

पदस्थ ध्यान के द्वारा किसी पद (उदाहरणार्थ-**ॐ शान्ति, ॐ अर्हम्, ॐ असिआउसा नमः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, नमो जिणाणं जियभयाणं,** आदि में से किसी एक पद) का ध्यान करे। एकाग्रतापूर्वक स्वरूप चिन्तन करे अथवा नवकारमंत्र या किसी भी अन्य लोकोत्तर मंत्र, मंगलपाठ, स्तोत्र आदि का स्मरण या जप करना। तत्पश्चात्-रूपस्थ ध्यान द्वारा किसी महापुरुष का मन में चित्र अंकित करके अथवा चित्र, प्रतिकृति या प्रतीक का आलम्बन लेकर एकाग्रचित्त से उनके स्वरूप, गुण-समूह तथा उनके स्व-भाव का चिन्तन करे।

विशेष संकट उपस्थित होने पर शान्ति का उपाय

अगर विशेष संकट, विघ्न-बाधा, विपत्ति या असह्य व्याधि या व्यन्तरादि देवों, मनुष्यों या तिर्यंचों का उपद्रव, आतंक या अशान्ति का वातावरण हो, मन क्षुब्ध रहता हो, मन आर्त्तध्यान से किसी भी प्रकार से हटता न हो, तनाव हो तब या तो शुद्ध होकर प्रतिदिन नियमित रूप से पूर्ण श्रद्धाभक्तिपूर्वक कम के कम तीन महीने तक प्रातः भक्तामरस्तोत्र का या सन्ध्याकाल में कल्याणमन्दिर स्तोत्र का, या बृहत्

१. ऋणानुबन्ध से भावांश ग्रहण, पृ. ९७

शान्तिपाठ का या लोगस्स (चतुर्विंशति स्तव) का या नमोत्थुणं (शक्रस्तव) का पाठ करे। स्तोत्र पाठ या स्तुति-पाठ के भावों को अन्तर् में ग्रहण करने और उसके साथ एकरूप होने का प्रयत्न करे। यदि ऋणानुबन्ध के अशुभ उदय की स्थिति दीर्घकाल की हो और तीन महीने के पाठ से दूर न हो तो और तीन मास तक निर्धारित स्तोत्र या स्तुति का पाठ करे, ऐसा करने से सुखद परिणाम आने की सम्भावना है।

इसके साथ ही प्रभु के समक्ष निम्नोक्त प्रकार से विनति (विनयपूर्वक निवेदन = प्रार्थना) दिन में पांच बार करना–

(१) "संसार में आने से प्रारम्भकाल से आज (इस क्षण) पर्यन्त इस जीव ने देव, मनुष्य एवं तिर्यंच गति के जीवों के सम्बन्ध (सम्पर्क) में आकर जानते-अजानते जो दोष या अपराध मन-वचन-काया से किया हो, उन सबके लिये उन सबसे मन-वचन-काया से आपके समक्ष पश्चात्तापपूर्वक क्षमा मांगता हूँ। मेरे वे पाप-द्वेष-अपराध निष्फल हों। वे सर्व जीव मुझे क्षमा करें। आपकी असीम कृपा से मैं भी उनके प्रति वैर-विरोध की वृत्ति को भूल रहा हूँ, वे भी अपनी वैर-विरोध की वृत्ति भूल जाएँ। उनका कल्याण हो, उन्हें सुख-शान्ति प्राप्त हो, यही विनती है।"

(२) "हे कृपालु वीतराग भगवन् ! देव, मनुष्य या तिर्यंच की ओर से मेरे पर कोई उपद्रव, आतंक, कष्ट या संकट आयेंगे तो भी मेरी समभावपूर्वक सहन करने की भावना है तथा आपकी आज्ञानुसार चल कर उस जीव का हित और कल्याण चाहूँगा। इस कार्य में सफल होने के लिए मुझे आपसे प्रेरणाबल या स्फुरणाबल मिलता रहे, ऐसी कृपा करने की विनती है। कृपा करके ऐसे विकट प्रसंग में मुझे सहायता और शक्ति प्रदान करके मेरी आत्मरक्षा करें। हे करुणासागर प्रभो ! आपकी इस अहेतुकी असीम कृपाभाव का उपकार मैं कदापि नहीं भूलूँगा और आपका उपकार मानता ही रहूँगा।"

ये और इस प्रकार की अन्य जो भी भाववाही, श्रद्धाभक्तिपूर्ण विनती या प्रार्थना अन्तःकरण में स्फुरित हो, उसका भी इस विनती में समावेश किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त निम्नोक्त या ऐसी अन्य धुनें को कम से कम ५ मिनट तक बोलें–"शान्तिनाथजी शान्ति करें, वीरप्रभु वीरता भरें, पार्श्वप्रभु मेरी आत्मा के पास रहें, धर्मनाथजी धर्म में स्थिर करें, सुमतिनाथजी सुमति दें।"

इस प्रकार अभ्यास करने से ऋणानुबन्ध का अशुभ उदय कम होकर अप्रभावी और क्षीण हो जाएगा। यही कर्मबन्ध से कर्म-मुक्ति तक पहुँचने का सरल मार्ग है।[१]

■■

१. ऋणानुबन्ध से साभार, पृ. ७८ से ८०

२१

रागबन्ध और द्वेषबन्ध के विविध पैंतरे

राग और द्वेष : दो प्रकार की विद्युत् के समान

बिजली दो प्रकार की होती है–ए.सी. और डी.सी.। एक, आदमी को अपनी ओर खींचती है, जबकि दूसरी झटका देकर आदमी को दूर फैंक देती है। किन्तु दोनों प्रकार की ये बिजलियाँ मारक और जानलेवा होती हैं। दोनों का दुष्परिणाम घातक और दुःखदायक तथा हानिकारक है। परन्तु इन दोनों प्रकार की बिजलियों से सम्बन्ध, सम्पर्क या संसर्ग होता है, तभी ये घातक सिद्ध होती हैं। कोई इन्हें छुए नहीं, इनसे दूर रहे, तो ये उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकतीं।

ठीक इसी प्रकार राग और द्वेष होते हैं।राग प्राणियों को अपनी ओर खींचने का काम करता है और द्वेष झटका देकर दूर फैंकने वाली विद्युत् की तरह है। द्वेष एकदम उस व्यक्ति या वस्तु के प्रति भड़क कर उसे मन से दूर फैंक देता है, उससे किनाराकसी करता है, वह कोई सजीव प्राणी हो या मनुष्य हो तो उससे बोलना, सहयोग देना बन्द कर देता है; नाक के मैल की तरह उसे घर से निकाल देता है अथवा तीव्र द्वेषवश जान से ही मार डालता है।

रागभाव किसी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, पद, प्रतिष्ठा या शरीरादि के प्रति होने पर वह उस रागाविष्ट व्यक्ति को अपनी ओर खींचता चला जाता है। इसके विपरीत **द्वेषभाव** किसी व्यक्ति, वस्तु या शरीरादि के प्रति होने पर उनके प्रति घृणा, विरोध, ईर्ष्या, वैर, अरुचि एवं अन्यमनस्कता के रूप में अभिव्यक्त होता है। फिर वह उस व्यक्ति या वस्तु के प्रति रोष, आक्रोश भड़का कर उसे दूर ठेल देता है, उसे हृदय से और वैसे भी निकाल देता है अथवा उसे समाप्त कर देता है।

राग और द्वेष सम्बन्ध जोड़ता है, वही बन्धन है

किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, विचार, विषय आदि के प्रति यदि मन में अनुकूलता महसूस होती है तो रागरूप सम्बन्ध उसके साथ जुड़ जाता है, यदि उस वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, विचार आदि के प्रति मन में प्रतिकूलता का अनुभव होता है तो उसके साथ द्वेषरूप सम्बन्ध जुड़ जाता है। यह सम्बन्ध ही बन्धन है।[१] प्रवचनसार वृत्ति और मूल में स्पष्ट कहा गया है–"इस प्रकार राग का या द्वेष का (वस्तु या व्यक्ति आदि के प्रति) जीव का परिणाम ही बन्ध का कारण है।"[२] "परिणाम से बन्ध होता है, परिणाम हैं–राग, द्वेष और मोह से युक्त। मोह और द्वेष, ये दोनों अशुभपरिणाम हैं, जब कि राग शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार के परिणाम वाला होता है।" इसलिए 'श्रमणसूत्र' में कहा गया–"दो बन्धनों का प्रतिक्रमण करता हूँ, रागरूप बन्धन और द्वेषरूप बन्धन से।"[३] 'प्रशमरति' में राग-द्वेष को बन्ध का कारण बताते हुए कहा गया है कि–"जो मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में शुभ-अशुभ-भाव की स्थापना (कल्पना) करता है, वह चाहे रागयुक्त हो या द्वेषयुक्त, उसके लिये बन्धन का कारण बनता है।"[४]

राग-द्वेष : दुखवर्द्धक, चारित्रनाशक, सद्गुणशत्रु

व्यक्ति जितना-जितना किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति राग, लालसा व गृद्धि करता जाता है, उतना-उतना ही अपने लिए दुःख के बीज बोता जाता है। वर्तमान युग का मानव प्रायः शरीर और इन्द्रियों को ही सब कुछ मानकर चल रहा है। इन्हीं की परिचर्या में वह सब कुछ न्योछावर करने को तैयार होता है। शरीर चाहे अत्यधिक आसक्ति और रागभाव से नष्ट हो जाए, जिसको विरोधी या शत्रु अथवा विपक्षी मान लिया उसके प्रति द्वेष और वैर-विरोध करने में चाहे सारी सम्पत्ति नष्ट

---

१. कर्मसिद्धान्त (कन्हैयालाल लोढ़ा), पृ. १२

२. एवं रागपरिणाम एव बन्धकारणं ज्ञात्वा विशुद्ध-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव-निजात्मतत्त्वे निरन्तरं भावना कर्तव्येति। –प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति १७९/२४३/९

३. पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं, रागबंधणेणं, दोसबंधणेणं।" –आवश्यक सूत्र में श्रमणसूत्र।
देखें–प्रवचनसार गा. १८० में–
परिणामादो बंधो, परिणामो राग-दोस-मोह-जुत्तो।
असुहो मोह-पदोसो, सुहो व असुहो हवदि रागो॥

४. यस्मिन्निन्द्रिय-विषये शुभमशुभं वा निवेशयति भावम्।
रक्तो वा दिष्टो वा स बन्धहेतुर्भवति तस्य॥ ४३॥ –प्रशमरति

हो जाए, अत्यधिक समय और शक्ति बर्बाद हो, द्वेष के कारण मानसिक अशान्ति और तनाव बढ़े, शरीर अनेक बीमारियों का घर बन जाए, मनुष्य इसकी चिन्ता नहीं करता। शरीर और इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली मनोज्ञ वस्तु होती है या अनुकूल घटना या परिस्थिति होती है, तो मनुष्य उस पर राग करता है और इन्द्रियों एवं मन को अच्छी न लगने वाली किसी प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति होती है, तो वह द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, ईर्ष्या एवं कलह करने लगता है। इस प्रकार कहीं राग तो कहीं द्वेष के इन दुर्विकल्पों और दुष्कृत्यों में जीवन की अमूल्य घड़ियाँ बर्बाद हो रही हैं। 'प्रशमरति' में ठीक ही कहा गया है-"इस प्रकार रागद्वेष के थपेड़ों से आहत होकर व्यक्ति केवल कर्मबन्ध ही करता है। दूसरे किसी थोड़े-से भी सद्गुण को प्राप्त नहीं कर पाता, जो उसके इहलोक और परलोक के लिए श्रेयस्कर हो।"[१] राग और द्वेष से जीवन में सद्गुणों की वृद्धि होना तो दूर रहा, अनेक दुर्गुणों की ही वृद्धि होती है। जब तक रागद्वेष की मलिनता है, तब तक चारित्र में शुद्धता भी कैसे आ सकती है? व्यक्ति के श्रुतधर्म और चारित्रधर्म, दोनों ही राग-द्वेष से दूषित होते हैं। राग-द्वेष से चारित्र की शुद्धता तो क्या होगी, कभी-कभी राग-द्वेष की अधिकता बड़े-बड़े साधकों के चारित्र का ही सर्वनाश कर डालती है। क्योंकि रागद्वेष की प्रवृत्ति चारित्रमोह के उदय से होती है, तब चारित्र कैसे शुद्ध और निर्विकारी रह सकता है?

राग-द्वेष और कर्मबन्ध : एक ही सिक्के के दो पासे

सच पूछा जाए तो रागद्वेष करती हुई आत्मा कर्मबन्ध से भारी होती है। यही बात 'वंदित्तु प्रतिक्रमण सूत्र' में कही गई है कि "इस प्रकार आठों कर्म (बन्ध) राग-द्वेष से उपार्जित हैं।" मिथ्यात्व आदि तो बाद में कर्मबन्ध के कारण बनते हैं, सर्वप्रथम कर्मबन्ध राग-द्वेष से ही होता है।[२] एक तरह से कर्मबन्ध और रागद्वेष परस्पर अन्योन्याश्रयरूप हैं। रागद्वेष की प्रवृत्ति करने से मोहकर्म उत्पन्न होता-बंधता है। मोहकर्म के उदय में आने पर विषयों के प्रति पुनः रागद्वेष होता है। फिर इससे कर्मबन्ध और पुनः मोहोदय से राग-द्वेष, पुनः बन्ध, फिर उदय और पुनः बन्ध। जैसे-गाड़ी के पहिये के ऊपर का भाग नीचे और नीचे का भाग ऊपर आता रहता है, इसी प्रकार राग और द्वेष का पहिया बन्ध और उदय के रूप में घूमता रहता है। इस प्रकार बन्ध-उदय के चक्र में अनन्त काल तक संसारी जीव घूमता रहता है।

---

१. रागद्वेषोपहतस्य केवलं कर्मबन्ध एवास्य।
नान्यः स्वल्पोऽपि गुणोऽस्ति, यः परत्रेह च श्रेयान्॥ ५३॥

२. एवमट्ठविहं कम्मं रागदोस-समज्जियं। -वंदित्तु (प्रतिक्रमण) सूत्र

विषयों के निमित्त से रागद्वेष, उनके कारण कर्मबन्ध और फिर दुःख

यों देखा जाए तो मनुष्य इन्द्रियों और मन के विषयों के प्रति राग-द्वेष करता है। अतः विषयों के निमित्त से राग-द्वेष, रागद्वेष के कारण कर्मबन्ध तथा कर्मबन्ध से संसार-परिभ्रमण होता है। अर्थात्-संसार में जन्म-मरणादि नानाविध दुःखों में भटकता है। संसार परिभ्रमण से अनेक दुःखों का अनुभव सतत होता है। इसीलिए 'प्रशमरति' में ठीक ही कहा है-"संसार कर्ममय है, अर्थात्-संसार कर्मों का विकार है और फिर दुःख भी तो संसार के निमित्त (जन्ममरणादिरूप संसार के कारण) से होता है। इसलिए सिद्ध होता है कि राग-द्वेष आदि ही भवसन्तति (संसार-परम्परा) का मूल कारण है।" उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार वस्तुतः "उपार्जित किये हुए ये कर्म ही जन्म-मरण (संसार) के मूल हैं और जन्म-मरण ही दुःखरूप है।"[१] इस प्रकार कर्म से जन्ममरण, जन्म-मरणरूप संसार-परिभ्रमण से दुःख, सुख, उनसे मोह, मोह से रागद्वेष, राग-द्वेष से कर्मबन्ध, उससे फिर जन्ममरण, सुख-दुःख आदि, एक प्रकार का विचित्र कर्मचक्र है जिसका मूल रागद्वेष-परिणाम है।

राग-द्वेष की तीव्रता : भवपरम्परा का कारण

मूल में संसार अर्थात्-भव (जन्म-मरण)-परम्परा राग-द्वेष से होती है भवपरम्परा चलने में प्रमुख कारण या तो तीव्र रागबन्ध या तीव्र द्वेषबन्ध है। जिनसे जन्म-मरणादि अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। कुछ उदाहरणों से इस तथ्य को स्पष्टतया समझिये-

(१) तीव्र-द्वेषपरम्परा-समरादित्य केवली चरित्र से स्पष्ट है कि प्रथम भव में जो दो मित्र थे-अग्निशर्मा तापस और गुणसेन राजा। अग्निशर्मा का मासक्षपण का पारणा तीन-तीन बार टल जाने से उसके मन में गुणसेन के प्रति द्वेष की गांठ बँध गई। उसने गुणसेन से वैर का बदला लेने हेतु गुणसेन को मारने वाला बनने का निदान (नियाणा) किया। इस प्रकार जन्म-जन्म में द्वेषवृत्ति का निदान करके अग्निशर्मा का जीव गुणसेन के जीव को मारता रहा। मुनिहत्या आदि महापाप कर्म बन्ध का भार ढोता हुआ वह अनेक जन्मों तक दुर्गति में परिभ्रमण करता रहा। उधर गुणसेन का जीव प्रत्येक भव में क्षमा, समता और संयम रखकर अग्निशर्मा के जीव

---

१. (क) कर्म की गति न्यारी भा. १, पुस्तक ८, पृ. १ और १२
(ख) कर्ममूलं संसारः, संसार-निमित्तकं पुनर्दुःखम्।
तस्माद्राग द्वेषादयास्तु भवसन्ततेर्मूलम्॥ -प्रशमरति ५७
(ग) कम्मं च मोहप्पभवं वयंति। ..... कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं। दुक्खं च जाई-मरणं वयंति॥ -उत्तराध्ययन अ. ३२, गा. ७

द्वारा कृत उपसर्गों को सहता रहा। इस उत्कृष्ट ज्ञानादि वीतराग साधना के फलस्वरूप नौवें भव में वे समरादित्य वीतराग केवली हुए और सर्वकर्मों से मुक्त होकर मोक्ष में पधारे। यह था नौ-नौ भवों तक तीव्र द्वेषपरम्परा का फल।

(२) **तीव्र द्वेष-परम्परा**—भगवान् पार्श्वनाथ के १० मुख्यभवों का वर्णन कल्पसूत्र आदि में मिलता है। प्रथम भव में 'मरुभूति' और 'कमठ', ये दोनों सहोदर भाई थे। मरुभूति की पत्नी के प्रति कमठ का तीव्र कामराग हुआ। दोनों भाइयों में स्त्रीराग को लेकर वैर-वैमनस्य की वृत्ति खड़ी हो गई। कमठ तापस बना। मरुभूति जब उनको नमन करने गया, तब कमठ ने पूर्व विद्वेषवृत्ति से प्रेरित होकर एक बड़ा पत्थर उसके सिर पर पटक कर जान से मार डाला। तीव्रद्वेषवश निकाचित कर्मबन्धयुक्त नियाणे के कारण आगामी दस भवों (जन्मों) तक कमठ उस वैरपरम्परा के कारण मरुभूति के जीव को मारता ही रहा। परन्तु समता और क्षमा का निष्ठावान आराधक मरुभूति का जीव राग और द्वेष तथा कषायभाव से दूर रहकर कर्मनिर्जरा करते हुए अन्तिम दसवें भव में तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान् बन गए और सर्वकर्मों का क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा हो गए। इधर कमठ का जीव प्रत्येक भव में भयंकर द्वेषवृत्ति के कारण दस भवों तक पीछे लगा रहा और भयंकर पाप कर्मबन्ध करके नरक, तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों में जन्म मरण आदि के महान् दुःख सहता रहा और आज भी वह संसार-अटवी में भटक रहा है तथा तीव्र द्वेष के फलस्वरूप महापाप कर्म बांध कर अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहेगा। यह तीव्रद्वेष की परम्परा का परिणाम!

(३) तीव्र द्वेष की तरह **तीव्रराग** भी भव-परम्परा बढ़ाता है। जैसे द्वेष की परम्परा चलती है, वैसे ही **राग की परम्परा** भी चलती है। क्योंकि वह भी संसार की वृद्धि करता है। शंख और कलावती के चरित्र में हम पढ़ते हैं कि शंख-कलावती के भव से राग की तीव्रता बढ़ी, उसके फलस्वरूप २१ जन्मों तक लगातार भवपरम्परा चलती रही। किसी जन्म में वे **स्नेहरागवश** भाई-बहन के रूप में तथा किसी जन्म में पति-पत्नी आदि के रूप में जुड़ते रहे।

(४) इसी प्रकार पृथ्वीचन्द-गुणसागर की भी भवपरम्परा **तीव्रस्नेहरागवश** लगातार २१ भवों तक चलती रही। यह भी तीव्र राग का परिणाम था।

(५) बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमिनाथ और राजीमती की भी लगातार नौ भवों तक राग-परम्परा चली। प्रथम भव से ही दोनों में पति-पत्नी का स्नेह-राग-सम्बन्ध जुड़ा था। तीव्र स्नेहराग के कारण सभी जन्मों में से पति-पत्नी ही बनते गए। इतना ही नहीं, देवभव में भी वे देव-देवी के रूप में साथ ही उत्पन्न हुए और वियोग भी दोनों

का साथ-साथ हुआ। इस प्रकार बढ़ते हुए स्नेहराग-भाव के कारण वे अन्तिम नौवें भव में भी दाम्पत्य-सम्बन्ध से जुड़ने वाले थे। दोनों की सगाई (वाग्दान) हो चुकी थी। परन्तु विवाह होने से पूर्व ही नेमिनाथ रागभाव का बन्धन तोड़कर विरक्त बन गए और मुनिमार्ग पर आरूढ़ हो गए। राजीमती इस प्रकार का रागबन्धन अकस्मात् तोड़ देने से पहले तो रागयुक्त हुई, किन्तु फिर सम्यग्ज्ञान का प्रादुर्भाव होने से सांसारिक रागबन्धन को तोड़कर तीर्थंकर नेमिनाथ के पास दीक्षित होकर साध्वी बनी और सदा-सदा के लिए राग-द्वेष के वश होने वाले समस्त कर्म-बन्धन तोड़कर वीतराग, केवली एवं सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गई।[१]

यह है-नौ भवों के **रागसम्बन्ध** से होने वाली भव-परम्परा का चित्र।

(६) इस प्रकार इस अनन्त संसार में अनेक जीवों की राग-परम्परा चलती है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में चित्त और सम्भूति के पांच जन्मों तक मनुष्य और तिर्यञ्च भव में भाई-भाई के राग सम्बन्ध को लेकर साथ-साथ जन्म-मरण का उल्लेख है। परन्तु छठे भव में दोनों का वियोग हो गया। सम्भूति का जीव पूर्वजन्म में किये हुए निदान (फलाकांक्षा) के कारण अनेक भोगों से सम्पन्न ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना और चित्त का जीव काम-राग, स्नेहराग और दृष्टिराग, इन तीनों का त्यागकर अनगार बनकर संयमपथ पर आरूढ़ हुआ। जाति-स्मरणज्ञान के कारण दोनों का मिलना तो हुआ, परन्तु ब्रह्मदत्त चित्तमुनि के जीव द्वारा दिये गए उपदेश से भोगों के तीव्रराग-पथ को नहीं छोड़ सका, त्यागपथ पर आना तो उसके लिये दुर्गम हो गया। फलतः भोगों के तीव्ररागवश वह नरक का मेहमान बना और अपनी भवपरम्परा बढ़ा ली, जबकि चित्तमुनि का जीव रागबन्धन को तोड़कर समस्त कर्मों से मुक्त होकर मोक्षगामी बना। यह था-तीव्रराग को दुष्परिणाम और रागत्याग के सुपरिणाम का स्पष्ट चित्र।[२]

(७) **तीव्रकाम-राग** से भी नरक तिर्यंच आदि अनेक दुर्गतियों में मनुष्य भटकता रहता है। मणिरथ राजा अपने छोटे भाई युगबाहु की धर्मपत्नी मदनरेखा पर मोहित हो गया। कामराग की उसमें इतनी तीव्रता थी कि वह छोटे भाई को मारकर मदनरेखा को पाने के लिये लालायित हो उठा। युगबाहु की गर्दन पर विषबुझी तलवार चलाई। युगबाहु के मर जाने के बाद भी मणिरथ राजा मदनरेखा को नहीं पा सका। उक्त तीव्र कामरागवश घोर पापकर्मबन्ध हुआ और रास्ते में ही जहरीले सर्प

---

१. कर्म की गति न्यारी, भा. ८, पृ. ८ से, पृ. ८, ९

२. देखें, उत्तराध्ययन सूत्र का १३ वाँ चित्त-सम्भूतीय अध्ययन।

के काटने से वह मरण-शरण हो गया। मरकर नरक में पहुँचा। वहाँ से वह अनेक भवों में भटकेगा।[१]

(८) इन सबसे भी भयंकर है **दृष्टिराग।** "कामराग और स्नेहराग-इन दोनों से तो थोड़ा कर्मबन्ध होता है, अतः इन दोनों को ईषत्कर (सुकर) माना गया है, क्योंकि ये दोनों आसानी से छूट सकते हैं, किन्तु दृष्टिराग तो इतना पापिष्ठ और भयंकर है कि इसे उखाड़ने में बड़े-बड़े सन्त या सज्जनपुरुष भी असफल हो जाते हैं।" विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है-'रागवेदनीय से समर्जित तीनों राग भावतः होते हैं। कामराग शब्दादि विषयों के प्रति होता है, स्नेहराग व्यक्तियों-जीवों के प्रति विषयादि निमित्तों को लेकर होता है, कभी-कभी शास्त्रादि के प्रति भी होता है और दृष्टिराग तो कुप्रवचनादि या सिद्धान्त-विरुद्धमत-स्थापन के प्रति होता है।[२] गोशालक भगवान् महावीर से पृथक् होकर आजीवक सम्प्रदाय का आचार्य बन गया था। भगवान् महावीर से विमुख होकर उसने स्वतंत्र मत स्थापित किया जो एकान्त नियतिवाद कहलाता था। अन्तिम समय में उसको पश्चात्ताप हुआ। उसकी मति सुधर गई। फिर भी वह दृष्टिराग की तीव्रतावश कई भवों तक कुगतियों में भटकता रहेगा।[३]

निष्कर्ष यह है कि संसारी अवस्था में कोई भी जीव ऐसा नहीं मिलेगा, जिसमें रागद्वेष की मात्रा न हो। या तो दोनों ही प्रचुर मात्रा में होते हैं; या फिर दोनों में एक प्रमुख और दूसरा गौण हो जाता है। इस तरह अकेले राग से या अकेले द्वेष से भी भवपरम्परा चलती है। यह रागद्वेष की परम्परा किसी की अल्पकाल तक तो किसी की चिरकाल तक चलती रहती है। इसीलिए संसार रागद्वेष से बना हुआ है, रागद्वेषमय है।[४]

---

१. देखें-मदनरेखा (स्व. आचार्य श्रीजवाहरलालजी म.)

२. (क) कामराग-स्नेहरागाविषत्करावुभौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेद्यः सतामपि। -अध्यात्मसार
(ख) जं राय-वेयणिज्जं, समुइण्णं भावओ तओ रागो।
सो दिट्ठि-विसय नेहाणुरायरूवो अभिस्संगो॥ २९६४॥
कुप्पवयणेसु पढमो, विइओ सद्दाइएसु विसएसु।
विसयादिनिमित्तो वि हु, सिणेहरागो सुयाईसु॥ २९६५॥ -विशेषावश्यक भाष्य

३. देखें, भगवती सूत्र शतक १५

४. कर्म की गति न्यारी, भा. ८, पृ. ८

राग-द्वेष के पर्यायवाची शब्द भी दुःखदायी हैं, सुखकारक नहीं

संसार से सभी जीवों को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है।[१] वे अहर्निश सुखप्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। दुःखनिवृत्ति का वे जी-तोड़ प्रयत्न करते हैं। जिस वस्तु या व्यक्ति को वे अनुकूल मानते हैं, उस पर राग करने में सुख समझते हैं, या जो वस्तु उनको अभीष्ट है, उसे पाकर वे राजी होते हैं। जो प्रतिकूल हो, उसे पाकर नाराज। प्रतिकूल अनिष्ट वस्तु के प्रति अनिच्छा प्रगट करते हैं। परन्तु क्या इस प्रकार अनुकूल-प्रतिकूल या इष्ट-अनिष्ट के प्रति इच्छा-अनिच्छा, प्रीति-अप्रीति, आसक्ति-घृणा आदि के रूप में राग-द्वेष करने से जिस सुख की कल्पना जीव करते हैं, क्या वह सुख चिरस्थायी रहता है अथवा अनुकूल के प्रतिकूल होते ही दुःख में परिणत हो जाता है। इसी दृष्टि से हम इन दोनों का विश्लेषण करेंगे।

राग और द्वेष के जिन पर्यायवाची शब्दों का महान् पुरुषों ने निरूपण किया है, उनमें से प्रत्येक शब्द को टटोलें तो पता लग जाएगा कि वे सबके सब क्षणिक सुख या सुखाभास की प्रतीति ही कराते हैं। मरुभूमि में दूर से दिखाई देने वाले मृगमरीचिका में जल की भांति राग और द्वेष से माने जाने वाले क्षणिक सुख है। 'प्रशमरति' में राग के पर्यायवाची शब्द ये बताये हैं-

इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो, गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः।

अभिलाष इत्यनेकानि राग-पर्यायवचनानि॥ १८॥

इच्छा, मूर्च्छा, कामना, स्नेह, गृद्धि, ममता, हर्षावेश, अभिलाषा, लालसा और तृष्णा आदि अनेक राग के पर्यायवाचक शब्द हैं।

इसी प्रकार द्वेष के पर्यायवाची शब्द भी 'प्रशमरति' में बताए गए हैं-

ईर्ष्या रोषो, दोषो, द्वेषः परिवाद-मत्सरासूयाः।

वैर-प्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्यायः॥ १९॥

ईर्ष्या, रोष (क्रोध), दोष (दोषारोपण), द्वेष (वैर-विरोध), निन्दा, चुगली, मात्सर्य और दोषदृष्टि, वैर, प्रचण्डन (भांडना, बदनाम करना) आदि द्वेष के अनेक पर्यायवाचक शब्द हैं।[२]

वास्तव में गहराई से चिन्तन किया जाए तो राग और द्वेष के इच्छा-मूर्च्छा आदि तथा ईर्ष्या-रोष आदि जो पर्यायवाचक शब्द बताए हैं, वे राग-द्वेष को विभिन्न रूप में

---

१. सव्वे सुहसाया दुहपडिकूला। -आचारांग श्रु. १

२. देखें, प्रशमरति श्लो. १८, १९

क्रियान्वित करने वाले शब्द हैं। इसका अभिप्राय यह है कि राग और द्वेष इतने-इतने निमित्तों या तरीकों से प्रकट होता है। यह बात अवश्य है कि ये राग-द्वेष के पर्यायवाची शब्द होते हुए भी इनकी मात्रा में न्यूनाधिकता अवश्य है। इच्छा का भी सूक्ष्मरूप वासना है, उसके बाद स्नेह, इच्छा, ममता, मूर्च्छा, गृद्धि, लालसा और तृष्णा, ये राग के उत्तरोत्तर रूप हैं, तथैव दोषदर्शन, ईर्ष्या, परिवाद, रोष, मत्सर, वैरविरोध, वैमनस्य, कलह, युद्ध आदि भी उत्तरोत्तर विकटतर हैं। जो भी हो, राग के या द्वेष के, इनमें से किसी भी रूप का प्रयोग करने से सुख के बदले दुःख ही बढ़ता है, मानसिक अशान्ति, अस्वस्थता और तनाव आदि ही बढ़ते हैं और इन सबसे बढ़कर दुःख है-इनसे संसार परिभ्रमण में वृद्धि का।[१]

राग-द्वेष जितना उत्कट, उतना ही दुःखदायी

यह तो निश्चित है कि राग-द्वेष जितनी-जितनी मात्रा में उत्कट, उत्कटतर होंगे, कर्मबन्धन उतना उतना गाढ़रूप से बंधेगा। उसका फल भी उतना तीव्र और अशुभ होगा। फल भोगने में उतना ही कटु, दुःखदायी होगा।

कषायों के समान राग-द्वेष की भी छह डिग्रियाँ

जिस प्रकार आगमों में कषायों की अनन्तानुबन्धी आदि ४ डिग्रियाँ बताई हैं, उसी प्रकार राग और द्वेष की भी उत्तरोत्तर ६ डिग्रियाँ हो सकती हैं। जैसे-तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम-राग और द्वेष। रागद्वेष जितना जितना कम होता जाएगा, उतने-उतने अंशों में कर्मबन्धन भी कम होते जाएँगे। विशेषतः मोहनीयकर्म भी उत्तरोत्तर मन्द-मन्दतर होता जाएगा। इसीलिए कहा गया है-जितने-जितने अंशों में (चारित्रमोहनीय के क्षय या क्षयोपशम से) चारित्र है, उतने-उतने अंशों में रागबन्धन नहीं है, इसके विपरीत जितने-जितने अंशों में रागभाव है, उतने-उतने अंशों में वह बन्धन रूप है।[२] जीव जिस सुख की तलाश में है, उससे पृथक् अव्याबाध, शाश्वत और स्वाधीन सुख (आनन्द) के अनन्त सागर के निकट पहुँच जाएगा। वह अव्याबाध सुख अनाकुलता में है, राग और द्वेष दोनों में आकुलता है, उद्विग्नता पैदा होती है, सुखशान्ति को ये दोनों चौपट कर देते हैं। जहाँ राग होगा या द्वेष होगा, वहाँ अनाकुलता होना आकाशकुसुम के समान है।

---

१. कर्म की गति न्यारी भा. ८, पृ. ८

२. येनांशेन तु चारित्रं, तेनांशेनाऽस्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागः, तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति॥

राग हो या द्वेष : अन्त में दुःखदायक ही हैं

एक छोटा-सा उदाहरण ले लें। एक व्यापारी है। उसे व्यापारिक जगत् में नाम कमाने की इच्छा हुई। उसने जगह-जगह प्रचार किया। व्यापारी लोगों से स्वार्थवृत्तियुक्त मिलनसारी रखी, स्नेह-प्रदर्शन किया। उसे आशा बंध गई कि सभी व्यापारी मुझे नेता बनाएँगे, या उच्च पद मुझे मिल जाएगा, परन्तु जब व्यापारिक संस्था का चुनाव हुआ तो वह पद किसी दूसरे योग्य, ईमानदार एवं वात्सल्य प्रेमी व्यापारी को मिल गया। अब उसका प्रेम या स्नेह जिस व्यापारिक संस्था के नेता या अध्यक्ष पद की तथा सम्मानप्राप्ति की जो इच्छा या लालसा थी, वह सब भंग हो गयी। मानसिक शान्ति भंग हो गई। मन के अनुकूल न होने से दुःख हुआ और जिस व्यक्ति को नेता पद या सम्मान मिला, उसके प्रति ईर्ष्या, वैमनस्य और द्वेष हो गया। उक्त संस्था के प्रति मन ही मन घृणा हो गई। द्वेषवृत्ति बढ़ जाने से व्यापारी लाला की नींद हराम हो गई, रातें बिस्तर पर करवटें लेते-लेते पूरी होने लगीं। मन में उचाट हो गया। राग, द्वेष, अशान्ति, दुःख, कर्मबन्ध, कर्म के उदय में आने पर दुःख इस प्रकार का विषचक्र चलने लगा।

रागद्वेषयुक्त कोई भी प्रवृत्ति : परिणाम में दुःखदायक होगी

वस्तुतः दुःख का मूल कारण यदि खोजा जाय तो राग और द्वेष ही है। बहुधा मानव राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति को सुखरूप मानता है और उसमें जब बार-बार प्रवृत्त होता है, तब उससे अरुचि, घृणा, दुःख, आकुलता आदि उत्पन्न होती है। सुखप्राप्ति के लिए ज्यों ही राग या द्वेष का आश्रय लिया जाता है, त्यों ही सुखशान्ति दूरातिदूर होती जाती है। एक उदाहरण लें-एक लड़की बहुत ही उमंग से विवाह करती है, यह सोचकर कि विवाह के बाद मैं बहुत सुखी हो जाऊँगी। परन्तु परिणाम उसकी कल्पना के विपरीत आता है। पति के साथ अनबन, बात-बात में संघर्ष, पति का शराब और जूए में बर्बाद होना। पहले वाला अनुरागी प्रियतम उसके लिए अंगारे सम दाहक व दुःखदायक बन जाता है। पति के प्रति तीव्रराग (मोह) अब उसके लिए दुःख का पहाड़ बनकर छा जाता है। लोहे के चने चबाने जैसे दुःखदायी दिवस प्रतीत होते हैं।[1]

द्वेष भी विभिन्न रूपों में प्रकट होता है, परिणाम में दुःखदायी है

इसी प्रकार द्वेष के वश भी मनुष्य किसी को बदनाम कर देता है, किसी पर मिथ्या दोषारोपण कर देता है, किसी की निन्दा, चुगली करता है, किसी को नीचा दिखाकर और अपनी उत्कृष्टता की डींग हांकता है, द्वेषवश किसी को डांटता-

१. कर्म तेरी गति न्यारी भा. ८.

फटकारता है, पत्रों में टीका-टिप्पणी करता है; मारता-पीटता है, कलह, वाक्युद्ध एवं झगड़ा कर बैठता है। इन सब द्वेष के प्रकारों से पापकर्मबन्ध कर लेता है, फिर भी समझता है कि मैंने अमुक व्यक्ति को निरुत्तर कर दिया, विजय प्राप्त कर ली, अब निश्चिन्त होकर चैन की नींद ले सकूंगा। परन्तु परिणाम कुछ और ही आता है। द्वेषवृत्ति जब क्रोधादिरूप में प्रगट होती है, तब वह जिसके प्रति द्वेषादि से प्रेरित होकर उपर्युक्त प्रकारों में से किसी एक प्रकार को अपनाता है, तब सामने वाला व्यक्ति उसका शत्रु बन जाता है। द्वेषकर्त्ता व्यक्ति की नींद हराम हो जाती है। उसकी मानसिक शान्ति भंग हो जाती है। कई बार तो वह पागलों की तरह बड़बड़ाता रहता है। कई बार उक्त द्वेषवश उग्रकोप, रोष आदि करने से हार्ट फेल तक हो जाता है। एक नगर में हमने यह प्रत्यक्ष देखा कि एक व्यक्ति द्वेषवश दूसरे व्यक्ति पर रोष से एकदम उबल पड़ा, अत्यधिक जोर से बोलने पर नसें तन गईं, और हृदय की धड़कन बढ़ जाने से उसी समय हार्ट फेल हो गया। अतः द्वेषवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, यह धारणा बिलकुल गलत है। बल्कि मनुष्य ज्यों-ज्यों अधिकाधिक द्वेष करता जाता है, त्यों-त्यों अशान्ति, दुःख तथा मानसिक रोग आदि बढ़ते जाते हैं।

राग और द्वेष, दोनों की परिणति दुःखदायी:क्यों और कैसे?

अतः राग और द्वेष दोनों ही परिणाम में दुःखदायी हैं, सुखदायी नहीं। जब मनुष्य रागवश जिस व्यक्ति के प्रति प्रणय, प्यार, स्नेह या आसक्ति करता है, और उससे भी अमुक-अमुक अपेक्षा रखता है, अमुक इच्छा की तृप्ति चाहता है, परन्तु वैसा न होने पर, यानी उसकी अमुक इच्छा, अपेक्षा या आकांक्षा पूर्ण या तृप्त न होने पर वह दुःखी होता है, अंदर ही अंदर कुढ़ता है, जलता है। इस प्रकार राग की अन्तिम परिणति दुःखदायिनी बनती है। यही दशा द्वेष की है। द्वेषवश भी मनुष्य अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की विपरीत प्रवृत्तियाँ करता है, परन्तु जब उसके द्वारा कल्पित इच्छा या आकांक्षा की पूर्ति नहीं होती है तो वह दुःखी हो जाता है। वह उसका सफाया करने की योजना बनाता है, वह योजना या षडयंत्र भी फेल हो जाता है तो उसे भारी आघात लगता है। इसलिए राग हो या द्वेष, दोनों ही दुःख के मूल हैं। आकुलता, अशान्ति और उद्विग्नता का वातावरण पैदा करने वाले हैं। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि राग चूहे की तरह काम करता है और द्वेष काम करता है– सर्प की तरह। चूहा फूंक मारता हुआ ठंडे स्पर्श से विष फैलाता है, जबकि सर्प तेज फुंकार मारकर विष फैलाता है। हैं दोनों ही विषाक्त और मारक। सर्प के विष से मनुष्य शीघ्र ही मर जाता है, और चूहे के विष से धीरे-धीरे मरता है। इसी प्रकार राग और द्वेष दोनों ही जहर के समान मारक और दुःखदायी हैं।[१]

---

१. कर्म की गति न्यारी भा. ८ से भावांश ग्रहण, पृ. १६

जहाँ राग, वहाँ द्वेष और जहाँ द्वेष वहाँ राग प्रायः होता ही है

जहाँ राग होता है, वहाँ द्वेष पहले तो सोया हुआ-प्रच्छन्न रहता है, बाद में प्रगट हो जाता है। इसलिये 'ज्ञानार्णव' में कहा गया है-

यत्र रागः पदं धत्ते, द्वेषस्तत्रेति निश्चयः।

उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिकं मनः॥[१]

'जहाँ राग अपना पैर रखता है, यानी प्रवेश करता है, वहाँ द्वेष अवश्य ही होता है। राग और द्वेष, दोनों का अवलम्बन लेने से मन अत्यधिक विकृत हो उठता है।' मनुष्य यह सोचता है कि मैं तो अपने धर्मसम्प्रदाय, अमुक गुरु , या अमुक भगवान् के प्रति भक्ति कर रहा हूँ, परन्तु कई बार जहाँ अपने माने हुए धर्म सम्प्रदाय, गुरु तथा भगवान् के प्रति रागभाव होता है, वहीं दूसरे धर्मसम्प्रदाय, अन्य गुरु या अन्य नाम वाले भगवान् के प्रति द्वेष होता है। जहाँ भी किसी ने उसके सम्प्रदाय, गुरु या भगवान् के विषय में कुछ आलोचना की, अथवा यथार्थ स्वरूप भी बताया अथवा देव-गुरु-धर्म-मूढ़ता का परित्याग करने का कहा, वहाँ वह भड़क कर उसी सम्प्रदाय, गुरु या धर्म के प्रति द्वेष और घृणा करने लगता है। यहाँ तक कि वह अन्य धर्म, सम्प्रदाय, गुरु या भगवान् को द्वेषवश नष्ट करने, उनको बदनाम करने या लांछन लगाने को तुल जाता है। इसलिए कहना होगा कि राग और द्वेष परस्पर सहभावी हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी राग और द्वेष विभिन्न पैंतरे बदल कर आते हैं। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है-'रागाद् द्वेषं, द्वेषाद् रागं, पुनः रागं पुनः द्वेषं गृह्णाति मनुजः सदा।' अर्थात्- राग से द्वेष को, द्वेष से राग को, पुनः राग को और फिर द्वेष को मनुष्य सदा ग्रहण करता रहता है।

राग और द्वेष के विविध रूपान्तर और विकल्प

जिस तरह समुद्र का पानी भाप बनकर आकाश में पहुँच कर बादल बन जाता है, वही बादल बरस कर पानी बन जाता है। वही पानी नदी-नालों द्वारा समुद्र में आता है। समुद्र से फिर भाप, बादल, पानी और उसका समुद्र में आगमन होता है। ठीक इसी तरह राग का वातावरण द्वेष में परिणत हो जाता है और द्वेष का वातावरण पुनः राग में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार राग का अधिक राग में और द्वेष का अधिक द्वेष में भी परिवर्तन होता है। तथैव अधिक राग का स्वल्प राग में और

---

१. (क) तुलना करें-तद्यथा न रतिः पक्षे, विपक्षेऽप्यरतिं विना।
नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि, तद्विपक्षेरतिं विना॥ -पंचाध्यायी (उ.) श्लोक ५४९
(ख) ज्ञानार्णव २३/२५

अधिक द्वेष का स्वल्प द्वेष में भी परिवर्तन सम्भव है। इसी प्रकार शुभ राग का अशुभ राग में और अशुभ राग का शुभ राग में भी रूपान्तर होता रहता है। तथा कभी-कभी उपशान्त राग बन्ध उदय में आ जाता है, और कभी उदय में आने से पहले ही राग उपशान्त या क्षीण हो जाता है। इसी प्रकार रागबन्ध की तरह द्वेषबन्ध के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इस तरह राग और द्वेष का एक दूसरे में रूपान्तर होने, न होने या उभयरूप में होने के अनेक विकल्प रागबन्ध और द्वेषबन्ध के अनेक पैंतरे सूचित करते हैं।[१]

राग और द्वेष की चतुर्भंगी

सर्वप्रथम द्विकसंयोगी चतुर्भंगी की तरह राग और द्वेष के चार विकल्प प्रस्तुत किये जा रहे हैं- (१) राग से राग, (२) राग से द्वेष, (३) द्वेष से राग और (४) द्वेष से द्वेष। इन चारों का संक्षेप में विश्लेषण करने से भली भांति समझ में आ जाएगा। इन चार विकल्पों से युक्त स्वभाव वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के चार किस्म के जीव संसार में होते हैं।

प्रथम विकल्प : राग से राग की वृद्धि

(१) **राग से राग**- ऐसे कई जीव हैं, जिनके जीवन में राग द्वेष के रूप में नहीं बदलता, अपितु राग उत्तरोत्तर अधिक-अधिक राग में परिणत होता जाता है। जैसे- किसी ग्रामीण ने दूध में शक्कर डाली, वह मीठा हो गया। किन्तु उसने सुन रखा था कि अधिक मीठा डालने से दूध ज्यादा मीठा हो जाता है। अतः दूसरी, तीसरी और चौथी बार इस तरह अनेक बार शक्कर डालता ही चला गया। इस प्रकार शक्कर डालने से मीठा दूध अधिकाधिक मीठा होता गया। फलतः वह अत्यधिक मीठा दूध पीने योग्य भी नहीं रहा, कुछ कड़वा भी लगने लगा। इसी तरह कई जीवों में राग अत्यन्त बढ़ता-बढ़ता तीव्रतम हो जाता है। वह अत्यधिक तीव्र राग आखिरकार जीवन के निकाचित् कर्मबन्धक भी हो सकता है, जिसका फल दुःखदायी होता है। एक राजा की अपनी पत्नी पर अत्यधिक राग-वासना, अत्यन्त मोह और तीव्र आसक्ति थी। अन्त में, रानी के मस्तक में एक फोड़ा हो गया। उसमें मवाद पड़ गया। राजा तीव्र राग-वासना के कारण मरकर रानी के उस मस्तकीय फोड़े में कृमि रूप में उत्पन्न हुआ। यह था- तीव्र राग का परिणाम।[२]

इसी प्रकार एक माता का अपने पुत्र के प्रति इतना तीव्र रागभाव था कि उसे स्वयं कपड़े पहनाती, स्वयं नहलाती-धुलाती, स्वयं भोजन खिलाती, यहाँ तक कि

---

१. कर्म की गति न्यारी भा. ८ से भावांश ग्रहण, पृ. १६
२. कर्म की गति न्यारी भा. ८ से भावांश ग्रहण, पृ. १६, १७

उसे कहीं भी जाने-आने नहीं देती, न ही कोई काम करने देती। उस बच्चे को पढ़ाया-लिखाया भी नहीं। नतीजा यह हुआ कि वह लड़का ३९ साल का हुआ, तब तक वह बिलकुल अपंग के समान, पराधीन और निश्चेष्ट-सा रहा। उसकी मां ३९ साल के बच्चे को निराधार छोड़कर मर गई। वह ३९ साल का बच्चा अब न तो स्वयं कोई काम कर सकता था, न ही स्वयं खा-पी सकता था, न ही और कोई जीवनोपयोगी क्रिया कर सकता था। फलतः वह भी तीन-चार दिन में ही माँ की मृत्यु के अत्यधिक शोक में रिब-रिब कर मर गया। यह है, अल्प-राग से तीव्र राग की मुंहबोलती कहानी।[१]

उसी तरह कुछ माताओं का पुत्र के प्रति रागभाव दिनोंदिन बढ़ता जाता है और बढ़ते-बढ़ते अतितीव्रराग की कोटि में पहुँच जाता है, तब अकस्मात् पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनते ही मां की भी मृत्यु हो जाती है। कई बार पिता या माता के प्रति पुत्र का रागभाव बढ़ जाता है, तब पिता या माता की मृत्यु का समाचार सुनते ही पुत्र का हार्टफेल हो जाता है। संतानप्राप्ति की कामना का राग मन के प्रकोष्ठ में पड़ा रहता है। बहुत ही मनौती या प्रतीक्षा के बाद जब एक पुत्र हो जाता है, तब उस इकलौते पुत्र के प्रति रागभाव बढ़ता जाता है। अदि वह होशियार है, कमाऊ है तो रागभाव अधिकाधिक बढ़ता जाता है। इस प्रकार राग से राग की वृद्धि का यह प्रथम विकल्प है। इसके और भी अनेक रूप हो सकते हैं।

द्वितीय विकल्प : राग का द्वेष में रूपान्तर

(२) **राग से द्वेष**– यह रागबन्धन के उदय से रागभाव में लिप्त जीव द्वारा किसी प्रबल कारणवश या द्वेषबन्ध के उदय से द्वेषभाव में परिणत हो जाने वाले जीव का प्रकार है। अर्थात्- राग का द्वेष में रूपान्तर होने का प्रकार है। जो राग वर्षों तक एक ही स्थिति में न रहता हुआ किसी निमित्त के मिलने पर द्वेषभाव में परिणत हो जाता है, वह राग से द्वेष के प्रादुर्भाव होने का विकल्प है। जब राग द्वेष में बदल जाता है, तब सारा वातावरण ही विपरीत एवं क्षुब्ध हो जाता है। कल तक जिस व्यक्ति के प्रति किसी का प्रेम था, स्नेहराग था, कामराग था, या दृष्टिराग था, आज वह द्वेष में रूपान्तरित हो गया है। राग के द्वेष में रूपान्तरित हो जाने पर कल का मित्र आज शत्रु बन जाता है, कल की प्रेमिका या प्रिया, आज जहरीली नागिन बन जाती है, कल तक किसी वस्तु या मान्यता के प्रति जो दृष्टिराग था, वह आज घृणा, विद्वेष या हेयभाव में परिवर्तित हो जाता है। कल तक जो स्नेह था, वह आज सन्देह में पलट

१. ये निष्क्रिय और अयोग्य बच्चे (भाईसाहब, वंशीधरजी, बालनिकेतन, जोधपुर) से सारांश

जाता है। राग का द्वेषरूप में परिवर्तन बहुत ही शीघ्र हो जाता है। और ऐसा परिवर्तन व्यक्ति, परिवार, ग्राम, नगर, समाज, राजनैतिक पक्ष, धर्मसम्प्रदाय, संघ, जाति और राष्ट्र में द्वेष की आग में झुलसाता जाता है। राग की आग से द्वेष की आग भयंकर होती है। दूध में मेवा, मिश्री, केसर आदि डालकर बहुत ही सुस्वाद्य खीर बनाई गई है, उसमें जहर की एक बूंद गिर जाए, अथवा घास के ढेर में एक चिनगारी पड़ जाए तो वह खीर अपेय बन जाती है और एकीकृत घास का ढेर समाप्त हो जाता है, वैसे ही परिवार, समाज, संघ और राष्ट्र के प्रति जो प्रेम था, उसमें विद्वेषवश कुशंका का विष डाल देने या फूट की चिनगारी डाल देने पर गौरवहीन, संस्कृतिविहीन एवं अनादेय बन जाता है।

जो सहोदर भाई आपस में बड़े प्रेम से रहते थे। उनमें परस्पर अत्यन्त स्नेहराग था, किन्तु पिता की मिल्कियत के बंटवारे के समय ठीक ढंग से सम्पत्ति और जमीन जायदाद का बंटवारा न होने के कारण या एक ही भाई के द्वारा सारी सम्पत्ति हजम किये जाने के कारण यथार्थ न्याय नहीं मिलने से भाई-भाई का स्नेहराग एकाएक द्वेष में पलट जाता है। भाई, भाई का जानी दुश्मन बन जाता है, यहाँ तक कि किसी भी उपाय से वह उसकी हत्या भी कर या करवा देता है।

यदि परिस्थिति विपरीत हो जाती है, तो पुत्र पिता या माता की या माता या पिता पुत्र की हत्या तक कर डालने में संकोच नहीं करते।

शादी से पहले और शादी के बाद पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका में रागभाव बहुत तीव्र हो जाता है। इतना तीव्र राग कि एक दूसरे के बिना खाने, पीने और जीने की सम्भावना भी असम्भव लगती है। किन्तु अचानक पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के बीच कुशंका या दुराव की दरार पड़ जाए, अथवा पति को पत्नी के बदचलन होने का शक पैदा हो जाए तो पति या प्रेमी का सारा स्नेहराग द्वेष में परिणत हो जाता है। जो पति या प्रेमी रागभाव के कारण पत्नी या प्रेमिका के प्रति कोमल था, वह द्वेषभाव के कारण कठोर एवं क्रूर बन जाता है।[१]

आज सारे विश्व में नब्बे प्रतिशत घटनाएँ राग के द्वेष में रूपान्तरित होने की सुनी-देखी-पढ़ी जाती हैं। परिवार से लेकर समाज, राष्ट्र या विश्व तक में प्रायः राग का द्वेष में रूपान्तरण होने के कारण ही विघटन, फूट, ईर्ष्या, कलह और युद्ध तक की नौबत आती है। अधिकांश लोग चाहते हैं कि परस्पर रागभाव बना रहे, उसे टिकाने एवं निभाने के लिए स्वयं त्याग, सहयोग एवं प्रयत्न भी करते हैं, फिर भी वह रागभाव काँच के बर्तन की तरह फूट जाता है। वे टूटे हुए काँच के टुकड़े जैसे

---

१. कर्म की गति न्यारी, भा. ८ से भावांशग्रहण, पृ. १७

व्यक्ति के लगने पर जख्म पैदा कर देते हैं, वैसे ही वे द्वेष के टुकड़े व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र एवं समाज के शरीर को जख्मी बना डालते हैं।[१]

तीसरा विकल्प : द्वेष का राग में रूपान्तरण

(३) **द्वेष का राग में रूपान्तरण**–जितनी शीघ्रता से राग द्वेष में परिवर्तित हो जाता है, उतनी शीघ्रता से द्वेष राग में परिवर्तित नहीं होता। द्वेष के कारण मनमुटाव, वैमनस्य, कलह, झगड़ा एवं वैर-विरोध होना आसान है, वह झटपट हो जाता है; किन्तु उक्त मनमुटाव, वैमनस्य, वैर-विरोध और कलह को शान्त करना, परस्पर समझौता कर लेना, अथवा सम्बन्ध सुधारना बड़ा ही कठिन होता है। द्वेषभाव में दोनों ही पक्ष हठ पर चढ़े हुए होते हैं। हठाग्रह, दुराग्रह या पूर्वाग्रह इतना अधिक परिपुष्ट हो जाता है, पक्ष-विपक्ष में द्वेष की गांठ इतनी मजबूत हो जाती है, कि उसे स्नेह या वात्सल्य की चोट लगाकर तोड़ना, अथवा पारस्परिक विद्वेष की गांठ को प्रेम का मरहम लगाकर खोलना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।

पति-पत्नी, भाई-बहन, भाई-भाई, माता-पुत्र, पिता-पुत्र, सास-बहू, देवरानी-जिठानी, ननद-भाभी का परस्पर स्नेहराग काफी तीव्र है, किन्तु किसी लेन-देन, कटुशब्द-प्रयोग या अन्याय एवं पक्षपात के व्यवहार के कारण अचानक ही पासा पलट जाता है। किसी एक पक्ष द्वारा मन में उसकी गांठ बांध लेने के कारण भूतपूर्व राग के द्वेष में बदलते देर नहीं लगती। उस द्वेष या वैर-विरोध की गांठ बंध जाने के कारण दोनों पक्ष वर्षों या जिंदगीभर तक एक दूसरे से बोलने, प्रेम से मिलने, एक साथ बैठने, यहाँ तक कि एक दूसरे का मुंह देखने अथवा एक दूसरे के यहाँ जाने-आने को भी तैयार नहीं होते। इस प्रकार राग की द्वेषभाव में पलटी हुई स्थिति को पुनः रागभाव में पलटना अत्यन्त कठिन होता है। कुछ विरले ही ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनका परस्पर कटुता के कारण बढ़ा हुआ द्वेष शीघ्र ही रागभाव में पलट जाए। परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे पापभीरु, कर्मबन्धन से डरने वाले एवं समझदार होते हैं, जो द्वेष के कारण होने वाले आत्मा के भयंकर पतन, नुकसान एवं संतान में पड़ने वाले कुसंस्कारों से बचने के लिए परस्पर क्षमायाचना, अपनी भूल स्वीकार, पश्चात्ताप, विनय-व्यवहार, नम्रतापूर्वक समर्पण या समझौता करके उक्त द्वेष को या द्वेष से होने वाले वैमनस्य, कलह अथवा फूट को दूर कर पुनः परस्पर स्नेह और प्रेम से बंध जाते हैं।

सौराष्ट्र के चोटीला गाँव में विवाह करके आई हुई भूरीबाई का अपनी सास के साथ काफी वर्षों तक द्वेषभाव रहा। किन्तु भूरीबाई ने जब से कविवर्य पं. नानचन्द्रजी महाराज से परमशान्तिकारक नवकारमंत्र तथा उसकी सम्यक् आराधना के लिए ४

१. कर्म तेरी गति न्यारी भा. ८ से, पृ. १७, १८

सूत्र ग्रहण किये। अपनी प्रकृति संघर्ष के बजाए सहयोग, सेवा और स्नेह की बनाई, तब से धीरे-धीरे उसकी सास के हृदय में परिवर्तन होता चला गया और संवत्सरी पर्व के दिन प्रतिक्रमण के समय **'खामेमि सव्वे जीवा'** इस क्षमापनापाठ को पढ़ते-पढ़ते अचानक चिन्तनधारा बदली, और अपनी पुत्रवधू भूरीबाई के प्रति जो द्वेषभाव था, वह सहसा रागभाव में-स्नेहभाव में पलट गया। पुत्रवधू से स्वयं चलाकर पिछली भूलों के लिए हृदय से क्षमा मांगी। इस प्रकार परस्पर क्षमा के आदान-प्रदान से मन में जमा हुआ द्वेषभाव का मैल धुल गया; स्नेहसरिता अबाधगति से बहने लगी।[१] यद्यपि द्वेषभाव शीघ्र ही रागभाव में परिवर्तित होना कठिन होता है, किन्तु यह असम्भव नहीं है। इन्सान अपनी इन्सानियत को समझ कर उसे सक्रिय करने के लिये उद्यत हो तो पारिवारिक, जातिगत, राष्ट्रगत, सम्प्रदायगत विद्वेष भी परस्पर भाईचारे, बन्धुत्व या प्रेमभाव में बदल सकता है।

परन्तु स्वार्थसिद्धि के लिए जो दो पक्षों में परस्पर समझौता, सुलह या सम्बन्ध-सुधार के रूप में जो रागभाव होता है, वह चिरस्थायी नहीं होता, वह स्वार्थभंग होते ही पुनः द्वेषभाव में बदल सकता है।

चतुर्थ विकल्प : अल्पद्वेष से अधिक द्वेष

(४) **द्वेष से द्वेष**-चौथा विकल्प द्वेष से और अधिक द्वेष का बढ़ना है। कलह किसी छोटी-सी बात पर होता है, वह बढ़ते-बढ़ते ऐसे क्षेत्र में परिवर्तित हो जाता है, कि वह अब उक्त बात का बतंगड़ बनकर प्रतिष्ठा का सवाल बन जाता है। ऐसे द्वेष में उसकी विभिन्न तीव्र धाराएँ जुड़ जाती हैं, कुछ और साथी और उकसाने वाले लोग जुड़ जाते हैं, जिससे द्वेष की मात्रा अत्यन्त बढ़ जाती है। जिस समय बात छोटी-सीधी हो, उस समय द्वेष के कारण उत्पन्न हुए कलह, विवाद, वैमनस्य या क्लेश से क्षमा मांगने से या परस्पर एक दूसरे के मुद्दे को समझ कर आसानी से शान्त किया जा सकता था। परन्तु उस प्रारम्भिक द्वेष में अब कई गुना द्वेष की वृद्धि होने से वह 'राई का पहाड़' जितना बड़ा और सुदृढ़ हो गया है। ऐसी स्थिति में बीचबिचाव या समझौता करने-कराने वाले निमित्त अनसुने कर दिये जाते हैं, और आदमी मन में गांठ बांधकर प्रतिपक्ष के मन में द्वेष या असन्तोष न भी हो तो भी पक्षीय द्वेषकर्त्ता तन कर खड़ा हो जाता है-वैर का बदला लेने के लिए। द्वेष की एक छोटी-सी चिनगारी बढ़ते-बढ़ते भयंकर अग्निज्वाला का रूप धारण कर लेती है, जिसे बुझाना या शान्त करना बहुत ही दुष्कर होता है।[२]

---

१. मानवतानुं मीठुं जगत् भा. ३ (कविवर्य नानचन्द्रजी महाराज) से सारांशग्रहण
२. कर्म की गति न्यारी, भा. ८, पृ. १९

इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है–समरादित्यचरित्र में अग्निशर्मा का जीव, जो प्रथम भव से द्वेष उत्पन्न करके वैरपरम्परा बढ़ाता ही चला गया है, नौवें भव तक वह गुणसेन के जीव के पीछे तीव्र द्वेषवश पड़ा रहा। नौ जन्मों तक लगातार अपना द्वेष बढ़ाता ही गया। इसी तरह 'पार्श्वनाथ-चरित्र' में कमठ प्रथम भव से ही द्वेष खड़ा करके आगामी दस भवों तक द्वेष अधिकाधिक बढ़ाता ही गया। द्वेष की आग जन्म-जन्म में बढ़ती ही गई। आशय यह है कि अग्निशर्मा और कमठ, इन दोनों ने द्वेष की मात्रा चरम सीमा तक बढ़ा दी कि ये प्रत्येक जन्म में अपने माने हुए प्रतिपक्षी (शत्रु) को मारते ही चले गए। परन्तु इन दोनों के प्रतिपक्षी गुणसेन और मरुभूति के मन में प्रत्येक जन्म में शान्ति और समता भावना रही, प्रतिपक्षी अग्निशर्मा और कमठ के प्रति इनके मन में जरा भी द्वेषभावना या प्रतिशोध की भावना नहीं रही। फलतः ये दोनों अन्त में वीतराग बनकर समस्त कर्मों से मुक्त हो गए। जबकि अग्निशर्मा और कमठ की प्रवृद्ध द्वेषवृत्ति के कारण जन्म-मरण रूप संसार में वृद्धि हुई; वे अनेक पापकर्मों के बन्धन से जकड़ते चले गए। उनके उदय में आने पर भयंकर दुःखद फल दीर्घकाल तक भोगना पड़ा, और अब भी भोगना पड़ेगा।[१]

द्वेष की मात्रा में वृद्धि के अन्य कारण भी

होता यह है कि एक बार के कलह आदि किसी कारणवश यदि अपमान, क्रोध, स्वार्थभंग या अहंकार पर चोट आदि मन में घुटते रहते हैं, तो उनसे भी द्वेष की मात्रा में वृद्धि होती रहती है। प्रायः तीव्र अहंकार की वृत्ति द्वेष की मात्रा बढ़ाती है। झूठे गर्व और मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर अथवा दूसरों के द्वारा भड़काये जाने पर द्वेष का वह छोटा-सा अंकुर एक दिन द्वेष का जहरीला महावृक्ष बन जाता है।

महाराष्ट्र की एक सच्ची घटना है। एक धनाढ्य पिता के दो पुत्र थे। उनके बहुत बड़ी खेतीबाड़ी थी। पिता की मृत्यु के बाद दोनों भाइयों में जमीन-जायदाद का बंटवारा हो गया। दोनों के हिस्से के खेत के बीच में एक सुपारी का पेड़ था, जिसे बड़ा भाई अपने हक की जमीन में मानता था, और छोटा भाई अपने हिस्से की जमीन में। दोनों भाइयों में पहले वाद-विवाद, गर्मा-गर्मी और तू-तू, मैं-मैं हुई। दोनों भाइयों में एक दूसरे के प्रति द्वेषवश कलह हुआ। दोनों अहंकार के हाथी पर चढ़े हुए थे। दोनों में से कोई भी झुकने को तैयार नहीं था।[२]

साधारण-सा द्वेष पारस्परिक बोलचाल तक ही सीमित रहे तब तक तो उसे बदला जा सकता है, परन्तु वही द्वेष जब बाढ़ की तरह मर्यादा तोड़कर आगे बढ़ता

१. देखें–समरादित्य केवली चरित्र या समराइच्च कहा तथा पार्श्वनाथचरित्र।
२. समाजदिग्दर्शन से संक्षिप्त ग्रहण

है और अमर्यादित-असीमित अशिष्ट शब्दों पर लिपट कर आगे बढ़ता है, तब वह अल्पद्वेष से अधिक द्वेष में रूपान्तरित हो जाता है। कोई भी वस्तु सीमा में रहे, वहाँ तक ही उचित लगती है, सीमा तोड़कर स्वच्छंखल रूप से आगे बढ़ने पर वह दुःखदायी बन जाती है। दाल और शाक में नमक यथोचित प्रमाण में डाला जाता है, तो ठीक लगता है, परन्तु उनमें कोई दो, तीन, चार, पांच बार अधिकाधिक नमक डालता ही चला जाए तो वह अत्यन्त खारा-कटु हो जाएगा कि कोई भी व्यक्ति मुंह में भी उस दाल या साग को नहीं डाल सकेगा। इसी प्रकार थोड़ी-सी कहासुनी हो जाए, वह झटपट सुधार ली जाती है, परन्तु उस पर कोई व्यक्ति अभिमान में आकर द्वेष की मात्रा में वृद्धि करता जाए तो वह द्वेष अत्यन्त भयंकर और प्राणघातक हो जाता है। छोटी-सी बात को लेकर बार-बार झगड़ा करते जाना, एक बार के वाक्-कलह से आगे अनेक बार या एकाधिक बार झगड़ते रहना, अथवा काफी देर तक या चिरकाल तक कलह करते रहना, ये सब द्वेष से द्वेष की वृद्धि के निमित्त कारण हैं।[१]

कई बार पूर्वाग्रह, ईर्ष्या, पक्षपात, या अन्याय-अत्याचार के कारण भी व्यक्ति में द्वेष वृत्ति बढ़ती जाती है। कई बार व्यक्ति किसी के प्रति मानसिक धारणाएँ या कल्पित मान्यताएँ बांधकर यह सोचने लगता है कि यह मुझे दुःखी करने वाला है, मेरा नुकसान करने वाला है, हितैषी नहीं है, ये और इस प्रकार की गलत विचारधाराओं का शिकार होकर मन ही मन उसके प्रति द्वेषभाव को पालता रहता है, बढ़ाता रहता है। मन ही मन द्वेष की वृद्धि होते-होते व्यक्ति सामने वाले को कट्टर दुश्मन मानकर वैर का बदला लेने को उतारू हो जाता है। उस द्वेष को क्रियान्वित करने के लिए कभी-कभी वह उसे मारने, सताने, बदनाम करने या उसकी हत्या करने का भी साहस कर लेता है। इस प्रकार द्वेष से द्वेष बढ़ने का विकल्प सबसे निकृष्ट और घोर पापकर्मबन्धक है। यों तो राग से राग आदि चारों ही विकल्प खतरनाक हैं, दुःखदायी हैं, मानसिक शान्ति, समता और अनाकुलता को समाप्त करने वाले दावानल-रूप है। द्वेष का राग में रूपान्तर होने वाला तीसरा विकल्प फिर भी ठीक है, जिसमें बिगड़ी हुई बाजी सुधर जाती है। द्वेष का द्वेष में रूपान्तर नामक चौथा विकल्प कथमपि उपादेय नहीं है।[२]

संसार में राग की अधिकता है या द्वेष की?

संसार में राग अधिक है या द्वेष? इसका उत्तर देना बड़ा कठिन है, क्योंकि इस संसार में जितने राग के निमित्त हैं, उतने ही द्वेष के निमित्त हैं। राग और द्वेष, स्थायी

---

१. कर्म की गति न्यारी से भावांश ग्रहण, पृ. १८, १९

२. कर्म की गति न्यारी भा. ८ से भावांशग्रहण, पृ. १७-१८

नहीं हैं। ऐसा नहीं होता कि राग रागरूप में ही सदा रहे, द्वेषरूप में परिणत न हो। इस तथ्य को हम रागद्वेष के पूर्वोक्त चार भंगों (विकल्पों) के द्वारा भलीभांति स्पष्ट कर आए हैं। जिन कारणों या निमित्तों को लेकर राग हो सकता है, उन्हीं कारणों या निमित्तों से द्वेष भी हो सकता है। आज जिस व्यक्ति या वस्तु पर राग है, कालान्तर में उसी व्यक्ति या वस्तु पर द्वेष भी हो सकता है।

यद्यपि राग और द्वेष का मूल आधार जीव के अध्यवसाय या परिणाम हैं, योगसार में कहा है– कोई भी पदार्थ या व्यक्ति निश्चयनय की अपेक्षा इष्ट या अनिष्ट नहीं होता। मोह (राग के परिणाम) वश जिसे इष्ट समझ लिया जाता है, वह (जीव के परिणामवश) अनिष्ट हो जाता है, और जिसे आज अनिष्ट समझा जाता है, वही कालान्तर में (जीव के परिणाम के अनुसार) इष्ट हो जाता है। धवला में स्पष्ट कहा है कि जीवों की इच्छा के अनुसार वस्तु का स्वभाव नहीं बदलता, जीव के परिणामानुसार या रुचि-अनुसार वह अच्छा या बुरा माना जाता है। जैसे नीम कितने ही जीवों को कटु होते हुए भी रुचिकर लगता है, कितने ही जीवों को नहीं; किन्तु नीम किसी को रुचिकर होने से वह अपनी कटुता को छोड़कर मधुरता में परिणत नहीं हो जाता।[१]

यद्यपि रागद्वेष दोनों परिणामों पर निर्भर हैं, तथापि संसारी जीव प्रायः निमित्ताधीन होने से जैसे-जैसे निमित्त मिलते हैं, वैसे-वैसे ही उनके राग या द्वेष के परिणाम बन जाते हैं। दामाद सास-ससुर को अत्यन्त प्रिय होता है, क्योंकि उसके प्रति रागभाव होता है, किन्तु वही दामाद लड़की को तरह-तरह से यातना देता है, प्रताड़ना करता है, या मारने की धमकी देता है, तो सास-ससुर को अप्रिय हो जाता है, क्योंकि उसके प्रति जो रागभाव था, वह द्वेष में परिणत हो गया है। कभी-कभी निमित्त राग या द्वेष से परिपूर्ण होता है तो सामने वाले व्यक्ति के अध्यवसाय (परिणामादि) भी वैसे ही राग या द्वेष वाले बन जाते हैं। इसलिए सामान्य संसारी जीवों के लिए यही श्रेयस्कर है कि राग-द्वेष के अध्यवसायों से बचने के लिये राग-द्वेष के निमित्तों से बचना होगा। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में साधुओं को ब्रह्मचर्य

---

१. (क) कर्म की गति न्यारी, भाग ८, पृ. २६०.

(ख) इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो, भावोऽनिष्टस्तथा परः।
न द्रव्यं तत्त्वतः किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते॥ –योगसार अ. ५, श्लोक ३६

(ग) भिण्णरुचीदो केसिंपि जीवाणममहुरं वि सरो (स्वरः) महुरोव्व रुचई त्ति तस्स सरस्स महुरत्तं किण्ण इच्छिज्जदि? ण एस दोसो, पुरिसिच्छादो वत्थु परिणामाणुवलंभा। ण च णिंबो केसिं पि रुच्चइ महुरत्तं पडिवज्जदे। अव्ववस्थावत्तीदो।
–धवला ६/१, ९-२, ६८/१०९

के परिणाम से स्खलित न होने देने के लिए अब्रह्मचर्य के निमित्तभूत वेश्याओं के संग से या वेश्यालयों के स्थानों से बचकर चलने का निर्देश किया है। इसी प्रकार आगे कहा गया है– 'जहाँ कलह, क्लेश या उद्वेग पैदा होता हो, उस स्थान को दूर से ही त्याग देना चाहिए।' अतः राग और द्वेष के मूल निमित्त कारणों से बचना चाहिए। जैसे-जैसे प्रबल निमित्त कारण मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे कभी राग का पलड़ा भारी हो जाता है, तो कभी द्वेष का पलड़ा। इसलिए राग और द्वेष की न्यूनाधिकता का नापतौल करना बड़ा ही कठिन है।

अतः संसार की अपेक्षा से राग-द्वेष का प्रमाण का जानना तो छद्मस्थ के लिए असम्भव है ही, अलबत्ता, राग या द्वेष का हिसाब प्रत्येक जीव के व्यक्तिगत परिणामों या निमित्तों के आधार पर लगाया जा सकता है; मगर वह भी छद्मस्थ जीवों के लिए सम्भव नहीं है। कई जीवों में राग की मात्रा अधिक होती है तो कई जीवों में द्वेष की मात्रा अधिक होती है। कई जीवों में रागवृत्ति अधिक मात्रा में होती है, द्वेषवृत्ति बहुत ही कम। उन्हें अपने पुत्र, पत्नी, परिवार, धन, धान्य, वैभव, जमीन-जायदाद आदि पर राग अधिक होता है; यदि अप्रिय पदार्थों के प्रति द्वेष रहता है, तो भी बहुत ही कम। दूसरी ओर द्वेषवृत्तिप्रधान जीवों में यद्यपि अपने परिवार, धन आदि के प्रति राग तो रहता ही है, परन्तु द्वेष की अपेक्षा उसकी मात्रा कम होती है। वे ईर्ष्या, वैरविरोध, शत्रुता, पूर्वाग्रहग्रस्तता आदि के कारण किसी व्यक्ति, परिवार, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र, नगर आदि पर द्वेष से अहर्निश संक्लिष्ट रहते हैं। द्वेष की मात्रा ऐसे व्यक्तियों में अधिक होती है। किसी-किसी व्यक्ति के मन में पूरी की पूरी जाति, समूचे सम्प्रदाय, समग्र राष्ट्र, प्रान्त या नगर के प्रति वैमनस्यता या दुश्मनी के भाव इतने प्रबल होते हैं कि उस-उस जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र या प्रान्तादि का नाम, प्रशंसा या प्रसिद्धि सुनते-देखते ही उनके मन में द्वेष की प्रचण्ड आग लग जाती है; वे उसे क्षणभर भी सहन नहीं कर पाते। वे तुरन्त विरोधी या विपक्षी मानी जाने वाली जाति, सम्प्रदाय आदि के प्रति क्रूर, घातक और कालमुखी बन जाते हैं।[१] आतंकवादियों तथा उग्रवादियों, साम्प्रदायिकों तथा राजनीतिज्ञों के काले कारनामे हमारे सामने स्पष्ट हैं।

जैन इतिहास में प्रसिद्ध ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आँखें फोड़ने के कारण द्वेष का निमित्त एक ब्राह्मण बना, किन्तु समस्त ब्राह्मण जाति के प्रति उसका द्वेष इतना तीव्र हुआ कि वह प्रतिदिन ब्राह्मणजाति के लोगों की आँखें निकलवा कर मंगाता और उन आँखों को अपने हाथों से मसल कर फोड़ता था। यह सिलसिला जिंदगी के

१. कर्म की गति न्यारी, भा. ८ से भावांशग्रहण, पृ. २७, २८

अन्त तक चला, जिसके कारण घोर पापकर्म के फलस्वरूप उसकी गति, मति, भव आदि बिगड़े और मरकर वह नरकगति का मेहमान बना।

वैदिक परम्परा प्रसिद्ध परशुराम ने क्षत्रियजाति के प्रति तीव्रद्वेषवश २१ बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन बनाया था। उनकी प्रतिज्ञा थी कि एक भी क्षत्रिय-पुत्र इस पृथ्वी पर नहीं रहना चाहिए। उनका यह द्वेष किसी एक-दो क्षत्रियों पर नहीं, अपितु समूची क्षत्रियजाति के प्रति था।[१]

रोम का क्रूरकर्मा सम्राट नीरो, ट्रांसल्वानिया प्रदेश का नरपिशाच शासक काउंट ड्रोक्युला, अत्यन्त क्रूर एवं कठोर प्रकृति का जिपाजंग (जर्मनी) के सेशनकोर्ट का न्यायाधीश बेनेडिक्ट कार्पेज, हिटलर, मुसोलिनी, चर्चिल, याह्या खान, चंगेज खां नादिरशाह आदि ऐसे क्रूर नरपिशाच हुए हैं, जिनकी द्वेषबुद्धि प्रचण्ड रूप से सामूहिक नरसंहार करने पर तुल गई थी जिन्हें मानवजाति कभी माफ नहीं कर सकती।[२]

इसी प्रकार ईसाइयों और मुस्लिमों का कई वर्षों साम्प्रदायिक युद्ध (क्रूजेडो) चला। हिन्दुओं और मुस्लिमों में पारस्परिक साम्प्रदायिक विद्वेष भी चरमसीमा पर पहुँच गया था। इन सब उदाहरणों से सिद्ध होता है कि ऐसे क्रूर, मानवता के द्रोहीजनों में रागभाव तो इने-गिने लोगों पर होता है, किन्तु द्वेषभाव अगणित लोगों पर या समूची जाति, समग्र देश या सारे सम्प्रदाय पर होता है। अनुमानतः ऐसे क्रूर लोगों में राग की मात्रा मुश्किल से १० से २० प्रतिशत होगी, जबकि द्वेष की मात्रा होगी ८० या ९० प्रतिशत। किसी युग में जैनों के प्रति शैवों और वैष्णवों का जबर्दस्त विद्वेष था। उन्होंने यहाँ तक अपने अनुगामियों को द्वेषवश उकसाया- 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्।' यदि पागल हाथी पीछे से मारने को आ रहा हो, तब भी जैनमन्दिर (जैनगृह) में प्रवेश न करे। इसी प्रकार शैवों और वैष्णवों में जबर्दस्त विद्वेष फैलाया गया था। कोई भी वैष्णव शैव का या शिव का या सीवण का नाम लेने में कतराता था, और शैव भी वैष्णव या विष्णु का नाम नहीं लेता था। भारतवर्ष में ऐसे साम्प्रदायिक विद्वेष प्रबल प्रमाण में फैलाये गये थे, और अब भी मौके-बेमौके फैलाये जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि राग की मात्रा की वृद्धि की अपेक्षा द्वेष की मात्रा की वृद्धि अत्यन्त भयानक है। प्रायः राग सीमित रहता है, किन्तु द्वेष बहुत शीघ्र बढ़कर प्रचण्ड दावानल की तरह असीमित भी बन जाता है। दोनों की अति ही खराब है।

---

१. कर्म की गति न्यारी से भावग्रहण, पृ. २८

२. इन उदाहरणों के विशेष विवरण के लिए देखें-कर्मविज्ञान भा. २ खण्ड ५ में "कर्मफल यहाँ या वहाँ, अभी या बाद में" शीर्षक निबन्ध, पृ. ३३४ से ३३७ तक

राग ज्यादा खतरनाक है या द्वेष ?

खतरनाक का यहाँ अर्थ है–आत्मा के लिए अधिक हानिकारक। जिस वैभाविक भाव से आत्मा की अधिक हानि हो, उसके गुणों का घात अधिक तीव्र और शीघ्र हो, उसे अधिक खतरनाक समझना चाहिए। आत्मिक हानि होती है–कर्मबन्ध से। जिस जीव में जितने कम या ज्यादा राग-द्वेष होंगे, उसके कर्मबन्ध उतने ही तीव्र-मन्द रस के तथा न्यूनाधिक स्थिति के होंगे। अगर किसी के जीवन में राग का प्रमाण अधिक है तो उससे रागजनित कर्मबन्ध अधिक होगा, इसके विपरीत यदि द्वेष का प्रमाण अधिक है, तो द्वेषजनित कर्मबन्ध अधिक होंगे। तीव्र रागवृत्ति से भी तीव्र कर्मबन्ध होता है और तीव्र द्वेषवृत्ति से भी तीव्र कर्मबन्ध होता है। अतः दोनों का तीव्रबन्ध खतरनाक एवं हानिकारक है। फिर भी दोनों की मात्रा का हिसाब लगाने पर यह कहा जा सकता है, कि रागवृत्ति की अपेक्षा द्वेषवृत्ति से आत्मा की हानि ज्यादा है। द्वेषवृत्ति में रस तीव्र होने से कर्मबन्ध गाढ़ रस के एवं दीर्घकालिक स्थिति वाले होते हैं। द्वेषजनित बन्ध में स्थितिबन्ध बहुत लम्बे समय का, तथा अनुभागबन्ध गाढ़ रस वाला होता है। जिसके उदय में आने पर भोगना (वेदन) बहुत ही कटु, नीरस और विषादपूर्ण होता है। द्वेषजनित बन्धन में घातक और क्रूर वृत्ति के कारण व्यापक पैमाने पर हिंसा होती है, मानसिक हिंसा से बुद्धि कठोर जाती है। द्वेषवृत्ति वाले जीव में रौद्रध्यान की तीव्र क्रूर परिणति अधिक रहती है, जिससे उसका मन हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान से ओत-प्रोत रहता है। उसकी लेश्याएँ अधिकतर अशुभ से अशुभतर बनती जाती हैं। अशुभ लेश्याओं के कारण कर्मबन्ध भी अशुभ-पापकर्म का होता है।

राग की अपेक्षा द्वेष शान्त न किया जाए तो अकल्प्य हानि

यद्यपि राग भी जीवन में प्रतिक्षण बंधता रहता है, किन्तु उसकी लेश्याएँ इतनी क्रूर, अशुभ और घातक नहीं होतीं। यदि लेश्याएँ अधिक अशुभ न हों तो कर्मबन्ध भी दीर्घकाल की स्थिति वाला नहीं होता। यद्यपि द्वेष जीवन में प्रायः प्रतिदिन नहीं होता, क्योंकि दैनिक जीवन-व्यवहार में द्वेष के तीव्र निमित्त प्रायः नहीं मिलते। वे क्वचित् कदाचित् ही मिलते हैं। चूंकि द्वेष निमित्त कारणों के आधार पर खड़ा होता है, इसलिए द्वेष के निमित्त कम मिलने पर द्वेष के अवसर कम ही आते हैं। परन्तु जब भी द्वेष उत्पन्न होता है, तब उसे ज्ञानबल द्वारा स्वयं संवृत (निरुद्ध) न किया जाए, अथवा किसी प्रबल निमित्त द्वारा उसका शमन या दमन न किया जाए तो वह आग में घी डालने की तरह अधिकाधिक बढ़ता जाता है। जैसे- बड़ी आग कभी-कभी ही लगती है, किन्तु लगने पर अग्निशमन यंत्र या आग को शान्त करने के अन्य साधन न मिलें तो वह कल्पनातीत हानि करती है। द्वेष भी दाहक और भस्मक

स्वभाव वाला है। इसलिए आग को शान्त करने या उस पर काबू पाने में जितनी सावधानी रखनी पड़ती है, उससे अनेकगुणी अधिक सावधानी द्वेष को शान्त करने या द्वेष पर काबू पाने में रखनी आवश्यक है। क्योंकि अग्नि उतनी हानि नहीं करती, जितनी हानि द्वेष करता है। अग्नि तो पानी से शान्त हो जाती है, जबकि द्वेष उपशम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, समता या सहिष्णुता से शान्त होता है। इसलिए राग और द्वेष दोनों से आत्मा का बहुत नुकसान होते हुए भी द्वेष से अधिक नुकसान होता है।[१]

राग-द्वेष से समस्त आत्मसाधनाओं की क्षति

राग-द्वेष से सबसे बड़ी हानि तो आध्यात्मिक साधनाओं की होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप ये सब आध्यात्मिक साधना के लिए आचरणीय धर्म रागद्वेष की उपस्थिति में करने से संसारवृद्धि के कारण बनते हैं, कर्मक्षय और संसार के ह्रास के कारण नहीं। जब अन्तर्मन में राग अपना डेरा डाले रहता है, तब व्यक्ति इहलौकिक राग (स्वार्थ या मोह), पारलौकिक राग (फलाकांक्षा) कीर्ति, प्रशंसा और प्रसिद्धि के राग (लोभ), के चक्कर में पड़कर अपने आत्मशुद्धि-साधनरूप शुद्धधर्म को चौपट कर डालता है। इन सब रागजनित सौदेबाजियों में पड़कर साधना को विकृत कर डालता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और आत्मशान्ति के आचरण को ताक में रखकर इनका दिखावा, प्रदर्शन, दम्भ, स्वार्थसिद्धि एवं फलाकांक्षा की तराजू पर इन्हें बार-बार तौलता रहता है। इसी प्रकार आत्मसाधना करते समय साधना के लिए अनिवार्य वस्तु- तप, कायकष्ट-सहन, परीषहसहन एवं उपसर्ग आदि से उद्विग्नता, घृणा, अरुचि आदि के रूप में द्वेष आ धमकता है, अथवा अनिष्ट वस्तु की तरह अनिष्ट व्यक्ति के प्रति या साम्प्रदायिकतावश अन्य सम्प्रदाय, जाति, राष्ट्र आदि के व्यक्ति के प्रति द्वेष भाव आ जाता है, ऐसी दशा में सम्यग्दर्शनादि कर्मक्षयकारक चतुष्टय गुणों का नाश हो जाता है और रह जाता है केवल शुष्क क्रियाकाण्ड का राग या अहंकार।

रागद्वेष से तपस्या निरर्थक हो जाती है

जैसे- चूल्हे पर कड़ाही में खौलते हुए पानी में हाथ डालने से हाथ जल जाता है, वैसे ही मन-मस्तिष्क रूपी कड़ाह में खौलते हुए राग-द्वेष की स्थिति में तप, त्याग, व्रत, नियम या रत्नत्रयरूप धर्म आदि के भी सत्त्व जल जाते हैं। चूल्हे पर अत्यन्त तपे हुए गर्म तवे पर पानी के छींटे डालते ही छन-छन करके क्षणभर में ही वे जलकर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही तीव्र राग-द्वेष की स्थिति में थोड़ा-सा भी

---

१. कर्म की गति न्यारी, भा. ८ से भावांश ग्रहण, पृ. २९

सम्यग्दर्शनादि शुद्ध धर्म किया जाए तो उनका सत्त्व नष्ट हो जाता है, धर्म के नाम पर किये जाने वाले आडम्बर, प्रदर्शन या शुष्क क्रियाकाण्ड ही बचते हैं; जो कर्मक्षय के लिए निरर्थक होते हैं। ज्ञानसार अष्टक में कहा गया है– यदि मन-मस्तिष्क में राग-द्वेष तीव्ररूप में विद्यमान हैं तो उनकी उपस्थिति में या उनकी तीव्रावस्था में किये गए बाह्य-आभ्यन्तर तप से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?[1] दूसरे शब्दों में कहें तो तीव्र-रागद्वेष की स्थिति में किया हुआ तप निरर्थक जाता है, कर्ममुक्तिरूप प्रयोजन उस स्थिति में सिद्ध नहीं होगा। और इससे ठीक विपरीत यदि रागद्वेष नाममात्र को नहीं हैं, वीतरागता प्राप्त हो चुकी है, तब भी बाह्याभ्यन्तर तप करने का क्या प्रयोजन? जिस कर्मक्षय के उद्देश्य से तप किया जाता है, वह सिद्ध हो जाने पर तप की जरूरत नहीं रहती। इस प्रकार रागद्वेष की विद्यमानता और अविद्यमानता, दोनों ही अवस्थाओं में तपश्चरण की निष्प्रयोजनता सिद्ध होती है।[2]

ज्ञानादि पंचाचार की साधना तीव्र रागद्वेष सहित है तो निरर्थक है

समग्र जैन साहित्य राग-द्वेष के विरोध में खड़ा है। जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान धर्म है। फलतः उसने समग्र साधनाओं में रागद्वेष से निवृत्ति पर ही अत्यधिक बल दिया है। आचार्य मुनिचन्द्र ने भी यही कहा है– "रागद्वेष को घटाए या मिटाए बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप की साधना निरर्थक है। उस साधना का कोई अर्थ नहीं है, जिसके साथ राग-द्वेष ओतप्रोत हों।"[3]

तीव्र रागवश किये गए निदाने के साथ किया गया तप तथा रत्नत्रयरूप शुद्धधर्म कर्मक्षयकारक नहीं होता, अपितु निदाने को सफल करने और कर्मबन्ध से संसारवृद्धि करने में सहायक होता है। इसी प्रकार तीव्र द्वेष से प्रेरित होकर किये गए निदाने के साथ किये गये तप की या अन्य पंचाचार की साधना कर्मनिर्जराकारिणी नहीं होती। बल्कि कषायवृद्धि और भववृद्धि करने में ही सहायिका होती है, और निदाने को सफल करती है। संभूति-मुनि के भव में तीव्र राग से प्रेरित होकर

---

१. (क) न इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए; न कित्ति-वन्न सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा ···· नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा।
–दशवैकालिक ९/३/४५

(ख) रागद्वेषौ यदि स्याताम् तपसा किं प्रयोजनम्?
तादेव रागद्वेषौ यदि न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्? –ज्ञानसार

२. कर्म की गति न्यारी, भा. ८ से भावांशग्रहण, पृ. ११९, २०

३. रागद्वेषौ यदि स्यातां तपसा किं प्रयोजनम्? –आचार्य मुनिचन्द्र

चक्रवर्तीपद-प्राप्ति के लिया नियाणा किया गया दीर्घ तपश्चरण उसे आगामी जन्म में चक्रवर्तीपद की प्राप्ति तो कराता है, किन्तु कर्मक्षय या आत्मशुद्धि नहीं कराता। यह राग से ओतप्रोत तप था।[१] इसी तरह भ. महावीर के जीव ने सोलहवें विश्वभूति के भव में मासक्षमण की तपश्चर्या के दौरान अपने चचेरे भाई विशाखनन्दी (के जीव) को आगामी भव में अपरिमित बलशाली होकर मारने हेतु तीव्र द्वेष प्रेरित नियाणा (दु:संकल्प) किया। उसकी वह तपस्या संसारवृद्धिकारक ही हुई, कर्मक्षयकारक या कर्ममुक्ति की हेतु न बनी।[२] इसी तरह अग्निशर्मा तापस ने भी 'कई जन्मों तक गुणसेन के जीव को मारने वाला मैं बनूं' इस प्रकार का नियाणा किया। कई मासखमणों की लम्बी तपस्या उसके लिये की। लेकिन इस दीर्घकालीन तपस्या का नतीजा मात्र द्वेष की वृद्धि, भवसागर की वृद्धि और अनेक भवों में द्वेषवश अधिकाधिक तीव्र अशुभ कर्मबन्ध ही किये।[३] नीतिशास्त्र में एक कहावत है– 'पय:पानं भुजंगानां केवलं विषवर्द्धनम्'– 'सांपों को दूध पिलाना, केवल उनके विष में वृद्धि करना है।' इसी प्रकार तीव्र राग या तीव्रद्वेष के साथ किये हुए तप अदि धर्म से केवल राग-द्वेषरूपी विष की ही वृद्धि होती है, आत्मशुद्धि या कर्मक्षय आदि कुछ भी नहीं होता। अत: तीव्र रागद्वेष से प्रेरित होकर तपादि करना प्रज्वलित आग में घी डालने जैसा है। वहाँ घी कुछ भी लाभ न करते हुए केवल आग को ही बढ़ाता है। वैसे ही तीव्र राग-द्वेषादिपूर्वक किये जाने वाले तपश्चरण आदि पंचाचार रूप धर्म केवल रागद्वेष की, जन्ममरणरूप संसार की वृद्धि करते हैं, आत्मगुणवृद्धिरूप लाभ या कर्मक्षयरूप गुण नहीं।[४]

रागद्वेष से सर्वाधिक हानियों के विविध पहलू

रागद्वेष से सर्वाधिक हानि यह होती है कि इनके रहते या इनके कारण जीव (आत्मा) प्रतिक्षण कर्मबन्ध करता रहता है। राग-द्वेष के कारण विषय-कषाय की वृत्तियाँ बनती हैं। कषायादि के कारण लेश्याएँ अशुभ से अशुभतर होती जाती हैं। फिर आर्त्त-रौद्रध्यान की अशुभ-परिणति बनती है जिससे मन-वचन-काया के योग विकृत होते जाते हैं। फिर कर्म का बन्ध निरन्तर होता जाता है, और वह कर्मबन्ध

---

१. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का चित्तसंभूतीय अध्ययन।

२. (क) श्रमण भगवान् महावीर (पं. कल्याणविजयगणी) से सारांश ग्रहण
(ख) भगवान महावीर : एक अनुशीलन–आचार्य देवेन्द्रमुनि

३. देखें–समराइच्चकहा में अग्निशर्मा का चरित्र।

४. कर्म की गति न्यारी, भा. ८, पृ. २०

भी साम्परायिक होता है। ऐसे साम्परायिक बन्ध से कर्मबन्ध की स्थिति दीर्घ-दीर्घतर होती जाती है।

ग्रन्थिभेद से प्राप्त सम्यक्त्व रत्न को रागद्वेष पुनः बढ़ाते ही खो देता है

जिस रागद्वेष की जटिल गूढ़ गांठ (ग्रन्थि) का भेदन करके बड़ी मुश्किल से सम्यक्त्वरत्न प्राप्त किया था, उन्हीं रागद्वेषों को पुनः बढ़ाते ही गए तो पुनः रागद्वेष की ग्रन्थि (गांठ) पहले से भी अधिक मजबूत हो जाएगी। फलतः जो सम्यक्त्वरत्न बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया था, वह भी हाथ से चला जाएगा। क्योंकि सम्यक्त्व का मुख्य आधार एकमात्र शुद्ध अध्यवसाय पर निर्भर है। अध्यवसायों के मलिन होते ही सम्यक्त्व की स्थिति भी गड़बड़झाला में पड़ जाएगी; क्योंकि रागद्वेषों के कारण अध्यवसाय मलिन और अशुद्ध होते जाते हैं और प्राप्त सम्यक्त्व खतरे में पड़ जाता है। अतः रागद्वेष और मिथ्यात्व सम्यक्त्व के घातक शत्रु हैं।

रागद्वेष आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं : क्यों और कैसे ?

राग और द्वेष आत्मा के स्व-भाव (गुण-भाव=स्व-रूप) नहीं हैं, ये विभाव हैं, अर्थात्-विकृत या विपरीत बने हुए भाव-विभाव कहलाते हैं। रागद्वेष विभाव हैं, क्रोधादि कषाय, क्लेश, वैर-विरोध, ईर्ष्या आदि सब विभाव हैं। जब भी आत्मा के क्षमा, समता, नम्रता, सरलता, मृदुता आदि गुण स्व-भाव (धर्म) विकृत होकर क्रोध, विषमता, अभिमान, क्रूरता-वक्रता और कठोरता आदि के रूप में परिणत हो जाते हैं; जबकि अनन्त चारित्र या यथाख्यातचारित्र रूप आत्मगुण के आधार पर बना हुआ क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शोच आदि आत्मा के मूलभूत गुण हैं। इन्हीं गुणों का बना हुआ भाव आत्मा का स्व-भाव कहलाता है।

रागद्वेष : सम्यक्त्वगुणघातक, आत्मगुणघातक, स्वविकासबाधक

निष्कर्ष यह है कि सम्यक्त्व भी आत्मा का स्वभावी गुण है। जबकि राग-द्वेष वैभाविक दशा के दोषरूप दुर्गुण हैं। फलतः रागद्वेष आत्मा के गुणों का घात करते हुए आत्मा का बहुत बड़ा अहित करते हैं। साथ ही रागद्वेष से गुरुतर कर्मबन्ध के कारण आध्यात्मिक विकास में आगे बढ़ी हुई आत्मा को ये दोनों पीछे हटा देते हैं, अधःपतित कर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि रागद्वेष आध्यात्मिक विकास में अवरोधक एवं बाधक है, आत्मगुणघातक, कर्मबन्धकारक हैं।

रागद्वेष करने से कर्त्ता का ही नुकसान, सामने वाले का नहीं

यह बात भी स्पष्ट है कि रागद्वेष करने से स्व-आत्मा (कर्त्ता) का ही अहित या नुकसान होता है। जिस पर वह राग-द्वेष करता है, उसका कुछ भी बिगड़ नहीं

सकता, बशर्ते कि सामने वाला समभाव में, उपशम में स्थिर रहे। बल्कि रागद्वेष कर्त्ता के प्रति रोष, द्वेष न करके समभाव में स्थित रहने वाला कर्म-निर्जरा (कर्मक्षय) कर लेता है, आत्मकल्याण साधता है, जबकि रागद्वेष करने वाला संसार-सागर में डूबता जाता है, घोर पापकर्म का बन्ध करता है।[1]

रागद्वेष प्रेरित व्यक्ति समभावी वीतरागों का कुछ भी नुकसान न कर सके

अतः रागद्वेष करने से करने वाले का नुकसान होता है, परन्तु जिस पर राग द्वेष किया जा रहा है, वह यदि स्थितप्रज्ञ होकर समभाव में स्थिर रहे तो उसका कुछ भी नुकसान, अहित या बिगाड़ नहीं होता। भगवान् महावीर पर गोशालक, संगमदेव एवं ग्वाले ने रागद्वेष किया या रागद्वेष कराया था अथवा रागद्वेष से प्रेरित होकर नाना उपसर्गों की बौछार की, ऐसा करके उन्होंने ही घोर अशुभकर्म बांधे। भ. महावीर का वे कुछ भी बिगाड़ न सके, न ही अहित कर सके; क्योंकि वे वीतराग भाव-समभाव में स्थिर रहे। इस कारण वे तो सर्वकर्म-मुक्त होकर मोक्ष चले गए, परन्तु गोशालक, संगमदेव तथा ग्वाले आदि रागद्वेष करने वालों का ही भव-संसार अनेक गुना बढ़ गया। इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति तीव्र द्वेषबुद्धि से कमठ के जीव ने दस भवों तक सतत् महापापकर्म बांधते हुए अपना अनन्त संसार बढ़ा लिया, परन्तु भगवान् तो समताभाव में स्थित रहने से समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष में पहुँच गए। कमठ का जीव न जाने आगामी जन्मों में कितना दुःख भोगेगा, कितनी बार नरक और तिर्यंच गतियों में जाकर कहाँ तक अपने कृत पापकर्मों की सजा भोगता रहेगा?[2]

परन्तु एक बात अवश्य है, रागद्वेष करने वाला जिसके प्रति राग या द्वेष करता है, वह जीव यदि समभाव में स्थित नहीं रहता है अथवा वीतराग नहीं है तो वह रागकर्त्ता या द्वेषकर्त्ता के निमित्त से स्वयं राग करने या द्वेष करने लग जाए तो दोनों ओर राग से राग बढ़ता है, तथैव द्वेष से द्वेष बढ़ता है। द्वेष के कारण वैरपरम्परा अनेक जन्मों तक चलती रहती है। जिसका उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर आए हैं।

मंदरागी के लिए कौन-सा पथ उपयोगी?

वैसे देखा जाए तो अंशमात्र भी रागद्वेष करना आत्मा के लिए हितकर या लाभदायक नहीं है, तथापि जो व्यक्ति अभी इतनी उच्च भूमिका तक पहुँचा नहीं है कि राग या द्वेष का सर्वथा त्याग कर सके या रागद्वेष से सर्वथा मुक्त हो चुका हो,

---

१. कर्म की गति न्यारी भा. ८, पृ. २०, २१, ३२
२. कर्म की गति न्यारी भा. ८ से भावांश ग्रहण, पृ. २१

उसके लिए ऐसा कौन-सा मार्ग है या उपाय है, जिससे वह रागद्वेष का क्रमशः त्याग करके दोनों बन्धनों से मुक्त हो सके?

राग कहाँ तक व्यक्त, अव्यक्त या क्षीण?

एक बात यह भी है कि राजवार्तिक के अनुसार-अप्रमत्तगुणस्थान तक (यानी सप्तम गुणस्थान से पहले पहले) रागभाव व्यक्तरूप में होता है, उससे ऊपर के गुणस्थानों में क्षीणकेषाय नामक बारहवें गुणस्थान से पहले तक रागभाव अव्यक्त होता है। आशय यह है कि जब तक अनुभव में मोह का उदय रहता है, वहाँ तक व्यक्तरूप इच्छा है और जब मोह का उदय अतिमंद हो जाता है, तब वहाँ इच्छा नहीं दिखती और जहाँ मोह का उपशम या क्षय हो जाता है, वहाँ इच्छा का अभाव होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से देखें तो रागभाव चारित्रावरण कर्म के उदय से होता है तथा ऐसा राग अप्रमत्तगुणस्थान के पहले तक पाया जाता है। अप्रमत्त गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में इसका सद्भाव (व्यक्तरूप में) नहीं पाया जाता। वहाँ केवल अव्यक्त कषाय की अपेक्षा से कषायों के अस्तित्व का व्यपदेश किया गया है। पंचाध्यायी (उ.) में इसका तात्पर्य प्रकट किया गया है कि ऊपर के गुणस्थानों में अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्मराग होता है। यह अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग भी क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान से पहले तक होता है। अर्थात्-सातवें से दसवें गुणस्थान तक होने वाला यह रागभाव सूक्ष्म होने से बुद्धिगम्य नहीं है।[१]

रागभाव बन्ध का कारण और मोक्ष का प्रतिबन्धक

इस पर से यह तो नहीं कहा जा सकता कि ऊपर के गुणस्थानों में रागभाव बन्धनकारक नहीं है अथवा हेय नहीं है; क्योंकि 'मोक्षप्राभृत' में कहा है-"रागभाव मोक्ष का निमित्त हो तो भी आस्रव (बन्ध) का ही कारण है। मोक्ष के विषय में भी की गई चिन्ता या अभिलाषा दोषरूप होने से विशेषरूप मोक्ष (कर्ममुक्ति) की

---

१. (क) राजवार्तिक (हिन्दी) ९/४४/७५७-७५८

(ख) अस्त्युक्तलक्षणो रागश्चारित्रवरणोदयात्। अप्रमत्त-गुणस्थानादर्वाक् स्यान्नो-र्ध्वमस्त्यसौ। -पंचाध्यायी (उत्तरार्ध) ९१०

(ग) अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वकः। अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद् विवक्षावशात्र वा। -पंचाध्यामी (उ.) ९११

(घ) राजवार्तिक (हिन्दी) ९/४४/७५८

(ङ) यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्त-कषायापेक्षया तथोपदेशात्। -धवला १/१, १, १/११२/३५१

निषेधक होती है।''[१] इसीलिए आचार्य नमि ने रागद्वेष को बन्धनकारक इसलिए बताया है कि 'रागद्वेष के द्वारा अष्टविध कर्मों का बन्धन होता है।'[२]

सर्वप्रथम रागबन्ध को ही लीजिए। जब तक रागभाव रहता है, चाहे वह प्रशस्त ही हो, तब तक वीतरागता या केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्य जिनदास महत्तर के अनुसार ''जिसके द्वारा आत्मा कर्म से रंगा जाता है, वह मोह की परिणति राग है।'' यही कारण है कि जब तक उच्चतम साधक गणधर गौतम स्वामी को अपने परमगुरु वीतराग तीर्थंकर भगवान् महावीर के प्रति प्रशस्त राग रहा, तब तक उन्हें केवलज्ञान एवं वीतरागता की प्राप्ति नहीं हुई।

नीचे की भूमिका में अप्रशस्त रागद्वेष को छोड़कर प्रशस्त राग-द्वेष अपनाएँ

इसलिए रागद्वेष कर्मबन्धकारी आत्मशत्रु होने से सर्वथा त्याज्य होते हुए भी जब तक सर्वथा त्याग न कर सकें तब तक अप्रशस्त रागद्वेष त्याग करके प्रशस्त रागद्वेष को अपनाएँ। व्यवहार के क्षेत्र में शुभ-अशुभ परिणति के कारण राग-द्वेष भी नियमसार में 'प्रशस्त और अप्रशस्त (शुभ-अशुभ) के भेद से दो प्रकार के बताए हैं।' किसी भी शुभ हेतु, शुभ आशय, प्रशस्त इरादे से किये गए राग और द्वेष कथंचित् इष्ट है। देव (अरिहन्त वीतराग), गुरु (निर्ग्रन्थ) और धर्म (शुद्ध सम्यग्दर्शनादिरूप) के प्रति आत्मकल्याण की दृष्टि से किया गया राग प्रशस्त राग कहा जाता है। मेरी आत्मा का कल्याण हो, मेरे कर्मों की निर्जरा हो, मेरा संसार-परिभ्रमण कम हो और मेरी आत्मा का विकास होकर मुझे शीघ्र मोक्ष मिले, ऐसी पवित्र भावना से वीतराग परमात्मा के प्रति तीव्र अनुराग रखा जाए, प्रशस्त प्रेमभाव से भक्ति की जाए, इसे प्रशस्त राग कहते हैं। इसी प्रकार परमात्मपद या मोक्ष के प्रति भी ऐसी कल्याण भावना रखी जाए, उसे प्रशस्तराग कहा जा सकता है। पवित्र मोक्ष मार्ग के प्रति राग (प्रीति) को 'परमात्मप्रकाश' में अभीष्ट माना है। 'कषाय-पाहुड' में तो स्पष्ट कहा है-रत्नत्रय के साधन विषयक लोभ (राग) से स्वर्ग और मोक्ष की

---

१. (क) आसवहेदू य तहा भावं, मोक्खस्स कारणं हवदि।
सो तेण हु अण्णाणी, आद-सहावाऊ विवरीओ॥ ५५॥ -मोक्षप्राभृत ५५ श्लो.
(ख) मोक्खु य चिंतहि जोइया। मोक्खु ण चिंतिउ होइ॥ -परमात्मप्रकाश मू. २/१८८
(ग) मोक्षेऽपि मोहादभिलाष दोषो, विशेषतो मोक्ष-निषेधकारी।
(पंचविंशतिका पद्मनन्दि) १/५५

२. बध्यतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद्बन्धनम्। -आचार्य नमि

प्राप्ति देखी जाती है। 'आत्मानुशासन' में भी कहा गया है-"अज्ञानतिमिर को नष्ट कर देने वाले प्राणी का तप और शास्त्र के प्रति जो अनुराग होता है, वह सूर्य की प्रभातकालीन लालिमा के समान उसके अभ्युदय के समान होता है।"[१]

'प्रवचनसार' में कहा गया है-(प्रशस्त) राग के संयोग से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। इसलिए वह परम-निर्वाण सौख्य का कारण बनता है। प्रशस्तराग-देव, गुरु और धर्म के प्रति होता है। इन तीनों के प्रति शुभ राग होता है, तो कषायवृद्धि नहीं होती।[२]

देव के प्रति प्रशस्तराग तभी माना जाता है, जब पूर्वोक्त शुभ उद्देश्यों से युक्त हो। जैसे-गणधर गौतमस्वामी का अपने देव एवं गुरु भगवान् महावीर के प्रति प्रशस्त राग था, जिसमें संसार की, पद-प्रसिद्धि की अथवा अन्य लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति की कोई कामना नहीं थी; कर्मबन्ध का कोई हेतु नहीं था। भगवान् पर गौतम का इतना अधिक अनुराग था, केवल अपने आत्मकल्याण और मोक्षप्राप्ति की इच्छा के उद्देश्य से। इसलिए एक क्षण भी भगवान् से बिछुड़ना गौतमस्वामी के लिए असह्य था। वृक्ष के साथ छाया की तरह गणधर गौतम भगवान् महावीर से जुड़े हुए थे। इसलिए यह प्रशस्तराग केवलज्ञान में बाधक तो हुआ, किन्तु संसार-परिभ्रमण का कारण नहीं बना। यदि गौतमस्वामी में प्रशस्तराग न होता, वह राग अप्रशस्त की कोटि का होता, तो उन्हें पुनः जन्म लेकर संसार में भटकना पड़ता। परन्तु गौतम का महावीर के प्रति राग किसी स्वार्थ, भय, प्रलोभन, यशकीर्ति, धनादि लाभ, अहंकार, मद, मात्सर्य से प्रेरित होता तो वह अप्रशस्त हो जाता, भले ही वह अरिहंतदेव के

---

१. (क) आचार्य जिनदास महत्तर-रज्यतेऽनेन वा जीव इति रागः राग एव बन्धनम्।
-आवश्यकचूर्णि

(ख) रागः प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविधः। -नियमसार ता. वृ. ६६

(ग) कर्म की गति न्यारी भा. ८, पृ. २२

(घ) सिव-पडि णिम्मलिकरहिं रइ घरु परियणु लहु छंडि।
-परमात्मप्रकाश मू. २/१२८

(ङ) तिरयण-साहण-विसय-लोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो॥
-कसायपाहुड १/१,२१/३४२

(च) विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः॥ -आत्मानुशासन १२३ श्लोक

२. (प्रशस्त) राग-संयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात् क्रमतः परमनिर्वाण-सौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः। -प्रवचनसार (त. प्र.) २५४

प्रति ही क्यों न हो। आजकल अधिकांश लोग वीतराग परमात्मा की भक्ति, स्तुति, जन्मोत्सव या जयंती आदि मनाते हैं, परन्तु वह स्वार्थ, अहंकार, प्रसिद्धि, मद, मात्सर्य आदि दूषणों से युक्त होती है, जिसके कारण वह भक्तिराग प्रशस्त न रहकर अप्रशस्त, लोकोत्तर न रहकर लौकिक या मोक्षप्रयोजनार्थ न होकर संसार-प्रयोजनार्थ हो जाता है। इसी प्रकार अपने माने हुए अरिहंत देव के प्रति अन्धभक्ति राग हो, किन्तु दूसरे के माने हुए अरिहन्त देव के प्रति या अन्य नाम के वीतराग देव के प्रति घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या आदि हो तो वहाँ भी अप्रशस्त राग ही समझना चाहिए।

गुरु के प्रति प्रशस्त राग—इसी प्रकार निर्ग्रन्थ गुरु, आचार्य, उपाध्याय या साधु-साध्वी के प्रति जो रागभाव होता है, जिसके पीछे गुरु की शिष्य के प्रति और शिष्य की गुरु के प्रति कल्याण-कामना का राग प्रशस्त होता है। गुरु भक्ति के प्रवाह में बहकर यदि शिष्य या अनुगामी व्यक्ति अपना स्वार्थ, प्रसिद्धि, चमत्कार आदि द्वारा अपना उल्लू सीधा करता हो, तब गुरु के प्रति वह राग प्रशस्त न होकर अप्रशस्त हो जाता है। इसी प्रकार अपने गुरु के प्रति अन्धभक्ति ऐसी हो कि वह दूसरे निर्ग्रन्थ गुरुओं की निन्दा, बदनामी, द्वेष, ईर्ष्या आदि करता हो तो वहाँ भी गुरु के प्रति राग प्रशस्त न होकर अप्रशस्त हो जाता है। जम्बू स्वामी को अपने गुरु सुधर्मा स्वामी पर प्रशस्तभाव का राग था। इसलिए जम्बूस्वामी भी उसी भवम में मोक्ष गए।[१]

सद्धर्म के प्रति प्रशस्त राग—सद्धर्म का अर्थ श्रुत-चारित्ररूप धर्म अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म अथवा क्षमा, मार्दव आदि दशविध उत्तम धर्म के प्रति कल्याण-कामना से प्रेरित होकर श्रद्धा-भक्ति और अनुराग रखना। ऐसे धर्म के प्रति श्रद्धा का अर्थ है—अहिंसादि धर्म पर दृढ़ रहना, धर्म के नाम पर हिंसाजनित उपद्रव, मारकाट, हत्या, दंगा, धर्मजनून, साम्प्रदायिक विद्वेष, कलह, पशुबलि, पशुवध के रूप में कुर्बानी या कत्लेआम करना, धर्मान्तर या सम्प्रदायान्तर कराना आदि सांसारिक एवं रागद्वेषवर्द्धक प्रवृत्तियाँ प्रशस्त राग न होकर अप्रशस्त राग हैं। दूसरे धर्म-सम्प्रदाय पर या अन्य धर्मावलम्बियों पर कहर बरसाना, धर्मान्धता है। यह धर्म के प्रति प्रशस्त राग कतई नहीं है।

देव, गुरु और धर्म के प्रति प्रशस्तराग आज के युग में विकृत हो रहा है, इसमें धर्मान्धता, धर्मजनून, साम्प्रदायिक कट्टरता, वैरद्वेष एवं ईर्ष्या की वृत्ति घुस गई, धर्म में भी भ्रष्ट राजनीतिक दाँव पेंच घुस गए। अहिंसा, संयम और तपरूप शुद्ध धर्म में भी दम्भ, दिखावा, प्रदर्शन, प्रसिद्धिलालसा, प्रशंसा की वृत्ति, प्रतिस्पर्द्धा आदि विकृत

---

१. कर्म की गति न्यारी से भावांश ग्रहण, पृ. २१६

भावनाएँ घुस गई हैं। त्याग के नाम पर दिखावा और आडम्बर प्रचुर मात्रा में समाज में व्याप्त है। इसलिए प्रशस्तराग के मामले में बहुत सावधानी रखने की जरूरत है।

प्रशस्तराग अपनाने से पहले

अत: प्रशस्तराग अपनाने से पहले अप्रशस्त राग छोड़ना होगा। देव, गुरु और धर्म के प्रति प्रशस्त राग लाने के लिए कुदेव, कुगुरु और अधर्म से तो बचना ही होगा, अर्थात् इसके लिए निम्नोक्त चतुर्भंगी का चिन्तन करना ठीक होगा-(१) रागी का त्याग, (२) राग का त्याग, (३) त्यागी के प्रति राग और (४) त्याग के प्रति राग। जो देव रागी और द्वेषी हो, भले ही वे अपनी परम्परा से मान्य हों, उनसे स्वार्थ सिद्ध होता हो, वह तथाकथित देव स्वयं को न मानने वाले के प्रति द्वेष रखता हो और वध करता हो, वह रागी-द्वेषी देव है, उसका त्याग होना जरूरी है। साथ ही उस सच्चे देव के नाम पर भी सांसारिक स्वार्थ, लोभ, प्रसिद्धि, आडंबर आदि राग हो तो उसका त्याग भी जरूरी है। इसी प्रकार त्यागियों में भी त्याग के नाम पर आडम्बर, द्वेष, प्रसिद्धि कामना, लोकैषणा, लालसा आदि हो तो उस तथाकथित त्यागी का मुख राग की ओर है, त्याग की ओर नहीं, यह समझकर ही सच्चे त्यागी के प्रति राग और जिस धर्म के साथ त्याग, संयम, तप, अहिंसादि न हो, उस रागमय धर्म का भी त्याग करके त्याग के प्रति स्वपर कल्याण कामना से युक्त राग होना चाहिए। तभी गुरु और धर्म के प्रति प्रशस्त राग कहा जाएगा। अत: रागी या राग का त्याग करना, यह प्रशस्त राग का साध्य है और त्यागी तथा त्याग के प्रति राग, यह उसका साधन है; इस सूत्र को हृदयंगम कर लेना चाहिए। अत: प्रशस्त राग लाने का सक्रिय उपाय है-अप्रशस्तराग जहाँ भी हो, उसे छोड़ना। देव के प्रति प्रशस्त राग लाने के लिए तथाकथित देव का त्याग, गुरु के प्रति प्रशस्त राग लाने के लिए तथाकथित गुरु का त्याग, मोक्षसाधक धर्म के प्रति प्रशस्त राग लाने हेतु धर्म-सम्प्रदायों में घुसे अधर्म या स्वयं के जीवन में विद्यमान अधर्म को छोड़ना जरूरी है। संक्षेप में-मोक्ष का प्रशस्त राग जगाने के लिए संसार का-स्वार्थयुक्त कामना-नामनायुक्त राग घटाना ही पड़ेगा। वीतराग-परमात्मा के प्रति प्रशस्त राग जगाने के लिए सगे-सम्बन्धी, परिवार, सम्प्रदाय, धन, जाति आदि सांसारिक राग घटाना ही पड़ेगा। अन्यथा प्रशस्त राग जीवन में आ नहीं पाएगा।[१]

देव, गुरु और धर्म के प्रति प्रशस्तराग बढ़ाने के लिए मुमुक्षा तथा आत्मार्थीपन होना जरूरी है। संसार का या सासांरिक-लौकिक राग से कषायों की वृद्धि होती है। सद्देव, सद्गुरु और सद्धर्म के प्रति प्रशस्तराग होने से कषाय कम होंगे।

---

१. कर्म की गति न्यारी से सार-संक्षेप, पृ. २३, २४

प्रशस्तराग मन्दबुद्धि श्रद्धालुओं के लिए कैसे प्रादुर्भूत हो?

अधिकांश व्यक्ति इतने पढ़े-लिखे, विचारक, परीक्षाप्रधान अथवा तार्किक नहीं होते, वे श्रद्धा के बल पर जीते हैं। उनके द्वारा प्रशस्तराग यत्किंचित् रूप से जीवन में अपनाने हेतु 'भगवती आराधना' में जिनशासन प्रेमियों के लिए चार प्रकार के अनुराग बताए हैं-**भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग और धर्मानुराग।** इनका स्वरूप इस प्रकार है-तत्त्व का स्वरूप मालूम न हो तो भी वीतराग देवकथित तत्त्वस्वरूप कभी असत्य नहीं होता, ऐसी श्रद्धा जहाँ हो, उसे **भावानुराग** कहते हैं। **तमेव सच्चं निसंकियं, जं जिणेहिं पवेइयं** (जिनेन्द्र वीतराग भगवन्तों ने जो कहा है, वही सत्य और निःशंकित है) यह **भावानुराग** है। जिन पर प्रेम, स्नेह एवं वात्सल्य है, उन्हें बार-बार तत्त्व एवं सन्मार्ग समझा कर सन्मार्ग पर लगाना **प्रेमानुराग** है तथा जिनके रग-रग में, हड्डियों और मज्जातन्तु में सद्धर्म के प्रति राग है, वे धर्म से विपरीत आचरण कभी नहीं करते, जिन्हें प्राणों से प्रिय अहिंसादि धर्म है, यह **धर्मानुराग** है और साधर्मिकों के प्रति वात्सल्य, गुणीजनों के प्रति प्रेम, त्यागियों के प्रति भक्ति यह **मज्जानुराग** है।[१]

प्राथमिक भूमिका में राग या रागी का त्याग त्यागी या त्याग का आश्रय लेने से होता है

अतः राग या रागी का त्याग करना, वीतरागदेव का सिद्धान्त और आज्ञा है। परन्तु इसका आचरण करने के लिए प्राथमिक भूमिका में **त्यागी** या **त्याग** का आश्रय लेना चाहिए। त्यागियों में ही त्याग का प्रत्यक्ष दर्शन हो सकेगा। अतः संसारासक्त रागी को राग-द्वेष के क्रमशः त्याग के लिए सर्वप्रथम त्यागी पुरुषों का आलम्बन लेना आवश्यक है, तभी त्याग के संस्कार जीवन में लाकर यत्किंचित् त्याग करना भी सीखेगा, अन्यथा राग में ही डूबा रहेगा। सच्चा त्यागी वही है, जो किसी प्रकार के राग, राग के निमित्तों या रागवर्द्धक पदार्थों में धन-सम्पत्ति, वैभव, कुटुम्ब-परिवार, बंगला आदि के मोह-ममत्व में फंसा हुआ न हो अर्थात्-राग का त्यागी हो। मोक्षाभिलाषी आत्मार्थी आत्मकल्याण साधक गुरु भी मोहमाया के त्यागी, सांसारिक वासनाओं से, लोकैषणाओं तथा नामना-कामनाओं से विरक्त होते हैं, वे भी त्यागी की कोटि में आते हैं। यह हुआ प्रशस्तराग का विश्लेषण।

---

१. (क) भावाणुराग-पेमाणुराग-मज्जाणुरागत्तो वा।
धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं॥ -भगवती-आराधना मू. ७३७/९०८
(ख) भगवती आराधना, भाषा ७३७/९०८

प्रशस्त द्वेष : स्वरूप और अध्यवसाय

प्रशक्त द्वेष भी समझ लेना चाहिए। जैसे शिष्य के द्वारा कोई भूल, गलती, अपराध या दोष होने पर गुरु उसे डांटता है, जरा-सा रोष प्रकट करता है, उसे उपालम्भ देता है या दण्ड-प्रायश्चित्त देता है, इसमें गुरु का शिष्य के कोई विद्वेष नहीं, उसके आत्महित के लिए गुरु ऐसा करता है, यह प्रशस्त द्वेष है। एक चिकित्सक रोगी के फोड़े-फुंसी को जोर से दबा कर मवाद निकालता है या अमुक उदर विकृतिजन्य रोग का ऑपरेशन करता है, रोगी को इससे पीड़ा भी होती है, कभी-कभी वह चीखता-चिल्लाता भी है, परन्तु चिकित्सक का रोगी के प्रति कोई अशुभ द्वेष नहीं, उसका उद्देश्य रोगी का रोग मिटाकर उसे शान्ति पहुँचाना है। इसी प्रकार एक माता अपने बच्चे को चोरी, बदमाशी या गलत आचरण करने डांटती फटकारती है, लाल आँखें करके दो थप्पड़ भी लगा देती है, परन्तु माता के अन्तर् में बच्चे को मारने की अशुभबुद्धि न होकर, उसे सुधारने की हितबुद्धि है, यह शुभ (प्रशस्त) द्वेष है।[१]

प्रशस्त या अप्रशस्त राग-द्वेष व्यक्ति के शुभाशुभ अध्यवसायों पर निर्भर

मूल में, प्रशस्त या अप्रशस्त राग अथवा द्वेष व्यक्ति के शुभ-अशुभ अध्यवसायों-परिणामों पर निर्भर है। प्रशस्तराग या प्रशस्तद्वेष अपनाने से पहले व्यक्ति को जागरूक होकर उसका नापतौल करना चाहिए। प्रशस्तराग के बदले कहीं रागान्धता या मोहान्धता तो नहीं आ रही है अथवा प्रशस्त द्वेष के बदले कहीं अप्रशस्त द्वेष, रोष, रौद्रध्यान आदि की वृत्ति तो नहीं पनप रही है? ज्यों ही ऐसा होगा कि अप्रशस्त भाव प्रशस्तभावों से ज्यादा-प्रतिशत अधिक हो गए हैं, तब तुरंत संभलना चाहिए और उस अप्रशस्त राग या द्वेष को तुरंत हृदय से निकाल देना चाहिए।

अध्यवसाय और परिणाम जीव की लेश्याओं की शुभ-अशुभ तरतमताओं के आधार पर असंख्य या अनन्त प्रकार के बनते हैं। जीवों के अध्यवसायों के भेद पर राग-द्वेष बन्ध के भेद होते हैं। इसी आधार पर अशुभ, अशुभतर और अशुभतम लेश्याओं के अध्यवसाय वाले राग-द्वेष रूप बन्ध बनते हैं। इसके विपरीत जीवों के शुभ, शुभतर और शुभतम लेश्याओं के अध्यवसाय वाले राग-द्वेषरूप बन्ध भी होते हैं। सर्वथा राग-द्वेषरहित होकर वीतराग बनना तो सर्वोत्तम है, किन्तु वर्तमान में वीतरागता-प्राप्ति कठिनतम, दुष्कर लगती हो तो शनैः शनैः उस दिशा में क्रमशः

---

१. कर्म की गति न्यारी भा. ८ से भावांशग्रहण, पृ. २२, २३

गति-प्रगति करने का पुरुषार्थ जारी रखना चाहिए। यदि इतना भी न हो सके तो अशुभ-मलिन अध्यवसाय वाले रागद्वेष को सर्वथा छोड़कर सदैव प्रशस्त शुभ अध्यवसाय वाले रागद्वेष को अपनाना हितकर है; क्योंकि अशुभ अध्यवसाय वाले रागद्वेष की अपेक्षा शुभ अध्यवसाय वाले रागद्वेष शिथिल और अल्पस्थिति वाले बन्धनकारक होते हैं।[१]

इस प्रकार वीतरागता प्राप्त करने के लक्ष्य को सदैव दृष्टिगत रखकर राग और द्वेष की परिणतियों से बचता हुआ, वीतरागता का अभ्यास करता हुआ क्रमशः सही दिशा में अग्रसर हो तो एक दिन अवश्यमेव वीतरागता प्राप्त कर सकता है। राग-द्वेष को सदैव बन्धनकारक समझते हुए ऐसे साधक को प्रतिपल सावधान रहना है, तभी वह लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

■■

१. कर्म की गति न्यारी से भावांशग्रहण, पृ. २३